प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक
(Representative Political Thinkers)

[राजस्थान विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक

आर० एल० सिंह

एम० ए० (राजनीति एव इतिहास) एल-एल० बी०,
एल० टी०, आर० ई० एस०
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग
आर० आर० कॉलेज, अलवर (राजस्थान)

तथा

एस० के० दुबे

एम० ए०
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग
टी० आर० एस० कला महाविद्यालय, रीवा (मध्यप्रदेश)

रतन प्रकाशन मन्दिर

पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

प्रधान कार्यालय · अस्पताल मार्ग, आगरा-३

चतुर्थ संस्करण के सम्बन्ध में

विचार तथा सस्थाओ की उत्पत्ति पर्वत शृखलाओ से नही होती, वे मानव मस्तिष्क की अभिव्यक्तियाँ हैं। विश्व की परिवर्तनशील प्रक्रिया मे महान दार्शनिको के विचार अत्यधिक महत्त्व के होते हैं। विश्व के लगभग सभी राजनैतिक दार्शनिक इस प्रश्न पर उलझे हुए दिखाई देते हैं कि व्यक्ति अपनी मानसिक एव अध्यात्मिक क्षमताओ को किस प्रकार राज्य के निदेशन एव नियत्रण के साथ समायोजित कर सकता है ?

'प्रतिनिधि राजनैतिक विचारक' भी इस दिशा मे एक प्रयत्न है जिसका आधारभूत लक्ष्य विद्यार्थियो को सरल एव बोधगम्य भाषा मे पश्चिम तथा पूर्व के दार्शनिको के विचारो से परिचित कराना है। इसका चतुर्थ सस्करण विद्यार्थियो के समक्ष है। विद्यार्थी वर्ग की कठिनाइयो का आद्योपान्त ध्यान रखा गया है। नूतन सस्करण मे दो और दार्शनिक जोड़े गये हैं—लैनिन तथा लास्की।

आशा है विद्यार्थी वर्ग अन्य सस्करणो की भाँति इस सस्करण का भी स्वागत कर लेखको का उत्साहवर्द्धन करेगा। उनसे सुझाव आमन्त्रित हैं।

आर० एल० सिंह
एस० के० दुबे

प्रथम संस्करण की भूमिका

विचार मानव की सर्वोत्कृष्ट अनुभूति हैं। राजनैतिक विचारो का परिचय प्राप्त करना राजनीति विज्ञान के गम्भीर, व्यापक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन की दृष्टि से निःसन्देह अनिवार्य है। इस ज्ञान के अभाव मे हम उन राजनैतिक प्रश्नो की जटिलता का समाधान नही कर सकते जो आज हमारे समक्ष धूमिल सा प्रतिबिम्ब लिए हुए तत्पर खडे हुए हैं। अतीत वर्तमान की शक्ति है। आज के विविध प्रश्न इन्ही विचारो के भग्नावशेषो मे कही पर मौन छिपे पडे हैं। आज हमे उनकी खोज करनी है और उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करके नवीन विचारो के मधुर स्रोतो का पता लगाना है, किन्तु यह कामना सफलता के पावन चरण उसी समय परखने की क्षमता रख सकती है, जब विचारो के सौंदर्य उद्यान मे जाकर वहाँ के विविध प्रश्नो की विविधता मे विचार साम्य स्थापित करके एकरूपता का दिग्दर्शन करें। विचार परिचय मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण विभाग है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती, राजनैतिक विचारो की गहराई, काल्पनिक उडान तथा उसके व्यवहारात्मक पक्ष को केवल तभी समझा तथा अनुभव किया जा सकता है जबकि हम राजनैतिक नभ के प्रमुख उड्गनो के विचारो, सिद्धान्तो तथा अनुभवो से साक्षात्कार एव सौहार्द्र स्थापित कर सकें, उनके अन्तरग मे झाँक सकें तथा अपने को उन परिस्थितियो की काल्पनिक स्थिति मे रख सकें। राजनैतिक विचारक हमारे वे महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं जिनके द्वारा हम अपने उद्देश्य की चरम सीमा को छूने का साहस कर सकते हैं।

प्लेटो से लेकर गाँधी तक आज यह प्रश्न कितनी विविधता तथा उलझनो को लिये हुए है कि राज्य तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्वरूप क्या हो ? सुन्दर तथा आदर्श जीवन क्या है ? आदर्श जीवन के मार्ग मे उत्पन्न होने वाली किन बाधाओ को राज्य बाधित करे ? राज्य तथा व्यक्ति का क्या सम्बन्ध है ? क्या राज्य एक नैतिक सस्था है ? राज्य मे धर्म का क्या महत्त्व है ? क्या राज्य हमारे आध्यात्मिक विचारो का प्रतिबिम्ब है अथवा पदार्थ प्रतिक्रिया का परिणाम ? साम्यवाद क्या है ? पूँजीवादी व्यवस्था का क्षय क्यो आवश्यक है ? राजधर्म क्या है ? राज्य को विदेशो से क्या सम्बन्ध रखना चाहिए ? क्रान्ति क्या है ? क्रान्तियाँ क्यो पनपती हैं। उनसे कैसे बचा जाय ? सम्पत्ति का क्या स्वरूप हो ? शासन के लिये किन गुणो की आवश्यकता है ? व्यक्ति के अधिकारो का क्या स्वरूप हो ? लोक हित क्या है ? दण्ड क्या है ? दण्ड का स्वरूप तथा लक्षण क्या हो ? शिक्षा किस प्रकार की हो ? सविधान क्या है और उसमे किन-किन बातो का समावेश होना चाहिए ? मंत्रिमण्डल का गठन कैसे और किस सिद्धान्त पर किया जाय ? सरकार का स्वरूप क्या हो ? कौनसा शासन कब और किन परिस्थितियो मे श्रेयस्कर है ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हमारे वर्तमान राजनैतिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ? हम इन प्रश्नों का समाधान प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, रूसो, हॉब्स, मिल, बेन्थम, महात्मा गाँधी,

थॉमस हिल ग्रीन आदि राजनीति शास्त्र के मूल्यवान अवलम्बों के विचारों की विश्लेषणात्मक पृष्ठभूमि के आधार पर ही सुलभ बना सकते हैं। प्लेटो प्रथम साम्यवादी विचारक माना जाता है। उसने बहुत ही सुन्दर ढग से दार्शनिक शासक, सम्पत्ति तथा स्त्रियों के साम्यवाद का विवेचन किया है। अरस्तू ने राज्य को स्वाभाविक तथा आवश्यक संस्था बताकर आदर्शवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। रूसो के ये शब्द अमिट हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है किन्तु वह शृङ्खलाओं से जकड़ा हुआ है। मध्ययुग की सीमा पर खड़े होने वाले आधुनिक युग के सृष्टा मैकियावेली ने नैतिकता तथा धर्म को राजनीति के सदर्भ में केवल नया मोड़ ही दिया किन्तु परम्परागत आधारभूत मान्यताओं को तो एक बार झकझोर डाला। जे० एस० मिल ने बहुत ही प्रभावशाली रूप में स्वतन्त्रता की व्यापक व्याख्या की है और उपयोगितावाद को तर्कशक्ति की कसौटी पर कस कर उसे नैतिक आधार प्रदान किया। मिल ने स्वतन्त्रता का जो पौधा लगाया था वह थॉमस हिल ग्रीन के पास जाकर मानव जनसचेतना का आवश्यक भाग बन गया है। गांधी जी के मृदुल कान्त विचार में हमें प्लेटो का स्वप्नलोक, मार्क्स का वास्तविक जगत तथा रूसो के दार्शनिक विचारों की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक प्लेटो, अरस्तू मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल, मार्क्स, ग्रीन, कौटिल्य, मनु तथा गांधी आदि के विचारों को सश्लिष्ट, स्पष्ट; स्निग्ध, परिमार्जित एवं हृदयग्राही भाषा में प्रस्तुत करने का एक और तुच्छ प्रयास है। यूँ तो इस विषय पर अन्य कई और भी कृतियाँ उपलब्ध हैं परन्तु हमारा यह वर्तमान प्रयास उनसे कुछ भिन्नता लिये हुए है। इस पुस्तक को लिखने में जहाँ बौद्धिक पक्ष का व्यापक ध्यान रखा गया है वहाँ पर विद्यार्थियों के दृष्टिकोण तथा उनकी कठिनाइयों को नहीं भुलाया गया है। प्रत्येक विचारक के विचारों को सरस, सरल, सुमधुर, कान्त भाषा में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्हें शीर्ष तथा उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है जिससे पाठकों को समझने में कोई उलझन उत्पन्न न हो। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों की दृष्टि से पुस्तक को और भी अधिक उपयोगी बनाने के लिए कुछ ऐसे कठिन प्रश्नों को, जैसे Human consciousne.. Postulates liberty, liberty involves right and right demand the state. "Man is born free but he is in chain everywhere." "Machiavelli was the child of his age." "Will, not force the basis of state. The true function of the state is to hinder hindrances to good life." पाठ्य रूप में ही हल किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुस्तक को अधिक से अधिक उपयोगी, स्पष्ट, सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुतिकरण का हमारा अपना ढंग है। मौलिकता का हम दावा नहीं करते परन्तु विचारकों के इन विचारों को विद्यार्थियों तक पहुंचाने का हमारा तरीका है और यही पुस्तक की अपनी निज की विशेषता है। हम उन सब दार्शनिकों तथा विचारकों के प्रति अत्यन्त आभारी हैं जिनकी अनुपम कृतियों से प्रासंगिक एवं सांकेतिक रूप में कुछ सामग्री इस पुस्तक में ले ली गई है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में हमें अपने कई सहयोगियों से अमूल्य सहायता मिली है। श्री मोहनसिंह तँवर, अध्यक्ष 'इतिहास विभाग' राजकीय महाविद्यालय सीकर ने अपने व्यस्त समय का एक बहुत बड़ा भाग निकालकर पाण्डुलिपि को कई

भयानक भूलो से मुक्त किया है। इसके लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। पुस्तक के तैयार करने मे जो सहयोग हमे श्री बी० एन० मेहरा, प्रवन्धक, प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, घटिया आजम खाँ से प्राप्त हुआ है, हम उसके लिये उनके प्रति आभार अनुभव करते हैं। हम श्री पदमचन्द जी जैन, प्रोप्राइटर, रतन प्रकाशन मन्दिर आगरा के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने पुस्तक प्रकाशन मे अपनी असीमित रुचि प्रदर्शित की। लेखकगण श्री कैलाशचन्द्र जैन, प्रवन्धक रतन प्रकाशन मन्दिर के भी अति कृतज्ञ हैं जिन्होंने पुस्तक रचना के सम्बन्ध मे रुचि लेने के लिए सुझाव भी दिये हैं।

यद्यपि इन प्रतिभा सम्पन्न युगान्तकारी राजनैतिक विचारको के विचारो को परीक्षोपयोगी प्रश्नो के साथ-साथ आलोचनात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसकी उपयोगिता का निर्माण हम अपने उन पाठको पर छोडते हैं जिनके लिये यह है। त्रुटि करना मानव स्वभाव का आवश्यक भाग है। हम अपने शिक्षा जगत के उन सब सहयोगियो के प्रति आभारी रहेगे जो हमे पुस्तक की त्रुटियो के सम्बन्ध मे अवगत करा सकें। आगामी सस्करण मे उनके सुझावो को स्थान प्रदान करने का भरसक प्रयत्न किया जायेगा।

रामलखन सिंह
एस० के० दुबे

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

अध्याय १

प्लेटो (Plato)

(४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०)

"Education is an attempt to cure mental malady by mental medicine" —*Plato.*

"The power in the hands of ignorant is poison, that ignorance and poison must give way to knowledge" —*Wayper.*

आदर्श राज्य के प्रथम स्वप्नदृष्टा प्लेटो राजनीति शास्त्र के अद्वितीय विचारक थे। सुकरात जैसे महान दार्शनिक एवं चिंतक की ज्ञान परम्परा में वह एक ऐसा ज्योति पुंज है जिसके कल्पनालोकीय विचारों के प्रकाश से केवल पतनोन्मुख यूनान ही नहीं वरन् वर्तमान एवं भविष्य के राजनीति दर्शन के विविध मार्ग प्रदर्शित होकर अपना आभार प्रकट करते रहेंगे। जिस युग में राजनीति दर्शन के इस मनीषी की अद्भुत प्रतिभा का लावण्यमय आलोक प्रस्फुटित हुआ वह युग विचारों का अथाह कोष सा बन गया है। उसकी बहुमुखी प्रतिभा एक मात्र राजनीति शास्त्र के क्षेत्र तक ही सीमित न रही वरन् विश्व ने उसके कवि, नाट्यकार, दार्शनिक, प्रवक्ता, शिक्षा सिद्धान्तशास्त्री तथा परिवारशास्त्री के मधुमय रूप में भी दर्शन किये। राजनीति शास्त्र की शुष्क विजन वल्लरी में स्निग्ध बसन्त का आह्वान विश्व के इस महान दार्शनिक की अनेकांगी प्रतिभा पर टिका हुआ है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्टोक्लीज (Aristocles) था। वह आज तक अपने विख्यात उपनाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। प्लेटो का जन्म एथेंस के एक कुलीनतन्त्रीय परिवार में ई० पू० ४२७ को हुआ था। उसके पिता का नाम एरिस्टन था। उसकी माता का नाम पेरक्टियन था। पिता की ओर से उसका सम्बन्ध एथेंस के कोटियस वंश से था तथा माता सोलन जैसे प्रसिद्ध विधि निर्माता के कुलीनतन्त्रीय परिवार की थी।

प्लेटो की शिक्षा सुकरात के सरक्षण में प्रारम्भ हुई थी। सुकरात के ज्ञान, दर्शन, तार्किक विचार और विवेक ने उसे बहुत प्रभावित किया था। सुकरात के मृत्यु दण्ड की प्लेटो के मस्तिष्क पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि एक राजनीतिज्ञ बनने की चिरप्रतीक्षित महत्त्वकांक्षा का त्याग कर प्लेटो भ्रमण के लिये निकल पड़ा। १२ वर्ष के भ्रमण काल में उसने सिसली, इटली तथा मिस्र में रह कर अपने अध्ययन तथा मनन द्वारा राजनैतिक शासन प्रणालियों का मंथन किया। कुछ विद्वानों के मतानुसार प्लेटो ने इस अवधि के अज्ञातवास में भारत के गंगा तटीय प्रदेशों के विद्वत जनों से

वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की। फलस्वरूप वह राजनीतिज्ञ के स्थान पर राजनीतिशास्त्री बन गया।

इस पर्यटन काल में प्लेटो ने 'रिपब्लिक' (Republic) 'अपोलोजी', 'प्रोटोगोरास' आदि रचनाओं का प्रारम्भ किया था। सोराक्यूज (Syracuse) का शासक डायोनिसियस प्रथम (Dionysius I) प्लेटो की कृति 'रिपब्लिक' के कारण प्लेटो से अप्रसन्न हो गया और प्लेटो को दासता का जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होना पड़ा। दासता से मुक्त होकर प्लेटो एथेंस लौट आया और यहाँ आकर उसने अपनी विद्यापीठ (Academy) की स्थापना की। यह विद्यापीठ एक ओर विशुद्ध शोध की ज्ञान गंगा का स्थल थी, दूसरी ओर इसमें राजनीतिज्ञों, विधि निर्माताओं को राजनीति में प्रशिक्षित करने का लक्ष्य पूरा किया जाता था। उसने शेष जीवन पर्यन्त इस विद्यापीठ में रहकर 'आदर्श राज्य' के स्वप्न तथा 'दार्शनिक शासक' के निर्माण की कल्पना को मूर्त रूप देने का सतत प्रयास किया।

प्लेटो 'आदर्श राज्य' के निर्माण तथा वर्तमान राज्यों के दोषों का निवारण करने के लिये इस विद्यापीठ के माध्यम से जीवन भर प्रयास करता रहा। इस शिक्षा संस्था द्वारा राजनीति को वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त प्लेटो ने राजनीतिज्ञों को प्रशिक्षित करने का प्रयास किया। बरनेट के अनुसार "प्लेटो का दर्शन प्रथम स्थान पर आत्मा का रूपान्तर और द्वितीय मानवता की सेवा का दर्शन है।" ["His philosophy, in the first place, is the conversion of soul, and in the second place ···the service of mankind".]

प्लेटो को 'दार्शनिक शासक' (Philosopher king) के निर्माण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सीराक्यूज के शासक डायोनिसियस द्वितीय को शिक्षित करने के लिये डायन (Dion) ने उसे निमन्त्रित किया। प्लेटो ३० वर्षीय, वंश परम्परागत तथा निरंकुश शासक को दार्शनिक शासक बनाने की चेष्टा में सफल न हो सका। वह अपनी कल्पना को साकार करने के लिये एक बार पुनः डायनोसियस द्वितीय के आग्रह पर सीराक्यूज गया। प्लेटो का दार्शनिक शासक निर्माण करने का विश्वास पूर्णतः असफल रहा। आदर्शवादी कल्पना का भव्य भवन निर्मित होने से पूर्व ही ढह गया।

प्लेटो के विचारों में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और 'रिपब्लिक' के 'आदर्श शासक' का आश्रय छोड़कर उसने 'आदर्श राजनीतिज्ञ' (Statesman) की खोज प्रारम्भ की। अन्त में वह 'विधि' की शरण गया और 'लॉज' (Laws) में उसने सार्वभौमिक विधि का महत्व प्रतिपादित किया। प्लेटो ने कल्पना के पंख लगा कर व्योम में परिभ्रमण करना चाहा लेकिन जैसे जैसे उसे इसकी विफलता स्पष्ट होती गई, उसने पृथ्वी पर आने की चेष्टा की। वह अपने उच्च आदर्शों की अव्यवहारिकता से परिचित था, इसीलिये उसने कहा कि उसके विचार तथा सिद्धान्त पृथ्वी के निवासियों के लिये उपयुक्त नहीं है। ८० वर्ष की आयु में ई० पू० ३४७ में प्लेटो इस संसार से अपूर्व ख्याति का भोग करते हुए चिर निद्रा में सो गया।

प्लेटो की रचनायें (Plato's Writings)

प्लेटो के विचार लगभग ३६ ग्रन्थों में संग्रहीत हैं। उसे अमरत्व प्रदान कर राजनीति-शास्त्र का प्रकाण्ड पंडित बनाने वाले प्रमुख तीन ग्रन्थ हैं :—

(१) दि रिपब्लिक (The Republic), (२) दि पोलिटिक्स या दि स्टेट्समैन (The Politics or The Statesman), (३) दि लॉज (The Laws), इनके अतिरिक्त (४) क्रीटो (Critto), (५) अपोलोजी (Apology); (६) जार्जियाज (Guorgias), (७) यूथेगेफ्रो (Euthoghpro), (८) मेनो (Meno), (९) प्रोटोगोराज (Protogorus), (१०) लेचे (Laches), (११) चार्मिडस (Charmides), (१२) फ्यूडियो (Pheodia), (१३) फ्यूट्रस (Pheotrus), (१४) सिम्पोजियम (Symposium), (१५) यूथीडेमस (Euthydemus), (१६) थियेटस (Theatus), (१७) साफिस्ट्स (Sophists)।

प्लेटो के सभी ग्रन्थ प्रश्नोत्तर शैली मे लिखे गये हैं। यह डायलोग (Dialogue) शैली कहलाती है। 'डायलोग' का अर्थ प्रश्नोत्तर या 'वादविवाद' होता है। प्लेटो के गुरु सुकरात ने इसका प्रारम्भ किया था। सुकरात के विचार व्यक्त करने का ढग भाषण के समान न होकर नाटक के कथनोपकथन के समान होता था। सुकरात जिज्ञासु व्यक्ति से प्रश्न करता था और उस व्यक्ति के विवेक को जाग्रत कर उसी से उस प्रश्न का उत्तर भी दिला देता था। प्लेटो ने भी डायलोग शैली का अनुकरण करते हुए, अपनी विचारधारा और तर्क को स्पष्ट करने के लिये पशु जगत से तुलनायें दी। 'रिपब्लिक' मे स्थान-स्थान पर कुत्तो आदि पशुओ की तुलना द्वारा संरक्षक वर्ग आदि की स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

प्लेटो पर प्रभाव (Influences on Plato)

(१) नगर राज्यों की परिस्थितियों का प्लेटो पर प्रभाव—प्रत्येक चिंतक अपने युग की विचारधारा का किसी न किसी रूप मे अवश्य ही प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो को भी इसका अपवाद नही कहा जा सकता। उसके समय मे एथेंस पतनोन्मुख जनतन्त्रीय राज्य था। राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग हो रहा था। सर्व साधारण इस सत्ता से खिलवाड कर रहे थे। यूनान के नगर राज्य आपसी कलह तथा द्वेष के कारण अव्यवस्थित हो रहे थे तथा पर्शिया के निरंकुशतन्त्र और स्पार्टा के कुलीनतन्त्र का सम्पर्क एथेंस के प्रजातन्त्रीय शासन को मृतप्राय कर चुका था। इसके अतिरिक्त सुकरात जैसे विद्वान को मृत्यु-दण्ड प्रदान किया गया। प्लेटो के हृदय पर इसका घोर आघात हुआ जिसके फलस्वरूप शनै शनै वह प्रजातन्त्र का विरोधी होता चला गया और एक स्थिति वह उत्पन्न हुई जबकि उसे यह निश्चित करना पडा कि क्यो न सर्व साधारण के शासन को समाज के अग्रगण्य कुलीन एवं योग्य व्यक्तियो को समर्पित कर दिया जाय। प्लेटो का यह सिद्धान्त 'अरिस्टोक्रेसी ऑफ दी इण्टेलेक्ट' (Aristocracy of the intellect)कहलाता है, जिसमे योग्य व्यक्तियो द्वारा शासन का भाव पाया जाता है।

सुकरात का सापेक्ष प्रभाव (Direct influence of Socrates)—प्लेटो पर सुकरात का सापेक्ष प्रभाव भी कम महत्व का नही है। सुकरात के इस सिद्धान्त का कि 'ज्ञान ही गुण है' (Virtue is Knowledge) प्लेटो द्वारा व्यापक समीक्षा एवं दार्शनिक विवेचन किया गया है। इससे प्रभावित होकर प्लेटो यह मानने लगा कि वास्तविक ज्ञान से मानव बुद्धि प्रभावित होती है और उसके माध्यम द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व एवं विवेक को गुण सम्पन्न बनाया जा सकता है। वास्तविक गुण विचार का प्रभाव मात्र ही है। प्लेटो इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा कि वास्तविक ज्ञान इस लाक्षणिक गुण की अनुभूति है जो दार्शनिको द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता

है। सुकरात के विचारों से प्रभावित प्लेटो ने यह भी खोज निकाला कि वही व्यक्ति केवल इस गुण को प्राप्त करने के योग्य है जो भाग्य, अनुमान एवं इच्छाओं के स्थान पर विवेक एवं तार्किक पद्धति द्वारा सोद्देश्य भलाई का पता लगा सके।

(३) मेगेरियन एवं पाइथोगोरियन प्रभाव—सुकरात के अतिरिक्त प्लेटो की विचारधारा पर मेगेरियन तथा पाइथोगोरियन विचारधाराओं का प्रभाव यथेष्ट रूप से परिलक्षित होता है। शिक्षा पाठ्यक्रम में गणित और संगीत के प्रति उसकी विशेष रुचि इसका अच्छा उदाहरण है। इन विचारों से प्रेरित होकर ही बौद्धिक, मानसिक एवं नैतिक विकास के लिये प्लेटो इन विषयों की शिक्षा आवश्यक समझता है।

(४) हेरोडोटस एवं आरिस्टोफेन्स के साम्यवादी विचारों का प्रभाव (Influence of the Communist ideas of Herodotus and Aristophanes)—यद्यपि हम प्लेटो को साम्यवाद का प्रथम प्रणेता मान बैठते हैं जो यथार्थ नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही रूपों में साम्यवाद का प्रतिपादन स्पार्टा और एथेन्स में उससे पूर्व हेरोडोटस और एरिस्टोफेंस आदि विचारकों द्वारा हो चुका था। परन्तु इसके अर्थ यह नहीं है कि उसके साम्यवादी विचारों में मौलिकता का अभाव पाया जाता है। प्लेटो के साम्यवादी विचारों में स्पार्टा के सशस्त्र सैनिक नियन्त्रण तथा यूनान के नगर राज्यों की शासन व्यवस्था का मिश्रित प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होता है। इसी कारण मार्क्सवादी साम्यवाद की भाँति प्लेटोवादी साम्यवाद विश्वव्यापी न बन सका।

रिपब्लिक (Republic)

प्लेटो की समस्त कृतियों में 'रिपब्लिक' का स्थान अद्वितीय एवं सर्वोत्तम है। ४० वर्ष की अवस्था में प्लेटो ने संवाद शैली में इस विश्व-प्रिय ग्रन्थ की रचना की। इसकी सामग्री का संकलन प्लेटो के पर्यटन प्रवास काल में विविध शासन प्रणालियों का विश्लेषण करने के उपरान्त हुआ था। इस ग्रन्थ की रचना में लगभग १० वर्ष लगे। इसे 'यूनान के ज्ञान की पराकाष्ठा' भी कहा जाता है। इस पुस्तक का शीर्षक दुहरा है।

'रिपब्लिक' शीर्षक से साधारणत: यह स्पष्ट होता है कि इसे राजनीति शास्त्र सम्बन्धित ग्रन्थ होना चाहिये। परन्तु इस ग्रन्थ में इस शब्द के प्रचलित अर्थ को नहीं अपनाया गया है। आधुनिक युग में 'रिपब्लिक' शब्द से हमारा यह अभिप्राय होता है कि शासन की समस्त शक्तियाँ जनता के हाथों में होती है और, राज्य का मुख्य अधिकारी जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। भारत तथा अमेरिका आदि राज्यों को 'रिपब्लिक' या गणतन्त्र कहा जाता है क्योंकि वहाँ के राष्ट्रपति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं।

परन्तु प्लेटो ने 'रिपब्लिक' शब्द का प्रयोग इस रूप में नहीं किया है। उसके अनुसार राज्य अथवा किसी संस्था का विधान ही रिपब्लिक है। परिवार, समाज और व्यक्ति के जीवन का विधान भी रिपब्लिक कहलाता है। [Republic is constitution in general—constitution of everything of state, of family, of society and of man's life.]

ग्रन्थ का दूसरा शीर्षक 'न्याय सम्बन्धी' (concerning justice) है। यह शीर्षक भी प्रयोगान्वित न्याय शब्द का द्योतक नहीं है। आजकल न्याय से हमारा

अभिप्राय न्यायाधीश द्वारा अपराधी को दण्ड देने की प्रक्रिया से होता है। लेकिन प्लेटो के अनुसार इसका अभिप्राय यह नहीं है। प्लेटो का न्याय औचित्य, कर्त्तव्य-परायणता एवं व्यवस्था आदि से सम्बन्धित है। इस प्रकार ग्रन्थ का प्रथम शीर्षक यदि आदर्श राज्य व्यवस्था पर जोर देता है तो दूसरा आदर्श राज्य के माध्यम से नागरिकों के परस्पर न्यायोचित मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है।

यह महान् ग्रन्थ केवल राजनीति विषयक ही नहीं है। वरन् इसके अन्तर्गत मानव जीवन का सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। बेंजेमिन जोवेट के अनुसार यह प्लेटो की कृतियों का वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर हम बड़ी सरलता से ज्ञान गाथा के पुष्पों की भाँति उसके समस्त संवादों को पिरो सकते हैं। नेटिलशिप ने प्लेटो की इस अमर कृति की सराहना करते हुये लिखा है कि "रिपब्लिक मानव जीवन का नाटकीकृत दर्शन है।" ['Republic is a dramatised philosophy of human life.'] बार्कर तो प्लेटो के इस व्यापक ग्रन्थ को "मानव के पूर्ण दर्शन का एक प्रयास मान बैठता है" [It is an attempt at a complete philosophy of man.]। नेटिलशिप ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा में यहाँ तक कह डाला है कि "यह राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की एक पुस्तक है जिसका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये कर सकता है और जो आदर्श सिद्धान्त की प्रदर्शनी है।" [Republic is a treatise on political and social reform. It is also the exhibition of an ideal theory of human life which all may apply to themselves.] प्रो० इनिग ने रिपब्लिक को "प्रत्येक दृष्टि से प्लेटो का महान कार्य बताया है। उसके विचारों का सार तथा उनको प्रकट किये जाने का स्वरूप सभी ने आने वाली पीढ़ियों को आकर्षित किया है और समाप्त न होने वाले अनुकरण के लिये प्रोत्साहित भी किया है।'[The Republic is in every respect Plato's greatest work Both the substance of his thought and the form in which it is expressed have fascinated all succeeding generations and have stimulated endless imitation.]

यह ग्रन्थ मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है। यह ग्रन्थ इस सत्य को मान कर चलता है कि मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है जिसके कार्यों का अध्ययन बिना उसके विचारों का अध्ययन किये असम्भव ही है। मानव जीवन के विविध पहलुओं एवं उसके अध्ययनों की भाँति रिपब्लिक को भी विभिन्न भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि जीवन अनुभवों का महान उदधि रिपब्लिक आदर्श एवं व्यवहार का एक अनूठा सोपान है। एक लेखक के अनुसार प्लेटो के संवादों में उसके दृष्टिकोण की विशालता, दूरदर्शिता, भाव प्रकाशन शैली एवं बहुमुखी ज्ञान गरिमा का जैसा सुन्दर समन्वय दिखलाई पड़ता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सेबाइन ने रिपब्लिक की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "मानव जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष का आलिंगन प्लेटो के दर्शन में हुआ है"। [In it practically everyside of Plato's philosophy is touched upon or developed and its range of subject matter is such that it may be said to deal with the whole of human life.]

अर्नेस्ट बार्कर ने रिपब्लिक का ५ भागों में विभाजन किया है :

१. आदर्शात्मक (Idealistic)—प्लेटो संसार के समस्त भौतिक पदार्थों और अच्छाई के विचार में एकमात्र तत्व सत्य का स्थान निर्धारित करता है। यह सत्य

कल्पनालोकीय संसार में स्थित होने के कारण प्लेटो के आदर्शवादी पक्ष को स्पष्ट करता है। यही बाद के आदर्शवादी विचारक हीगल आदि की विचारधाराओं का आधार बना।

२. नैतिकता (Ethical)—रिपब्लिक के दूसरे प्रकरण में नैतिकतावादी विचार प्राप्त होते हैं। उसमें प्लेटो ने मानव आत्मा के विविध गुणों की विवेचना की है जिन्हें न्याय द्वारा आदर्श जीवन को उपलब्धि में सहायक बनाया जा सकता है।

३. शिक्षा सम्बन्धी (Educational)—प्लेटो के मूल विचार आदर्श राज्य की स्थापना और दार्शनिक शासक के निर्माण के लिये इस पुस्तक में विशेष पाठ्यक्रम युक्त शिक्षा पद्धति प्रस्तावित की गई। इस कारण यह सन्देह होने लगता है कि यह शिक्षा शास्त्र पर रचा गया ग्रन्थ है।

४. परिवार एवं सम्पत्ति (Family and Property)—राजनीति शास्त्र सम्बन्धी प्रकरण में प्लेटो आदर्श समाज एवं राज्य की आधारभूत संस्था सम्पत्ति और परिवार पर विचार करता है।

५. आदर्श राज्य (Ideal State)—आदर्श राज्य की ऐतिहासिक विवेचना करते हुए प्लेटो ने यह बताया कि इतिहास के परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है; किस प्रकार आदर्श राज्य निरंकुश राज्य में परिवर्तित होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रिपब्लिक एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके अन्तर्गत मानव ज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं का सम्पूर्ण चित्रण विविधता सहित किया गया है। रिपब्लिक इस कोटि का ग्रन्थ है जिसमें नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा दर्शन का सुन्दर समावेश हुआ है। रिपब्लिक को कला, संगीत और दर्शन का अनूठा संगम कह कर पुकारा जाता है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि एक ही ग्रन्थ में इन विभिन्न शास्त्रों का समावेश क्यों हुआ ? इसका मूल कारण यह है कि उस समय पर इन शास्त्रों का पृथक-पृथक सीमांकन नहीं था, जो कि उन्हें बाद में प्रदान किया गया। इसका दूसरा कारण भी है कि नगर राज्यों में जीवन इतना अधिक विकसित नहीं हो पाया था, जितना वह आज दिखाई देता है। व्यक्ति की कला, धर्म आदि नागरिकता से सम्बन्धित थे अतः ज्ञान के विविध रूपों का प्रयोग आदर्श नागरिक जीवन की सृष्टि के लिये साधनों के रूप में किया जाता था।

प्लेटो के ज्ञान और गुण सम्बन्धी विचार
(Plato's Conception of Knowledge and Virtue)

रिपब्लिक में प्लेटो ने ज्ञान और गुण पर विचार किया। यह सुकरात द्वारा युक्त शब्द थे, जिन्हें प्लेटो ने विकसित करते हुए व्यक्त किया। सर्वप्रथम प्लेटो ने ह प्रश्न प्रस्तुत किया कि 'अच्छा' (Good) क्या होता है ? उत्तर देते हुए प्लेटो ने बताया कि 'सत्य' अच्छा होता है। सत्य हमारे विचार जगत की वस्तु है जो विश्व के प्रत्येक पदार्थ में किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है।

प्लेटो ने 'सत्य' को अच्छाई का सर्वव्यापक तत्व निर्धारित करते हुए एक अन्य प्रश्न प्रस्तुत किया कि अच्छा मनुष्य कौन होता है ? यूनान के नगर राज्यों में राज्य का नागरिक ही अच्छा मनुष्य समझा जाता था। क्या मनुष्य को किसी भी प्रकार से अच्छा बनाया जा सकता है ? प्लेटो ने इसका स्पष्टीकरण यह किया कि मनुष्य को

अच्छा बनाने के लिये उसको गुणवान नागरिक बनाया जाना चाहिए। गुण किसी भी व्यक्ति को ज्ञान द्वारा और ज्ञान को शिक्षा द्वारा प्रदान किया जा सकता है।

प्लेटो ने रिपब्लिक मे सुकरात के इस विचार को कि 'ज्ञान ही गुण है' (Virtue is Knowledge) मूल रूप मे स्वीकार तो किया, परन्तु अपने संशोधनो और परिवर्तनो द्वारा उसको परिमार्जित कर दिया। सुकरात के इन विचारो को कि वास्तविक गुण गुण का विचार है, वास्तविक ज्ञान उस विचार की अनुभूति है, जो इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है वही अच्छा है, केवल विद्वान दार्शनिक ही यह गुण प्राप्त कर सकते हैं—को प्लेटो ने अव्यावहारिक मानते हुए उन्हे वास्तविक जीवन के लिये दो मागो मे विभाजित कर दिया—व्यवहारिक गुण तथा विशिष्ट गुण। उसने इस वर्गीकरण के समर्थन मे मनोवैज्ञानिक तर्क प्रस्तुत किये हैं। विशिष्ट गुणो से सम्बन्धित तथ्यो का समर्थन करते हुये प्लेटो साहस और क्षुधा दोनो ही को विवेक के अधीन मानता है और न्याय को वह इन तीनो का नियन्त्रक गुण स्वीकार करता है। इस रूप में न्याय को गुणो का गुणात्मक रूप बताया गया है।

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त (Theory of Justice)

रिपब्लिक मे प्लेटो का मूल लक्ष्य आदर्श राज्य की स्थापना है जो सुव्यवस्था, संगठन और एकता के गुणो से युक्त हो। अज्ञानता, विवेकहीनता, शान्ति का अभाव, अव्यवस्था एवं स्वार्थपरता आदि सामाजिक दुर्गुण व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यो का सद्-निर्वाह नहीं करने देते। कुशल एव दूरदर्शी दार्शनिक प्लेटो ने यह भली-भांति समझ लिया कि आदर्श राज्य के नागरिको को कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिये तथा उनमें नागरिक गुणो का विकास करने के लिये इन दुर्गुणो का उपचार करना नि सन्देह आवश्यक है और उसने न्याय को एतदर्थ सिद्धान्त के रूप मे खोज निकाला।

रिपब्लिक मे प्लेटो ने न्याय को अपने सम्पूर्ण दर्शन का आधार बनाया है। प्लेटो के अनुसार न्याय 'जस्टिस' (Justice) का अनुवाद है, न्याय की आधुनिक परिभाषा से भिन्न है। न्याय एक ऐसे अर्थ मे प्रयोग किया जाता है जिसके लिये उपयुक्त पर्यायवाची शब्द मिलना सरल नही है। भारतीय दर्शन मे प्लेटो के 'न्याय' के अर्थ मे 'स्वधर्म' शब्द प्रयोग किया गया है। वर्तमान न्यायशास्त्र के अनुसार 'न्याय' व्यक्ति के किसी कानून भग करने अथवा व्यक्तिगत एव सामाजिक अधिकारो के प्रति अपराध करने की अवस्था मे राज्य द्वारा प्रयुक्त प्रक्रिया है। जिसके द्वारा शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य प्रयत्नशील रहता है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की वैधानिक व्याख्या स्पष्ट नही है। उसकी न्याय व्याख्या भारतीय 'धर्म' के अधिक समीप दिखाई देती है। न्याय नैतिक अच्छाई के चार तत्वों—विवेक (Reason), साहस (Spirit), क्षुधा या वासना (Appetite), न्याय (Justice) का एक मिश्रित गुण है। नैतिक अच्छाई के रूप मे न्याय व्यक्तिगत एव सामाजिक दोनो ही क्षेत्रो के प्रयोग मे लाया जाता है। यद्यपि न्याय अच्छाई का ही एक तत्व है लेकिन रिपब्लिक में प्लेटो ने उसे अच्छाई का ही दूसरा नाम बतलाया है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में समझने के लिये उसमें पूर्ववर्ती न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तो का अध्ययन करना आवश्यक है। प्लेटो अपने से पूर्व प्रतिपादित तीन न्याय सिद्धान्तो की आलोचना करता है और तदुपरान्त विश्लेषणात्मक रूप मे वह अपने न्याय सम्बन्धी विचारो का स्पष्टीकरण करता है। अत यह आवश्यक हो जाता है कि प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विवेचन से

परिचय प्राप्त करने से पूर्व हम प्रचलित न्याय सिद्धान्तों तथा प्लेटो द्वारा उनका खंडन किस प्रकार किया गया है, पर दृष्टिपात कर लें।

(१) न्याय का परम्परागत सिद्धान्त (Traditional theory of Justice)—रिपब्लिक में नाटकीय कथन-उपकथन के द्वारा न्याय क्या है, इसकी विवेचना की गई। नाटक के विभिन्न पात्रों के रूप में सुकरात, सीफालस (Cephalus) और उसका पुत्र पोलीमारकस (Polymarcus) तथा अन्य नागरिक प्रस्तुत होते हैं। इसके विचार विमर्श के उपरान्त न्याय का परम्परागत सिद्धान्त प्राप्त होता है। सुकरात ने प्रमुख पात्र के रूप में यह प्रश्न किया कि न्याय क्या है? जिसका उत्तर एथेंस में निवास करता हुआ एक विदेशी सीफालस इस प्रकार देता है कि 'सत्य भाषण करना तथा अपने पूर्वज और देव ऋण से उऋण होना ही न्याय है'। पोलीमारकस ने पिता के इस कथन को अन्य परम्परागत विचारों के अध्ययन के उपरान्त इस प्रकार व्यक्त किया कि "प्रत्येक व्यक्ति को, उसके प्रति उचित व्यवहार देना ही न्याय है।" 'उचित' शब्द की व्याख्या आगे चलकर यह की कि "न्याय एक कला चतुराई के साथ प्रयोग करने का नाम है, अतः न्याय मित्र के प्रति श्रेष्ठ और शत्रु के प्रति घृणित व्यवहार करना ही है।"

आलोचना (Criticism)—परम्परागत न्याय सिद्धान्त आधार रूप में ही अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। प्लेटो ने पोलीमारकस के 'न्याय एक कला है' विचार का निम्न विभिन्न तर्कों के आधार पर खंडन किया :—

(१) न्याय को कला बताने का परिणाम यह हो सकता है उससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी। क्योंकि कला चतुराई के साथ प्रयोग की जाती है और वह दो विरोधी प्रकृति के कार्य कर सकती है। उदाहरण के लिये डाक्टर अपनी चिकित्सा कला के आधार पर लाभ और हानि दोनों ही पहुँचा सकता है।

(२) यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि मित्र के साथ मित्रवत् और शत्रु के साथ शत्रुवत् व्यवहार करना ही न्याय है तो भी एक कठिनाई उपस्थित होती है कि शत्रु और मित्र कौन है? यह भेद करना सरल नहीं। हमें ऐसे व्यक्ति दिखाई देते हैं जिनका बाह्य आचरण मित्र जैसा प्रतीत होता है और वास्तव में हमारे शत्रु होते हैं। उनके मुख में राम बगल छुरी होती है। इसी भाँति अदूरदर्शी और अज्ञानी मनुष्य किसी व्यक्ति को शत्रु समझ लेते हैं जबकि वास्तव में वह उनका हितैषी होता है।

(३) इसके अतिरिक्त शत्रु को सदैव हानि पहुँचाना भी न्याय नहीं हो सकता। न्याय एक ऐसी कला नहीं है जो हानि पहुँचा सके। शत्रु को भी हानि पहुँचाना अनैतिक है। नैतिक सिद्धान्त यह है कि हमें उस बुराई को दूर करना चाहिये अन्यथा बुरा व्यक्ति और बुरा बन जायगा।

प्लेटो के अनुसार न्याय मानव मस्तिष्क एवं आत्मा का स्वाभाविक गुण है जो कभी भी हानि पहुँचाने की कल्पना ही नहीं करेगा। वह नित्य परिवर्तनशील होने के स्थान पर सदैव प्रत्येक परिस्थिति, देश, काल एवं व्यक्ति के प्रति समान रहता है।

(२) न्याय का क्रांतिकारी सिद्धान्त (Radical theory of Justice)—न्याय के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) ने दुहरी व्याख्या द्वारा किया।

(अ) **शक्तिशाली का हित ही न्याय है**—उसने नैतिकता को तिलांजलि देकर यह मत अभिव्यक्त किया कि 'शक्ति सम्पन्न का हित साधन ही न्याय है' (Justice is the interest of stronger)। यह स्पिनोजा के अनुसार 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' 'शक्ति के औचित्य' (Jus Potentia) मे चरितार्थ होता है। थ्रेसीमेकस का यह तर्क राज्य के उचित-अनुचित प्रत्येक कार्य को न्याय संगत ठहराता है। उसका विचार यह है कि जब शक्तिशाली का हित ही न्याय है तब राज्य की सरकार ही सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न होती है अतः उसका प्रत्येक *कार्य और आदेश हितकारी ही होता है।*

(ब) **'अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है'**—थ्रेसीमेकस न्याय के उपरोक्त विचार को आगे बढ़ाते हुए यह कहता है कि 'अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है' और इसकी पुष्टि वह इस तर्क के आधार पर करता है कि यदि *यह मान भी लिया जाय कि न्याय* शासक के हित के अतिरिक्त और कुछ नही है तो अन्य व्यक्तियों के लिये न्याय की व्याख्या दूसरो के हित (Anothers good) के रूप मे की जा सकती है। उसके अनुसार न्याय की कसौटी यह है कि उसके द्वारा किस सीमा तक व्यक्ति को सन्तोष प्राप्त होता है। न्याय को वह शासक के सन्तोष के लिये भी एक साधन मानता है परन्तु शासक का सन्तोष प्रायः नागरिको का असन्तोष बन जाता है। जो शासक के लिये न्यायिक होता है, नागरिकों के लिये वह अन्यायजन्य हो सकता है। इस उलझन से निकलने की चेष्टा मे तुरन्त ही वह यह मान बैठता है कि *न्याय शासक की आज्ञा का* पालन ही है। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से हम यह देखते हैं आँख बन्द करके राजाज्ञा मानना स्वयं के प्रति अन्याय है। इस तर्क जाल से मुक्त होने के लिये, व्यक्ति और शासक के हितो मे न्याय सम्बन्धी समन्वय उत्पन्न करने के लिये थ्रेसीमेकस फिर यह कह देता है कि व्यक्ति को जब अवसर मिले उसी समय शासक की आँख बचा कर उसकी आज्ञा की अवहेलना करनी चाहिये। इस प्रकार थ्रेसीमेकस के द्वारा न्याय की दुहरी विवेचना हुई है कि 'शक्ति सम्पन्न का हित ही न्याय है' और 'अन्याय न्याय की अपेक्षा श्रेष्ठ है'।

प्लेटो द्वारा क्रान्तिकारी सिद्धान्त की आलोचना (Platonic Criticism of Radical Theory of Justice)—इस सम्बन्ध मे प्लेटो ने निम्न तर्क दिये हैं :—

(अ) **शासक सर्वदा अपने हित के लिये शासन नहीं करता**—प्लेटो ने सुकरात के इस विचार को कि 'शासन करना एक कला है, आगे बढ़ाते हुये इस बात पर बल दिया कि कला का जन्म ही किसी न किसी दोष के कारण होता है। उदाहरणार्थ, चिकित्सा कला का विकास शारीरिक दोष के कारण, शिक्षण कला का विकास मानसिक *दोष के कारण होता है। ठीक उसी प्रकार शासन कला का विकास भी नागरिक* दोषो के निवारण के लिये होता है। अतः शासक का प्रत्येक कार्य नागरिकों के हित साधन के अतिरिक्त और कुछ नही है।

(ब) **अन्याय न्याय से उत्तम नहीं होता**—प्लेटो थ्रेसीमेकस के इस सिद्धान्त से सहमत नही है कि अन्याय न्याय से उत्तम होता है। वह अन्यायी व्यक्ति की अपेक्षा न्यायी व्यक्ति को अधिक बुद्धिमान, शक्तिशाली और प्रसन्न मानता है। अन्यायी व्यक्ति की अपेक्षा *यह सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि प्रतियोगिता समान स्थिति के व्यक्ति के साथ हो*, अर्थात् प्रतियोगियो मे शेर-बकरी जैसा अन्तर नही होना चाहिये। इस प्रकार न्यायी व्यक्ति का प्रतियोगिता मे भाग लेने का लक्ष्य केवल प्रतियोगिता मे भाग लेने के लिये नही, वरन् श्रेष्ठ बनने के लिये है। न्यायी व्यक्ति अपने

आत्मिक गुणों के अनुसार कार्य करता है। गुणों के अनुसार कार्य करना सदैव श्रेष्ठ होता है, जैसे नेत्र का देखने का कार्य स्वाभाविक गुण होने के कारण नेत्र द्वारा ही श्रेष्ठ प्रकार से किया जाता है। अन्यायी व्यक्ति सर्वदा ही अपने स्वाभाविक गुणों की उपेक्षा करके कार्य करता है जैसे नेत्र होने पर भी देखने का कार्य वह टटोल कर चलाता है। वह न्यायी व्यक्ति की अपेक्षा कदापि श्रेष्ठ नहीं हो सकता।

(३) न्याय का कार्य-कारण सिद्धान्त (Pragmatist Theory of Justice)—ग्लाउकन (Glaucon) कार्य-कारण पर आधारित न्याय सिद्धान्त का समर्थन करते हुये यह विचार व्यक्त करता है कि न्याय कृत्रिम या अप्राकृतिक है। दुर्बल व्यक्तियों ने अपने हित के लिये उसको स्थापित किया। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में राज्य नहीं था और शक्तिशाली निर्बलों पर अत्याचार करते थे। निर्बलों ने अन्याय न सहन करने के लिये एक समझौते द्वारा शक्तिशालियों के अत्याचार रोकने की व्यवस्था की। इस समझौते का पालन करने के लिये कुछ परम्परायें बनाई, जो भविष्य के लिये नियम बन गईं। अपनी रक्षा के भय के कारण निर्बल व्यक्ति इन प्रथाओं का पालन करने लगे। इसीलिये बार्कर ने 'न्याय को भय का पुत्र' माना (Justice is the child of fear)।

आलोचना—प्लेटो ने ग्लाउकन के न्याय के कृत्रिम या 'भय का पुत्र' होने की आलोचना की। उसने कहा कि न्याय एक स्वाभाविक निर्बल-सबल सभी के लिये समान उपयोगिता रखने वाला और प्राकृतिक है।

प्लेटो की न्याय व्याख्या (Platonic Exposition of Justice)

(१) आत्मा और न्याय का पारस्परिक सम्बन्ध है—प्लेटो न्याय को बाह्य नहीं वरन् आत्मा की आन्तरिक व्याख्या बताता है। न्याय आत्मा से सम्बन्धित है। न्याय की व्याख्या के लिये व्यक्ति के आन्तरिक रूप का अध्ययन अनिवार्य है। प्लेटो न्याय को एक ऐसा प्रेस मानता है जिसकी दो प्रतियाँ हैं एक छोटे अक्षरों में, दूसरी बड़े आकार के अक्षरों में। छोटे रूप में वह व्यक्ति की आत्मा है और बड़े रूप में राज्य की।

व्यक्ति की आत्मा के तीन गुण होते हैं—

(i) बुद्धि या विवेक (Reason)
(ii) साहस (Spirit)
(iii) वासना या क्षुधा (Appetite)

न्याय का इन गुणों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः न्याय का आत्मा से सम्बन्ध मान्य है।

व्यक्ति की आत्मा के यह तीनों गुण राज्य की आत्मा में भी परिलक्षित होते हैं। राज्य में व्यक्ति निवास करते हैं। उनकी आत्मा के विभिन्न गुणों के संचय से राज्य में भी तीन गुणों के आधार पर तीन वर्ग बन जाते हैं—

(i) शासक (Guardian)
(ii) सैनिक (Auxillary)
(iii) उत्पादक (Producers)

यह वर्गीकरण भारतीय वर्ण-व्यवस्था के समकक्ष है। भारतीय राजदर्शन समाज को तीन के स्थान पर चार भागों में बाँटता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस विभाजन का आधार आत्मिक गुण ही माना गया है। जिस व्यक्ति में जिस गुण की अधिकता होती है उसे उसी वर्ग में सम्मिलित किया जाता है। परन्तु दुर्भाग्य से कालान्तर में वर्गीकरण का यह आधार जन्म से माना जाने लगा।

राज्य के गुण से हमारा अभिप्राय व्यक्ति के गुणों से होता है क्योंकि वह व्यक्तियों का ही एक समूह है। विलक्षण बुद्धि एवं विवेक युक्त व्यक्ति ही शासक होते हैं। साहसी व्यक्ति सैनिक रूप में राज्य रक्षा का भार वहन करते हैं। आत्म नियन्त्रण और संयम के गुणों से युक्त व्यक्ति उत्पादन कार्यों में भाग लेते हैं। न्याय राज्य का महत्वपूर्ण गुण है। क्योंकि यह तीनों वर्गों को अपने-अपने क्षेत्र में रह कर कार्य करने का अवसर देता है। निष्कर्षतः अपने क्षेत्र में रह कर कर्तव्यपालन करना ही न्याय है।

(२) न्याय हस्तक्षेप हीनता (non-interference) का सिद्धान्त है—न्याय राज्यों के तीनों वर्गों के व्यक्तियों को अपने ही निर्धारित कार्यों के अनुरक्त रखने का सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त प्रकृति होने के कारण अपनी योग्यता का प्रदर्शन करे और अन्य व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप न करे, यही न्याय का मूल मंत्र है। सेबाइन के अनुसार "एक व्यक्ति के लिये अपने कार्य को करने की अपेक्षा, जिसके लिये वह योग्य है, कुछ अच्छा नहीं है, अन्य व्यक्ति और सम्पूर्ण समाज के लिए भी इससे अच्छा कोई नहीं है कि वे अपने उपर्युक्त कार्यों को ही करें।"

[There is nothing better for a man than to have his work to be fitted to do it there is nothing better for another man and for the whole society than that each should thus be filling the station to which 'he' is entitled)

(३) न्याय कार्य-विशेषीकरण (Specialisation of function) का सिद्धान्त है—प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति प्रदत्त गुणों के आधार पर किसी एक कार्य विशेष के लिए ही उपयुक्त होता है। जिस कार्य-सम्बन्धी गुण उसमें अधिक होता है वह यदि उसी कार्य को विधिवत करता चला जाय, तभी कार्य क्षमता दिखाई देती है। इसी लिये प्लेटो ने कहा कि "जिस कार्य के करने की प्रकृति प्रदत्त सर्वोत्तम प्रतिभा व्यक्ति में हो, उसे एकमात्र वही कार्य करना चाहिये।" [That one man should practice one thing only, and that the thing to which his nature was best adopted]

(४) न्याय श्रम विभाजन (division of labour) का पोषक है—प्रकृति ने मनुष्य के श्रम विभाजन के आधार अनेकों कार्यों को रुचि, क्षमता और दक्षता के साथ करने की शक्ति प्रदान की है। जब एक व्यक्ति केवल एक ही कार्य करता है तो उसकी योग्यता, अभ्यास और अनुभव उसे विशेषज्ञ बना देते हैं। वह बहुधन्धी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उत्पादन कम समय में अधिक कुशलता के साथ करता है। यही *नहीं श्रम विभाजन व्यक्ति की अनेकों आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही* उसे बौद्धिक, नैतिक एवं राजनैतिक कार्यों के लिये उपयुक्त अवसर भी प्रदान करता है। व्यक्ति की भोजन, वस्त्र, निवास की आवश्यकता पूर्ति के लिये श्रमविभाजन के आधार पर समाज जुलाहा, कृषक, शिल्पी आदि अनेकों वर्गों में बँट जाता है।

(५) न्याय समाज में समन्वय स्थापित करता है—राज्य में विभिन्न व्यक्ति पृथक-पृथक कार्य करते हैं, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ समाज के तीन वर्ग बना देती हैं। यह वर्ग अलग-अलग कार्य करते हुए समाज के सर्वांगीण विकास में न्याय के आधार पर ही समन्वय रखते हैं। प्रो० सेबाइन के अनुसार "न्याय समाज को एकत्रित करने वाला उपबन्ध है जिसके द्वारा व्यक्ति मधुर एकता में रहकर, अपनी प्राकृतिक योग्यता और शिक्षा के अनुकूल अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करते हैं। यह वैयक्तिक और सार्वजनिक गुण है क्योंकि उनके द्वारा राज्य और व्यक्ति दोनों की सर्वोच्च भलाई है।" [Justice is the bond which holds society to gather, a harmonius union of individuals, each of whom has found his life work in accordance with his natural fitness and his training It is both a public and a private virtue because the highest good both of the state and of its members is thereby conserved.]

संक्षेप में न्याय आन्तरिक अहस्तक्षेप, कार्य-विशेषीकरण और समन्वय स्थापित करने वाला सिद्धान्त है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Plato's Theory of Justice)—इनकी आलोचना में निम्न बातें कही जाती हैं :—

(१) **नैतिकता और न्याय में अन्तर नहीं (Morality and justice do not witness any difference)**—प्लेटो के न्याय की यह आलोचना की जाती है कि उसने न्याय तथा नैतिकता में स्पष्ट अन्तर नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्धारित कार्य किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं, वरन् आन्तरिक आत्म-नियन्त्रण के कारण करता रहेगा। आत्म-नियन्त्रण एक नैतिक सिद्धान्त है, कानूनी नहीं। इस प्रकार प्लेटो का न्याय, नैतिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

(२) **शासक से अत्यधिक आशा (Excessive hope from the administrator)**—प्लेटो ने गुणों के आधार पर विवेक सम्पन्न व्यक्ति को शासक बनाया। शासक राज्य के सभी नागरिकों के हित की दृष्टि से न्यायपूर्वक कार्य करता रहेगा, प्लेटो की यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। हम यदि यह भी मान लें कि दार्शनिक शासक (Philosopher King) योग्यतम, गुण सम्पन्न व्यक्ति ही बन सकेगा, तो भी इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अवहेलना नहीं कर सकते कि शक्ति सदैव स्वार्थपरता, भ्रष्टता की जननी होती है। आदर्श शासक स्वार्थी और भ्रष्ट नहीं होंगे, यह उनसे अत्यधिक आशा करना ही है।

(३) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर न्याय सिद्धान्त आघात करता है (It is an attack on individuals liberty)**—न्याय सिद्धान्त द्वारा कार्य के विशेषीकरण की व्याख्या करते हुए प्लेटो ने नागरिकों को तीन वर्गों में विभाजित कर दिया। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति अपने निर्धारित कार्य ही करते रहेंगे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्ति यदि कभी अपना कार्य छोड़कर दूसरा कार्य करना चाहेगा, तो भी वह ऐसा नहीं कर सकेगा। यह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्णतया हनन ही कर देगा।

(४) **व्यक्ति के अधिकारों का कर्त्तव्य की वेदी पर बलिदान (Sacrifice of Individual's right on the pyre of duty)**—प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति के कर्त्तव्यों का ही चित्रण किया, उसके अधिकारों का कहीं उल्लेख तक नहीं होने दिया। सर्वत्र उसने व्यक्ति से आशा की कि वह अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति

सम्पादित करता चला जाय, लेकिन कहीं भी यह चर्चा तक नहीं की कि व्यक्ति को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त होंगे। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अधिकार के बिना कर्त्तव्य और कर्त्तव्य के बिना अधिकार का कोई मूल्य नहीं होता। अतः प्लेटो जैसे प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक का केवल कर्त्तव्य मात्र पर जोर देना गम्भीर त्रुटि है।

(५) प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कार्यों के विशिष्टीकरण पर आधारित है। इसके अनुसार एक व्यक्ति किसी एक ही कार्य करने की क्षमता रखता है। परन्तु इसका माप-दण्ड क्या है कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य विशेष को करने की विशेष योग्यता रखता है। किसी वर्ग विशेष को कार्य सौंपने का सिद्धान्त मापक विहीन होने के कारण सार रहित हो जाता है।

(६) स्वाभाविक प्रवृत्ति व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा देती है और वह एक वर्ग के कार्य अपना लेता है, यह और भी सन्दिग्ध है। उदाहरण के लिये, हम नित्य ही जीवन में देखते हैं कि बुद्धि वर्ग या उत्पादक वर्ग भी राष्ट्र पर आक्रमण के समय सैनिक बन जाता है। दूसरे, सैनिक भी सत्ता हथिया कर शासक बन जाता है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ शासक बनने से पूर्व सैनिक थे।

(७) न्याय सिद्धान्त राज्य की अत्यधिक एकता के नाम पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का राज्य में विलय कर देता है। यह असंगत है।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त (*Plato's Theory of Education*)

आदर्श राज्य की कल्पना को साकार करने के लिये प्लेटो ने एक शिक्षा पद्धति पर विचार किया। आदर्श राज्य में न्याय द्वारा व्यक्तियों को अपने कार्य करने की प्रेरणा देकर श्रेष्ठ नागरिक बनाया जाता है। लेकिन आदर्श राज्य के श्रेष्ठ नागरिक निर्माण में दो प्रकार की बाधाएँ आती हैं—(१) मानसिक, (२) भौतिक। मानसिक बाधाएँ उचित शिक्षा द्वारा दूर की जा सकती हैं। शिक्षा प्रणाली मानसिक रोग को दूर करने की एक औषधि है। सेबाइन के अनुसार 'शिक्षा वह सकारात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक राज्य का सामंजस्य पूर्ण निर्माण करने के लिए मानव प्रकृति को सही रूप में ढाल सकता है।' [For education is the positive means by which the ruler can shape human nature in the right direction to produce a harmonious state.] शिक्षित नागरिक कठिनाइयों तथा संकटों का सामना अच्छी तरह कर सकते हैं। सेबाइन के ही शब्दों में 'यदि नागरिक भली-भाँति शिक्षित होंगे तो वे आसानी से कठिनाइयों को देख सकेंगे और संकट उत्पन्न होते ही उनका समाधान कर देंगे।' [If the citizens are well educated they will readily see through the difficulties that best them and meet emergencies as they arise.]

रिपब्लिक में प्लेटो एक शिक्षा प्रणाली के आविष्कार के प्रति प्रयत्नशील है। इस खोज में वह यूनान के प्रमुख राज्यों एथेंस और स्पार्टा की प्रचलित शिक्षा प्रणालियों का अवलोकन करता है। उस समय इन दोनों ही राज्यों की शिक्षा पद्धति बहुत विकसित हो चुकी थी। प्लेटो ने इन दोनों शिक्षा व्यवस्थाओं के गुण और दोषों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। इसके पश्चात् दोनों के गुणों के समन्वय युक्त अपने आदर्श राज्य की शिक्षा प्रणाली का वर्णन किया। अतः एथेंस और स्पार्टा

की शिक्षा पद्धति, उनके गुण और दोष का अध्ययन, प्लेटो की शिक्षा पद्धति से पूर्व आवश्यक है।

एथेंस की शिक्षा व्यवस्था (System of Education in Athens)

(१) शिक्षा का स्वरूप व्यक्तिगत था, राजकीय नहीं—उस समय एथेंस की शिक्षा का प्रबन्ध परिवार और व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा होता था, पिता अपने पुत्र की शिक्षा के लिये स्वयं ही पाठ्यक्रम निर्धारित करता था। राज्य शिक्षा के पाठ्यक्रम पर नियन्त्रण नहीं रखता था, जिसके फलस्वरूप नागरिकों को श्रेष्ठ नागरिक बनने का अवसर नहीं मिलता था।

(२) शिक्षा का पाठ्यक्रम—शिक्षा के तीन स्तर होते थे—प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च।

प्राथमिक शिक्षा—६ से १४ वर्ष की आयु के बालकों को इस स्तर पर संगीत, व्यायाम, साहित्य की शिक्षा दी जाती थी।

माध्यमिक शिक्षा—१४ से १८ वर्ष की आयु के विद्यार्थियों को सॉफिस्ट विचारक राजनीति की शिक्षा देते थे।

उच्च शिक्षा—१८ से २० वर्ष की आयु में सैन्य शिक्षा दी जाती थी। सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद युवक पूर्ण नागरिक हो जाते थे।

(३) श्रेष्ठ नागरिकों के निर्माण में अपूर्ण पाठ्य-क्रम—शिक्षा पाठ्यक्रम में संगीत एवं क्रीड़ा पर अधिक ध्यान दिया जाता था। केवल संगीत और क्रीड़ा ही किसी व्यक्ति को कदापि श्रेष्ठ नागरिक नहीं बना सकते थे। एथेंस में निरन्तर ही क्रीड़ा और संगीत के आयोजन चलते रहते थे। नागरिक अपना अधिकतर समय इनकी प्रतिस्पर्धाओं में लगाते थे जिसके फलस्वरूप योग्य मस्तिष्क वाले अच्छे नागरिक बनना सम्भव नहीं होता था।

(४) अत्यन्त व्यय साध्य शिक्षा—यह शिक्षा अत्यन्त महँगी होती थी। राज्य द्वारा अनुदान न देने और सॉफिस्ट विचारों द्वारा संचालित होने के कारण छात्र को भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती थी। इसका परिणाम यह होता था कि थोड़े से धनाढ्य व्यक्ति ही शिक्षा से लाभ उठा पाते थे और निर्धनता के कारण अधिकांश जन-समूह शिक्षा से वंचित रह जाता था।

स्पार्टा की शिक्षा व्यवस्था (System of Education in Sparta)

(१) शिक्षा पूर्ण राजकीय नियन्त्रण में होती थी—स्पार्टा की शिक्षा व्यवस्था एथेंस की शिक्षा प्रणाली से मौलिक रूप से भिन्न होती थी। एथेंस एक उन्नतिशील राज्य था, स्पार्टा एक प्रारम्भिक समाज था। शिशु को ७ वर्ष की आयु में ही माता-पिता से पृथक् कर राजकीय अधिकारियों की देख-रेख में ले लिया जाता था। राज्य ही शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था और विद्यार्थी के परिवार को उसमें हस्तक्षेप नहीं करने दिया जाता था।

(२) पाठ्यक्रम सैन्य शिक्षा तक ही सीमित था—स्पार्टा की प्रमुख समस्या बाह्य आक्रमण से रक्षा थी। विद्यार्थी को व्यायाम, क्रीड़ा और युद्ध शिक्षा ही दी जाती थी। साहित्यिक शिक्षा का अभाव था। स्पार्टा वासी लिखना-पढ़ना भी नहीं सीख पाते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान शिक्षा प्राप्त करते थे। राज्य की रक्षा का उत्तर-दायित्व केवल पुरुषो का ही नही होता था। स्त्रियाँ भी पुरुषो के साथ कधे से कधा मिला कर युद्ध मे भाग लेती थी। उन्हे घुडसवारी, व्यायाम, अस्त्र-चालन की पुरुषो के समान ही शिक्षा दी जाती थी।

प्लेटो ने दोनो शिक्षा प्रणालियो का तुलनात्मक अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि इन दोनो मे से कोई भी एक प्रणाली सर्वोचित नही हो सकती। यदि एथेंस की शिक्षा प्रणाली के व्यापक पाठ्यक्रम और स्पार्टा की शिक्षा व्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण को संयुक्त कर दिया जाय तथा एथेंस के व्यक्तिगत स्वरूप और स्पार्टा के सकीर्ण पाठ्यक्रम से शिक्षा को मुक्त रखा जाय, तभी वह शिक्षा प्रणाली एक गुणवान, अच्छे नागरिक का निर्माण कर सकेगी।

प्लेटो के शिक्षा शास्त्र का दार्शनिक आधार (Philosophical basis of Plato's Theory of Education)

(१) **अच्छा वातावरण** (Healthy Environment)—मनुष्य के मस्तिष्क पर वातावरण का प्रभाव पडता है। मनुष्य जिस वातावरण मे रहता है, उसका प्रत्येक पदार्थ उसके मस्तिष्क पर अच्छा या बुरा प्रभाव डाले बिना नही रहता। प्लेटो ने इस *सत्य को अपने शिक्षाशास्त्र का दार्शनिक आधार बनाया। उसने कहा कि* शिक्षक को विद्यार्थी की क्रियाशीलता का अनुभव करते हुए, उसके अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए। शिक्षक को विद्यार्थी की आत्मा को प्रभावित करने वाला वातावरण सजोना चाहिए।

(२) **शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध**—प्लेटो ने शिक्षक और विद्यार्थी का परस्पर सम्बन्ध एक लक्षण द्वारा स्पष्ट किया। अध्यापक प्रकाश मे होता है और विद्यार्थी अन्धकार मे। अन्धकार मे से विद्यार्थी को प्रकाश मे लाना शिक्षक का ही कार्य है। शिक्षक अन्धकार मे पडे हुए विद्यार्थी को प्रकाश पुंज हाथ मे लेकर प्रकाश की ओर आकर्षित करे, तभी छात्र के जीवन की उपसिद्धि पूर्ण होती है। शिक्षक को विद्यार्थी को प्रकाश मे लाने के लिए ज्ञान ज्योति धारक (Torch bearer) के रूप मे उचित पदार्थ के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। विद्यार्थी को अध्यापक की शक्ति मे विश्वास रख कर *अध्यापक के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए।*

(३) **मानव मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है**—शिक्षा ग्रहण करने के लिए आयु की निर्धारित सीमा नही होती है। मनुष्य का मस्तिष्क, मनुष्य शरीर की भाँति ही जीवन भर खाद्य सामग्री (शिक्षा) ग्रहण करने योग्य होता है। इसका अभिप्राय यह है कि शिक्षा युवावस्था तक ही सीमित न रह कर वृद्धावस्था तक चलती रहेगी। शिक्षा प्राप्त करने के लिए कोई भी आयु अनुपयुक्त नही होती। परन्तु प्रत्येक आयु की पाचकता के अनुकूल ही शिक्षा की ग्राह्यता भी भिन्न होती है। अतएव शिक्षा का पाठ्यक्रम आयु की अवस्था के अनुकूल युवकोचित तरुणोचित या दार्शनिक होना आवश्यक है।

(४) **राजनैतिक शिक्षा पर बल**—राज्य मानव मस्तिष्क का व्यापक रूप है। अत: शिक्षा मे साहित्य, कला, विज्ञान, गणित, सैन्य शिक्षा आदि ही पाठ्यक्रम मे सम्मिलित नही होंगे वरन् नागरिको को राज्य के प्रति कर्तव्यो का ज्ञान और उनके पालन की भी शिक्षा दी जायगी। मानव जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है।

पूर्णता प्राप्त करने के लिए, राज्य के वर्तमान ही नहीं, अपितु भूतकालीन उत्थान पतन का भी अध्ययन होगा।

(५) सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक—शिक्षा द्विपक्षीय होती है—सैद्धान्तिक (Theoritical) और व्यवहारिक (Practical)। सैद्धान्तिक शिक्षा व्यवहारिक शिक्षा के बिना पंगु होती है। सर्वांगीण अध्ययन तभी सम्पन्न होता है जब विद्यार्थी को पहले सिद्धान्त का अध्ययन कराया जाय और बाद में उसे प्रयोगात्मक ज्ञान द्वारा पुष्ट किया जाय। बार्कर ने इसीलिए यह कहा है कि 'सिद्धान्त और प्रयोग मस्तिष्क की समान सन्तान हैं, इसलिए मस्तिष्क को दोनों के सम्पर्क में लाना आवश्यक है।' [Practice and theory are alike products of mind, and mind must be brought into contact with both]

(६) स्त्री-पुरुष दोनों के लिये समान शिक्षा—प्लेटो आदर्श राज्य में नागरिकों में लिंग के आधार पर अन्तर नहीं रखना चाहता था। शिक्षा के पाठ्यक्रम में उसने दोनों को एक सी शिक्षा देने की व्यवस्था की। सेबाइन के शब्दों में 'लड़के और लड़कियों की क्षमताओं में प्लेटो कोई अन्तर नहीं मानता था, इसलिए उसने तार्किक ढंग से यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों को एक सी ही शिक्षा दी जानी चाहिए, और स्त्रियों को पुरुषों के समान पद ग्रहण करने की स्वीकृति मिलनी चाहिये।' [Since *Plato believed that there was no difference in kind between* the native capacities of boys and girls he logically concluded that both should receive the same kind of instructions and that women should be eligible to the same office as men.]

(७) शिक्षा सोद्देश्य होनी चाहिए—मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक निरुद्देश्य कोई कार्य नहीं करता। शिक्षा भी निरुद्देश्य ग्रहण करने पर व्यर्थ हो जाती है। इसलिए प्लेटो का विचार यह था कि शिक्षा सोद्देश्य होनी चाहिए।

(८) शिक्षा अनिवार्य तथा राज्य के नियन्त्रण में होना चाहिए—स्पार्टा से प्रेरित होकर प्लेटो ने शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण और प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया। वह 'न्याय' पर आधारित 'आदर्श राज्य' स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील था। 'न्याय' उसी समय आत्मगत किया जा सकता था जब सभी नागरिक पूर्णतः शिक्षित हों और शिक्षा राज्य के प्रबन्ध में प्रदान की जाय।

शिक्षा का पाठ्यक्रम—प्लेटो ने उपर्युक्त दर्शन के आधार पर मानसिक विकारों के निराकरण के लिए एक पाठ्यक्रम की योजना प्रस्तावित की। उसने अवस्था के आधार पर आयुगुणानुकूल पाठ्यक्रम मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया।

प्राथमिक पाठ्यक्रम—सेबाइन के अनुसार 'रिपब्लिक में चित्रित प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम किसी नवीन प्रणाली की खोज के स्थान पर पूर्व प्रचलित प्रणालियों में सुधार मात्र था।' [The plan of elementary education sketched in Republic was rather a reform of existing practice than the invention of a wholly new system.] इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क (Healthy mind in healthy body) बनाये रखना' था। स्वस्थ शरीर और मस्तिष्क युक्त युवक राज्य के संवर्द्धन में योग्य नागरिक सिद्ध होंगे। इसलिए उन्हें व्यायाम की शिक्षा दी जायगी। यह व्यायाम आधुनिक शारीरिक अभ्यास (Physical exercise) मात्र न होकर औषधि, भोजन के ज्ञान सहित होगा।

व्यायाम शिक्षक शारीरिक अभ्यास का प्रशिक्षण देने के साथ ही कुशल चिकित्सक के कार्य भी करेंगे। वह विद्यार्थी के शरीर की आवश्यकताओं का अध्ययन करेंगे और यह पता लगायेंगे कि उनको पुष्ट बनाने के लिए कौन सा व्यायाम आवश्यक है? उचित भोजन का प्रकार और मात्रा कितनी होगी? शरीर मे कोई रोग तो नही पनप रहा है? इस व्यायाम की शिक्षा द्वारा हृष्ट-पुष्ट नागरिकों का निर्माण होगा।

संगीत का अध्ययन—व्यायाम शरीर के लिये और संगीत मस्तिष्क के लिये आवश्यक है। संगीत मनुष्य के मस्तिष्क के विकारों को दूर करता है। काव्य की वाद्य यन्त्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति विद्यार्थी के मन मन्दिर को प्रभावित और प्रफुल्लित करती है। यह साहस, विवेक को जागृत करने की सामर्थ्य रखता है। इसलिये प्लेटो ने कला-अभिनय को राज्य के कठोर नियन्त्रण में ही प्रकट होने का समर्थन किया।

शिक्षा का प्राथमिक पाठ्यक्रम ७ वर्ष की आयु से लेकर २० वर्ष तक चलेगा। प्रशिक्षण के उपरान्त एक परीक्षा होगी और उत्तीण छात्र सैनिक वर्ग मे प्रवेश करेंगे। असफल छात्र उत्पादक वर्ग मे रह जायेंगे।

उच्च शिक्षा—२० वर्ष से ३० वर्ष की आयु के छात्रों को प्राथमिक परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के बाद उच्च शिक्षा मे प्रवेश मिलेगा। इसमे गणित,ज्यामिति की शिक्षा दी जायगी। प्लेटो गणित को इतना अधिक महत्व देता था कि उसने अपने विद्यापीठ के प्रवेश द्वार पर यह अंकित कर दिया था कि 'गणित ज्ञान से शून्य व्यक्ति इसमे प्रवेश न करें' [Let no man ignorant of mathematics enter here]। गणित का अध्ययन दार्शनिक शिक्षा के लिये प्रवेश द्वार के समान है। गणित तर्क बुद्धि, विवेक को जागृत कर सत्य की खोज मे सहायक होता है। दिन-प्रतिदिन के कार्यों, युद्ध मे सैन्य सज्जा आदि के लिये भी गणित की उपयोगिता बहुत है।

दार्शनिक शिक्षा—गणित की शिक्षा पूर्ण होने के बाद एक परीक्षा होगी उसमे उत्तीर्ण छात्र ३० से ३५ वर्ष की आयु तक द्वन्द्ववाद (Dialectic) की शिक्षा प्राप्त करेंगे। यह शिक्षा प्रतिभा सम्पन्न छात्रों को ही दी जा सकेगी। इस दार्शनिक शिक्षा मे अस्तित्व ज्ञान और अच्छाई के विचार का शिक्षण दिया जायगा।

प्रयोगात्मक शिक्षा यहाँ तक शिक्षा सैद्धान्तिक होती है। इसमे उत्तीर्ण होने के बाद १५ वर्ष की प्रयोगात्मक शिक्षा द्वारा ही दार्शनिक शासक का निर्माण हो सकेगा। ३५ से ५० वर्ष की आयु तक राज्य-कार्यों का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जायगा। शिक्षार्थी विभिन्न सैनिक असैनिक पदों पर रह कर कार्य करेंगे। प्रत्येक कार्य की परीक्षा मे सफल होने पर विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति शासक बनेंगे। अध्ययन क्रम स्थगित न होकर फिर भी चलता रहेगा। ज्ञान का अगाध श्रोत कभी रिक्त नही होता। सम्पूर्ण जीवन अध्ययन और अनुभव अर्जन के लिये लगा कर ही श्रेष्ठ, विशेष योग्यता प्राप्त आदर्श दार्शनिक शासक बन सकेंगे।

प्लेटो की शिक्षा योजना की विशेषतायें (Features of Plato's System of Education)—

१. शिक्षा राज्य के नियन्त्रण मे रहेगी।
२. यह अनिवार्य शिक्षा है।

३. सम्पूर्ण जीवन भर शिक्षा चलेगी।
४. स्त्री पुरुष दोनो के लिये समान शिक्षा व्यवस्था आवश्यक है।
५. संगीत, व्यायाम, गणित को पाठ्यक्रम में विशेष स्थान प्राप्त है।
६. शिक्षा का लक्ष्य दार्शनिक शासन का निर्माण करना है।
७. शिक्षा सैद्धान्तिक होने के साथ व्यवहारिक भी होगी।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Plato's Theory of Education)—प्लेटो रिपब्लिक में सुनियोजित पाठ्यक्रम युक्त शिक्षा पद्धति का विवेचन करता है। लेकिन उसमें ऐसी अनेकों त्रुटियाँ हैं जिनके कारण आलोचक वर्ग शिक्षा पद्धति की आलोचना करते हैं

(१) शिक्षा में उत्पादक वर्ग की उपेक्षा—प्लेटो ने राज्य में नागरिकों का वर्गीकरण ३ भागों में किया—शासक, सैनिक तथा उत्पादक। शिक्षा योजना में शासक और सैनिक वर्ग का ही ध्यान रखा गया। उत्पादक वर्ग प्राथमिक शिक्षा के बाद उच्च शिक्षा में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे। उत्पादक वर्ग समाज के शासक और सैनिक वर्ग से संख्या में कई गुना अधिक होता है। क्या इस प्रकार समाज के सबसे बड़े वर्ग को शिक्षा से वंचित कर राज्य को कभी भी आदर्श बनाया जा सकता है? कदापि नहीं।

(२) शिक्षा के एकरूपता के दोष—प्लेटो की शिक्षा की एक त्रुटि यह है कि यह नागरिकों को एकरूपता में बाँध देगी। प्रत्येक नागरिक को एक से विषयों की शिक्षा दी जायगी, उसको देने का ढंग भी सर्वत्र एक सा ही होगा। हर एक व्यक्ति एक के बाद एक समान विषयों का अध्ययन करने के कारण निम्न त्रुटियों के शिकार होंगे—

(अ) विचार सकीर्णता बढ़ेगी—प्रत्येक व्यक्ति संगीत, व्यायाम, गणित और दर्शन की शिक्षा प्राप्त करेगा। इससे पृथक ज्ञान की कल्पना भी उन्हें नहीं होगी और उनकी स्थिति कूप मंडूक जैसी हो जायगी।

(ब) ज्ञान, अध्ययन की विविधता न होने से व्यापक न होगा—विचार विविधता में ही फलते-फूलते हैं। जब छात्रों को विविध विषयों का तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता है, तभी उन्हें किसी भी विषय का व्यापक ज्ञान होता है। प्लेटो की शिक्षा प्रणाली में तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के कारण उन्नति शिखर पर पहुँचने का मार्ग अवरुद्ध हो गया है।

(स) प्रत्येक कार्य के अनुरूप शिक्षा पृथक नहीं होगी—प्रत्येक नागरिक को एकसी शिक्षा प्रदान की जायगी। उसी शिक्षा के आधार पर एक व्यक्ति असफल होते ही उत्पादक, सफल होते ही सैनिक और दार्शनिक होंगे। वस्तुतः वास्तविकता इसके विपरीत कुछ और ही होती है। प्रत्येक कार्य के लिये पृथक शिक्षा का सिद्धान्त सर्व विदित है। इन्जीनियर को संगीत या सैनिक को दर्शन की शिक्षा की आवश्यकता नहीं।

(३) दार्शनिक सफल शासक नहीं हो सकते—प्लेटो का लक्ष्य आदर्श राज्य का निर्माण करना है और आदर्श राज्य के लिये वह दार्शनिकों को शासक बनाना चाहता है। यह शिक्षा राज्य में एकमात्र दार्शनिकों का निर्माण करने का लक्ष्य लेकर चलती है। दार्शनिक सफल शासक नहीं हो सकते। दार्शनिक ऐसे होते हैं, जिन्हें अपने चिन्तन से अवकाश नहीं मिलता। ख्यालों में खोये रहने वाले व्यक्ति से राज्य-चिंतन की आशा करना व्यर्थ है।

दर्शन का रसास्वादन करने के उपरान्त राजनीति के पचड़ो मे पड़ना सम्भवत दार्शनिक शासक नही चाहेंगे।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक सफल चिंतक होंगे, कर्मठ कार्यकर्त्ता नही।

(४) साहित्य की उपेक्षा पाठ्यक्रम की बहुत बड़ी कमी है—प्लेटो ने पाठ्यक्रम मे गणित और दर्शन पर बहुत जोर दिया है। इसमे साहित्य को स्थान नहीं मिला। साहित्य जीवन का दर्शन है। मानवता का प्रतीक है। साहित्य को नगण्य स्थान देकर ज्ञान के अनिवार्य अग की उपेक्षा करना प्लेटो की एक बड़ी भूल है।

(५) अभिनय तथा कला प्रदर्शन पर राज्य का नियन्त्रण उचित नहीं—प्लेटो अभिनय, कला, सगीत आदि प्रदर्शन को राज्य के कठोर नियन्त्रण मे अभिव्यक्त होने देना चाहता है। वह सगीत को एक शक्तिशाली साधन मानता है। संगीत निम्न स्तर के आवेग उत्पन्न करने वाली शिक्षा है। प्लेटो का सगीत आदि कलाओ के प्रति यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। सगीत द्वारा युद्ध काल मे सैनिको को प्रोत्साहित किया जाता है। वीर रस के अभिनय देखकर बाहुओ मे फड़कन होना निम्न स्तरीय आवेग नही माना जा सकता।

(६) शिक्षा प्रणाली में एक असंगति (Inconsistency in Educational System)—शिक्षा योजना पर विचार करते समय प्लेटो दो परस्पर विरोधी तर्कों के जाल मे उलझ गया। उसने बताया कि शिक्षा आदर्श राज्य रूपी भवन की नीव का पत्थर है। दूसरी ओर वह नींव के पत्थर पर नियन्त्रण रखने का राज्य को अधिकार भी सौंप देता है। आदर्श राज्य शिक्षा द्वारा ही लाया जा सकता है। शिक्षा पर ही राज्य को नियन्त्रण होगा, यह कैसे सम्भव है। यह ठीक घोड़े के आगे गाडी रखने (To put the cart before the horse) जैसी बात है।

(७) शिक्षा योजना अव्यावहारिक है (Impracticable Education System)—यह शिक्षा सम्पूर्ण जीवन भर चलती रहेगी। सात वर्ष की आयु से पढ़ना प्रारम्भ होगा और ५० वर्ष तक तो पढ़ना ही पडेगा तथा उसके बाद भी परीक्षण आदि चलते रहेंगे। यह व्यर्थ और अव्यावहारिक है। जीवन भर शिक्षा प्राप्त करने के लिये फीस तथा जीवन की कठोर आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये वक्त कब मिलेगा और कहाँ से आयेगा।

(८) स्त्री पुरुष के शिक्षण पाठ्यक्रम में एकता उचित नहीं (Uniformity in Education of Boys and Girls is Undesirable)—प्लेटो ने स्त्रियो और पुरुषो को समान मानते हुए उनके लिये एक समान पाठ्यक्रम की व्यवस्था की। यथार्थ मे स्त्री की प्रकृति, भावना और क्षमता पुरुष के समान नही होती। अत दोनों के लिये एकसा पाठ्यक्रम उचित नहीं।

उपरोक्त आलोचनाओ से यह नही समझ लेना चाहिए कि प्लेटो की शिक्षा प्रणाली व्यर्थ है। उसकी आलोचना की जा सकती है, परन्तु महत्व को विस्मृत नही किया जा सकता। आदर्श राज्य उचित शिक्षा द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है, यह सत्य है। रिपब्लिक मे शिक्षा के ऊपर इतनी व्यापकता, गम्भीरता और स्पष्टता से विचार किया गया है कि रूसो तो उसे शिक्षा शास्त्र ही मान बैठता है। रूसो के शब्दो मे 'रिपब्लिक राजनीति के स्थान पर शिक्षा शास्त्र को अद्वितीय प्रलेख

है। [The Republic is not a work upon politics, but the finest treatise on education that was ever written.]

प्लेटो का साम्यवाद (Platonic Communism)

प्लेटो के कल्पनालोकीय आदर्श राज्य की एक और आवश्यकता साम्यवाद है। प्लेटो के अनुसार राज्य मस्तिष्क की उपज है। राज्य को सुधारने के लिये मस्तिष्क को सुधारना चाहिये। न्याय कोई बाह्य वस्तु नहीं है वरन् मस्तिष्क का स्वभाव है जो कि केवल उसी अवस्था में वास्तविक रूप में लाया जा सकता है जब मस्तिष्क भली प्रकार से हो। प्लेटो ने तदनुसार राज्य के सुधार के लिये एक नई शिक्षा प्रणाली प्रचलित की जो राज्य की सरकार में सुधार करे तथा मनुष्य की आत्मा को उच्चता की ओर ले जाय। लेकिन प्लेटो यह जानता था कि शिक्षा प्रणाली कितनी भी अच्छी क्यों न हो, जब तक राज्य के तीनों वर्गों—विशेषकर शासक और रक्षकों को पथभ्रष्ट करने वाले प्रलोभनों को नहीं हटाया जायगा, समाज-व्यवस्था नहीं बदली जायगी, वे अपनी योग्यता का वास्तविक उपयोग नहीं कर सकेंगे और उनकी शिक्षा व्यर्थ जायगी। मनुष्य सदैव अपने परिवार और पत्नी से विशेष प्रेम करता है। वह उनके लिये अधिक से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करता है। इस प्रकार परिवार तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दो ऐसे प्रलोभन हैं, जिन्हें यदि दूर नहीं किया गया, तो आदर्श राज्य की स्थापना असम्भव ही रहेगी। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्लेटो ने एक नवीन समाज की रचना, जिसे उसने साम्यवाद कहा, प्रतिपादित की। बार्कर के अनुसार "साम्यवाद आत्मा के सुधार के लिये भौतिक तथा आर्थिक उपाय है जिसे सर्व प्रथम प्रयोग में लाना चाहिये।" ("....communism is only a material and economic corollary of the spiritual reformation which, first and formost, he sought to achieve")

पूर्ववर्ती साम्यवादी विचार—प्लेटो के साम्यवाद पर चिन्तन करने से पूर्व भी इस विषय पर विचार किया जा चुका था। यह विचार तथा व्यवहार दोनों रूप में पहले से ही प्रस्तुत था।

विचारकों ने साम्यवाद सम्बन्धी विचार प्लेटो से पूर्व ही व्यक्त किये थे। पाइथोगोरियन विचारकों का सिद्धान्त 'मित्रों की वस्तुयें सार्वजनिक वस्तुयें हैं', (Friends goods were common goods) पूर्व प्रतिपादित था। अरिस्टोफनीज ने अपनी एक रचना 'एक्लीजियाजूसा' में पत्नी तथा परिवार के साम्यवाद का समर्थन किया, यूरीपिडीज ने महिला साम्यवाद का समर्थन किया। प्लेटो के गुरु सुकरात ने भी विवाह को एक पवित्र संस्था न मान कर, अच्छी सन्तान पैदा करना और उसका पालन करना ही उसका लक्ष्य बताया।

साम्यवाद प्लेटो से पूर्व भी व्यावहारिक रूप में प्रचलित था। यूनान में सम्पत्ति एवं परिवार का साम्यवाद पहले से विद्यमान था। वहां भूमि और कृषि सामूहिक रहती थी, उस पर राज्य का नियन्त्रण रहता था। एथेंस में राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करता था और जंगलों खानों आदि सभी पर राज्य का स्वामित्व रहता था। राज्य के मजिस्ट्रेट सामूहिक भोजनालयों में भोजन करते थे और सामान्य

नागरिकों को उनके कार्य का वेतन मिलता था। स्पार्टा में भूमि का स्वामित्व व्यक्तिगत था लेकिन उपज को सामूहिक भोजनालयों को प्रदान किया जाता था। सब लोग सामूहिक रूप में भोजन करते थे। एक नागरिक अन्य नागरिकों के घोड़े, कुत्ते, दास आदि को भी अपने प्रयोग में ला सकता था। क्रीट की 'डोरिक' जाति में यही प्रथा थी कि उत्पादित सामग्री राज्य द्वारा संचालित भोजनालयों को प्रदान कर दी जाती थी।

इसी प्रकार महिला साम्यवाद भी यत्र-तत्र यूनान में प्रचलित था। हेरोडोटस ने अगाथाईरियन जाति के बारे में बताया कि वे स्त्रियों को व्यक्ति विशेष की पत्नी बनाकर नहीं रखते थे, वरन् वे सामूहिक पत्नी के रूप में रहती थी और सभी पुरुष एक दूसरे से पूर्ण भ्रातृत्व भाव रखते थे। सौरमाटियन जाति में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ घोड़े की पीठ पर बैठकर युद्ध और शिकार में भाग लेती थी। उनकी वेश-भूषा में भी कोई अन्तर नहीं था। स्पार्टा में भी पारिवारिक जीवन नहीं था, वहाँ कुछ सीमा तक राज्य कार्य के लिये सन्तान उत्पन्न कराने के लिये स्त्रियाँ, दूसरे पुरुषों को दे दी जाती थी।

उपरोक्त अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि साम्यवाद प्लेटो की मौलिक रचना नहीं था वरन् उससे पूर्व भी वह विचार तथा व्यवहार दोनों में ही विद्यमान था।

साम्यवाद की स्थापना के कारण

(अ) **मनोवैज्ञानिक कारण** (Psychological Reason)—शासक और सैनिक, बिना स्वार्थ के बुद्धिमत्ता के साथ कार्य करते रहें, इसके लिये आवश्यक है कि वे सम्पत्ति और परिवार के आकर्षण से मुक्त रहें। यदि इन प्रलोभनों से शासक तथा सैनिकों को मुक्त नहीं रखा गया तो वासना, साहस और बुद्धि को आच्छादित कर लेगी और वे अपने कार्य भली-भाँति नहीं कर सकेंगे।

(आ) **व्यावहारिक तथा राजनैतिक तर्क** (Practical and Political reasons)—राजनैतिक कार्य कुशलता के लिये अनुभव के आधार पर यह कहा जा *सकता है कि आर्थिक और राजनैतिक कार्यों को एक व्यक्ति के हाथों में नहीं सौंपना* चाहिये। आर्थिक और राजनैतिक शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में सौंप देने से कार्य ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता।

(इ) **दार्शनिक तर्क** (Philosophical reason)—प्रत्येक कार्य अलग-अलग योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा ही भली-भाँति किया जाता है। आर्थिक कार्य और राजनैतिक कार्यों की विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को उनके ही कार्य सौंपने से कार्य सुचारु रूप से और ठीक ढंग से होता है।

(ई) **भावनात्मक एकता** (Emotional Integrity)—प्लेटो राज्य के नाग*रिकों में पूर्ण भावनात्मक एकता का समर्थक था। वह चाहता था कि राज्य में संघर्ष* हो, प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण एकता के बन्धन में बँधा हो, धन के आधार पर कोई वर्ग या व्यक्ति राजसत्ता के साथ खिलवाड़ न करे, इसके लिये साम्यवाद का होना बहुत ही जरूरी है।

साम्यवाद के प्रकार—प्लेटो ने साम्यवाद का वर्गीकरण दो भागों में किया :

(१) सम्पत्ति का साम्यवाद (Communism of Property)—प्लेटो राज्य और समाज का हित सर्वमान्य मानता है और इसीलिये वह कहता है कि समाज में प्रत्येक पदार्थ, धन, व्यक्ति सभी की उपयोगिता उसके सामाजिक सम्बन्ध के कारण ही है। यदि कोई वस्तु समाज के लिये अनुपयोगी हो जाती है तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। व्यक्ति के कुछ निश्चित ध्येय है। उनकी पूर्ति करना ही जीवन का लक्ष्य है। सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का भी प्रथम दो वर्गों के लिये कोई मूल्य नहीं है। सम्पत्ति का उनके जीवन में प्रवेश उनके बुद्धि एवं विवेक के गुणों को लोप कर देता है। वे अपने विवेक के अनुसार अपने ज्ञान एवं अनुभव को समाज की भलाई के लिये प्रयोग नहीं कर सकते। सम्पत्ति स्वार्थपरता को बढ़ावा देकर संघर्ष का कारण बन जाती है। प्लेटो के शब्दों में "निजी गृह, भूमि या सम्पत्ति सचय का अवसर उन्हें संरक्षक के स्थान पर पति तथा गृहस्थ बनाता है और वे नागरिकों के हितैषी बनने के स्थान पर शत्रु या निरंकुश शासक बन जाते है, उन्हें घृणा करते हैं, षडयन्त्र रचते हैं तथा स्वयं भी घृणा और षडयन्त्र के शिकार होते हैं। बाह्य शत्रुओं के आतंक की अपेक्षा आतरिक आतंक से व्याकुल रहते हैं। स्वयं अपना और राज्य के विनाश को आमन्त्रित करते है।" इसलिये प्रथम दोनों वर्गों को सम्पत्ति एकत्रित करने, रखने आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर उनके गुणों का लाभ समाज को दिलाया जा सकता है।

आदर्श राज्य एकतामय होगा। एकता के लिये यह आवश्यक होता है कि कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सुख और दुखों में अन्तर न रखता हो। प्रो० टेलर प्लेटो को उद्धृत करते हुए कहते है कि "प्रत्येक को समान आनन्द और दुख समान लाभ और समान हानि में अनुभव करने चाहिये, यह मेरा है, यह तेरा है यह शब्द सबको एक साथ ही उच्चरित करने चाहिये।"

(All must "rejoice and grieve alike at the same gains and the same losses", "The words 'mine' and thine' must be pronounced by all simultaneously".)

प्लेटो साम्यवाद की स्थापना शासन द्वारा नहीं कराना चाहता था वरन् समान सम्पत्ति द्वारा शासन के बाधक तत्वों को दूर करना चाहता था।

प्लेटो ने शासक और सैनिकों को सम्पत्ति रखने से वंचित कर दिया। संरक्षक वर्ग के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होगी। उनके पास व्यक्तिगत मकान भी नहीं होंगे वरन् इन सबके रहने की व्यवस्था सामान्य बैरकों (barracks) में होगी। उन लोगों को स्वर्ण और चाँदी आदि रखने की अनुमति नहीं होगी, वे उसका आदान प्रदान भी नहीं कर सकेंगे। उनको अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वार्षिक वेतन दिया जायगा, उसका उपयोग भी व्यक्तिगत रूप में नहीं होगा। इन व्यक्तियों की आवश्यकतायें बहुत कम होंगी और उनकी पूर्ति का भार राज्य पर रहेगा। सामान्य भोजनालयों में भोजन आदि का प्रबन्ध होगा। प्लेटो तीसरे उत्पादक वर्ग पर यह प्रतिबन्ध नहीं लगाता। उन्हें राज्य के कठोर नियन्त्रण व निरीक्षण में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार होगा। उत्पादन व्यवस्था को गतिमय रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय में लगा रहेगा और दूसरों के व्यवसायों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसका लाभ यह होगा कि लोग न तो अधिक

धनी होंगे और न ही निर्धन। दोनों में से किसी का भी एकाधिकार राज्य के लिए हितकर सिद्ध नहीं होगा।

(२) **पत्नी और परिवार का साम्यवाद (Communism of wives and family)**—शासकों को कर्त्तव्य विमुख होने से बचने के लिये और स्वार्थी न बनने देने के लिये सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ ही प्लेटो ने स्त्रियों का साम्यवाद भी प्रस्तुत किया है। वह यह भली-भाँति जानता है कि परिवार की आवश्यकताओं के लिये सम्पत्ति होना जरूरी है। अतएव जब परिवार प्रथा ही नहीं होगी तो सम्पत्ति की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। दूसरे, घर संकीर्ण परिवार प्रेम और स्वार्थपरता को जन्म देते हैं। यदि घर की चहरदीवारी को तोड़ कर सामूहिक जीवन प्रारम्भ किया गया, तो उक्त बुराइयों को पनपने के अवसर ही नहीं प्राप्त होंगे। अतः राज्य की एकता बनाये रखने के लिये स्वार्थपरता के अड्डे परिवारों का लोप कर दिया जाय। तीसरे, प्लेटो स्त्रियों की दशा सुधारना चाहता था। उसने यूनान में स्त्रियों की अवस्था का अध्ययन किया। उस समय स्त्रियाँ घरेलू जीवन व्यतीत करती थी। अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया जाता था। विवाह एक पवित्र दाम्पत्य सूत्र बन्धन नहीं था वरन् एक सन्तान उत्पन्न करने की वैधानिक संस्था थी। प्लेटो स्त्रियों की हीन दशा से उन्हें ऊपर उठाना चाहता था। परिवार संस्था के सुधार की यह योजना साम्यवाद का दूसरा भाग है।

स्त्री साम्यवाद की पुष्टि (Justification of Communism of Wives)—परिवार प्रथा में सुधार, संकीर्ण परिवार प्रेम को, राज्य प्रेम की ओर प्रेरित करेंगे। इसके लिये प्लेटो स्त्रियों की स्वतन्त्रता का पक्ष ग्रहण करता है। राज्य की उन्नति के लिये स्त्री-पुरुष दोनों को ही समान अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। पुरुष का राज्य-कार्य में भाग लेना अधूरा रहता है क्योंकि स्त्रियों को उससे वंचित रखा जाता है। अतः यदि अर्द्ध के स्थान पर पूर्ण नागरिक वर्ग राज्य की सेवा करेंगे, तभी राज्य उन्नति कर सकता है स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रत्येक कार्य को समान रूप में कर सकते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये प्लेटो पशु जगत का रूपक प्रस्तुत करता है, वह कहता है कि संरक्षक वर्ग (नर कुत्ता) देख-भाल का कार्य करता है, यही कार्य संरक्षिकायें (मादा कुत्ते) भी उतनी ही तत्परता के साथ कर सकती हैं। इसके लिये स्त्री और पुरुषों को समान शिक्षा प्रदान की जाय। स्त्री-पुरुष दोनों ही समान शिक्षा के द्वारा समान रूप से कार्य कर सकते हैं। स्त्री और पुरुष में यह अन्तर भी है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा शक्तिहीन होती हैं और दूसरे उनमें प्रजनन क्रिया सम्बन्धी अन्तर होता है। परन्तु यह अन्तर उनकी कार्यक्षमता में प्रकृतित कोई अन्तर नहीं पड़ने देता।

साम्यवाद का समर्थन करते हुये प्लेटो एक पत्नी सिद्धान्त पर विचार करता है और बताता है कि आदर्श राज्य के संरक्षक (शासक और सैनिक) सामूहिक बैरकों में रहेंगे, वहाँ पत्नी रखना असुविधाजनक होगा। स्त्री संरक्षक भी इसी प्रकार बैरकों में रहेंगी और वहाँ वे अपने पति को नहीं रख सकेंगी। पति-पत्नी मिलन, और सन्तान का पालन-पोषण कठिन हो जायगा उसका उपाय पत्नी एवं परिवार का साम्यवाद ही है, जहाँ संरक्षक वर्ग के पति-पत्नी और बच्चों की समस्या हल हो जायगी।

साम्यवाद की पुष्टि करते हुए प्लेटो पशु जगत का तुलनात्मक तर्क प्रस्तुत करता है। उसने कहा कि यदि अच्छी नस्ल के घोड़े और घोड़ी का समागम कराया

जाय तो उनकी संतान भी अच्छी होती है । उसी तरह अच्छे नस्ल के नागरिकों के लिये भी सर्वोत्कृष्ट प्रकृति के पुरुषों का उसी कोटि की स्त्रियों से, मध्यम तथा निम्न कोटि की स्त्रियों का उनके समकक्ष पुरुषों के समागम उत्कृष्ट नागरिकों का निर्माण करेगा । इसलिये एक पति-पत्नी प्रथा का निवारण किया जाय और सर्वोत्कृष्ट कोटि के संरक्षक वर्ग के स्त्री और पुरुष अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुये श्रेष्ठ नागरिक प्रदान कर, आदर्श राज्य के निर्माण में सहयोग देंगे । प्लेटो ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुये बताया कि स्वर्ण से स्वर्ण आभूषण बनते हैं, अन्य धातुओं का मिश्रण उसे दूषित बना देता है । इसीलिये स्वर्ण प्रकृति के स्त्री-पुरुष श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कर समाज को श्रेष्ठ बना सकते हैं ।

पत्नी और परिवार के साम्यवाद की योजना प्रस्तावित करते हुये प्लेटो ने बताया कि प्रत्येक वर्ष बसन्त ऋतु में संरक्षकों के अस्थाई विवाह राज्य द्वारा कराये जायेंगे । इन विवाहों के परिणामस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होगी वह माता की गोद में पलने के बजाय तुरन्त ही सामूहिक शिशुपालन तथा प्रशिक्षण ग्रह 'क्रेच' (Creches) में रखी जायगी । सन्तान को माता-पिता का नाम आदि नहीं पता होगा वरन् उस ऋतु के अस्थाई विवाह के प्रत्येक पुरुष पिता और प्रत्येक स्त्री माता होगी । सभी बच्चे आपस में बन्धु-भगिनी होंगे ।

प्लेटो ने परिवार विज्ञान के अध्ययन से लाभ उठाकर यह सिद्ध किया कि यशस्वी, बुद्धिमान, कर्मठ सन्तान उत्पन्न करने के लिये सर्वोत्तम प्रकार के स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आवश्यक है । उन्हें अपनी सर्वश्रेष्ठ आयु में ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये । प्लेटो ने पुरुषों की आयु २५ से ५५ वर्ष तक और स्त्रियों की आयु २० से ४० वर्ष तक सन्तान उत्पादन के लिये सर्वश्रेष्ठ बताई । साम्यवाद की उक्त रचनाओं युक्त समाज बन्धुत्व के आधार पर संगठित होगा । प्रत्येक की प्रत्येक से सहानुभूति के कारण कलह और संघर्ष का स्थान नहीं होगा । इस प्रकार एक ऐसा आदर्श राज्य बनेगा जिसमें विधियों भी नहीं होंगी । प्रत्येक व्यक्ति समान सुख का अनुभव करने वाले सर्वाधिक योग्य व कर्मठ होंगे । प्लेटो का यह परिवार सुधार एक परिवार शास्त्रीय (Eugenics) विज्ञान है, यह स्त्रियों की मुक्ति का द्वार है, परिवारों के राष्ट्रीयकरण की योजना है, स्त्री-पुरुषों के समान गुणों को विकसित करने वाली तथा सर्वोत्तम सन्तान उत्पन्न करने वाली कला है और राज्य में एकता लाने वाली योजना है ।

प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Communism) .

साम्यवाद प्लेटो की महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति है । प्लेटो के समय से आजतक उसकी प्रशंसा से अधिक आलोचना हुई है । हम उसके साम्यवाद का सहानुभूति पूर्वक अध्ययन कर सकते हैं, लेकिन उसे दृष्टिगोचर राज्य में क्रियान्वित नहीं कर सकते । अतः हम साम्यवाद को आदर्श राज्य की कल्पना में स्थित मान सकते हैं, व्यवहार में उसका कोई मूल्य नहीं । प्लेटो ने साम्यवाद का विभाजन दो भागों में किया है, अतः उसकी आलोचना भी दो भागों में करना ठीक रहेगा ।

सम्पत्ति साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Communism of Property)

(१) प्लेटो का साम्यवाद अपूर्ण है ? (Platonic Communism is incomplete)—सम्पत्ति साम्यवाद की आलोचना करते हुए पहला तर्क यह दिया जाता है कि प्लेटो का साम्यवाद अपूर्ण है और उसे अधिक से अधिक अर्द्ध साम्यवाद की

सज़ा दी जा सकती है। यह अर्द्ध साम्यवाद इसलिये है क्योंकि यह सम्पूर्ण समाज के स्थान पर केवल संरक्षक वर्ग--शासक व सैनिक—के लिये ही है। उत्पादक वर्ग समाज का अधिकांश भाग होता है। उसके लिये साम्यवाद का कोई मूल्य नहीं।

(२) साम्यवाद सम्पत्ति की दोहरी नीति का पोषक है (Communism is twofold philosophy of wealth)—एक ओर अल्पसंख्यक वर्ग सम्पत्ति रखने, प्रयोग करने आदि से वंचित कर दिया गया है, तो दूसरी ओर बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग को सम्पत्ति रखने आदि की अनुमति प्रदान की गई। एक वर्ग विशेष के लिए सम्पत्ति-हीनता और अधिकार के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति की अनुमति किस प्रकार मेल खा सकती है।

(३) साम्यवाद शासन करने में बाधक होगा (Communism will be a hinderance in administration)—आत्मा की उच्चता के आधार पर संगठित शासक वर्ग सम्पत्ति विहीन होकर, सम्पत्ति के उद्देश्य तथा एकत्रीकरण की मूलभावना जो अन्य लोगों में रहेगी उन पर किस प्रकार शासन कर सकेंगे।

(४) सम्पत्ति को व्यक्ति के जीवन से दूर करना त्रुटिपूर्ण है (It is wrong to distract the property from the life of man) सम्पत्ति को व्यक्ति के जीवन से दूर करना एक भ्रम है : मनुष्य प्रकृति से ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सम्पत्ति चाहता है। बिना सम्पत्ति के व्यक्ति के व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। सम्पत्ति ही व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर प्रदान करती है। व्यक्ति सम्पत्ति के आधार पर ऊँच-नीच का अनुभव कर अधिक परिश्रम कर नित्य प्रति उन्नति करना चाहता है। बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति के इस प्रकार के प्रोत्साहन का सर्वथा अभाव रहेगा। सम्पत्ति भेद तुलनात्मक अनुभव से प्रेरणा प्रदान करता है जो एकता स्थापित हो जाने के कारण बन्द हो जायगी।

(५) प्लेटो राज्य की एकता नहीं बनाये रख सका (Plato failed to keep the unity of state)—अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना की है। उसने कहा कि प्लेटो एकता सम्पन्न राज्य की स्थापना करना चाहता था लेकिन वह दो राज्य की विचारधारा का परित्याग करते हुए भी उसे पुनः अंगीकार करता है।

पत्नी और परिवार के साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Communism of wives and family)

(१) प्लेटो काल्पनिक सुख के लिये स्थानीय संस्था का उन्मूलन करता है (Plato abolishes local institutions for speculative happiness)—प्लेटो ने साम्यवाद की पुष्टि में स्त्री-पुरुषों का प्रजनन अंग सम्बन्धी अन्तर बताया। स्त्री और पुरुषों में इसके अलावा अन्य महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। स्त्री प्रकृति से कोमल है। वह परिवार का केन्द्र बिन्दु है। शिशु का लालन पालन माता के प्यार भरे चुम्बन और दुलार में जितना अच्छी तरह से हो सकता है क्रेंचे में वह अप्राप्य रहेगा। दाइयाँ बच्चों को उतनी अच्छी नहीं रख सकेंगी। माता का हृदय पुत्र को कभी भी दूसरों को सौंपना नहीं चाहेगा। प्रो० बार्कर ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि "प्लेटो काल्पनिक सुख के लिये स्थापित संस्था का उन्मूलन करता है, एकता के नाम पर नैतिकता की पाठशाला नष्ट करता है, जिसमें (परिवार) कर्त्तव्यों को स्नेह और व्यक्तिगत भावना के कारण आसानी से हृदयगम किया जाता है।" "He abolishes an established institution for the sake of problematic good, and

in the name of unity he destroys a school of morals, in which duty is learned the more easily because it is tinged with affection and coloured by personal feeling''

(२) प्लेटो की विवाह की धारणा भी त्रुटिपूर्ण है (Platonic conception of marriage is full of mistakes)—अस्थाई राज्य नियन्त्रित विवाह, स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध को इन्द्रिय सुख की धारणा पर केन्द्रित मानते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रकृति के यह दोनों उपादान अपूर्ण हैं। उनकी पूर्णता एक दूसरे के सान्निध्य में प्राप्त होती है। उनकी मैत्री सम्पूर्ण जीवन के सुख-दुःख और सामूहिक कल्याण की भावना के आधार पर संगठित होनी चाहिए। यदि शारीरिक सम्बन्ध मात्र ही उनका ध्येय रहेगा, तो आत्मिक एकता दुर्लभ हो जायगी। स्थाई विवाह ही इसका एकमात्र उपाय है।

(३) यह स्पष्ट नहीं है कि किस प्रकार योग्य युग्मों का चयन होगा (It is not clear that how the suitable pairs will be selected)—इसके अतिरिक्त यदि प्लेटो के सर्वोत्तम युग्मों का समागम स्वीकार भी किया जाय तो एक बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है कि किस प्रकार योग्य युग्मों का चयन किया जायगा। राज्य के पास ऐसा कौनसा माप दंड होगा, जिससे वह सर्वोत्तम स्त्री-पुरुषों को छाँट कर, उनके अस्थाई विवाह करायेगा। प्लेटो इस प्रकार का माप यंत्र देने में असमर्थ है और उसके कारण साम्यवाद की यह विचारधारा भी असफल हो जाती है।

(४) *यह अनैतिकता और अनाचार को जन्म देगा (It will give birth to* immorality and bad behaviour)—प्लेटो के पत्नी एवं परिवार के साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह अनैतिकता और अनाचार को जन्म देगा। सन्तान माता-पिता को समझ न सकेगी अर्थात् भाई बहिन में भी अनाचार होने के अवसर हैं। पिता-पुत्री, माता पुत्र का सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से हेय और त्याज्य है। प्लेटो के साम्यवाद में इसको रोकने का कोई साधन नहीं है।

(५) यह कहना कि स्वर्ण से ही स्वर्ण के आभूषण बनते हैं, मानव जगत में सर्वथा सत्य नहीं होगा (To say that gold produces gold will not always hold good in human world)—इसके अतिरिक्त यह कहना कि स्वर्ण से ही स्वर्ण के आभूषण बनते हैं मानव जगत में सर्वथा सत्य नहीं होगा। सर्वोत्तम प्रकृति के स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध योग्य सन्तान उत्पन्न करेगा, वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य है। एक सी प्रकृति के युग्मों का सम्पर्क बौद्धिक सन्तान उत्पन्न नहीं करता। स्वर्ण के विपरीत ही यहाँ परिणाम होते हैं। बुद्धि का विकास, विभिन्नता में होता है, एकता में नहीं। इसके साथ, यदि यह सत्य भी हो, तो समाज मूर्खों का होगा, क्योंकि योग्य व्यक्ति थोड़े ही होते हैं, निकृष्ट कोटि के व मूर्ख व्यक्ति समाज में बहुसंख्या में होते हैं। उन्हें इस प्रयत्न द्वारा और अधिक मूर्ख बनाकर समाज को मूर्खों का समाज नहीं तो और क्या बनाया जायगा।

(६) राज्य की एकता के लिए घातक है—स्त्रियों का साम्यवाद प्लेटो के विचार जगत की एक महान भूल है। वह राज्य में एकता बनाये रखने के लिए साम्यवाद चाहता है और इसको सम्भव बनाने के लिए स्त्रियों से स्थायी विवाहों को

त्याज्य ठहराता है। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि शासक अथवा शक्तिशाली व्यक्ति सर्व सुन्दरी स्त्रियों के रूप के प्रति आसक्त होकर युद्ध आदि को बढ़ावा देंगे। राज्य की एकता नष्ट हो जायगी। राज्यों का इतिहास समाज कल्याण और प्रजा हितैषी कार्यों के स्थान पर स्त्रियों के प्रति प्रेम युद्ध का इतिहास हो जायगा।

(७) **वह व्यक्तिगत जीवन की आधारभूत संस्था का उन्मूलन कर व्यक्ति को अपंगु बनाना चाहता है** (He wants to make man lame by abolishing the fundamental institution of private life)—अन्त में प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना करते हुये हम कह सकते हैं कि वह व्यक्तिगत जीवन की आधारभूत संस्था का उन्मूलन कर व्यक्ति को अपंगु बनाना चाहता है। उसे पारिवारिक जीवन की आवश्यकता की अनुभूति सम्भवतः नहीं हुई। प्रो० सेबाइन के शब्दों में "रिपब्लिक में उसके साम्यवादी विचार संरक्षक वर्ग—सैनिक और शासक—तक ही व्यापक हैं। उत्पादक वर्ग को व्यक्तिगत परिवारों, सम्पत्ति और पत्नी रखने की अनुमति प्राप्त है। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है इसकी चर्चा नहीं की गई। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्लेटो ने अपनी योजना की सूक्ष्मताओं पर विचार करने का कष्ट नहीं किया।" ["Communism in the Republic, however applies only to the guardian class, that is to the soldiers and rulers, while the artisans are to be left in possession of their private families, both property and wives How this is to be made consistant with promotion from the lower rank to the higher is not explained But the truth is that Plato does not take the trouble to work out his plan in much detail" G. H Sabine] प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था को प्रयोगान्वित करना सर्वथा असम्भव है।

वर्तमान साम्यवाद और प्लेटोनिक साम्यवाद (Communism of Plato and Karl Marx)—प्लेटो के साम्यवाद और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित लेनिन, स्टेलिन, ख्रुश्चेव, माओ द्वारा समर्थित साम्यवाद दोनों में निम्नलिखित समानतायें और असमानतायें हैं

(१) समानतायें (Similarities)—

(अ) **दोनों ही मनुष्य के व्यक्तित्व को समाज में विलय कर देते हैं** (Both integrate the personality of the individual in society)—मनुष्य एक व्यक्ति न रहकर एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का विकास समाज के सामूहिक विकास से परे सम्भव नहीं है। मनुष्य की उन्नति उसी समय हो सकती है जब वह अपने व्यक्तित्व का समाजीकरण कर दे। दोनों साम्यवाद समाज की सामूहिक उन्नति को अपना लक्ष्य बना कर व्यक्ति को उसकी पूर्ति का साधन बनाते हैं। आधुनिक साम्यवाद में व्यक्तिगत पूंजीवादी स्वरूप का लोप कर समाज की सर्वांगीण उन्नति का स्वप्न देखा जाता है, तो प्लेटो भी व्यक्ति द्वारा पत्नी, परिवार तथा सम्पत्ति सभी का त्याग करा कर समाज की उन्नति का कल्पनातीत चित्र प्रस्तुत करता है।

(ब) **दोनों ही मानव प्रकृति की उपेक्षा पर आधारित हैं** (Both neglect human nature)—प्लेटो यदि मनुष्य की त्रुटिपूर्ण व्याख्या द्वारा उसके विकास और जीवन का सार अपहरण करने की योजना रखता है तो मार्क्स भी यह विस्मृत कर देता है कि मानव प्रकृति से उस कार्य को अधिक दिलचस्पी से करता है, जिससे

उसे कुछ व्यक्तिगत लाभ होता है। सामूहिक कार्य करते समय मनुष्य उपेक्षापूर्ण व्यवहार प्रारम्भ करता है। उदाहरण के लिये यदि समाज में मनुष्य को यह बताया जाय कि उन्हें सार्वजनिक खीर के निर्माण के लिये एक लोटा प्रति व्यक्ति दूध लाना है, तो प्राय देखने में आयेगा कि कुछ व्यक्ति दूध के स्थान पर पानी, कुछ अधिकांश पानी और थोड़ा दूध लायेंगे। इसके विपरीत यदि यह घोषणा की जाय कि विशुद्ध दूध लाने वाले को १ रुपया प्रति लोटा दिया जायगा, तो पानी का नाम निशान नहीं होगा। *कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति सर्वदा प्रकृति से ही अपने व्यक्तिगत लाभ* के प्रति सचेष्ट रहता है, जिसे दोनों साम्यवाद के प्रवर्तकों ने विस्मृत कर दिया है।

(ख) दोनों ही साम्यवाद राज्य की एकता बनाये रखने के लिये प्रतिपादित किये गये हैं (Both have been interpreted to maintain the Unity of state)—सम्पत्ति समाज में विभिन्नता फैलाती है और सम्पत्ति का अपहरण समाज को एकता के सूत्र में बाँध देता है। सबको समाज में सुख और दुख होते हैं। धनी और निर्धन का अन्तर न होने से विषमता और कटुता का स्थान एकता ले लेती है।

असमानतायें (Dissimilarities) ·

(१) प्लेटो का साम्यवाद आध्यात्मिक है और मार्क्स का भौतिकवादी (Communism of Plato is spiritual and that of Marx materialistic)—प्लेटो का साम्यवाद आत्मिक उपज है। वह आत्मा को सुधारने के उद्देश्य से स्थापित किया गया। प्लेटो ने मनुष्यों के भ्रष्ट होने का कारण सम्पत्ति का संचय और सम्पत्ति का निवारण ही उसका एकमात्र उपाय बताया। वह मनुष्यों को सम्पत्ति विहीन बनाकर योगी के समान करना चाहता था। सारांश में उसका साम्यवाद त्याग *का प्रतीक है।* आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति के त्याग के स्थान पर *अधिक न्यायिक* वितरण का सिद्धान्त है। वह यह मान कर चलता है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सम्पत्ति का न्याय पूर्ण वितरण होना चाहिये। व्यक्ति की प्रसन्नता में, आधुनिक साम्यवाद के अनुसार उसी समय वृद्धि की जा सकती है, जब व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के आधार पर वस्तुयें प्राप्त होती रहें। यह त्याग के स्थान पर भोग का सिद्धान्त है। इसलिये यह कहा जाता है कि प्लेटो का साम्यवाद आध्यात्मिक है और मार्क्स का भौतिकतावादी। प्लेटो सम्पत्ति अपहरण द्वारा समाज को समान बनाना चाहता है, मार्क्स उसके वितरण द्वारा।

(२) प्लेटो का साम्यवाद सब के हित के लिये है और मार्क्स का केवल सर्वहारा वर्ग के लिये (Platonic communism is for the benefit of all and sundry and that of Marx for the proliteriat class alone)—प्लेटो का साम्यवाद "सम्पूर्ण समाज के लाभार्थ है *लेकिन फिर भी उससे सम्पूर्ण समाज का हित* नहीं होता" (It exists for the sake of whole society, but not for the whole society)। सम्पूर्ण समाज के हित के लिये सम्पत्ति को वर्गों को रखने की अनुमति नहीं होगी। अधिकांश जनसमूह (उत्पादक वर्ग) को सम्पत्ति रखने, प्रयोग करने आदि का अधिकार होगा। आधुनिक साम्यवाद सर्वहारा वर्ग के हित के लिये केवल मात्र उत्पादन के साधनों के रूप में सम्पत्ति का लोप है।

(३) प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक है, आधुनिक साम्यवाद आर्थिक है (Platonic communism is political whereas modern communism is

economic)—प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को सम्पत्तिहीन बनाने का लक्ष्य सामने रखा। वह इस वर्ग को राज्य कार्यों मे अधिक दिलचस्पी लेने के लिये उसे आवश्यक मानता है सम्पत्ति का निवारण राज्य को सफल बनाने के लिये है। शासक और सैनिक अपने गुणो का भली-भाँति प्रयोग कर सकें इसलिये सम्पत्ति की बेड़ियाँ उनसे दूर रखी जानी चाहिये। आधुनिक साम्यवाद आर्थिक है। वह राज्य के हित के लिये नही, वरन पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के दोषो को सुधारने का लक्ष्य लेकर प्रतिपादित किया गया है। यह अर्थ-व्यवस्था मे सुधार कर उत्पादन के साधनो का समाजीकरण एवं नियन्त्रण अपना उद्देश्य बनाता है। आर्थिक असमानता को मिटाने के लिय इसकी अभिव्यक्ति की गई है।

(४) **प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग द्वारा सम्पति के स्वामित्व को स्वीकार करता है और मार्क्सवाद विरोध करता है** (*Platonic Communism accepts the ownership by producers class while Marxism rejects it outright*)—प्लेटो उत्पादक वर्ग के व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है और उन्हें व्यापार आदि मे भाग लेने का अवसर प्रदान करता है। आज का साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वरूप को मिटा कर पूर्ण समाजीकरण करना चाहता है। आज उत्पादन, वितरण, विनिमय को व्यक्तिगत रूप मे समाप्त कर उन्हे सार्वजनिक स्वरूप प्रदान किया जाता है। प्रथम साम्यवाद कुछ सीमा तक व्यक्तिगत सम्पत्ति का पोषक है तो दूसरा उसे किसी भी रूप मे स्वीकार करने मे असमर्थ है।

(५) **प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक शक्तियों को आर्थिक प्रलोभनो से मुक्त करना चाहता है और आधुनिक साम्यवाद एकीकरण** (*Platonic Communism wants to rescue the political forces from economic whereas new communism aims at their unity*)—प्लेटो का साम्यवाद राजनैतिक शक्तियो को आर्थिक प्रलोभनो से मुक्त रखना चाहता है। उसका यह दृढ विश्वास है कि राजनैतिक शक्तियाँ आर्थिक शक्तियो के साथ मिश्रित होते ही भ्रष्ट हो जाती है। अतएव उन दोनो का एकीकरण नही होने देना चाहिये। किन्तु आधुनिक साम्यवाद इस अर्थ मे प्लेटो के साम्यवाद से ठीक विरुद्ध है। वह दोनो शक्तियो के पृथक्करण के स्थान पर उनका एकीकरण करना चाहता है। आजकल साम्यवाद राजनैतिक शक्तियो को आर्थिक शक्तियो से मुक्त रख कर ही अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है।

(६) **प्लेटो के साम्यवाद का क्षेत्र मार्क्सवाद साम्यवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है** (*Platonic communism is more wider in scope than Marxian*)—प्लेटो के साम्यवाद का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्लेटो ने सम्पति को ही अपने साम्यवाद का आधार नही बनाया वरन् व्यक्तियो को आकर्षण पाश मे बाँधने वाले परिवार का साम्यवाद भी प्रस्तुत किया। उसके साम्यवाद मे संरक्षक वर्ग को सम्पत्ति और उसके साथ ही पत्नी एवं परिवार का त्याग भी करना पडेगा। लेकिन मार्क्स प्रतिपादित आधुनिक साम्यवाद केवल सम्पत्ति का साम्यवाद ही लाना चाहता है। पत्नी एवं परिवार का साम्यवाद उसका लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार उसका क्षेत्र प्लेटो के साम्यवाद की अपेक्षा सीमित है।

(७) **प्लेटो के साम्यवाद नगर राज्यो तक ही सीमित था और आधुनिक साम्यवाद विश्वव्यापी है** (Platonic communism remained confined within the four walls of city states whereas modern communism claims to

be world wide)—प्लेटो का साम्यवाद यूनान की पृष्ठभूमि से परिस्थितः सम्बन्धित है। उसे एकमात्र यूनान के नगर राज्यों में ही क्रियान्वित किया जा सकता है। उसके सफल होने के अवसर छोटे से नगर राज्य की सीमित परिधि में ही उपलब्ध हो सकते हैं। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद विश्वव्यापी प्रेरणा लिये हुये है। उसका लक्ष्य औद्योगिक दृष्टि से बढ़े हुये उन्नतिशील राष्ट्र में सफलता प्राप्त करना तथा सम्पूर्ण विश्व से पूँजीवाद का लोप कर सर्वहारा वर्ग का राजसत्ता पर आधिपत्य जमाना है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यदि प्लेटो कृत साम्यवाद सीमित नगर राज्यों में ही प्रयोगान्वित हो सकता है तो आधुनिक साम्यवाद का बड़े-बड़े राष्ट्र राज्यों और सम्पूर्ण विश्व में सफल बनाया जा सकता है।

(८) प्लेटो का साम्यवाद स्वप्नलोकीय है और मार्क्सवादी व्यवहार मूलक (Platonic communism is utopian while Marxism is realistic)—प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद में एक मौलिक अन्तर यह पाया जाता है कि प्लेटो एक दार्शनिक विचारक था और उसकी कल्पना भी पंख लगा कर हवा में उड़ रही थी। वह आदर्श राज्य के निर्माण के स्वप्न में इतना लीन हो गया था कि उसे जगत की वास्तविकता का ध्यान ही नहीं रहा। वह यह विस्मृत कर गया कि साम्यवाद की योजना मनुष्यों पर प्रयोगान्वित करनी है। प्रत्येक मनुष्य प्लेटो नहीं होता। उन्हें जगत की कठोर वास्तविकताओं में रहकर जीवन व्यतीत करना पड़ता है। परिवार, पत्नी एवं सम्पत्ति के बिना उनका कार्य नहीं चलता। उसका साम्यवाद दार्शनिक है, जिसे व्यावहारिकता प्रदान करना सम्भव नहीं। मार्क्स का साम्यवाद व्यावहारिकता मूलक है। उसकी योजनायें कल्पनालोकीय नहीं, वैज्ञानिक और व्यवहारिकता परक हैं। मार्क्स ने पूँजीवाद की त्रुटियों का गहन अध्ययन किया और वैज्ञानिक के समान उनके निराकरण का उपाय भी बताया। उसने अपने अध्ययन के आधार पर कहा कि पूँजीवाद का लोप होना अनिवार्य है। सर्वहारा वर्ग संगठित हो कर क्रान्ति करेगा तथा जो नवीन व्यवस्था उत्पन्न होगी वह साम्यवाद होगा। मार्क्स ने व्यावहारिक साम्यवाद पर विचार किया, जिसे आज रूस, चीन, बलकान प्रदेशों आदि में साकार देखा जा सकता है।

(९) प्लेटो का साम्यवाद 'अर्द्धसाम्यवाद' है, आधुनिक पूर्ण—(Platonic Communism is 'Half Communism-modern covers the whole society)—प्लेटो का साम्यवाद 'अर्द्ध साम्यवाद' कहलाता है। यह संरक्षक वर्ग की अल्प संख्यक (आधे से भी कम) समुदाय के लिये प्रतिपादित किया गया है। वर्तमान साम्यवाद सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करता है।

(१०) प्लेटो का साम्यवाद वर्गीय समाज व्यवस्था में एक पूरक वर (संरक्षक वर्ग,) वर्ग विशेष के लिये है, मार्क्स का साम्यवाद वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयास है।

(११) प्लेटो का साम्यवाद शिक्षा के माध्यम से शान्तिपूर्ण ढंग से लाया जा सकता है, मार्क्स ने इसके विपरीत हिंसात्मक क्रान्ति का गीत गाया है।

दार्शनिक शासक (Philosopher King)

प्लेटो के आदर्श राज्य का अन्तिम अंग दार्शनिक शासक है। आदर्श राज्य में न्याय, शिक्षा, साम्यवाद आदि योजनाओं का कोई मूल्य नहीं हो सकता, यदि इन्हें क्रियान्वित करने की शक्ति योग्य, निष्पक्ष व्यक्ति के हाथों में न हो। प्लेटो के आदर्श

राज्य का आधार स्तम्भ दार्शनिक शासक है। *उसने अपनी शिक्षा प्रणाली के द्वारा* दार्शनिक शासक की खोज करना प्रारम्भ किया। दार्शनिक शासक का महत्व और उसकी आवश्यकता पर विचार करते हुए प्लेटो ने बताया कि राज्य जिस शिक्षा-*पाठ्यक्रम की व्यवस्था करता है, वह ज्ञानवर्द्धक होती है। वास्तविक ज्ञान कला,* साहित्य आदि में नहीं वरन् दर्शनशास्त्र में निहित होता है। इसलिये जब वास्तविक ज्ञान दर्शनशास्त्र में निहित है राज्य का शासन भी दार्शनिकों द्वारा किया जाना *चाहिये। दार्शनिक ही शासक हो, या शासक दर्शन ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित हों,* जो अपने असीमित ज्ञान और अनुभव के आधार पर पूर्ण विवेकमय शासन करें तभी आदर्श राज्य स्थापित हो सकता है। प्रो० बार्कर ने प्लेटो के इस वक्तव्य को इस *प्रकार स्पष्ट किया है 'जब तक दार्शनिक राजा नहीं बनेंगे, या* राज्य तथा राजकुमार इस विश्व में दार्शनिक शक्ति तथा भावना से ओत-प्रोत न होंगे, राज्य अपनी बुराइयों से मुक्ति नहीं पा सकेंगे।" [Until philosophers are kings, or the kings and princess of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never have rest from their evils "—E. Barker] दार्शनिक ही राज्य को बुराइयों से मुक्त रख सकेंगे, क्योंकि ज्ञान, योग्यता उन्हें स्वार्थी वित्त संकी-*र्णता, तुच्छ तथा हीन आकांक्षाओं आदि से दूर, निष्पक्ष,* कर्त्तव्यभक्त आत्म नियन्त्रण शक्ति सम्पन्न, भय, काम, क्रोध, मद, लोभ से मुक्त, वीतरागमय जीवन प्रदान करेगी। अज्ञानी, अयोग्य एवं स्वार्थी राजनीतिज्ञों से मुक्ति का उपाय दार्शनिक शासक के रूप में *प्लेटो ने खोज निकाला। दार्शनिक राज्य के सर्वांगीण हित के लिए बुद्धि और विवेक* के साथ शासन करेंगे। उन्हें सत्य की शोध में उत्साह मिलगा। उन्हें अपने कर्त्तव्य से विमुख करने वाला प्रलोभन नहीं होगा। उच्च शिक्षा, दार्शनिक का निर्माण करेगी। *(इसकी व्यवस्था शिक्षा शीर्षक में स्पष्ट की जा चुकी है।)*

दार्शनिक शासक के गुण (Characteristics of a Philosopher king)

शिक्षा सम्बन्धी तथा चरित्र सम्बन्धी योग्यताओं के अतिरिक्त दार्शनिक शासक राजतन्त्र या कुलीनतन्त्रीय होगा। प्लेटो ने इस दोनों शब्दों द्वारा एक ही वस्तु की व्याख्या की है। इन शासकों पर लिखित कानूनों का कोई प्रतिबन्ध न होगा। प्लेटो इस व्याख्या द्वारा दार्शनिक शासक को निरकुंश बना देता है। कानूनों के बन्धन से मुक्त रह कर ही वे अपने ज्ञान और विवेक का ठीक-ठीक प्रयोग कर सकेंगे। जिस प्रकार चिकित्सक अपने अनुभव के आधार पर रोग की औषधि निर्धारित करता है और केवल लिपिबद्ध नियमों का ही अनुसरण नहीं करता, ठीक उसी प्रकार शासक को भी अपने विवेक तथा अनुभव द्वारा शासित जनता को सुधारने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। यदि उन्हें कठोर विधियों के बन्धन में रखा जायगा तो वे अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा जनता का हित भली-भाँति नहीं कर सकेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्लेटो यूनान की पृष्ठभूमि से अलग हो जाता है। *तत्कालीन यूनान* में, विधियों को सम्प्रभु माना जाता था और प्रत्येक नागरिक पारस्परिक सहयोग से उन्हें मान्यता देते हुये, शासन सचालन करते थे। किसी एक व्यक्ति को सर्वोच्च शक्ति नहीं प्रदान की जाती थी। एक दार्शनिक शासक का अस्तित्व *राजतन्त्र का समर्थन* करता है जहाँ सत्ता सभी नागरिकों के स्थान पर किसी एक व्यक्ति को सौंप दी जाय और वह व्यक्ति विधियों आदि से ऊपर हो। परन्तु प्लेटो कोरा आदर्शवादी ही नहीं था जो दार्शनिक शासक को निरकुंश बना देता। *उसने दार्शनिक शासकों पर नियन्त्रण* रखने के लिए चार सिद्धान्त भी बनाये।

(१) दार्शनिक शासकों को राज्य में दरिद्रता अथवा धनाढ्यता नहीं घुसने देनी चाहिए। यह सिद्धान्त शासकों को स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर ऐसा सन्तुलित शासन करने के लिये विवश करता रहेगा, जिसमें वे राज्य में अतिनिधनता या धनाढ्यता न फैलने दें।

(२) उन्हें राज्य के आकार की सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिये (प्लेटो के अनुसार ५०४० वर्ग मील)। उसे अधिक छोटा या बड़ा नहीं होने देना चाहिये।

(३) राज्य में न्याय बनाये रखना चाहिये। यह देखना चाहिए कि प्रत्येक वर्ग अपना निर्धारित कार्य ही कर रहा है और दूसरा के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर रहा है।

(४) दार्शनिक शासक को शिक्षा-प्रणाली में भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि शिक्षा में परिवर्तन राज्य के नियमों के परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है। **'जब कभी संगीत प्रणाली परिवर्तित होती है राज्य के नियमों में भी परिवर्तन हो जाता है।'**

दार्शनिक शासन में उपयुक्त राजतन्त्र के साथ-साथ कुलीनतन्त्र के गुण भी पाये जाते हैं। शासक अपनी योग्यता एवं ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ व्यक्ति ही हो सकता है। उसे योग्य बनाने के लिये निश्चित शिक्षा दी जायेगी। इस प्रकार दार्शनिक शासक राजतन्त्र एवं कुलीनतन्त्र के अनूठे गुणों का सामंजस्य होगा।

'दार्शनिक शासक' की आलोचना (Criticism of Philosopher king) :

(१) **यह सिद्धान्त असंगति पर आधारित है (The principle is besed upon inconsistency)**—प्लेटो के 'दार्शनिक शासक' की आलोचना करते हुये यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्ततः **असंगति पर आधारित है।** दार्शनिक शासक पर कानूनों आदि का कोई बन्धन नहीं होगा। दूसरी ओर वह चार सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध लगाकर दार्शनिक शासक को पूर्ण स्वतन्त्र नहीं रहने देता। उन्हें कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना होगा, जो इन सिद्धान्तों के विपरीत हो। एक ओर बन्धन, स्वतन्त्रता का समर्थन और दूसरी ओर सैद्धान्तिक स्वतन्त्रता का हनन एवं बहुत बड़ा विरोधाभास है। बार्कर ने इसको महानतम विरोधाभास बताया। "......यह 'रिपब्लिक' का सबसे बड़ा विरोधाभास-सामान्य शिक्षा, स्त्री-पुरुषों के कार्यों तथा पत्नियों के साम्यवाद से भी बड़ा विरोधाभास है।" ['The greatest paradox of the Republic—greater than the paradox of the common education and function of the men and women, and greater even than the paradox of communism of wives"
—E. Barker]

(२) **शासन की औषधि से तुलना करना उचित नहीं (It is not fair to compare administration with medicine)**—दार्शनिक शासक की दूसरी आलोचना यह की जाती है कि शासन की औषधि से तुलना करना उपयुक्त नहीं है। सामान्य नागरिक अस्पताल में पड़े हुए रोगियों के समान नहीं होते जिन्हें दार्शनिक शासक रूपी अनुभवी चिकित्सकों की देख-भाल की आवश्यकता होती है। प्रो० सेबाइन के अनुसार प्लेटो की "शासन की औषधि से तुलना को बहुत दूर तक ले जाना राजनीति को इतना महत्वहीन कर देता है कि वह राजनीति नहीं रहती। एक वयस्क उत्तरदायी प्राणी के लिये, उसका दार्शनिक से कम होना भी, उसे रोगी नहीं बना देता, जिसे अनुभवी देखभाल की आवश्यकता मात्र हो।"

["His comparison of government to medicine, carried through to its farthest extreme, reduces politics, to something that is not politics. For an adult, responsible human being, even though he be less thar a philosopher, is certainly not a sick man who requires nothing but expert care."—G. H Sabine]

(३) **दार्शनिक शासन का सृजन निरंकुश राजतन्त्र का पोषण मात्र है** (Philosopher King is another name for absolute monarchy)—शासक पर किसी प्रकार का बन्धन नही होगा। वह अपने आदर्शों को सर्वाधिक उचित समझने के कारण प्रजा पर अत्याचारपूर्ण शासन भी कर सकेगा। जब तक शासक को एक मात्र सत्ताधारी बना कर, उसके ऊपर नियन्त्रण रखने की शक्ति किसी संस्था या जन समूह को नही दी जाती है, वह मनमाना अत्याचारी शासन करता है। सत्ता का मद विद्वान से विद्वान शासक को पथभ्रष्ट कर सकता है।

(४) *एक व्यक्ति की योग्यता को अत्यधिक महत्व देकर जन समूह की* योग्यता को भुला देना है। एक ही व्यक्ति शासन की सर्वोच्च शक्तियों का स्वामी होगा क्योंकि उसका ज्ञान चरम सीमा पर पहुँच चुका है। यह विचार फासिस्टवाद के प्रवर्त्तक मुसोलिनी नाजीवाद के हिटलर जैसे शासकों का समर्थन करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने आप को अधिक योग्य और जन समूह को मूर्ख समझने का मूल्य बहुत मँहगा पडता है। एक की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों को यदि अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर दिया जाय, तो वे अल्प बुद्धि वाले होने पर भी अधिक अच्छी तरह कार्य कर सकेंगे। चार आँखें, दो आँखो से सदैव अच्छी तरह देखती हैं।

(५) **दार्शनिक शासक की योजना प्रजातन्त्र की भावना का विरोध करती है** (The theory of philosopher king is a negation of democracy)—तत्कालीन यूनान मे प्रत्येक नागरिक शासन कार्य मे भाग लेने के लिये स्वतन्त्र था। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन था, जिसमे सभी नागरिक समान समझे जाते थे और शासन सम्बन्धी योजनायें परस्पर सहयोग द्वारा तैयार करते थे। किसी एक व्यक्ति को अत्यधिक महत्व नही दिया जाता था। दार्शनिक शासक उस विचारधारा का खण्डन करते हुये सम्पूर्ण सत्ता अपने नियन्त्रण मे रखेगा। अन्य व्यक्तियो का शासन में कोई हाथ नहीं होगा। प्रजातन्त्रीय युग मे, प्रजातन्त्रीय देशो के प्रतिनिधि विचारक द्वारा प्रजातन्त्र की उपेक्षा असह्य है।

(६) **दार्शनिक शासक की योजना प्रजातन्त्र की भावना का विरोध करती है** (The position of the philosopher king enslaves the entire people)—प्लेटो ने दासता के सम्बन्ध मे स्पष्टत कही भी विचार व्यक्त नही किया, परन्तु दार्शनिक शासक की स्थिति सम्पूर्ण जनता को दास बना देती है। जनता दार्शनिक शासक का विरोध नही कर सकेगी, क्योंकि उसके आदेश उच्च ज्ञान के प्रतीक हैं। जनमत भी उसे प्रभावित करने मे असमर्थ रहेगा। असन्तुष्ट जन समूह दार्शनिक शासक के अत्याचार को भी वरदान समझकर ग्रहण करेंगे। यह विचार सम्पूर्ण जनता को ही दास बना देता है।

(७) **दार्शनिक सफल शासक नहीं हो सकेंगे** (Philosophers will not be successful administrators)—उन्हें गणित और दर्शन का उच्चतम-ज्ञान

होगा। वे यथार्थ की अपेक्षा दार्शनिक कल्पना के जगत में विचरण करने वाले प्राणी होंगे। भूतल और उसके प्राणियों की समस्याओं का उन्हें ज्ञान नहीं होगा। दार्शनिक अपने विचारों में ही इतना खो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर आदि की चिन्ता भी नहीं रहती, फिर वे किस प्रकार अन्य व्यक्तियों के हित की चिन्ता कर सकेंगे। शासन की आवश्यकताओं का तुरन्त हल निकाला जाना आवश्यक होता है, जिसकी दार्शनिक शासकों से आशा नहीं की जानी चाहिए।

(८) यह सिद्धान्त प्लेटो की महत्वाकांक्षाओं का ही चित्रण है (It is nothing but Platonic canon with supe sonic bullet) – प्लेटो के दार्शनिक शासक की अन्तिम आलोचना यह की जाती है कि यह सिद्धान्त उसकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का ही चित्रण है। प्लेटो स्वयं एक दार्शनिक था और वह स्वयं शासक बनना चाहता था। इसी स्वार्थ से प्रेरित होकर उसने अपनी कल्पना का महल खड़ा किया और सिद्ध करना चाहा कि दार्शनिक शासक ही आदर्श राज्य का निर्माण कर सकते हैं। राज्य की बुराइयों का लोप अन्य किसी प्रकार के शासन में नहीं हो सकता। अन्य शासकों का अल्प ज्ञान तथा चारित्रिक दोष उन्हें सफलतापूर्वक शासन नहीं करने देते। इसलिये शासन के दोषों का निवारण करने के लिये यह आवश्यक है कि दार्शनिक ही शासक हों। ऐसा दार्शनिक प्लेटो के अतिरिक्त और कहाँ मिल सकता है।

आदर्श राज्य (Ideal State)

प्लेटो एक दार्शनिक था। रिपब्लिक में उसने एक आदर्श राज्य का निर्माण किया। युवावस्था की तरंग में वह कल्पना की तूलिका लेकर एक राज्य के निर्माण पर विचार करता है जो यूनान, भारत, अमेरिका या रूस आदि में नहीं है। यदि प्लेटो द्वारा बताये गये आवश्यक तत्व किसी राज्य में विधिवत प्रयोगान्वित कर दिये जायें तो वह आदर्श राज्य हो जायगा।

आदर्श राज्य क्या है ? प्लेटो ने इसका उत्तर आदर्श राज्य के निर्माण तत्वों द्वारा प्रदान किया। आदर्श राज्य न्याय पर आधारित होता है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को बिना किसी दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप किये हुये पूरा करते हैं। उनके मस्तिष्क को शिक्षा द्वारा उन्नत किया जाता है। साम्यवाद द्वारा भौतिक प्रलोभनों से मुक्त शासक और सैनिक राज्य की उन्नति की चेष्टा में संलग्न रहते हैं। शासक विशेष योग्यता युक्त होने के कारण राज्य हितकारी कार्यों को अधिक भली प्रकार करते हैं। यदि निम्न चार तत्व किसी भी राज्य में पूर्णरूप से प्रयोगान्वित किये जायें और उनमें से किसी एक का भी अभाव न रहे, तो राज्य आदर्श राज्य हो जायगा :—

(१) न्याय (Justice)
(२) शिक्षा (Education)
(३) साम्यवाद (Communism)
(४) दार्शनिक शासक (Philosopher king)

इन चारों तत्वों का विस्तृत विवेचन पृथक शीर्षकों में किया जा चुका है।

आदर्श राज्य की आलोचना (Criticism of Ideal state)

१. आदर्श राज्य का प्रयोगान्वित किया जाना यदि असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। उसके चारों तत्वों में से किसी को भी पूर्णतया क्रियान्वित करना दार्शनिक के लिये भले ही सरल हो राजनीतिज्ञ के लिये अव्यावहारिक है। प्लेटो को भी सीरा-क्यूज के डायनोसियस द्वितीय को आदर्श शासक निर्माण में असफल होने पर यही कहना पड़ा कि "यह राज्य शब्दों में स्थापित है, पृथ्वी पर मैं विचार करता हूँ कि यह कहीं नहीं है।" ["The city is founded in words for on earth I imagine it no where exists"]

२ आदर्श राज्य का भौगोलिक सीमाकन काल्पनिक है।

३. आदर्श राज्य की जनसंख्या का वर्णन आज हास्यास्पद प्रतीत होता है। ५०४० नागरिक छोटे से गाँव में ही होते है। बड़े या राष्ट्र राज्य की जनसंख्या कई करोड़ तक होती है।

४ मानव प्रवृत्ति और गुणों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। यह त्रुटिपूर्ण है। विवेक सम्पन्न व्यक्ति साहस विहीन ही हो, या आवश्यकता पड़ने पर शौर्य प्रदर्शन न कर सके, ऐसी बात नहीं।

५ न्याय द्वारा हस्तक्षेपहीनता और कार्य विशेषीकरण पर जोर दिया है। प्रत्येक जनसाधारण से यह आशा करना कि वे दूसरो के कार्यों मे हस्तक्षेप न करें और अपने ही कार्य करते रहे उचित नही।

६ न्याय राज्य मे अतिरंजित एकता (Excessive Unity) का सिद्धान्त बन गया है।

७ शिक्षा का जीवन पर्यन्त चलना नागरिको मे शिक्षा के प्रति अरुचि पैदा करेगा। गणित और दर्शन की जटिलतायें तो और भी नीरसता पैदा करेगी।

८ शिक्षा थोड़े से मुट्ठी भर नागरिकों को ही सुलभ हो सकेगी। उत्पादक वर्ग उससे वंचित रहेगा। आदर्श राज्य की अधिकाश अशिक्षित जनता राज्य का गौरव नही बढा सकेगी।

९. साम्यवाद शासक और सैनिकों के लिये ही है। उत्पादक वर्ग परिवार और सम्पत्ति से वंचित नही होंगे। इसका प्राकृतिक प्रभाव यह होगा कि शासक सरक्षक दोनो ही उनके परिवार-सम्पत्ति प्रलोभनों में फँस जायेंगे। सम्पत्ति और परिवार प्राकृतिक और अनिवार्य सस्थायें है। उनके अभाव मे मानव का विकास और उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति असम्भव है।

१० प्लेटो का दार्शनिक शासक भी असंगतियों और दोषों से युक्त है। ज्ञान जिज्ञासु व्यक्ति राजनीति के झमेलों से दूर रहना चाहते है, वृद्धावस्था की सीमा पर पहुँचते ही कर्मठता क्षीण होने लगती है, फिर भी दार्शनिक शासक बनते ही आदर्श राज्य की स्थापना में सक्रिय हो, सम्भव नही।

प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचार
(Platonic Conception of the State)

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे राज्य से सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर विचार किया। उसके राज्य विषयक विचार वैज्ञानिक क्रमबद्धता विहीन हैं, और यत्र-तत्र बिखरे हुये है, उन्हें विभिन्न स्थानों से सगृहीत करना पड़ता है।

राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)—राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न पर प्लेटो ने बहुत ही विस्तारपूर्वक विचार किया। उसके यह विचार राजनीति दर्शन के महत्वपूर्ण भाग हैं। प्लेटो की राज्य की उत्पत्ति दो विशेषताओं से युक्त है। प्रथम, **वह राज्य और समाज में अन्तर स्थापित करने में असमर्थ रहा।** राज्य और समाज दोनों के पर्यायवाची होने के कारण राज्य की उत्पत्ति समाज की ही उत्पत्ति है। इस प्रकार समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त ही राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त बन गया। प्लेटो के विचारों मे राजनैतिक और सामाजिक का सादृश्य देखने मे एक त्रुटि दिखाई देती है। लेकिन यथार्थ मे उनका एक ही अर्थ मे प्रयोग किया जाना प्लेटो का दोष नहीं है। तत्कालीन यूनान छोटे-छोटे नगर राज्यों मे विभक्त था। नगर राज्यों की जनसंख्या घनी परन्तु अल्प होती थी। इन नगर राज्यो के सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे अन्तर स्पष्ट करना कठिन था; क्योंकि इन नगर राज्यों की जनसंख्या तीन भागो मे बाँटी जा सकती थी। (१) नागरिक—जो राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकारो का उपभोग करते थे, (२) विदेशी—जिन्हे सामाजिक अधिकार प्राप्त होते थे, और (३) दास—जिन्हे किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नही थे। अधिकांशतः नागरिक राज्य के समस्त कार्यों मे प्रत्यक्षतः हाथ बटाते थे। इस प्रकार तत्कालीन समाज राज्य के अतिरिक्त कुछ नही था। प्लेटो का यह दोष उसके विचारो का गुण बन गया कि मानव विकास के इतिहास मे समाज पहले आता है और राज्य उसके उपरान्त। प्लेटो के इस विचार का परिणाम यह हुआ कि सामाजिक बन्धन की प्राथमिकता निश्चित हो गई। द्वितीय, प्लेटो राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक विवेचन पर चिन्तित नहीं रहा, वह इस खोज मे नही भटकता कि राज्य का जन्म किस दिन हुआ और कब उसने प्रगति प्रारम्भ की, वरन् वह राज्य की उत्पत्ति दार्शनिक आधार पर बता देता है जो उसके विचारों की उपज है। इतिहास उसकी सत्यता या असत्यता पर प्रमाण दे सकता है और नही भी।

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? प्लेटो ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए बताया कि राज्य की उत्पत्ति के पीछे किसी पदार्थ का महत्व नही है वरन् उसके पीछे एक विचार (Idea) निहित है। यह विचार विश्व के प्रत्येक भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति का आधार है। प्लेटो के अनुसार 'राज्य की उत्पत्ति काष्ठ तथा पत्थर जैसे जड पदार्थों से नहीं हुई वरन् मनुष्यो से जो वहाँ निवास करते है, हुई।' [State do not come out of an oak or rock, but from the character of the man that dwelt therein.] राज्य मनुष्य की चेतना का ही प्रतिरूप है। सभी संस्थायें मनुष्य की आत्मा का प्रतिबिम्ब या उसका प्रत्यक्ष विचार हैं। वस्तुयें उसका बाह्य प्रतिरूप है। मानव आत्मा और राज्य की आत्मा समान है। यदि मानव आत्मा का सही अध्ययन करना हो तो उसकी विस्तृत प्रति राज्य की आत्मा का अध्ययन कर लेना चाहिए। राज्य की चेतना उसके विभिन्न निवासियो की चेतना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह एक बडी फोटो (Enlarged Photo) के समान है जिसमे सूक्ष्मतम भावनाओं का भी स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। उदाहरण के लिए राज्य की साहसिक चेतना, राज्य के निवासियो की ही साहसिक चेतना है जिसका दर्शन देश पर शत्रु के आक्रमण के समय लक्षित होता है।

मानव चेतना या आत्मा त्रिपक्षीय होती है (Human Coucioiusness is threesided)—मानव आत्मा के यह तीनो ही पक्ष राज्य की आत्मा में भी दिखाई

देते हैं। मानव आत्मा के तीन तत्व—(१) बुद्धि (Reason), (२) साहस (Spirit), (३) वासना या इच्छा (Appetite) हैं। बुद्धि ज्ञान का स्रोत है, साहस धैर्य का प्रतीक है और वासना मनुष्य की प्यार, भूख, प्यास आदि की इच्छाओं की। इन तीनों तत्वों में उचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिये, प्रत्येक तत्व को अपना निर्धारित कर्त्तव्य पूरा करने के लिये, *'न्याय'* होता है। *न्याय एक नियन्त्रक शक्ति के समान है।* यह तीनों ही तत्व प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में होते हैं, इसलिए हमें उसमें समानता दिखाई देती है, लेकिन उसमें असमानता और विभिन्नता पाई जाती है क्योंकि आत्मा के इन तीनों तत्वों की मात्राओं में अनुपात भिन्न होते हैं। किसी मनुष्य में बुद्धि प्रधान होती है, तो किसी में साहस, और किसी में इच्छा। अतः मानव आत्मा समानता और असमानता दोनों गुणों से युक्त होती है।

इसी प्रकार राज्य की आत्मा में भी, मानव आत्मा के समान, तीन तत्व होते हैं, *बुद्धि तत्व के प्रतिरूप राज्य में शासक (Guardian) या संरक्षक होते हैं,* साहस के प्रतिरूप योद्धा या रक्षक (Auxilliary) वर्ग, तथा वासना के अनुकूल उत्पादक (Producers) वर्ग आता है। शासक राज कार्यों का संचालन करते हैं, सैनिक राज्य की रक्षा करते हैं और उत्पादक इन दोनों वर्गों की आवश्यकता के लिए उत्पादन करते हैं। जिस प्रकार मानव आत्मा में *नियन्त्रण और सन्तुलन बनाये* रखने के लिए न्याय होता है, उसी प्रकार राज्य की आत्मा के तीनों वर्गों में सन्तुलन और व्यवस्था रखने के लिए भी न्याय होता है। तीनों वर्ग अपना-अपना निर्धारित कार्य करते रहें तथा दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करें। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य आत्मा की त्रिपक्षीय आवश्यकताओं और दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप रोकने के लिए न्याय होता है।

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार राज्य मानव आत्मा का ही विस्तृत रूप है। *राज्य की उत्पत्ति मानव आत्मा की विभिन्न प्रवृत्तियों का ही व्यापक रूप है।* राज्य मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुआ। मनुष्य यदि जीवित रहना चाहता है तो उसे अपने साथियों की सहायता से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य आत्मा की त्रिपक्षीय आवश्यकताओं के कारण हुई है।

(१) राज्य की उत्पत्ति में आर्थिक तत्व (Economic factor in the origin of the State)—मनुष्य चेतना युक्त प्राणी है। यह चेतना शक्ति निरन्तर ऊपर की ओर बढ़ती रहती है। उसके विकास के लिए मनुष्य को जीवित रहना पड़ता है और जीवित रहने के लिये मनुष्य को अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है।

(अ) मनुष्य की आवश्यकतायें अनेकतामय (multiplicity of wants) होती हैं। प्रारम्भ में भोजन, वस्त्र एवं धारण स्थल की आवश्यकता होती है। जीवन का उच्च स्तर इन आवश्यकताओं को बाहुल्यमय बना देता है और यह आवश्यकतायें कभी समाप्त नहीं होतीं। एक बार पूरी हो जाने पर भी बनी रहती हैं। मनुष्य का वैभव सम्पन्न जीवन की ओर झुकाव, आवश्यकताओं को अनेकतामय करती है, यह राज्य की उत्पत्ति का प्रथम चरण है।

(आ) इन अनेकों आवश्यकताओं को एक व्यक्ति अकेला पूरा नहीं कर सकता। एक ही व्यक्ति स्वयं कृषक, जुलाहा, स्वर्णकार तथा अध्यापक नहीं हो सकता। उसे विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य मनुष्यों पर निर्भर होना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार उत्पादन कार्य में हाथ बँटाता है और किसी एक आवश्यकता को पूरा करने में सहायक होता है। इस प्रकार एक ही साथ अनेक वस्तुओं का उत्पादन हो जाता है। इससे उत्पादन सरल तथा अच्छे गुण से किया जाता है।

(इ) प्रकृति ने मनुष्य को किसी एक कार्य को करने के लिए बनाया है। मानव हृदय की अभिरुचि उसे किसी एक कार्य विशेष को करने के लिए योग्य तथा अन्य कार्यों के लिए अयोग्य बनाती है। एक व्यक्ति कपड़ा अच्छा बुन सकता है, दूसरा जूता अच्छा बना सकता है आदि। प्रत्येक मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वयं कार्य नहीं कर सकता। 'कोई भी दो मनुष्य एक से पैदा नहीं होते, प्रत्येक अन्य से अपनी प्रकृति में भिन्न होता है। एक व्यक्ति एक कार्य के लिए योग्य होता है, दूसरा दूसरे कार्य के लिए।' [No two persons are born exactly alike, but each differs from each in endowments, one being suited for one occupation and other for an other] प्लेटो का यह विचार श्रम विभाजन या कार्य विशिष्टीकरण (Specialization of function) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इसका आशय यह है कि जिस कार्य में मनुष्य की रुचि होती है वह उसे बहुत अच्छी तरह कर सकता है। एक ही कार्य को करने से श्रम का विभाजन भी हो जाता है। 'कार्य उसी समय अच्छी तरह होता है, जब कार्य करने वाला एक ही कार्य करता है, और उसकी रुचि के अनुकूल होता है'।

अतः राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई। यह भौगोलिक एकता द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ और न ही एक वंश अथवा नस्ल ने अथवा शक्ति के प्रयोग या धार्मिक तत्वों ने राज्य का निर्माण किया। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जो मनुष्य की आत्मा का विस्तृत रूप है। अर्थात् अन्तर निर्भरता ही राज्य की उत्पत्ति का कारण है।

(२) **राज्य की उत्पत्ति का सैनिक तत्व** (Militaric factor in the origin of the state)—मनुष्य के मस्तिष्क की साहसिक प्रवृत्ति राज्य की उत्पत्ति में सहयोग देती है। मनुष्य की आत्मा अनिवार्य आवश्यकताओं के पूरा हो जाने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होती वरन् वह उन्नतिशील जीवन व्यतीत करने के लिये साहित्य, कविता, कला, संगीत आदि तक पहुँचना चाहती है। इनके पूर्ण विकास के लिये विशाल जनसंख्या और विस्तृत प्रदेश की आवश्यकता होती है। विस्तृत प्रदेश निर्माण और उसकी सुरक्षा के लिये युद्ध अनिवार्य हो जाता है। साहसिक प्रकृति के लोग युद्ध में भाग लेते हैं। यह राज्य की उत्पत्ति का सैनिक तत्व है। यहाँ पुनः कार्य विशिष्टीकरण (Specialisation of functions) का सिद्धान्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। युद्ध के लिये एक स्थाई सेना होनी चाहिए जिन व्यक्तियों में साहसिक तत्व अधिक हो, उन्हें विशेष शिक्षा देकर युद्ध के लिये तैयार रखना चाहिये। ऐसी प्रथा कुशलतापूर्वक राज्य सीमा विस्तृत करने और उसकी सुरक्षा में सहायक होगी। सैनिक राज्य के रक्षक होते हैं। उनकी तुलना प्लेटो जागरूक कुत्ते से करता है। जिस प्रकार कुत्ता अजनबी

को देखकर भड़क उठता है, घर के सदस्यों के सामने पूँछ हिलाता है, सैनिक भी उसी प्रकार आक्रान्ता को देखकर भड़क उठेंगे और घरेलू मामलों में शान्त रहेंगे।

(३) राज्य की उत्पत्ति का बौद्धिक तत्व (Intellectual factor in the origin of the state)—राज्य की स्थापना एवं संरक्षण सैनिक प्रवृत्ति द्वारा ही नहीं होती, वरन् उसमें विवेक एवं बुद्धि का भी सहयोग रहता है। बुद्धि ज्ञान के साथ ही उदार व्यवहार करना सिखाती है। यह प्रवृत्ति शासक के हृदय की महत्वपूर्ण भावना होती है। वह यह जानता है कि 'शासन एक कला है और वह नागरिकों की भलाई के लिये प्रयोग की जाती है।' (Government is an art practised for the good of its subjects) यह मनुष्य को आपस में एक दूसरे को समझने के लिये एकत्रित करती है। शासक भी अपने गुणों में पूर्ण हो और एकमात्र यही कार्य करे, तभी शासन कुशल हो सकता है। यह कार्य दार्शनिक अच्छी तरह कर सकेंगे।

राज्य का वर्ग संगठन (Class organisation of state)—राज्य एक प्राकृतिक रचना है और उसकी उत्पत्ति मानव आत्मा के तत्वों द्वारा हुई। उत्पत्ति की यह विवेचना राज्य को तीन वर्गों में संगठित कर देती है।

प्रथम, उत्पादक वर्ग (Producer Class)—मनुष्य जीवित रहने के लिए भोजन, वस्त्र तथा प्राकृतिक कटुता (अति शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि) आदि से रक्षा के लिये अन्य सहयोगियों की आवश्यकता अनुभव करता था। अपने अस्तित्व के लिये उसे समाज की जरूरत हुई। प्रारम्भिक समाज (साधारण आवश्यकताओं के कारण) कृषक समाज ही था। अच्छे, आरामप्रद, वैभव सम्पन्न की लालसा ने व्यापारी वर्ग को प्रोत्साहन दिया। यह आराम तथा विलासमय सामग्री का निर्माण कर बेचने लगे। यातायात की सुविधा से व्यापार अन्य देशों से होने लगा। साधारण से असाधारण की ओर बढ़ता हुआ यह प्रथम वर्ग उत्पादक वर्ग (Producer class) कहलाता है।

द्वितीय, सैनिक वर्ग (Auxiliary Class)—व्यापार तथा यातायात की सुविधा, जनसंख्या वृद्धि आदि ने दूसरे राज्यों की सीमा में जाने के लिये प्रोत्साहित किया। अन्य देशों में उत्पादक वर्ग अपने जीवन तथा सम्पत्ति को असुरक्षित समझता था। अतः उन्हें एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता दिखाई दी जो उन्हें सुरक्षित रख सके। यह सैनिक वर्ग (auxilliary class) कहलाया। इनके कार्य दो प्रकार के थे, शान्ति-काल में जनता की आन्तरिक स्थिति पर नियन्त्रण, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये भूमि तथा व्यापार के लिये गुलाम बनाना, और विदेशी आक्रमण से रक्षा।

इस व्यवस्था का महत्व—राज्य सामाजिक संस्था नहीं रहा और उसका स्वरूप राजनैतिक होता गया। दूसरे, राज्य में आर्थिक तत्व प्रधान रहा।

तृतीय, शासक वर्ग (Guardian Class)—सैनिक व्यवस्था करते थे, लेकिन शक्ति लोलुपता ने उन्हें अव्यवस्थित कर दिया, उन्हें व्यवस्थित करने के लिये एक तीसरा वर्ग (शासक) सामने आया। सिनिमडोयन ने इस वर्ग के सम्बन्ध में बताया कि 'एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव हो रही थी जो विशेषतः (किसी भी वर्ग को अन्य वर्ग के क्षेत्र में अनाधिकार चेष्टा करने व शोषण करने से रोकने में) नियन्त्रण और निरीक्षण करता रहे। इसके लिये प्लेटो ने संरक्षक वर्ग का स्थापित किया, जिसे राज्य के कल्याण चिन्तन में रत रहना हो।

प्लेटो का सावयव अथवा आंगिक राज्य सिद्धान्त (Organic theory of state)—प्लेटो ने सर्व प्रथम राज्य की सावयविक प्रकृति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। राज्य मानव आत्मा का वृहतर रूप है, मानव आत्मा के तीनों तत्व बुद्धि, साहस और वासना राज्य में व्यापक रूप में शासक, योद्धा एवं उत्पादक हो है। प्लेटो ने इस आधार पर राज्य की प्रकृति सावयवी बताई। सावयव से हमारा अभिप्राय क्या है? मानव शरीर को अंगीय या सावयवी कहते हैं। उसमें मुख्य रूप से तीन विशेषतायें होती हैं—

(१) शरीर एक पूर्ण इकाई है। उसके विभिन्न अंगो का शरीर से पृथक कोई *अस्तित्व नही होता। हाथ, पैर, कान आदि अंगो का अस्तित्व* शरीर के साथ ही है। शरीर से पृथक होते ही वे क्रियाहीन व जीवन शून्य हो जाते हैं। निष्कर्षतः शरीर की पूर्ण इकाई के रूप मे मान्यता है, उसके अंग-प्रत्यंग अलग-अलग कोई पृथक अस्तित्व नही रखते।

मनुष्य की सावयव प्रकृति का यह लक्षण राज्य में भी दृष्टिगोचर होता है। राज्य भी एक सम्पूर्ण इकाई है जो पृथक न होने वाले अंगों से बनती है। व्यक्ति अपना विकास राज्य में रहकर ही कर सकता है। राज्य से पृथक व्यक्ति क्रियाहीन और जीवन रहित हो जाते हैं और उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

(२) शरीर का सावयव स्वरूप अंगो के कार्य निर्धारित करता है। आँख का कार्य देखना है, कान का कार्य सुनना है। यह कार्य उनके अतिरिक्त किसी अन्य अंगो द्वारा नही किये जा सकते। आँख से सुनने या कान से देखने का काम नही लिया जा सकता। अतः प्रत्येक अंग का एक निर्धारित कार्य होता है, उसे कोई दूसरा अंग नहीं कर सकता।

राज्य मे भी अंगीय प्रकृति का यह रूप दिखाई देता है। राज्य के विभिन्न अंग-व्यक्तियो के कार्य निश्चित होते हैं। प्रत्येक अंग अपनी प्रकृति के अनुसार उत्पादक, सैनिक या शासक हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य कुशलतापूर्वक कर सकता है, जिसके लिये वह योग्यता रखते हो। अन्य कार्य करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल होता है। जिस व्यक्ति मे सैनिक बनने की प्रतिभा होगी वह अच्छा उत्पादक या शासक न बनकर सैनिक ही बन सकेगा।

(३) शरीर के अंग अनेकता से एकता की ओर उन्मुख होते हैं। हर एक अंग अपना-अपना अलग कार्य करता है लेकिन फिर भी एक दूसरे के ऊपर निर्भर रहता है। उनमें संघर्ष के स्थान पर सहयोग होता है और वे सब मिलकर शरीर के हित के लिये कार्य करते हैं।

राज्य में भी अनेकता में एकता रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना सुनिर्धारित कार्य करता है और एक दूसरे पर निर्भर रहता है। व्यक्ति परस्पर सहयोग पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए, राज्य के हित के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करता है। इस प्रकार शरीर की अंगीय रचना की सभी विशेषतायें राज्य में भी ज्यो की त्यों दिखाई देती हैं। प्लेटो ने इस सादृश्यता से राज्य की प्रकृति का सावयव सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

प्लेटो का 'राजनीतिज्ञ'
(Plato's The Politics Or Statesman)

'रिपब्लिक' के कल्पना लोक मे विचरण करने वाला दार्शनिक वृद्धावस्था की ओर बढते हुये *यथार्थ* जगत मे पदार्पण कर रहा था। उसने आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता का अनुभव कर दार्शनिक शासक की ओर से ध्यान हटाकर एक आदर्श राजनीतिज्ञ की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। अत इन विचारो का प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ 'राजनीतिज्ञ' (The Statesman) है जो 'रिपब्लिक' के बाद प्लेटो की दूसरी महत्वपूर्ण कृति है। आदर्श राजनीतिज्ञ की व्याख्या करते हुए प्लेटो ने ज्ञान (Knowledge) और व्यवहार (Practice) मे अन्तर स्थापित किया। व्यवहार, संकीर्ण अर्थ मे कला-कौशल तक सीमित रहता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है, आलोचनात्मक और आज्ञात्मक। **आलोचनात्मक ज्ञान** वास्तविक गणना के लिए *आवश्यक होता है। वह किसी भी पदार्थ का वास्तविक ज्ञान कराता है।* **आज्ञात्मक-ज्ञान** विवेकीय निर्णयो के आधार पर आदेश देता है। इसमे भी दो रूप दिखाई देते हैं-एक सर्वोच्च-जो आदेश देता है, दूसरा अधीनस्थ-जिसे आज्ञा दी जाती है। आदर्श राजनीतिज्ञ ज्ञान के आज्ञात्मक भाग की सर्वोच्च स्थिति मे निवास करता है। आदर्श राजनीतिज्ञ एक चरवाहे के समान होता है जो अपने क्षेत्र के सभी प्राणियो *की आवश्यकताओ आदि का प्रबन्ध करता है। आदर्श राजनीतिज्ञ की यह व्याख्या* बहुत व्यापक हो जाती है। अत प्लेटो कल्पना का सहारा लेकर राजनीतिज्ञ की व्याख्या करता है। यहाँ वह राजनीतिज्ञ को एक बुनकर के समान बताता है। जिस प्रकार बुनकर का कार्य विभिन्न प्रकार के तागो को एकत्रित कर आकर्षक वस्त्र का निर्माण करना होता है, इसी प्रकार आदर्श राजनीतिज्ञ भी विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियो को एकता के सूत्र मे बाँध कर आदर्श समाज की स्थापना करता है। यह ज्ञान एक या कुछ व्यक्तियो के पास ही हो सकता है, सभी व्यक्ति कभी भी राजनीतिज्ञ नही हो सकते।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजनीतिज्ञ एक कलाकार के समान है। वह अपनी कला का सर्वोच्च ज्ञाता है और कला जगत मे एकाधिपति की भाँति बिना नियमो के बन्धन के अपने ज्ञान का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र है। एक चिकित्सक की भाँति राजनीतिज्ञ भी अपने ज्ञान के प्रयोग मे नागरिको की सम्मति की आवश्यकता नही समझता। जिस प्रकार मरीज स्वेच्छा से डाक्टर के प्रति अपना समर्पण करता है, उसी प्रकार *चयन द्वारा नागरिक भी राजनीतिज्ञ को अपने आप को सम*-र्पण कर देता है। वह मरीज की भाँति समर्पण करने न करने के लिए स्वतन्त्र नही होता।

विधि (Law)—*'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने विधियो को अनावश्यक बताया था* और कहा था कि नागरिको को शिक्षित करने के बाद विधि की कोई आवश्यकता नही होगी। विधि अज्ञान और अशिक्षा का प्रतीक है। 'राजनीतिज्ञ' मे भी विधि को 'राजनीतिज्ञ' के स्वतन्त्र ज्ञान के प्रयोग मे बाधक बताया। विधि सामान्य होती है और नागरिको के स्थान, महत्व तथा समय आदि का ध्यान नही रखती। [सुकरात को मृत्यु दण्ड देकर विधि ने व्यक्ति के महत्व को विस्मृत कर दिया था।] *दृढ विधि* एक निरंकुश शासक के समान होती है, यद्यपि स्थायित्व उसका एक गुण है लेकिन

भविष्य को जंजीरों से जकड़ देना कहाँ तक न्याय संगत है। तात्पर्य यह है कि विधियों में लचीलापन भी होना चाहिए। 'रिपब्लिक' का प्लेटो 'राजनीतिज्ञ' तक आते-आते विधि का समर्थक बन गया। निरंकुश शासक प्रत्येक राज्य एवं काल में उपयुक्त नहीं होते। यदि उन्हें विधियों के अधीन कर दिया जाय तो शासन लाभदायक होता है। अत: प्लेटो आदर्श राज्य की खोज लगा कर विधि-शासित दृश्य जगत की ओर उन्मुख होता है। राजनीति रूपी कला का अन्य कलाओं के समान नियमों के बन्धन में नुकसान नहीं होता वरन वह नियमों के आधार पर चलते हुए बहुत उन्नति करती है। इसलिए विधि स्वार्थी शासकों पर प्रतिबन्ध बन कर बुद्धिजन्य होने के कारण, सभी के हित के लिए उपयोगी होती है।

निष्कर्ष—विधि शासित राज्य ही आदर्श राज्य होगा।

राज्य का वर्गीकरण (Classification of State)—प्लेटो ने राज्य का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया है —

(१) व्यक्ति की संख्या के आधार पर—एक, कुछ अथवा समस्त व्यक्तियों द्वारा शासन।

(२) धन के आधार पर—धनी अथवा निर्धन व्यक्तियों द्वारा शासन।

(३) विधि के आधार पर - विधि सम्मत अथवा विधि विहीन।

निम्नलिखित तालिका द्वारा यह वर्गीकरण स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यक्ति की संख्या के आधार पर	विधि सम्मत शासन	विधि विहीन शासन
एक व्यक्ति का शासन	वैध राजतन्त्र (Legal-Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	वैध कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अयोग्यकुलीनतन्त्र (Oligarchy)
सम्पूर्ण व्यक्तियों का शासन	श्रेष्ठ प्रजातन्त्र (Legal Democracy)	स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्र (Arbitrary Democracy)

एक व्यक्ति जब विधियों के अनुसार सम्पूर्ण जनता के हित के लिए शासन करता है तो वह आदर्श या वैधानिक राजतन्त्र होता है। जैसे ही वह व्यक्ति अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते हुए, विधियों का उल्लंघन करता है उसे निरंकुशतन्त्र कहते हैं। कुछ व्यक्ति धन या ज्ञान के आधार पर सत्ताधारी बन जाते हैं और विधियों के अनुसार जनता के हित के लिए शासन करते हैं, उसे वैधानिक कुलीनतन्त्र कहते हैं। उद्देश्य से भटक जाने पर उसका शासन अयोग्य कुलीनतन्त्र कहलाता है। जब सम्पूर्ण जनता अपनी शक्तियों का वैधानिक, सर्वहितकारी प्रयोग करती है, उस शासन को श्रेष्ठ प्रजातन्त्र कहते हैं। स्वेच्छाचारी जनसमूह विधियों के विपरीत कार्य करता

है तो उसे स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्र कहते हैं। प्लेटो के अनुसार इन पद्धतियों में वैधानिक राजतन्त्र आदर्श शासन होता है और स्वेच्छाचारी प्रजातन्त्र भ्रष्टतम।

प्लेटो तथा प्रजातन्त्र
(Plato and Democracy)

प्लेटो यह स्पष्ट रूप से कहता है कि धनतन्त्र की समाप्ति पर ही प्रजातन्त्र का जन्म होता है, इसका आधार भी क्षुधा है। क्षुधा का अत्यधिक विकास ही प्रजातन्त्र को उत्पन्न करता है, प्रजातन्त्र एक ऐसा शासन होता है जिसमें शासन की बागडोर धन सम्पन्न वर्ग के हाथों में न होकर जन साधारण के हाथों में होती है, प्लेटो ने प्रजातन्त्र के सन्दर्भ में जो विचार प्रकट किये हैं उनके आधार पर लोकतन्त्र के निम्नलिखित लक्षणों की स्थापना की जा सकती है—

१ लोकतन्त्र का आधार सब प्रकार की क्षुधायें हैं।

२ नागरिकों को सम्पूर्ण प्रकार की समानताओं एवम् स्वतन्त्रताओं की उपलब्धि, अनुशासन एवं व्यायाम का क्षय हो जाता है। स्वेच्छाचार ही व्यक्तिगत जीवन का आधार बन जाता है। व्यक्ति की समानता की अभिव्यक्ति इस रूप में होती है कि समस्त पदाधिकारियों के निर्वाचन में वह भाग लेता है।

३ लोकतन्त्र में अराजकतावादी एवं बहुवादी तत्वों का मिश्रण व्याप्त रहता है। लोकतन्त्र अराजकतावादी इसलिए है क्योंकि इसमें किसी तत्व को प्रधानता नहीं मिलती। बहुवादी वह इस दृष्टि से है क्योंकि उसमें एक ही साथ अनेक तत्वों की अवस्थिति उपलब्ध होती है। प्लेटो का यह विचार है कि प्रजातन्त्र कई प्रकार का होता है और इसका कोई विधान नहीं होता। सम्भवतः इसी कारण प्लेटो ने लोकतन्त्र को संविधानों का बाजार कहा है। उसके शब्दों में 'प्रजातन्त्र एक आकर्षक पद्धति है, जो विविधताओं एवं अव्यवस्थाओं से युक्त है।"

४ प्लेटो इस बात को स्वीकार नहीं कर सका कि लोकतन्त्र में एक सर्व-सम्मति सिद्धान्त भी हो सकता है। उसके अनुसार प्रजातन्त्र में उतने ही राज्य होते हैं जितने कि व्यक्ति।

५. प्लेटो शिक्षा के अभाव को लोकतन्त्र की एक आधार भूत विशेषता के रूप में स्वीकार करता है। इसमें व्यक्ति निरुद्देश्य एवं पथभ्रष्ट होकर अंधकार तथा अज्ञान की गहनता में भटकता रहता है। प्रजातन्त्र व्यक्तियों से आशा नहीं करता कि वे योग्य बनें और शासन करने के लिए किसी विशेष प्रकार की क्षमता का प्रशिक्षण लें। सेबाइन का विचार है कि प्लेटो के अनुसार अक्षमता ही लोकतन्त्रिय राज्यों का एक विशेष अवगुण है।

६. प्रजातन्त्र में प्लेटो के अनुसार कार्य विभाजन तथा कार्य विशेषीकरण का पूर्णतः अभाव है। अक्षमता को वह लोकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष मानता है।

७. समानता तथा स्वतन्त्रता के प्रति भी उसका दृष्टिकोण कटुता से पूर्ण है। वह इन दोनों को सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकार करने को तैयार नहीं है। जनतन्त्रीय समानता को वह समानता का नाकारात्मक स्वरूप कहता है। यह सिद्धान्त सब के साथ एक से व्यवहार का द्योतक है। असमानों में समानता स्थापित करने

वाला है। प्लेटो का प्रजातन्त्र के प्रति यह उपेक्षा मात्र इसलिए है क्योंकि उसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों के गुणात्मक एवं क्षमतात्मक गुणों को स्वीकार नहीं किया जाता। प्लेटो स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को भी नकारात्मक मानता है। उसके शब्दों में *"लोकतन्त्र की स्वतन्त्रता अराजकता है। इसकी समानता असमानों की समानता है।"* (Its freedom is anarchy, its equality is the quality of unequals)

८. लोकतन्त्र में व्यक्तियों की आत्मायें स्वतन्त्रता में परिपूर्ण होती है और उनके अन्तर्गत बाह्य एवं आन्तरिक मर्यादाओं पर पूर्ण रूप से कुठाराघात होता है। प्रजातन्त्र में कानून मर जाता है। (The laws of democracy remains dead letter.)

९. प्रजातन्त्र में राज्य भक्ति का लोप हो जाता है। उसके स्थान पर वर्ग हित सूत्र पनपता है। *वर्ग हित की वेदी पर राष्ट्रीय हित की श्रेष्ठता की आहुति देने* में लोग जरा सा भी संकोच नहीं करते।

१०. प्रजातन्त्र में नैतिक मूल्यों का कोई माप दण्ड नहीं है। यह बहुरंगं एवं अस्त व्यस्त सभ्यता का परिचायक है। सहिष्णु इतना है कि गधों तक को फुटपाथ पर चलने की अनुमति प्रदान करता है।

लोकतन्त्र के दो स्वरूप (Two forms of Democracy)

प्लेटो ने प्रजातन्त्र के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है—मर्यादित एवं अमर्यादित (moderate and extreme) मर्यादित लोकतन्त्र तो अर्थतन्त्र के तुरन्त बाद ही आरम्भ हो जाता है जिसके अन्दर व्यक्ति अपने पूर्व संस्कारों के संस्मरणों के आधार पर जीवन का नियन्त्रण करने में रत रहते हैं और इन्हीं पूर्व संस्कारों के कारण उनमें कुछ समय तक शालीनता बनी रहती है। ज्यों ज्यों इन संस्कारों का प्रभाव कम होता जाता है व्यक्ति में आत्म तृप्ति की क्षुधा बढ़ती जाती है और वह स्वार्थ के वशीभूत हो अपने विवेक को खो बैठता है। फिर वह औचित्य तथा अनौचित्य के व्यवधान को भूल जाता है। लोकतन्त्र वर्गहित में परिणित हो जाता है। शासन निठल्ले व्यक्तियों के हाथों में आ जाता है। विधि के शासन का अन्त हो जाता है। न्याय व्यवस्था भंग हो जाती है। अराजकता की स्थिति से अत्याचारतन्त्र की सृष्टि होती है और लोकतन्त्रीय नाटक का पटाक्षेप हो जाता है। प्लेटो के लोकतन्त्रीय विचारों के विषय में प्रो० बकर (Barker) का अभिमत है कि "रिपब्लिक के प्रजातन्त्र विषयक विचार उसकी भर्त्सना करते हैं। प्रजातन्त्र अपने जीवन काल में मनोहर नहीं है और अपनी मृत्यु में यह अत्याचारतन्त्र की मार्ग प्रस्तुत करता है जो निम्नतम तथा निकृष्टतम प्रकार का राज्य है।" (The verdict of Republic on democracy is the one of condemnation. In its life it is not lovely and in its death it prepares the way of tyranny, the lowest and most degraded type of state).

इस प्लेटो ने लोकतन्त्र का उपहास उड़ाया है। उसे उच्छृंखलता का सजीव नमूना कहा है। ऐसे शासन में अनुशासन तिरोहित हो रहता है। स्वयं प्लेटो के शब्दों में "पुत्र पिता के तुल्य बन जाता है और अपने माता पिता के प्रति आदर एवं भय की भावना नहीं रखता, जिससे वह स्वतन्त्र व्यक्ति बन सके।"....ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अपने शिष्यों से डरता है और उनकी चापलूसी करता है और विद्यार्थी अपने उपाध्यायों का तिरस्कार करते हैं। ऐसे राष्ट्र में सार्वजनिक स्वतन्त्रता की

पराकाष्टा तव होती है जबकि क्रीतदास एवं दासियाँ भी उनको मूल्य देकर माल *लेने वाले स्वामियों के बराबर हो जाती है।"* प्लेटो ने *लोकतन्त्र को गिरगिट का सा* धर्म कहा है। लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे प्लेटो के विचारो मे 'स्टेटसमैन' तथा 'लॉज' तक आते आते पर्याप्त परिवर्तन हुआ और उसने उसके प्रति एक उदारवादी दृष्टि-कोण अपनाया। लोकतन्त्र की वह प्रारम्भिक कटुता नही रह सकी और वह राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र के मिश्रण को आदर्श राज्य के तुल्य मान बैठा।

आलोचना (Criticism)

उपरोक्त विवरण से यह विचार बनना अस्वाभाविक नही है कि प्लेटो ने जनतन्त्र का कट्टर विरोधी है। उसे प्रजातन्त्र में विकारो के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नही पडा। दार्शनिक प्लेटो की ये विचार सुकरात की मृत्यु के सदंभ मे बने। उसकी मृत्यु से प्लेटो के हृदय मे यह बात बैठ गयी कि प्रजातन्त्र मे बुद्धिजीवी वर्ग सुरक्षित नही रह सकता। ज्ञान ही गुण है, सुकरात के इस वाक्य का प्लेटो के लोक-तन्त्र विषयक विचारो पर गहरा प्रभाव पडा। सामान्य व्यक्ति को वह शासन करने योग्य *तथा निर्णय करने के लिए सक्षम नही समझता। कुछ लोगो का ये विचार* गलत है कि प्लेटो के प्रजातन्त्र सम्बन्धी विचारो पर उसके परिवार के विचारो का प्रभाव रहा हो। सामाजिक जीवन की क्षति ग्रस्तता, शिक्षा पद्धति का पतन तथा ऐथेन्स की दविगत राजनीति एवं उसकी दुर्बलताओ को देखकर उसने सम्भवतः ये अनुमान लगा लिया हो कि ये सब कुछ एथीनीयन लोकतन्त्र के ही कारण था।

इतनी कटुता रखने पर भी वह लोकतन्त्र का शत्रु नहीं है। पोलिटिक्स तथा *लाज तक तो पहुँचते-पहुँचते उसके विचारो मे बहुत बडा परिवर्तन हो गया और* उसने विधि शासित प्रजातन्त्र तथा असीमित प्रजातन्त्र के अन्तर को स्पष्ट किया। लाज मे उसने स्वीकार किया है कि अन्य शासन प्रणालियो की अपेक्षा तो लोकतन्त्र ही अच्छा है। उसने प्रजातन्त्र को सम्मान की दृष्टि से देखा और ये स्वीकार भी किया कि उसमे सुधार के लिये बहुत गुंजाइश है। अपने उप आदर्श राज्य के लिये जिस मिश्रित संविधान की रचना की है। उसमे प्रजातन्त्र *का समावेश अधिक मात्रा मे* किया है। प्रोफेसर बार्कर ने कहा है "ये एक भूल होगी कि प्लेटो को वास्तविक जीवन मे एक कुलीन तथा ऐथेन्स के प्रजातन्त्र का शत्रु माना जाय वह नारे बाजी *से घृणा करता है प्रजा से नही।"* प्रोफेसर नीटिलशिप के अनुसार प्लेटो का प्रजातन्त्र उस रूप के विरुद्ध है जिसे हम विकृत तथा असिमित कहते हैं। मेकइलविन की भी यही धारणा है। प्रोफेसर हर्ज के अनुसार *"प्रजातन्त्र के प्रारम्भिक एवं तर्क संगत* स्वरूप का विश्लेषण करने का श्रेय प्लेटो को ही दिया जाना चाहिये। इसलिये प्लेटो को हम लोकतन्त्र का विरोधी नही कह सकते वरन् वह उसमे कुछ महत्वपूर्ण संशो-धन करने के पक्ष मे है।

दी लॉज (The Laws)

लॉज प्लेटो का तृतीय महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें उसके राजनैतिक विचार पृथ्वीतल के नागरिको के लिये प्रतीत होते हैं। प्लेटो, रिपब्लिक की रचना के समय आदर्श राज्य के अप्रतिम नैसर्गिक सौन्दर्य मे उनमत्त व्योम में भ्रमण कर रहा था। स्टेट्समैन मे वह आदर्श राज्य की कल्पना को छोडे बिना ही वास्तविक शासन को

व्यावहारिकता पर विचार करने लगा। 'लॉज' में उसने आदर्श राज्य की व्यावहारिकता को अनुभव किया और ऐसे राज्य की कल्पना की जो पृथ्वी के अपूर्ण मनुष्यों के लिये स्थापित किया जा सके। इस पुस्तक में वह आदर्श से वास्तविकता की ओर कदम रख रहा है। 'लॉज' प्लेटो की मृत्यु के एक वर्ष बाद उसके प्रमुख शिष्य फिलिप ने प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ के अध्ययन में प्लेटो की वृद्धावस्था झलकती है और वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता दिखाई देता है। प्लेटो ने यह कहा कि मनुष्य ईश्वर के हाथों में कठपुतली के समान नाचता है। ईश्वर की सत्ता के आगे उसकी कुछ नहीं चलती, क्योंकि अभी तक वह जिस दार्शनिक शासक के निर्माण के लिये अपनी शिक्षा व्यवस्था पर गर्व करता था, वह चूर हो चुका था प्लेटो दार्शनिक शासन का निर्माण करने में असमर्थ रहा। अब प्लेटो विधिविहीन सर्वोच्च दार्शनिक शासक का स्थान जैसा कि ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट होता है, विधि शासन, को सौंपना चाहता है। प्लेटो अब दार्शनिक विधियों के शासन पर विचार करने लगा।

प्लेटो की मान्यता (Platonic emphasis on Law)-विधि क्या है? प्लेटो के अनुसार 'विधि सभ्यता है, यह सदियों की संस्कृति से प्राप्त लाभ है जिसके द्वारा मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठकर मानवता में भेद करने लगा है।" ['Law is civilisation it is the slow bought gain of ages during which men have striven to life themselves above savage beasts It is the differentia of humanity."—E. Barker.] विधि की क्या आवश्यकता है? प्लेटो विधि की ३ आवश्यकतायें बताता है।

(अ) बिना विधि के मनुष्य, सामाजिक जीवन के लिये क्या उचित है, स्वीकार नहीं करता। विधियाँ ही सर्वोचित जीवन की आवश्यकताओं के प्रति मनुष्यों का ध्यान आकर्षित करती हैं और उन्हें कार्य करने के लिये विवश करती हैं, जिससे वे श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करें।

(ब) विधियाँ ही सामाजिक जीवन के चिर उद्देश्य में मनुष्य की भिन्नता मिटाती हैं। मानव प्रकृति अपनी उन्नति के लिये पृथक-पृथक साधनों का प्रयोग करना चाहता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में एक रूपता के स्थान पर संघर्ष हो सकता है, विधियाँ उस संघर्ष की अवस्था को ही नहीं आने देती और उद्देश्य की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं।

(स) यदि चरम लक्ष्य मालूम पड़ जाय और उसमें एकरूपता भी रहे, तो भी व्यक्तिगत रुचि उसके प्राप्त करने में बाधक हो सकती है। विधियाँ इस व्यक्तिगत रुचि को लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक नहीं होने देतीं। व्यक्ति अपने निजी हित के लालच में आकर कर्त्तव्यच्युत हो सकता है। विधियाँ व्यक्ति को अपने स्वार्थों के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाती हैं।

विधियों की विशेषताएँ (Characteristics of Laws)—

(१) व्यापकता (Comprehensiveness)—'विधि बुद्धि की प्रतीक है। मनुष्य की बुद्धि बहुत ही सोच विचारकर विधि बनाती है। विधि विवेक या मस्तिष्क का विचार है।' (Law is the expression of mind or reason) जिस प्रकार

मानव बुद्धि सम्पूर्ण जीवन भर रहती है, उसी प्रकार विधि भी जीवन की प्रत्येक अवस्था से सम्बन्ध रखती है, वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक व्यापक हैं। यह जन्म, विवाह, मृत्यु, इच्छायें, स्नेह, जीवन की परिभाषा, सम्मान, असम्मान सत्य, असत्य, *आध्यात्मिक, भौतिक आदि तक व्यापक है। जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप उनकी* सीमा मे आता है। क्या पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी समस्याओ के लिये भी लिखित कानून बनाये जाने चाहिये ? प्लेटो इसका उत्तर नकारात्मक देता है, और कहता है कि न तो प्रत्येक पारिवारिक सूक्ष्मता पर विधि बनाई जा सकती है और न ऐसे करना उचित ही होगा। यदि ऐसी विधि बनाई जायेगी, तो मनुष्य स्वाभाविक रूप मे उनका उल्लंघन करेंगे। अतएव इस क्षेत्र में विधियो का स्थान प्रथाए व परम्परा लेंगी।

(२) **सर्वोच्चता** (Supremacy)—प्लेटो ने लॉज मे विधि की सर्वोच्चता स्वीकार की है। शासक विधि के स्वामित्व मे रहकर कार्य करेंगे। विधि के नियत्रण मे कार्य करने वाली सरकार प्रत्येक नागरिक के हित का आश्वासन देती है। शासक विधि से ऊपर नही वरन उनके अधीनस्थ कर्मचारी की भाँति कार्य करेंगे।

(३) **स्थायित्व** (Permanance)—प्लेटो विधि के स्थायित्व को भी स्वीकार करता है। विधि मे नित्य प्रति परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये और जब यह *आवश्यकता प्रतीत हो, सभी नागरिक और शासक परिवर्तन के पक्ष मे हो जायें, तभी* परिवर्तन किया जा सकता है।

विधियो के पालन के लिये उनके पीछे दो प्रकार की शक्तियाँ रहेगी। प्रथम, जनता विधियों पालन इसलिए करता है कि वह उसकी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा ही संचालित किये जाते है। इसके लिए प्लेटो यह आवश्यक बताता है कि विधियो की *प्रस्तावना मे विधि निर्माण के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाना चाहिये* जिससे जन स्वीकृति उसकी मान्यता के लिये तत्पर हो जाय। द्वितीय, विधि की मान्यता नागरिक सरकार के शक्ति प्रयोग के कारण करते हैं। जब इन विधियो का विरोध किया जायगा, तो शासन ऐसे व्यक्ति को अवश्य दण्ड देगा।

अपराध एवं दण्ड (Crime and punishment)—व्यक्ति अपराध क्यों करता है ? प्लेटो इसका यह उत्तर देता है कि व्यक्ति कभी भी अपनी चेतनता मे कोई ऐसा कार्य नहीं करता जो उसे दुख पहुँचाये। [यही विचार आधुनिक उपयोगितावाद के आधार बने] कभी-कभी व्यक्ति अज्ञान और वासना के वश मे हो जाता है और *अनैतिक रूप मे, समाज के व्यवस्थित जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है।* प्रत्येक गलत कार्य करने से दुख प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति दुख नही चाहता। इसलिये अपराध कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं करता। पारिवारिक प्रवृतियाँ, व्यक्ति की मानसिक दुर्बलतायें और सामाजिक दशायें उसके मन को अपराध करने के लिये उत्साहित करती हैं।

अपराध का क्या दण्ड हो ? प्लेटो ने इसे सुधारवादी दण्ड सिद्धान्त के आधार पर सुलझाया है। जब अपराध स्वेच्छा से नही किया जाता और अज्ञान तथा वासना मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर उसे अपराध करने की प्रेरणा देते हैं, ऐसी अवस्था मे, दण्ड अज्ञान और वासना के प्रभाव को दूर कर मनुष्य को पूर्व की भाँति स्वस्थ करता है। दण्ड उस औषधि के समान है जो तीव्र ज्वर निरोध के लिये कडवी होने पर भी स्वीकार करनी पडती है। जिस व्यक्ति ने अनिच्छा से भी अपराध किया

है, वह यदि उसके कष्ट से मुक्त होना चाहेगा तो अवश्य ही दण्ड स्वीकार करेगा। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है। दण्ड किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाने के लिये नही दिया जाता। दण्ड पीडित व्यक्ति को या तो अच्छा कर देता है अन्यथा उसे कम पीडित रहने देता है।

यद्यपि प्लेटो ने दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त का आश्रय लिया है लेकिन फिर भी वह मृत्यु-दण्ड जैसे कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है और ऐसे अनेक अपराधो का उल्लेख करता है जिनमे मृत्युदण्ड दिया जायगा। धर्म के विरुद्ध किये गए अपराधो मे वह कुछ के लिये मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था करता है।

परिवार (Family)—'रिपब्लिक' का प्लेटो 'लॉज' तक आते-आते पत्नी एव परिवार के सम्बन्ध मे साम्यवादी विचारो की अव्यावहारिकता अनुभव कर लेने पर परिवार का महत्व समझने लगा। वह स्त्री पुरुषो को समान समझता है और यह स्पष्ट करता है कि पुरुषो के समान स्त्रियाँ भी राज्य के कार्यों मे हाथ बँटायेंगी। इसीलिये उनकी शिक्षा भी पुरुषो के समान ही होगी। इस शिक्षा के बाद वह स्त्रियो को शासक बनने का परामर्श नही देता। उनका एक विशिष्ट कार्य है जिसे केवल वही कर सकता है। प्लेटो अब एक पति-पत्नी विवाह का समर्थन करता है। इन विवाहो पर राज्य नियन्त्रण रखेंगे। प्रत्येक माह मे एक मेला होगा। इस मेले मे प्रत्येक जाति के युवक और युवतियाँ अपनी जाति के ही युग्मो मे परिचय करेंगे। इस परिचय मे वे एक दूसरे की शारीरिक स्वस्थता की पूर्ण जानकारी लेने के लिये विवश होंगे। प्लेटो ने रिपब्लिक के एक आदर्श को यहाँ ठुकरा दिया और अब वह इस बात का समर्थक नहीं रहा कि सर्वश्रेष्ठ प्रकृति के पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ प्रकृति की स्त्रियो से सम्पर्क रखेंगे वरन् अब वह दो विरोधी प्रकृति के युवक-युवतियो के विवाह का पक्ष लेता है। इसमे एक धनाढ्य, दूसरा निर्धन; एक शान्त, दूसरा क्रोधी; एक चंचल, दूसरा सुस्त स्वभाव का होगा। इस प्रकार के राज्य नियन्त्रित विवाह व्यक्तिगत विलास के स्थान पर राज्य की उन्नति के लिये किये जायेंगे। विवाह के प्रथम दस वर्ष तक स्त्री विवाह निरीक्षक (Marriage Supervisor) पति-पत्नी पर नियन्त्रण रखेंगे। नव-विवाहित पति-पत्नी अपने माता-पिता से पृथक सन्तान उत्पन्न करेंगे। बच्चो के सात वर्ष की आयु तक वे उनका लालन-पालन करेंगे और उन्हें अपना ज्ञान प्रदान करेंगे। इसके बाद बच्चों को राज्य शिक्षा प्रदान कर योग्य नागरिक बनाने के लिये ले लेगा। इस प्रकार प्लेटो ने सामाजिक जीवन मे विवाह संस्था को राज्य के कठोर नियन्त्रण मे स्वीकार कर भूतल पर पैर रखने का प्रयास किया।

सम्पत्ति (Property)—व्यक्ति के जीवन मे सामाजिक संस्था के रूप मे सम्पत्ति का स्वामित्व और प्रयोग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्लेटो रिपब्लिक के आदर्श राज्य और साम्यवाद के विचार को मनुष्यो के लिये अव्यावहारिक नाम बताता है। अतः 'लॉज' मे उसने एक उप-आदर्श राज्य की कल्पना प्रस्तुत की है। सम्पत्ति के सम्बन्ध मे उसने त्रिपक्षीय विचार व्यक्त किये हैं। प्रथम, वह व्यवस्था जिसमे प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक दिखाई देता है। इस उप-आदर्श राज्य की भूमि के समानता के आधार पर ५०४० वर्ग कर दिये जायेंगे। राज्य के नागरिक चार भागो मे विभाजित कर दिये जायेंगे। प्रत्येक नागरिक को भूमि का एक टुकड़ा दे दिया जायगा, जिस पर उसे श्रम करने का अधिकार होगा, लेकिन वह उसे बेच नहीं सकेगा और न ही उसे गिरवी रख सकेगा। प्लेटो सम्पत्ति की समानता का

समर्थक नही है। वह समान टुकडो मे भूमि के विभाजन और नागरिको मे वितरण होने पर, असमानता की स्थिति स्वीकार करता है। सम्पत्ति की असमानता बढ़ेगी लेकिन असमानता की सीमा होगी। कोई भी व्यक्ति इतना अधिक धन अपने पास एकत्रित नही कर सकेगा जो प्रारम्भिक विभाजन के चार गुने से अधिक हो। सबसे नीचा स्थान उन नागरिकों का होगा जो पूर्व के समान वितरण को 'निर्धनता की सीमा' (Limit of Poverty) पर ही अधिकार रखते होंगे क्योंकि उतनी भूमि के बिना नागरिक नही रह सकते। अन्य वर्ग इसकी दुगुनी, तिगुनी और चार गुनी सम्पत्ति पर अधिकार कर सकते हैं। नागरिको की उच्चता का क्रम चार गुनी सम्पत्ति वाले प्रथम, तीन गुनी वाले द्वितीय आदि के क्रम मे रहता है। प्लेटो नागरिको को अधिक सम्पन्न और निर्धन नही होने देना चाहता था क्योंकि ऐसा होने से समाज की सुख-शांति नष्ट हो जाती है। लेकिन वह यह भी समझता था कि सम्पत्ति का सग्रह किसी भी विधि द्वारा रोका नही जा सकता था और सम्पत्ति की असमानता बढ सकती थी। इसीलिये प्लेटो ने सर्वप्रथम व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करने के साथ ही उसकी समानता तथा असमानता के उचित निर्णय की योजना प्रदान की।

द्वितीय, प्लेटो सम्पत्ति के वैयक्तिक स्वरूप के साथ ही यह स्वीकार करता है कि सम्पत्ति का अधिकार समाज प्रदत्त है, इसीलिये सम्पत्ति पूर्ण रूप मे समाज की है और उस पर सामूहिक नियन्त्रण होना चाहिए। प्लेटो ने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार को स्वीकार कर कृषि आदि की सामूहिक योजना नहीं प्रस्तुत की, किन्तु यह बताया कि कृषक व्यक्तिगत रूप मे भूमि पर उत्पादन करेंगे और उनका उत्पादन सामूहिक समझा जायेगा। उत्पादन सामूहिक भोजनालयो को दिया जायगा और सभी स्त्री एवं पुरुष इन भोजनालयो मे भोजन करेंगे।

तृतीय, इस उप-आदर्श राज्य मे व्यापार एव उद्योग भी होंगे। व्यापार आदि कार्य राज्य के नागरिक नही करेंगे। बाहर से आये हुए विदेशी ही इस कार्य को करेंगे। प्लेटो ने नागरिको को व्यापार से वर्जित रखने का कारण बताया कि (1) वे उच्च मस्तिष्क के गुणो से विभूषित होंगे, उनका ध्यान व्यापार आदि के आकर्षण मे लगाने का परिणाम यह होगा कि वे मस्तिष्क को श्रेष्ठतम बनाने से वंचित रह जायेंगे। (11) राज्य की शासन व्यवस्था नागरिक ही करेंगे। सम्पत्ति का आकर्षण उन्हे भ्रष्ट कर देगा और शासन कार्य मे पूर्ण कुशलता से भाग भी नहीं ले सकेंगे। आयात-निर्यात के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार मुक्त व्यापार का समर्थन करते थे, वह एक देश से दूसरे देश को आने जाने वाली वस्तुओ पर किसी प्रकार का कर लगाने के विपक्ष मे था। इसके अतिरिक्त वह यह भी प्रकट करता है कि आवश्यक वस्तुयें दूसरे देश से निर्यात नही की जायेंगी और न ही विलास सम्बन्धी वस्तुओं का आयात किया जायेगा। नागरिक कृषि तथा कलात्मक वस्तुओं का निर्माण भी न करेंगे। यह कार्य दासो द्वारा होगा।

प्लेटो धन को समस्त बुराइयो का मूल मानता था। वह जानता था कि धन का प्रेम मनुष्य को उसके मार्ग से भटकाता है। ईसाई धर्म के एक सिद्धान्त को कि 'ऊँट का सुई की नोक मे से निकल जाना आसान है, धनवान के स्वर्ग प्रवेश मे' प्लेटो 'लॉज' मे प्रतिपादन करता है। इसीलिये वह राज्य का व्यक्ति के धनी बनने से रोकने का कार्य सौंपता है। कोई भी व्यक्ति रुपया ब्याज पर नही देगा, यदि कोई

व्यक्ति ऐसा करता है तो उसकी जिम्मेदारी पर ही होगा क्योंकि रुपया लेकर लौटाने के लिये राज्य किसी को विवश नहीं कर सकता।

लॉज में राज्य व्यवस्था (State Organization in 'Laws')—प्लेटो को 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता का आभास होते ही उसके विचारों ने दिशा परिवर्तन किया और 'लॉज' में उसने उप-आदर्श राज्य का विचार प्रस्तुत किया। अब उसे यह स्पष्ट हो चुका था कि सर्व सत्ता सम्पन्न दार्शनिक शासक का निर्माण नहीं किया जा सकता है, अतएव उसने दार्शनिक शासक का स्थान दार्शनिक विधियों को प्रदान किया। यह उप-आदर्श राज्य विधि सम्पन्न होगा, विधियाँ सर्वोच्च होंगी, उनसे ऊपर कोई भी संस्था या व्यक्ति नहीं होगा।

मिश्रित राज्य (Mixed State)—यह सर्वोच्च विधि प्रशासित राज्य मिश्रित शासन व्यवस्था के आधार पर संगठित होगा। लॉज का राज्य विधि पालन की स्वाभाविक प्रवृत्ति नागरिकों को प्रदान करेगा। ऐसा राज्य मिश्रित राज्य (The Mixed State) ही है, जिसमें प्लेटो ने विभिन्न शासन पद्धतियों के गुणों का समन्वयकारी रूप सम्मुख रखा है। इतिहास के अवलोकन के बाद प्लेटो को यह भली भाँति ज्ञात हो गया था *कि राजतन्त्र का पतन अति निरंकुशवाद के कारण हुआ, प्रजातन्त्र में भी शक्तियाँ* सामान्य जनता को सौंप दी गईं जो स्वतन्त्रता का बुद्धि के अभाव में भली भाँति प्रयोग करने में असमर्थ रही। प्रतिरोधी सिद्धान्तों और शक्तियों को परस्पर मिला कर उसकी कटुता दूर करने का उपाय ही उप-आदर्श राज्य का सिद्धान्त है। इसीलिये प्लेटो ने *"मिश्रित राज्य का सिद्धान्त प्रदान किया, जिसमें शक्तियों के सन्तुलन* द्वारा एकता लाने का यत्न किया जायेगा या प्रतिरोधी सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों को मिलाया जायगा, जिससे बहुत प्रवृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी।" ["This was the principle of the 'mixed' state, which is designed to achieve harmony by a balance of forces, or by a combination of diverse principles of different tendency in such a way that the various tendencies shall offset each other."—G. H. Sabine] प्लेटो ने अपने मिश्रित राज्य में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र का मिश्रण किया। प्रजातन्त्रीय शासन का मूल सिद्धान्त स्वतन्त्रता है, राजतन्त्र का विद्वता। राजतन्त्र का पतन निरंकुश सत्ता के कारण होता है, प्रजातन्त्र का पतन अज्ञानता के कारण होता है। इसीलिये प्लेटो ने यह कहा कि दोनों शासन पद्धतियों की उपरोक्त त्रुटियों को दूर करने के लिये उनका सम्मिश्रण कर दिया जाय तो उनके स्वाभाविक गुणों के विकसित होने का अधिक अवसर प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार बुद्धिमता और व्यक्ति स्वातन्त्र्य दोनों ही उप-आदर्श राज्य के सफल बनाने की चेष्टा करेंगे।

उप-आदर्श राज्य की भौतिक स्थिति (Geographical situation in sub-ideal state)—'लॉज' का उप-आदर्श राज्य एक ऐसा राज्य होगा जिसमें नस्ल, *भाषा, धर्म की एकता वाले लोग रहेंगे। किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य* जाति एवं भाषा के लोग नहीं रहेंगे। प्रत्येक राज्य की भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु एवं भूमि की अवस्थाओं आदि को राज्य स्थान का चयन करते समय ध्यान में रखा जायगा। यह राज्य समुद्र तटवर्ती नहीं होंगे। प्लेटो समुद्र को एक आनन्ददायक लेकिन कटु मित्र बताता है। समुद्र नागरिकों को अन्य राज्यों से व्यापार करने का आकर्षण देता है। व्यापार करने के लिये जलयान (Navy) होते हैं, अब शक्ति इस

प्रकार नागरिकों को देश प्रेम, शासन प्रेम से वंचित कर लोभ आदि दूषित प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करती है। यह राज्य के लिये हितकारी नहीं होगा। अतएव प्लेटो का राज्य समुद्र तट से दूर, कृषि प्रधान, आत्मनिर्भर देश होगा, जो बाहर से सामान नहीं मँगवायेगा। व्यापार एवं तदउत्पन्न धन-प्रेम नागरिकों को अविश्वसनीय बनाता है तथा शत्रुओं को आमन्त्रित करता है। यह राज्य अपनी आवश्यकता के लिये खाद्यान्न उत्पादन करेगा। लकड़ी की वहाँ कमी होगी जिससे नागरिक नौका निर्माण के प्रति उदासीन रहेंगे।

उप-आदर्श राज्य की जनसंख्या (Population in Sub-Ideal State)—उप-आदर्श राज्य की जनसंख्या प्लेटो ने निर्धारित की है। उसने कहा कि ऐसे राज्य में व्यक्तियों की संख्या एथेंस और स्पार्टा के बीच की (५०४०) होगी। यह संख्या प्लेटो ने व्यर्थ ही नहीं बताई है। इस संख्या के निर्धारित करने में उसका गणित का ज्ञान एवं राज्य की रक्षा का विचार सहायक हुआ। यह संख्या शान्ति काल में नागरिकों के वर्ग बनाकर उनसे टैक्स वसूल करने, युद्ध काल में सैनिकों की व्यूह रचना में उपयोगी सिद्ध होगी। [इस संख्या के निम्न वर्ग या व्यूह बनाये जा सकते हैं जैसे १×२×३×४×५×६×७=५०४० या ७×८×९×१०=५०४०] क्या राज्य की निर्धारित संख्या सदैव इतनी ही रहेगी? *उसमें वृद्धि या कमी नहीं होगी?* प्लेटो ने कहा कि संख्या की वृद्धि को रोकने का उपाय करना चाहिये। राज्य यह कार्य संतति निग्रह द्वारा करा सकता है। यदि जनसंख्या कम होती दिखाई दे तो राज्य अविवाहित पुरुषों को दण्ड देकर तथा विवाहित पुरुषों को पुरस्कार देकर इस समस्या का हल निकाल सकता है।

उप आदर्श राज्य का अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध (Interstate Relation in Sub-ideal State)—उप-आदर्श राज्य का अन्य राज्यों से कैसा सम्बन्ध होगा, इस सम्बन्ध में प्लेटो ने बताया कि वह राज्य अन्य राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखेगा और युद्ध उसका लक्ष्य नहीं होगा। युद्ध प्रिय राज्य (स्पार्टा उसका एक उदाहरण है) भ्रष्ट राज्य होता है। वह कभी भी व्यक्ति के कल्याण में सहायक नहीं हो सकता वरन् उन्हें अवनति की ओर ले जाता है। लेकिन इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि ऐसा राज्य सैन्यविहीन असुरक्षित राज्य होगा। उप-आदर्श राज्य यद्यपि युद्ध प्रिय राज्य नहीं होगा लेकिन वह अपनी सुरक्षा के लिये राज्य की सीमा पर खाइयाँ खोदकर शत्रु के आक्रमण का मुकाबिला करने के लिये तैयार रहेगा। प्रत्येक स्त्री-पुरुष नियमित रूप से प्रत्येक माह में एक दिन सैन्य अभ्यास करेंगे और युद्ध के समय योद्धा बन कर शत्रु का सामना करेंगे।

उप-आदर्श राज्य की शासन व्यवस्था (Administrative Organization of Sub-ideal State)—लॉज में उप-आदर्श राज्य विधि शासित होगा और सरकार का सगठन नागरिकगण स्वत. करेंगे। सर्वप्रथम, शासकीय संगठन, जनप्रिय सभा (Popular assembly) होगी। राज्य के सभी ५०४० नागरिक इसके सदस्य होंगे। *सम्पत्ति के आधार पर बनाये गये नागरिकों के चार वर्गों में से प्रथम दो (चौगुनी, तीन गुनी सम्पत्ति के स्वामी)* श्रेणी के नागरिकों की उपस्थिति अनिवार्य होगी। अन्तिम दोनों वर्गों की उपस्थिति ऐच्छिक रहेगी। इस जनप्रिय सभा की सदस्यता के लिए नागरिकों को नियमित अनिवार्य सैन्य शिक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर ही बैठक में भाग ले सकेंगे।

जनप्रिय सभा के कार्य (Functions of Popular Assembly)—प्रथम, जनप्रिय सभा का कार्य मुख्यतः निर्वाचन सम्बन्धी है। वह राज्य के शासन की विभिन्न संस्थाओं एवं पदाधिकारियों का निर्वाचन करेगी। यह सभा विधि-संरक्षक (Guardians of Law) का विपक्षीय मतदान द्वारा निर्वाचन करेगी। संरक्षकों की संख्या ३७ है। यह निर्वाचन इस प्रकार किया जायगा कि प्रथम मतदान द्वारा ३०० सदस्य चुने जायेंगे, पुनश्च ३०० निर्वाचित प्रतिनिधियों में से केवल १०० व्यक्ति चुने जायेंगे और अन्तिम बार इन १०० उम्मीदवारों में से ३७ को विधि-संरक्षक पद के लिए चुना जाएगा।

जनप्रिय सभा कौंसिल (Council) का निर्वाचन करती है। परिषद् में ३६० सदस्य होते हैं। यह निर्वाचन प्रत्येक वर्ष किया जाता है। नागरिकों के चारों वर्ग ९० प्रतिनिधि चुनते हैं। यह निर्वाचन प्रक्रिया दो भागों में सम्पन्न होगी। पहले सामान्य मतदान द्वारा सदस्य छाँटे जायेंगे। नागरिकों के प्रथम और द्वितीय वर्ग के सदस्यों के चयन के लिए चारों वर्ग के नागरिक मतदान करेंगे। मतदान करना अनिवार्य होगा। मतदान न देने की अवस्था में जुर्माना देना पड़ेगा। तृतीय वर्ग के सदस्यों के निर्वाचन में पहले तीन वर्गों के नागरिकों को अवश्य ही मतदान करना पड़ेगा, अन्यथा उनसे जुर्माना लिया जायगा। चौथे वर्ग के नागरिक मतदान करने न करने के लिये स्वतन्त्र है। चतुर्थ वर्ग के सदस्यों के चुनाव में प्रथम दो वर्ग के नागरिकों को मतदान में अनिवार्य रूप से भाग लेना पड़ेगा, भाग न लेने की अवस्था में जुर्माना लिया जायगा। दूसरे निर्वाचन में प्रत्येक वर्ग १८० सदस्यों को निर्वाचित करेंगे और अन्तिम रूप से प्रत्येक वर्ग के ९० प्रतिनिधि चुने जायेंगे। अन्त में परिषद् के कुल सदस्य ३६० होंगे। निर्वाचन प्रक्रिया के लिये प्लेटो ने 'सार्वजनिक वर्ग मत पद्धति' का प्रयोग किया है।

जनप्रिय सभा राज्य के वरिष्ठ स्थानीय अधिकारियों का निर्वाचन प्रथम दो वर्गों में से करती है। इसके अतिरिक्त वह राज्य के ३ सेनापतियों का निर्वाचन भी करती है। सेनापतियों के निर्वाचन के दो भाग हैं। प्रथम, नाम प्रस्तावना; सामान्यतः सेनापतियों के नाम विधि-संरक्षक प्रस्तावित करते हैं। संरक्षकों के अतिरिक्त नागरिक भी नाम प्रस्तावित कर सकते हैं। द्वितीय, स्वीकृति; संरक्षकों द्वारा प्रस्तावित नामों में से जनप्रिय सभा निर्वाचन करती है। यदि नागरिकों ने भी सेनापतियों के नाम प्रस्तावित किये हों तो एक उपनिर्वाचन होगा जिसमें वे संरक्षकों द्वारा प्रस्तावित उम्मीदवारों से अधिक मत प्राप्त करने पर अन्तिम निर्वाचन के लिये चुन लिए जायेंगे।

निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त जनप्रिय सभा अन्य कार्य भी करती है। यह देश के विधि संशोधन पर विचार करती है और स्वीकृति देती है।

यह राज्य में निवास करने वाले विदेशियों को प्रवास अवधि बढ़ाकर निवास करने की अनुमति प्रदान कर सकती है।

यदि राज्य के विरुद्ध कोई अपराध किया जाता है तो उसकी सुनवाई करती है और अपना निर्णय देती है।

जनप्रिय सभा का स्तर व्यवस्थापिका के समकक्ष है। यह शासन संचालन में निर्वाचन ही करती है। दिन प्रतिदिन का शासन संचालित करना परिषद् एवं विधि

संरक्षकों का कार्य है। विधि संरक्षक २० वर्ष के लिए, ५० वर्ष की आयु के नागरिकों मे से चुने जाते हैं और ७० वर्ष की आयु पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। यह राज्य को कार्यपालिका के समकक्ष है। इनका प्रमुख कार्य राज्य के कानूनो का पालन देखना है। विधि-संरक्षक १२ भागो मे विभाजित रहेंगे और प्रत्येक वर्ग १ माह तक शासन करेगा। वह अपनी शक्तियो के प्रयोग मे अन्य संरक्षको का परामर्श लेगा एक वर्ग द्वारा किया गया कार्य सम्पूर्ण विधि संरक्षक मण्डल द्वारा किया हुआ समझा जायेगा, इन संरक्षको मे से एक सर्वोच्च अधिकारी समस्त प्रशासकीय वरिष्ठ अधिकारी के गुप्त मतदान द्वारा, पाँच वर्ष की अवधि के लिये चुना जायगा। प्रथम, सर्वोच्च पदाधिकारी शिक्षा मन्त्री कहलायेगा। यह पद राज्य का सर्वोच्च पद होगा।

न्यायालय संगठन (Organisation of Courts)—प्लेटो ने अभियोगो का दो भागो मे विभाजन किया है। प्रथम, सार्वजनिक अभियोग, इनका निर्णय करने का अधिकार जनप्रिय सभा का है। द्वितीय, वैयक्तिक अभियोग, जिनका निर्णय न्यायालयों द्वारा किया जायगा। न्यायालय तीन प्रकार के होंगे—(१) ऐच्छिक-न्यायालय इस प्रकार के न्यायालयो मे वे व्यक्ति न्यायाधीश होते हैं जिन्हें अभियोग की जानकारी होती है। इसमें पडौसी तथा मित्रगण ही होते हैं क्योंकि जिन्हें दोनो पक्षों की वास्तविकता का ज्ञान होता है। (२) ट्राइबल न्यायालय—यह न्यायालय राज्य के प्रत्येक क्षेत्रीय प्रदेश मे, जो संख्या मे बारह होंगे बनाये जायेंगे। इनके न्यायाधीशो का निर्वाचन किया जायगा। (३) निश्चित न्यायालय—यह न्यायालय राज्य के प्रशासकीय अधिकारियो मे से प्रत्येक वर्ष चुने जायेंगे। यह अधिकारी वर्ग भी न्यायालयों की बैठकों मे भाग लेंगे और इनके निर्णय खुले अधिवेशन मे दिये जायेंगे।

उप-आदर्श राज्य का स्थानीय प्रशासन (Local Administration of Sub-ideal State)—प्लेटो ने स्थानीय शासन के लिये निरीक्षको (Inspectors) की व्यवस्था की है। निरीक्षक तीन प्रकार के होंगे, नगर निरीक्षक, व्यापार निरीक्षक तथा ग्राम निरीक्षक। नगर निरीक्षक की संख्या तीन होगी। ये प्रथम वर्ग के नागरिको मे से चुने जायेंगे। उन्हें नगर की सडकों, इमारतों, आदि की देखभाल करनी पडेगी। द्वितीय, बाजार निरीक्षक की संख्या पाँच होगी। इनका निर्वाचन प्रथम तथा द्वितीय वर्ग के नागरिकों मे से किया जायगा। इनका काम व्यापार सम्बन्धी निरीक्षण होगा। तृतीय, प्रत्येक प्रादेशिक भाग मे पाँच ग्राम निरीक्षक होंगे। इनके पद की अवधि २ वर्ष है। इनका कार्य अपने ग्रामीण क्षेत्र का निरीक्षण करना, ग्राम यातायात व्यवस्था की देखभाल करना, सिंचाई के साधनो की देखभाल करना आदि हैं।

इसके अतिरिक्त 'लॉज' मे प्लेटो ने कुछ नई संस्थाओं का भी वर्णन किया है। प्लेटो ने एक जाँच समिति (Censor) का वर्णन किया है। इसका निर्माण ५० से ७० वर्ष की आयु के नागरिकों मे से किया जायगा। इस समिति की सदस्य संख्या तीन होगी। त्रिपक्षीय निर्वाचन मे चुन लिये जाने के उपरान्त यह लोग एक अन्य संस्था का निर्माण करेंगे। इस संस्था मे ४० से ७५ तक सदस्य होंगे, उनकी आयु ५० वर्ष से अधिक होगी। इन पदाधिकारियो का कार्य शासन के विशिष्ट अधिकारियों के आचरण की जाँच करना आदि है। इसके अतिरिक्त प्लेटो ने एक अन्य संस्था का भी वर्णन किया है। इस सभा को वह Nocturnal Council कहता है। इसमें राज्य के उच्च पदाधिकारी आदि होंगे। इनकी आयु ६० से ऊपर तथा आधे सदस्यो

की ४० वर्ष तक होगी। यह इसलिए आवश्यक है कि वृद्ध की सनक तथा तरुणों की जल्दबाजी में राज्य के अहित रोकने के लिये संतुलित मस्तिष्क क्रियाशील हो।

लॉज की शिक्षा व्यवस्था (Educational Organization in Laws)—प्लेटो का राजनीति विज्ञान का ज्ञान, शिक्षा पद्धति के ज्ञान के साथ सम्बद्ध है। रिपब्लिक में उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार तथा 'लॉज' के शिक्षा सम्बन्धी विचार इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं।। रिपब्लिक की शिक्षा व्यवस्था में वह राजनीतिक सिद्धान्तों की भाँति अधिक आदर्शवादी रहा लेकिन लॉज में आदर्शवादिता को धारानुकूल बनाने के प्रयत्न में वह शिक्षा पद्धति में भी पर्याप्त सुधार करता है।

अब शिक्षा का उद्देश्य आदर्श राज्य के दार्शनिक शासक का निर्माण नहीं रहा और विधि स्थापित उप-आदर्श राज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक दिखाई दिया कि विधियाँ ही दार्शनिक बनाई जायें तथा नागरिकों को ऐसे आचरण में ढाला जाय कि वे स्वभावत. ही विधियों का पालन करें। विधि प्रशासित मार्ग पर चलकर, विधि के अनुकूल कार्य करके ही नागरिक उप-आदर्श राज्य को सार्थक बना सकते हैं। फलस्वरूप शिक्षा का उद्देश्य और स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। अब शिक्षा द्वारा एक, दो या कुछ दार्शनिक शासकों का निर्माण मात्र ही नहीं करना है वरन् समस्त नागरिकों को ही विधियों की दृढ़ता एवं सर्वोच्चता के प्रति उचित आदर करना सिखाना है।

इसीलिये प्लेटो ने लॉज की शिक्षा केवल संरक्षक वर्ग को ही प्रदान किये जाने के स्थान पर समस्त नागरिकों को प्रदान किये जाने का विचार प्रकट किया। उसने स्त्री और पुरुष दोनों को ही समान शिक्षा प्रदान किये जाने का सुझाव दिया। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान क्रीड़ा, व्यायाम, संगीत तथा नृत्य आदि की शिक्षा दी जायगी लेकिन अब वह सह-शिक्षा का विरोधी बन गया। प्लेटो ने यह भी विचार प्रतिपादित किया कि शिक्षा का पाठ्यक्रम अपरिवर्तनीय होना चाहिए। शिक्षा, नागरिकों में विधियों का सम्मान करने की भावना भरने के लिए प्रदान की जायेगी, यदि शिक्षा का पाठ्यक्रम समय-समय पर परिवर्तित किया जाता रहेगा तो नागरिक विधियों में भी परिवर्तन चाहेंगे और नागरिकों का स्वभाव विधियों में परिवर्तन के अतिरिक्त राज्य की संस्थाओं में भी परिवर्तन करना चाहेगा जो अहितकर और अवांछनीय होगा। इसीलिये प्लेटो ने शिक्षा पाठ्यक्रम को दृढ़ बनाने और राज्य के नियन्त्रण में रखने का परामर्श दिया है। राज्य के नियमों, संस्थाओं और भावनाओं के प्रतिकूल काव्य रचना एवं कलात्मक प्रदर्शन अवैध समझे जायेंगे। राज्य के पदाधिकारी, ५० वर्ष से ऊपर की आयु के, न्यायाधीश प्रत्येक कविता तथा प्रकाशित की जाने वाली रचना का निरीक्षण करेंगे और उसे उपयुक्त समझने पर ही प्रकाशित करने का आदेश प्रदान करेंगे। न्यायाधीशों का एक मंडल गीत तथा नृत्यों का चयन करेगा। दुखान्त नाटक एवं हास्य अभिनय नागरिकों द्वारा नहीं किये जायेंगे, केवल विदेशी और दास ही राज्य पदाधिकारियों की स्वीकृति पर उसे खेल सकेंगे।

प्लेटो ने लॉज में शिक्षा का महत्व बढ़ा दिया। राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी शिक्षा मन्त्री होगा। उसकी योग्यता निर्धारित करते हुए प्लेटो ने बताया कि वह ५० वर्ष की आयु का होगा। एक विवाहित नागरिक होगा, पुत्रवान नागरिक ही इस पद को सुशोभित कर सकेगा। शिक्षा मन्त्री के आधीन निरीक्षक (Inspector),

निर्णायक (Judge) तथा परीक्षक (Examiners) होंगे। निरीक्षक शिक्षा की जाँच करेंगे, परीक्षक व्यायाम, संगीत की परीक्षा लेंगे और निर्णायक उनकी योग्यता का प्रदर्शनो के आधार पर निर्णय करेंगे। यह सब राज्य के नागरिक होंगे। प्लेटो ने शिक्षा प्रदान करने के लिये राज्य के नागरिको को अनुपयुक्त बताया और कहा कि शिक्षक का कार्य विदेशी करेंगे। वेतन प्राप्त करने वाला कार्य नागरिक के लिए गौरव के विपरीत होगा। शिक्षक वेतनभोगी राज्य नियन्त्रित कर्मचारी होंगे।

पाठ्यक्रम (Syllabus)—*लॉज मे शिक्षा का पाठ्यक्रम दो वर्गों मे विभाजित किया गया है—प्राइमरी तथा माध्यमिक।* प्राइमरी शिक्षा बालक के जन्म के साथ प्रारम्भ होगी और शिशु को माँ के दुग्धपान और घर के प्रागण में पड़े पालने से ही योग्य नागरिक बनाने का प्रयत्न किया जायगा। यह प्राइमरी शिक्षा १० वर्ष तक चलेगी और दस वर्ष से सोलह वर्ष तक माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम चलेगा। दस वर्ष से तेरह वर्ष की आयु तक साहित्य की शिक्षा दी जायगी। १३ वर्ष से १६ वर्ष *तक संगीत, अंकगणित, ज्योतिष, विधि आदि की शिक्षा उन्हे दी जायगी। विद्यार्थियों* को सूर्योदय के साथ ही विद्यालय जाना पड़ेगा। इस शिक्षा के उपरान्त उच्च शिक्षा के सम्बन्ध मे लॉज मे प्लेटो के विचार हमें उपलब्ध नही।

लॉज प्लेटो के जीवन की संध्याकालीन रचना है। उसका जीवन दीप बुझने जा रहा था अत. उसने ईश्वर तथा धर्म के सम्बन्ध मे भी लॉज मे विचार व्यक्त किये। प्लेटो ने कहा कि व्यक्ति के धार्मिक विचार उसके नैतिक व्यवहार से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि धर्म मे अविश्वास अनैतिकता का प्रतीक है। इसीलिये प्लेटो ने यह व्यवस्था की कि धर्म मे अविश्वास करने वालो को राज्य की विधियो के अनुकूल दड देना चाहिये जिन कार्यों आदि को करने के लिए धर्म मना करता है, उनको करना नास्तिकता है। नास्तिकता तीन प्रकार की होती है। देवताओ की स्थिति को अस्वीकृत करना, मानवीय व्यवहार से अपना संबंध अस्वीकार करना तथा यह विश्वास करना कि उनका पाप सरलता से शान्त हो जायगा नास्तिकता के लिये कारागार और आवश्यक होने पर मृत्यु दंड दिया जाना चाहिए। धर्म राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा राज्य के निरीक्षण मे रहना चाहिए। धार्मिक क्रियायें सार्वजनिक रूप मे सम्पन्न की जानी चाहिये, क्योंकि व्यक्तिगत रूप में उन्हें सम्पादित किया जाने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की राज्य भक्ति क्षीण हो जाती है; दूसरे, वह अव्यवस्थित धार्मिक कृत्य करने लगता है। प्लेटो ने यह भी स्वीकार किया कि ईश्वर सर्वसत्ता सम्पन्न होता है और बिना उसकी इच्छा के व्यक्ति किसी भी कार्य मे सफलता प्राप्त नही कर सकता। यह प्लेटो की निराशावादिता और वृद्धावस्था का परिणाम है।

प्लेटो का मूल्यांकन (Estimated of Plato)

प्लेटो प्रथम प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक है। उसके विचार युगान्तरकारी प्रभाव रखते हैं। राजनीति दर्शन के आदि से लेकर आज तक प्लेटो की यशस्वी रचनाओ ने विचारकों, लेखको, कवियों और दार्शनिकों को प्रेरणावद्धक अमर कृतित्वो से सदैव ही अनुप्राणित किया है। अरस्तू, सिसरो, सेंट आगस्टाइन, दाँते, रूसो, गेटे, मिल्टन, हीगल, मार्क्स के ऊपर प्लेटो की स्पष्ट छाप अंकित है।

आदर्श राज्य का प्रथम प्रवर्त्तक—प्लेटो ने सर्वप्रथम एक आदर्श राज्य के सृजन का स्वप्न देखा। राज्य के अवगुणों का लोप होने के बाद एक अनूठी व्यवस्था स्थापित कर आदर्श राज्य अवतरित हो सकता है। अरस्तू से लेकर आज तक आदर्श राज्य सिद्धान्त की हँसी उड़ाई गई। परन्तु दैवयोग से अरस्तू अपने ग्रन्थ में आदर्श राज्य के समान सर्वोत्तम राज्य की कल्पना द्वारा गुरु निन्दा का प्रायश्चित करता है। आधुनिक आदर्शवादी विचारक कांट, हीगल, ग्रीन तथा बोसांके आदि भी उससे प्रेरणा लेते दिखाई पड़ते हैं।

आधुनिक साम्यवाद के लिए प्रेरक शक्ति—प्लेटो आधुनिक साम्यवाद की प्रेरणा का स्रोत है। प्लेटो के साम्यवाद की अनेक प्रकार से निन्दा की गई और उसे अव्यावहारिक बताया। मार्क्स ने भी प्लेटो के समान साम्यवाद का विचार रखा। मार्क्स तथा प्लेटो के साम्यवाद में भिन्नता होते हुए भी मौलिक समानता है। मैक्सी ने यहाँ तक कहा है कि प्लेटो के साम्यवाद में सभी समाजवादी और साम्यवादी विचारों के मूल हैं। यदि प्लेटो आज जीवित होता तो सबसे कट्टर साम्यवादी होता। वह सोवियत रूस को ओर उसी उत्साह के साथ भागता जिस तरह सीराक्यूज के निरंकुश शासक को आदर्श शासक बनाने गया था।

एक काल्पनिक उड़ान भरने वाले के रूप में—प्लेटो के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह कल्पना जगत में उड़ान भरता रहता है। उसके पैरों तले यथार्थ का धरातल नहीं रहता। न्याय सिद्धान्त में मानव प्रवृत्ति को विस्मृत कर उसमें अत्यधिक आशा करना एक अव्यावहारिक शिक्षा योजना, साम्यवाद की योजना तथा दार्शनिक शासक को आदर्श राज्य का आधार बनाना कल्पना कुसुम की ही भाँति हैं। ऐसे काल्पनिक साम्यवाद या दार्शनिक शासकों का निर्माण न तो कभी हुआ था, न है, और न हो ही सकता है। वह कल्पना के हवाई जहाज द्वारा अज्ञात लोक की सैर के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

यथार्थवादी विचारक के रूप में—यदि समीक्षा का यथार्थ पक्ष सामने रखा जाय तो उपरोक्त विचार को मिथ्या सिद्ध करने के लिये प्रमाणों का ढेर लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिये प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था स्पार्टा और एथेंस में पूर्व स्थापित थी। वर्तमान राज्य भी उसका अनुसरण करते हैं। अनिवार्य शिक्षा, स्त्रियों और पुरुषों को समान शिक्षा, पाठ्यक्रम में प्राथमिक और उच्च शिक्षा की व्यवस्था पर्याप्त प्रमाण है।

साम्यवाद का यूनान के नगर राज्यों में प्लेटो के विचारों से पूर्व भी स्थापित होना और पर्याप्त मात्रा में आधुनिक साम्यवाद से उसकी समानता केवल कोरी कल्पना ही नहीं हो सकती। प्लेटो ने जो कुछ देखा था उसे अपनी कल्पना से चित्रित किया।

दार्शनिक शासक की कल्पना भी यथार्थ से असम्बद्ध नहीं मानी जा सकती। आधुनिक युग में भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन एक दार्शनिक शासक ही थे। यद्यपि यह सत्य है कि वह सैद्धान्तिक सर्वोच्च शासक थे।

प्लेटो की प्रतिभा का सूर्य राजनीति शास्त्रियों को ही नहीं समस्त ज्ञान गंगा के उपासकों के मनमन्दिर को आलोकित करता रहेगा।

प्लेटो एक फासिस्टवादी के रूप में (Plato as a Fascist)

प्रथम साम्यवादी के साथ-साथ प्लेटो को प्रथम फासिस्टवादी भी कहा जाता है। फासिस्टवाद दो विश्व युद्धो के मध्यान्तर की ही उत्पत्ति है, वह सर्वाधिकार वादी है। फासिस्टवाद का कोई व्यवस्थित दार्शनिक आधार नही है। इसी कारण उसमे विचार शाश्वत्व का अभाव है। मुसोलिनी के समय-समय पर व्यक्त होने वाले विचारो का संकलन मात्र है, प्लेटो मूल के रूप मे यद्यपि फासिस्टवादी नही है और न फासिस्टवाद जैसी विचारधारा का प्रणयन उस समय हुआ था। किन्तु गौण रूप मे विचारधारा मे ऐसे तत्वो का समावेश हमे अवश्य मिल जाता है जो फास्टिवादी विचारधारा के बहुत कुछ अनुरूप है। इसी कारण सम्भवत हम प्लेटो को प्रथम फासिस्टवादी कह कर पुकारते हैं। प्लेटो विचार परम्परा फासस्टिवाद के निम्नलिखित तत्व प्राप्त होते हैं—

(१) **लोकतन्त्र विरोधी**—प्लेटो ने रिपब्लिक मे जो लोकतन्त्र की आलोचना की वह फासिस्टवादी आलोचना से कम कटु एवं गम्भीर नही है। वर्तमान शताब्दी मे फासिस्टवादियों ने भी उदारवाद एवं लोकतन्त्र का कटु खण्डन किया है।

(२) **दार्शनिक शासक**—प्लेटो यह विश्वास करता है कि राज्य की प्रगति तथा उसका नैतिक विकास तभी सम्भव है जबकि शासक बुद्धिजीवि एवं दार्शनिक हो। दार्शनिक राजा ही समाज को दोषो से मुक्त करा कर नई दिशा प्रदान कर सकता है। इसी प्रकार फासिस्टवाद मे भी नेता की अधिनायकता तथा उसके नेतृत्व की कुशलता पर विश्वास प्रकट किया गया है।

(३) **बुद्धि का शासन (Rule of the intellect)**—जिस प्रकार प्लेटो केवल एक वर्ग को प्रशिक्षित कर उसे समस्त शासकीय सत्ता समर्पित करना चाहता है, ठीक उसी प्रकार फासिस्टवादी फासिस्ट दल को राज्य की चेतना शक्ति का स्वरूप प्रदान कर उसे शासकीय शक्तियाँ समर्पित करने के पक्ष मे है।

(४) **राजकीय हित की सर्वोपरिता**—प्लेटो फासिस्टवादी इस कारण से भी है कि वह आंगिक सिद्धान्त का समुचित रूप में प्रयोग करते हुए इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि समष्टि मे ही व्यष्टि निहित है। राजकीय हित का फासिस्टवादियो की भाँति वह सर्वोपरि मानता है। व्यक्ति की राज्य के प्रति अगाध श्रद्धा का वह प्रतिपादन करता है। व्यक्ति को राज्य के प्रति महत्व नही देता।

(५) **मानवीय समानता का विरोध**—प्लेटो नागरिको के अतिरिक्त विदेशी एवं दासों को अपनी योजना में कोई स्थान नही देता। फासिस्टवाद भी समानता का प्रत्येक दृष्टि से विरोधी है। असमानता को वह नैसर्गिक कहता है।

(६) **राज्य सर्वोच्च आदर्श है**—जिस प्रकार से फासिस्टवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता के रूप मे स्वीकार करते हैं, ठीक उसी प्रकार प्लेटो नगर राज्य को सर्वोच्च मानता है, जिस प्रकार प्लेटो के नगर राज्य मे विदेशियो को कोई स्थान प्राप्त नही है, उसी प्रकार फासिस्टवादी अफासिस्टवादी तत्वों को अपने राज्य में कोई स्थान नही देते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो के दर्शन मे फासिस्टवादी तत्वों का समावेश हुआ है। उसकी साम्यवादी तथा वर्ग विभाजन की अवधारणाओ से यह

स्पष्ट होता है कि शिक्षा जैसे विषय में वह कठोरता उत्पन्न करता है और विकल्प के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता। किन्तु प्लेटो को पूर्णरूपेण फासिस्टवादी कहना हमारी भूल है। प्लेटो के दर्शन तथा फासिस्टवादियों में जहाँ कई सादृश्यात्मक तत्व हैं वहाँ कई प्रकार की भिन्नतायें भी हैं।

(१) प्लेटो नगर राज्य का समर्थक होते हुए भी साम्राज्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति से बहुत दूर है। फासिस्टवादी इसके विपरीत पूर्ण रूप से कट्टर साम्राज्यवादी हैं।

(२) प्लेटो राजनैतिक आदर्शवादी है और फासिस्टवाद यथार्थवादी, फासिस्टवाद कोई क्रमबद्ध राज्य विषयक दर्शन का गठन नहीं करता, अनुभव, आवश्यकता तथा अवसर उसके मुख्य सिद्धान्त हैं, इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि प्लेटो द्वारा कल्पित राज्य दर्शन पर अवलम्बित है और फासिस्टवादी राज्य शक्ति तथा अनुभव पर।

(३) प्लेटो नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का आधार मानता है तथा फासिस्टवादी व्यवस्था में नैतिकता को कोई स्थान प्रदान नहीं किया जाता।

(४) प्लेटो के दर्शन में स्त्री साम्यवाद तथा सम्पत्ति साम्यवाद की चर्चा व्यापक रूप से की गई है किन्तु फासिस्टवादी सम्यवाद के कट्टर शत्रु हैं।

(५) प्लेटो न्याय को शक्तिशाली का हित नहीं मानता किन्तु फासिस्टवाद शक्ति का उपासक है और जिसकी लाठी उसकी भैंस को अपनी नीतियों का आधार बना बैठता है। वस्तुतः उसका सिद्धान्त है कि न्याय शक्तिशाली का ही हित है।

(६) प्लेटो राज्य में सामंजस्य विषयक तत्वों को महत्त्व देता है और फासिस्टवाद राष्ट्र के जीवन में संघर्ष को आवश्यक मानकर युद्ध के गुणों को बखान करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि फासिस्टवादी विचारधारा के रखते हुए भी प्लेटो फासिस्टवादी नहीं है। यह बात अवश्य है कि उसके विचारों में फासिस्टवादी विचारधारा के धब्बे कहीं-कहीं पर अंकित हो गये हैं।

(७) प्लेटो कल्पनाशील है, इसी कारण यह विचार करते समय रूपकों एवं उपमाओं में उलझ जाता है। उसकी शैली काव्यमय, सरस एवं समन्वयात्मक है। इसके ठीक विपरीत अरस्तू की शैली विश्लेषणात्मक, शुष्क एवं नीरस है जो मूल रूप में तथ्यों के निरीक्षण पर अवलम्बित है।

(८) प्लेटो एकत्ववादी है तथा अरस्तू वैविध्यवादी। प्लेटो राज्य की एकता बनाये रखने के लिये संरक्षकों के लिये परिवार तथा सम्पत्ति का निषेध करता है। किन्तु अरस्तू वैविध्य का समर्थन करता है और वह परिवार तथा सम्पत्ति में भिन्नतायें बनाये रहने के पक्ष में है।

सहायक पुस्तकें

Barker : Greek Political Theory : Plato and His Predecessors.

Dunning : A History of Political Theory (Ancient and Mediaeval).

Doyle : A History of Political Thought.
Foster : Masters of Political Thought.
Gettel : History of Political Thought.
Maxey : Political Philosophy
Nettleship : Lectures on Republic of Plato.
Sabine : A History of Political Theory.
Suda : A History of Political Thought (Vol. I)
Wayper : Political Thought.
राजनरायन गुप्त और चतुर्वेदी : पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास
वर्मा एस० सी० : पाश्चात्य राजदर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. 'आदर्श राज्य सिद्धान्त' प्लेटो की कल्पना शक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। समीक्षा कीजिए।

२. 'यह नगर (आदर्श राज्य) शब्दो मे आधारित है, पृथ्वी पर मेरे विचार मे इसका कही अस्तित्व नहीं।' इस कथन के आधार पर प्लेटो के आदर्श राज्य सम्बन्धी विचारो की व्याख्या कीजिए।

३. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। क्या यह सिद्धान्त आदर्श राज्य का आधार है ?

४. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कार्य-विशेषीकरण तथा हस्तक्षेपहीनता का सिद्धान्त ही है; स्पष्ट कीजिये।

५. 'रिपब्लिक राजनीति का नही, शिक्षा शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है।' उपरोक्त कथन के आधार पर प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

६. प्लेटो के साम्यवाद की विवेचना कीजिये। क्या साम्यवाद प्लेटो की मौलिक अनुकृति है। अरस्तू उसके तर्कों से क्या सहमत नही था ? अपने विचार बताइये।

७. 'पत्नी तथा परिवार का साम्यवाद राज्य की भौतिक बुराइयो के निवारण का अस्त्र है।' इस कथन पर विचार करते हुए प्लेटो के साम्यवाद तथा मार्क्स के साम्यवाद मे अन्तर बताइये।

८. 'दार्शनिक शासक' पर विचार प्रकट कीजिए।

९. 'लॉज' मे राज्य तथा विधि सम्बन्धी विचार प्लेटो के पूर्व के विचारो मे किस प्रकार भिन्न हैं ?

१०. प्लेटो के राजनीतिक विचारो का महत्व बताइये।

११. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और बताइये कि उससे अफलातून के आदर्श राज्य की उत्पत्ति अनिवार्यतः किस प्रकार होती है ?

अध्याय २

अरस्तू (Aristotle)

[ई० पू० ३८४—ई० पू० ३२२]

"The Politics of Aristotle is richest treasure that has come down to us from antiquity and the greatest contribution to the field of political Science that we possess. —*Zeller*

"Aristotle (384—322 B. C.) holds an enviable place in the annals of political philosophy." —*Lawranace C. Wanlass*

राजनीति दर्शन की परम्परा मे राजनीति शास्त्र के जनक सूक्ष्म अवलोकी, वैज्ञानिक पद्धति के प्रथम प्रवर्तक, नगर राज्य के दार्शनिक, यूनानी साहित्य के प्राण सर्वोत्तम राज्य के उपासक, प्रकांड पांडित्यमयी प्रतिभा युक्त अरस्तू का स्थान अद्वितीय है। आज भी राजनीति शास्त्र का प्रत्येक क्षेत्र उनके वचनामृतों मे प्रदीप्त हो रहा है। उनके अजर अमर वाक्यों की सत्ता राजनीति ही नहीं अपितु ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र—नैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, भौतिक और आध्यात्मिक—मे स्थापित है। उनके विरोध मे लेखनी उठाने का दुस्साहस आज तक न किया जा सका।

जीवन परिचय (Life Sketch)

अरस्तू राजनीति दर्शन मे प्लेटो का शिष्य होने के कारण एथेंसवासी समझा जाता है; यह भ्रामक है। अरस्तू का जन्म मकदूनिया के तट पर बसे स्टेगिरा (Stagira) नगर की थ्रेस (Thrace) बस्ती मे ई० पू० ३८४ को हुआ था। उसके पिता का नाम निकोमेकस था। वह मकदूनिया के शासक फिलिप के दरबार मे राजवैद्य थे। राजपरिवार मे सम्पर्क रहने के कारण अरस्तू का जीवन सम्पन्नता विपुलता और ऐश्वर्य मे प्रारम्भ हुआ। पिता ने उसे चिकित्सक बनाने की चेष्टा की; लेकिन चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन सरस्वती पुत्र की राजनीति विषयक प्रतिभा को कुंठित न कर सका। पिता की मृत्यु के उपरान्त ई० पू० ३६७ को वह एथेंस स्थित प्लेटो की विद्यापीठ मे भरती हो गया। जब तक प्लेटो जीवित रहा (२० वर्ष तक) वह प्लेटो के विद्यालय मे अध्ययन करता रहा। प्लेटो अरस्तू की प्रतिभा से इतना प्रभावित था कि उसे अपनी विद्यापीठ का सबसे बुद्धिमान विद्यार्थी समझने लगा। उसने अरस्तू को सगर्व चुना हुआ शिष्य घोषित किया (He was his chosen and picked up disciple) अरस्तू भी आचार्य के प्रति श्रद्धा और सम्मान के सुमन यत्किंचित आलोचना के साथ अर्पित करता रहा।

अरस्तू की यह उत्कट अभिलाषा थी कि प्लेटो की मृत्यु के बाद विद्यापीठ का प्रधान पद उसे ही प्राप्त हो, परन्तु आशा को फलवती होने का अवसर नहीं दिखाई दिया। अतः प्लेटो की मृत्यु के बाद वह एथेन्स छोड़कर चल दिया।

एथेन्स छोडकर चले आने के बाद आगामी १२ वर्षों तक अरस्तू ने कई नौकरियाँ की। सर्वप्रथम वह अटारनियस गया और वहाँ के शासक हरमियास के दरबार मे शिक्षक तथा चिकित्सक के रूप मे कार्य करने लगा। तीन वर्ष तक यहाँ रहा। हरमियास के विरुद्ध क्रान्ति हुई और उसे कत्ल कर दिया गया। अरस्तू और हरमियास की गोद ली हुई पुत्री (पीथियाज) दोनो ही लेसवास टापू के मिटीलीन की ओर भाग गये और बाद मे उन दोनो ने विवाह कर लिया। इन दोनो का दाम्पत्य जीवन बहुत ही मधुर, सुखी और आनन्ददायक रहा।

ई० पू० ३४३ मे अरस्तू को मकद्नीन (Macedon) के भावी शासक १३ वर्षीय सिकन्दर महान की शिक्षा दीक्षा तथा उचित देखभाल के लिये, उसके पिता फिलिप ने आमन्त्रित किया। ई० पू० ३३६ तक वह इसी पद पर कार्य करता रहा और जब सिकन्दर विश्व विजय की महत्वकांक्षा पूरी करने के लिये चल पड़ा तो वह एथेन्स वापिस लौट गया।

एथेन्स वापिस आकर अरस्तू ने सर्वप्रथम अपना ध्यान एक शिक्षा संस्था की स्थापना की ओर आकर्षित किया और ई० पू० ३३५ मे अरस्तू ने अपना स्वयं का विद्यालय खोला। यह विद्यालय लाईसियम (Lyceum) के नाम से यूनान के चार दार्शनिक विद्यालयो मे से एक माना जाता था। १२ वर्ष तक वह अपने विद्यापीठ मे अध्यापन कार्य करता रहा और कई महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त एथेन्स मे मकदूनिया विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो गये और अब उसे मुसीबतो का सामना करना पडा। अरस्तू के विरोधियो ने उसके ऊपर अभियोग लगाये। अरस्तू ने इन सकटो से धैर्यपूर्वक बच निकलने के लिये एथेंस से अपनी जागीर चाल्सीज (Chalcis) की ओर प्रयाण किया। अरस्तू यह नही चाहता था कि पुन. इस प्रकार की दुर्घटना एथेन्स के इतिहास मे हो, जिससे एथेन्स का नाम विद्या और विद्वानो के विरुद्ध षडयन्त्रकर्त्ता के रूप मे पढा जाय। अरस्तू सुकरात की महत्वपूर्ण ज्ञान परम्परा का प्रतिनिधि बनना चाहता था लेकिन उसकी भाँति दण्ड प्राप्त कर दार्शनिको के विरुद्ध हुए अपराध की पुनरावृत्ति नही करना चाहता था। जीवन का शेष भाग उसने अपनी जमीदारी में ही व्यतीत किया और ई० पू० ३२२ मे ६२ वर्ष की आयु मे यह महान दार्शनिक चिर निद्रा मे सो गया।

अरस्तू अपने युग का सबसे महान विद्वान था। उसकी कुशाग्र बुद्धि, सूक्ष्म तत्वदर्शिनी दृष्टि, विवेकशीलता उसे राजनीति शास्त्र मे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है और यही नही वह नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र आदि विषयो का भी अपूर्व ज्ञाता था।

अरस्तू की रचनायें (His Writings)

अरस्तू, प्लेटो की भाँति ही अपनी लेखनी राजनीति शास्त्र तक ही सीमित नही रख सका। उसकी अनेकागी प्रतिभा ज्ञान पुंज के चहुँ ओर चक्कर काटती दिखाई देती है। जिस विषय पर उसने अपनी प्रतिभा को प्रयोगान्वित किया उसमे ही वह प्रतिनिधि विचारक के रूप मे सदैव अमर रहेगा। अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीति शास्त्र से नीति शास्त्र को अलग कर स्वतन्त्र विषय का अस्तित्व प्रदान किया। अरस्तू को अर्थशास्त्र (Economics), कला (Art), काव्य (Poetry), इतिहास (History), यन्त्रविज्ञान (Mechanics), भौतिक शास्त्र (Physics),

शरीर विज्ञान (Physiology), नक्षत्र विज्ञान (Astronomy), अध्यात्म विज्ञान (Metaphysics) आदि सभी का गहन अध्ययन था। तर्क शास्त्र (Logic) का तो वह जन्मदाता माना जाता है। उसको केवल गणित से ही अरुचि थी जो उसके गुरु का सर्वप्रिय विषय था।

विभिन्न विषयों के ज्ञान के साथ-साथ अरस्तू का मुख्य प्रतिपाद्य विषय राजनीति शास्त्र था जिसमें उसकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। अरस्तू के राजनैतिक विचार उसकी प्रमुख कृति 'दी पालिटिक्स' (The Polities) में पाये जाते हैं। यद्यपि उसने कई अन्य ग्रन्थ राजनीति दर्शन पर लिखे हैं। लेकिन 'दि पालिटिक्स' को ही उसकी सर्वश्रेष्ठ अनुकृति कहा जा सकता है। अरस्तू ने भूतकालीन तथा तत्कालीन संविधान के सूक्ष्म अध्ययन के बाद एक अन्य राजनीति विषयक ग्रन्थ 'दी कान्स्टीट्यूशन' (The Constitutions) लिखा। इसमें से बहुत कुछ सामग्री तो हमें प्रमाणित रूप में उपलब्ध नहीं है, केवल 'एथेंस का संविधान (Constitution of Athens) उपलब्ध हो सका। अरस्तू के राजनीति सम्बन्धी विचार हमें उसके शिष्यों द्वारा कक्षा में लिये गये व्याख्यान संकेतों (Lecture notes) में उपलब्ध होते हैं। अरस्तू ने प्लेटो की कथोपकथन पद्धति का ही अनुसरण किया है परन्तु वह नाटक के विभिन्न पात्रों के समान पात्र रचना करने में सफल नहीं हो सका, वह स्वयं ही प्रश्न करता है और उसका उत्तर देता है। परिणाम यह हुआ कि वह अपने वर्णित विषय को स्पष्ट और सरल बनाने के स्थान पर नीरस, जटिल एवं अस्पष्ट बना देता है; और ऐसा प्रतीत होता है कि 'दि पालिटिक्स' अस्त-व्यस्त सामग्री का एक ऐसा संग्रह है जिसमें जबर्दस्ती जोड़-तोड़ किया गया हो। इसके अतिरिक्त अरस्तू जैसा अद्वितीय विचारक इस ग्रन्थ में बारम्बार यह आश्वासन देता है कि आगे विस्तारपूर्वक इस विषय का विवेचन किया जायगा अथवा यह विषय पहले ही बताया जा चुका है, वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के संकेत कहीं भी हल नहीं किये गये। इस त्रुटि के लिये हम अरस्तू को दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि उसकी हस्तलिखित मूल प्रति अप्राप्त है और 'राजनीति' का प्राप्त संस्करण व्याख्यान संकेतों (Lecture notes) का संग्रह है अतः यह सम्भव है कि छात्रों ने यदाकदा शीघ्रता में पूर्ण वर्णन नहीं नोट कर पाया हो और उसे वे छोड़ते चले गये हों और बाद में भी उसे पूरा नहीं कर सके हों। अथवा छात्रों को पढ़ाने के लिये तैयार किये गये व्याख्यान संकेत हो सकते हैं जिसमें पूर्ण वर्णन नहीं किया जाता है।

अरस्तू की 'राजनीति' आठ पुस्तकों का संग्रह है। इन आठ पुस्तकों को राजनीति शास्त्र के विभिन्न विषयों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। सुविधा के लिये जेगर (Werner Jaeger) इस ग्रन्थ को दो भागों में विभाजित करना चाहता है। सर्वप्रथम पहली पुस्तक सामान्य परिचय के लिये सबसे अन्त में लिखी गई और शीघ्रता में द्वितीय अध्याय से पूर्व जोड़ दी गई। अरस्तू के इस ग्रन्थ में वर्णन किये गये विषय दो हैं—प्रथम आदर्श राज्य; द्वितीय वास्तविक राज्य। आदर्श राज्य में चार पुस्तकों के विचार संकलित किये जा सकते हैं।

अरस्तू के आदर्श राज्य सम्बन्धी विचार चार पुस्तकों में पाये जाते हैं। यह चारों पुस्तकें जेगर के मतानुसार प्लेटो की मृत्यु के बाद, अरस्तू के एथेंस से पलायन से अधिक बाद में नहीं लिखी गईं। इस वर्ग में द्वितीय, तृतीय, सप्तम और अष्टम पुस्तकें आती हैं।

द्वितीय, आदर्श राज्य के बाद 'पालिटिक्स' मे वास्तविक राज्य के ऊपर विचार किया गया है। यह पुस्तकें जेगर के मतानुसार अरस्तू की विद्यापीठ लाइसियम (Lyceum) की स्थापना के बाद की प्रतीत होती हैं जिनकी रचना १५८ संविधानो के अध्ययन के बाद या मध्य मे की गई है। वास्तविक राज्य सम्बन्धी विचार चतुर्थ, पंचम, षष्ठम पुस्तकों मे प्राप्त होते हैं। यह विवेचन स्पष्ट करता है कि इन पुस्तकों का रचना काल अलग-अलग है और अवश्य ही इस ग्रन्थ की रचना मे लगभग १५ वर्ष का समय लगा होगा। इस ग्रन्थ की आठो पुस्तको मे क्रमानुसार निम्न विषयो पर प्रकाश डाला गया है ·

पहली पुस्तक · यह पुस्तक भूमिका स्वरूप है। इस पुस्तक के प्रथम तीन अध्यायो मे राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे विचार करने के अतिरिक्त दासता के ऊपर विचार किया गया है।

दूसरी पुस्तक इससे पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तो का ऐतिहासिक अध्ययन तथा प्लेटो की आलोचना की गई है।

तीसरी पुस्तक इस पुस्तक मे राज्य की प्रकृति और नागरिकता पर विचार किया गया है। लेकिन यह आदर्श राज्य की भूमिका बन गई है, इसमे आदर्श संविधान के ऊपर प्रकाश डाला गया है।

चौथी पुस्तक . इस पुस्तक मे सविधानो का (राजतन्त्र के अतिरिक्त) सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है और उनकी आलोचना भी की गई है।

पाँचवी पुस्तक इस पुस्तक मे क्रान्तियो का वर्णन किया गया है कि वे क्यो होती हैं और किस प्रकार उन्हे रोका जा सकता है।

छठी पुस्तक यह पुस्तक प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र आदि शासन व्यवस्था के संगठन आदि से सम्बन्धित है।

सातवीं पुस्तक यह पुस्तक आदर्श राज्य का विवेचन करती है।

आठवीं पुस्तक : इस पुस्तक मे आदर्श राज्य के विचार के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के सविधानो, उनकी समस्याओ आदि पर विचार किया गया है।

अरस्तू के इस ग्रन्थ की प्रशंसा और आलोचना दोनों ही की गई हैं। एक ओर इस पुस्तक की प्रशंसा मे इसे महान ग्रन्थ बताया गया है। विद्वानो का एक वर्ग अरस्तू की 'राजनीति' की महानता का गान गाते हैं और इसे 'अरस्तू की बौद्धिक प्रतिभा की बहुमूल्य देन' कहते हैं। वे इस ग्रन्थ के आधार पर ही अरस्तू को विद्वानो का सिरमौर तक कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि अरस्तू की कृतियो का कोई अनुवादक उस सत्र की व्याख्या नही कर सकता है जो उसमे वर्णन किया गया है। मध्य युग मे इस कृति के अध्ययन के उपरान्त चर्च के पादरियो द्वारा अरस्तू को 'विद्वानो का गुरु' (Master of those who know) कह कर पुकारा है। फोस्टर (Foster) के अनुसार 'यदि कोई एक पुस्तक यूनान के राजदर्शन का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व कर सकती है तो वह यह है'। जेलर इस कृति को 'प्राचीन काल की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्ध निधि' कहता है। वास्तविकता भी यही है कि यह ग्रन्थ एक अनुपम रचना है जिसकी गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता इतनी अधिक है कि उसका अध्ययन अवश्य ही किया जाना चाहिए।

इस पुस्तक के आलोचक इसे एक साधारण ग्रन्थ बताते हैं और कहते हैं कि अरस्तू ने इसकी रचना सामाजिक समस्याओं का गहन अध्ययन किये बिना ही, बाह्य अवलोकन के आधार पर की है। इस ग्रन्थ की निन्दा करते हुए कहा गया है कि "किसी विस्तृत विषय की विवेचना में अरस्तू की 'राजनीति' जैसा साधारण ग्रन्थ नहीं है।" डनिंग ने भी इस सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए कहा है कि "यह ग्रन्थ जिस प्रकार हमें उपलब्ध होता है, उसकी योजना स्पष्ट होने से अति दूर और उसका प्रतिपादन दोषपूर्ण एवं उलझा हुआ है।" इस ग्रन्थ के विचारों की असंगतता, पुनरावृत्ति-विरोधाभास आदि की आलोचना की जाती है। लेकिन इन त्रुटियों का दोष अरस्तू के ऊपर डालना अनुचित दिखाई देता है। यह ग्रन्थ शताब्दियों उपरान्त आज हमें प्राप्त हुआ है, निश्चय ही अनेकों विद्वानों ने उस पर अपनी लेखनी उठाई होगी और यही कारण है कि उसमें उपरोक्त दोष पाये जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि अरस्तू ने इस पुस्तक की रचना के उपरान्त दुहराने का कष्ट सम्भवतः न किया हो।

अरस्तू की अध्ययन पद्धति (Aristotelin Method)

अरस्तू की अध्ययन पद्धति सम्बन्धी विशेषताएँ उसे राजनीति शास्त्र के जन्मदाता की उपाधि से विभूषित करती हैं। यह सम्मान उसे अपनी मौलिक अध्ययन शैली के कारण ही प्राप्त होता है। अरस्तू की अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति कहते हैं। जिसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारने पर निगमनात्मक (Inductive) और विश्लेषणात्मक (Analytical) अध्ययन पद्धति कहा जाता है। इस वैज्ञानिक शैली के निम्न प्रमुख चार अंग होते हैं—

(i) अध्ययन किये जाने वाले विषय की सामग्री और घटनाओं का संग्रह।

(ii) संग्रहीत सामग्री का वर्गीकरण।

(iii) समान व्यवहार के आधार पर उनके नियमों का अनुमान।

(iv) कल्पित नियमों के प्रयोग के आधार पर निरीक्षण द्वारा सिद्ध करके, उनके वैज्ञानिक नियमों के रूप में उनका प्रतिपादन और निष्कर्ष निकालना।

अरस्तू ने अपने विचारों को प्रकट करने से पूर्व ही अपने मस्तिष्क में किसी विचार को निर्धारित नहीं कर लिया था जिसे सिद्ध करने के लिये वह अनेकों तर्कों को देता वरन् व्यापक मस्तिष्क होने के कारण तथ्यों को सामने रख कर, उनसे जो निष्कर्ष निकलता है उसे वह स्पष्ट करता है। यह उसकी अध्ययन शैली की पहली विशेषता है जिसके कारण हम अरस्तू की पद्धति को वैज्ञानिक कहते हैं।

द्वितीय, अरस्तू की अध्ययन पद्धति में विश्लेषणात्मक (Analytical) रूप पाया जाता है। उसने जिस विषय का प्रतिपादन किया, उसका सामग्री से विश्लेषण करने के उपरान्त किया। उसने प्राचीन तथा प्राप्त समकालीन १५८ संविधानों का अध्ययन किया और उनका विश्लेषण करने के उपरान्त अपने विचारों का प्रतिपादन किया।

अरस्तू की अध्ययन पद्धति की एक विशेषता यह है कि वह एक वैज्ञानिक के समान बहुत ही व्यापक पर्यवेक्षण (Observation) के बाद अपने विचार व्यक्त करता है। उसने ऐश्वर्यमय जीवन का पर्यवेक्षण किया और इसीलिये सम्पत्ति को मानवीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बताया। उसने मधुरतापूर्ण पारिवारिक जीवन का अनुभव किया, जिसके फलस्वरूप वह प्लेटो के साम्यवादी विचारों का

आलोचक बन गया। अरस्तू की पर्यवेक्षणता के साथ उनकी अनुभवमूलकता (Empirical) भी उसकी शैली को वैज्ञानिक बना देती है। जीवन की जिन सुगमय अवस्थाओं का अनुभव वह करता गया उसे मनुष्य के लिये आवश्यक बताया गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि अरस्तू कल्पनावादी होने के स्थान पर तथ्यवादी भी है। वह अपने विचार पर्यवेक्षण और अनुभव के उपरान्त व्यक्त करता है। अरस्तू का यह कथन कल्पना की उडान मात्र नही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वरन् यह पर्यवेक्षण के बाद स्पष्ट होता है मनुष्य के विकास के लिए पारस्परिक जीवन तथा व्यापक रूप मे सामाजिक जीवन अत्यन्त आवश्यक है।

अरस्तू की अध्ययन पद्धति मे संश्लिष्टता पाई जाती है। उसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप की है। उसकी भाषा मे काव्यमयता नही है। जीवन की वास्तविकता का चित्रण है। यही कारण है कि उसका अध्ययन जटिल हो गया है। वह अपने विचार अस्पष्ट छोडकर आगे स्पष्ट करने का आश्वासन देकर छोडता चला जाता है लेकिन ऐसे स्थल नही आते हैं। पुनरावृत्ति उसकी वर्णन शैली की एक अन्य त्रुटि है। उसके व्यापक कथन, दूरदर्शिता अरस्तू की अध्ययन शैली की विशेषता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू की अध्ययन पद्धति को ऐतिहासिक भी कहा गया है।

अरस्तू को राजनीति के पिता की गौरवमयी उपाधि से सम्मानित किया जाता है क्योंकि वही सर्वप्रथम एक ऐसा विचारक था जिसने राजनीति शास्त्र को एक पृथक और स्वतन्त्र विज्ञान बना दिया। उसने आचार शास्त्र (Ethics) को राजनीति शास्त्र से अलग कर दोनो ही शास्त्रो को पूर्णत एव वैज्ञानिकता प्रदान की जिसके फलस्वरूप राजनीति शास्त्र का निश्चित स्वरूप हो गया। प्लेटो के विचारो मे राजनीति और आचार शास्त्र दोनो ही एक थे। यही नही अर्थशास्त्र शिक्षाशास्त्र आदि भी राजनीति शास्त्र से सम्बद्ध थे, जिन्हे पृथक स्वरूप प्रदान करना प्लेटो के लिये सम्भव नही हुआ। यही कारण है कि राजनीति शास्त्र के प्रणेता का स्थान प्लेटो को प्राप्त नही हुआ और उसका शिष्य इस क्षेत्र मे गौरवान्वित हुआ। ग्रान्ट ने इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए 'अरस्तू की नीतिशास्त्र' मे यह कहा है कि दोनो शास्त्रो का पृथक्करण अरस्तू की वाछित वस्तु नही थी वरन् वह तो उसकी अध्ययन पद्धति की ही विशेषता थी। वह विश्लेषणात्मक अध्ययन के कारण स्वत ही अचेतन रूप मे दोनो शास्त्रो को पृथक करने मे सफल हुआ।

राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अरस्तू एव प्लेटो दोनो ही के विचार सिद्धान्तत समान हैं। इन दोनो मे पूर्व राज्य की उत्पत्ति का सविदावादी विचार प्रचलित था। सॉफिस्ट (Sophists) विचारक इसका प्रतिनिधित्व करते थे। इनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति परस्पर मनुष्यो के समझौते के आधार पर हुई है। समाज के निर्बल मनुष्यो के कष्टो, अत्याचारो से मुक्त होने के लिये समझौता किया अथवा शक्तिशाली व्यक्तियो ने निर्बलो पर अपने अत्याचारो को नियमित करने के लिये समझौता किया। इनके फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। इस विचारधारा के अनुसार राज्य कृत्रिम और अप्राकृतिक सस्था है। अत उसके आदेशो का पालन नही किया जाना चाहिये। प्लेटो और अरस्तू दोनो ने ही राज्य की उत्पत्ति के इस प्रचलित सिद्धान्त का खडन किया और यह स्पष्ट कर दिखाया कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था

है कृत्रिम नहीं। दोनों विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति का एक ही सिद्धान्त अपनाया लेकिन उनका अन्तरंग पृथक है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्लेटो ने उसे मानव मस्तिष्क की अनुकृति का विस्तृत प्रतीक बताया था। मानव मस्तिष्क की प्रवृत्तियां—बुद्धि, शौर्य और वासना का दर्शन राज्य के शासक, रक्षक तथा उत्पादक वर्ग में होता है। अरस्तू ने भी राज्य की उत्पत्ति की प्रथम इकाई मनुष्य को ही बताया है। राज्य की उत्पत्ति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही होती है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसकी विविधतापूर्ण आवश्यकतायें होती हैं, जिन्हें वह अकेला बिना अन्य साथियों के सभी भी पूरा नहीं कर सकता। अतः अन्य साथियों का सहयोग मनुष्यों को परस्पर समीप आने के लिये विवश करता है जहाँ पर वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। इसीलिये अरस्तू ने यह कहा है कि "मनुष्य प्रकृति से ही राजनैतिक प्राणी है और वह प्राणी जो समाज में नहीं रह सकता या उसकी आवश्यकता नहीं समझता, या तो पशु है अथवा देवता।" "Man by nature is a political animal. He who is unable to live in society or who has no need because he is sufficient for himself must be either a good or a beast.'

यह वक्तव्य स्पष्ट करता है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संस्थाओं की रचना करता है और प्रत्येक संस्था किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही बनती है। राज्य भी इन्हीं संस्थाओं में से एक है। यह अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है क्योंकि अन्य संस्थायें केवल एक ही आवश्यकता की पूर्ति करती है लेकिन राज्य व्यक्ति को अच्छा बनाने का कार्य करता है और इस प्रकार वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन तथा समस्त संस्थाओं को ही अपने क्षेत्र में सम्मिलित कर लेता है।

राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के विकास का ही परिणाम है, जो उसकी जीवन रक्षा एवं नस्ल के विस्तार तथा मिल-जुल कर रहने की प्रवृत्ति और सामान्य हित की आकांक्षा के कारण प्राकृतिक रूप में विकसित हुआ। राज्य के विकास क्रम में परिवार प्रथम इकाई है, जिसमें मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाये रखने और अपने वंश या नस्ल के विस्तार की आवश्यकता की पूर्ति करता है। परिवार में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दो सम्बन्ध या संस्था दिखाई देती है :

(१) परिवार में स्वामी और दास (Herile) का सम्बन्ध होता है। यह जीवन धारण करने के लिये आवश्यक है परिवार की भोजन व्यवस्था के लिये दास को अरस्तू ने अनिवार्य माना है। दूसरे, पति-पत्नी (nuptial) का सम्बन्ध वंश बढ़ाने के लिए आवश्यक है। परिवार का माध्यम ही भविष्य में अपने वंशजों द्वारा, अपनी नस्ल को बनाये रखने का अवसर प्रदान करता है। पति-पत्नी का संयोग मानव जाति की विकास भावना को पूरा करता है। इस प्रकार परिवार राज्य के विकास क्रम की प्रथम संस्था है। जिसमें, 'घर, पत्नी तथा कृषि कर्म के लिये बैल की आवश्यकता होती है।' (First a house, then a wife, then an ox for the plough.) अन्न उत्पादन का कार्य दास बैल द्वारा करता है, पति-पत्नी यह कार्य यद्यपि नहीं करते है। उनका परस्पर सम्बन्ध शासक का है। पति-पत्नी दास को आदेश प्रदान करेंगे और वह उनके आदेशों का पालन करता हुआ अन्न उत्पादन करेगा। गृह स्वामी

थपूर्व बुद्धि वाला होता है जो विवेकीय आदेशो द्वारा दासो से काम लेता है। साराश. मे परिवार वह समुदाय है जिसके सदस्य अपनी आवश्यक्ताओ की पूर्ति के लिये एकत्रित होते हैं और आपस मे सहयोगी जीवन व्यतीत करते हैं।

(२) ग्राम (Village)—राज्य की उत्पत्ति के विकास मार्ग मे दूसरी प्राकृतिक संस्था ग्राम है। प्लेटो ने राज्य के विकास पर विचार करते समय न तो परिवार की सूक्ष्मताओ पर विचार किया है और न ही गांव को विकास क्रम की संस्था के रूप मे स्पष्ट किया है। अरस्तू ने इन दोनो त्रुटियो को दूर करते हुए, राज्य के विकास क्रम की दूसरी इकाई गाँव को स्वीकार किया है। परिवार के विस्तार के साथ-साथ मनुष्य की ऐसी अनेकों आवश्यक्तायें आती-जाती हैं जो परिवार की सीमा मे ही सन्तुष्ट नही हो सकती, जैसे ही इन विकसित वैभव सम्पन्न जीवन की आवश्यकताओं को कौटुम्बिक परिधि से परे ले जाता है, तो गाँव का स्थान दिखाई पड़ता है। व्यक्ति स्वरक्षा के लिए आपस मे सहयोग करने लगते है तथा परिवार का वयोवृद्ध, उस संगठित व्यापक कुटुम्ब (गाँव) का शासक बन जाता है। राज्य की उत्पत्ति की यह द्वितीय साधना, राजतन्त्र की उत्पत्ति का प्रथम रूप है, जो अपने आप मे बहुत ही छोटा है।

(३) राज्य (Polis)—राज्य के विकास की अन्तिम अवस्था स्वत राज्य ही है। अनेको आत्मनिर्भर गाँव जिनका अपना शासक भी होता था मिलकर एक बृहत्तर वृत्त का निर्माण करते है। सामान्य हित के लिये अनेको गाँव परस्पर एक हो जाते हैं और अपनी शासन शक्तियाँ सम्प्रभु सस्था राज्य को सौंप देते हैं। राज्य मे व्यक्ति का सर्वाधिक कल्याण हो सकता है। यह जीवन की आवश्यकताओ के कारण बनता है और पूर्ण जीवन के लिये बना रहता है। राज्य की परिभाषा करते हुये डनिंग ने अरस्तू के विचारो को इस प्रकार प्रकट किया है "राज्य गाँवो के एक ऐसे संघ से बनता है जो आत्म-निर्भर होते हैं। यह अन्तिम और पूर्ण सस्था होती है जो जीवन की प्राथमिक आवश्यक्ताओ के कारण उत्पन्न होता है और पूर्ण जीवन के लिये बना रहता है।" ("The state springs from the union of villages into an association of such size and character as to be self sufficing It is last and the perfect association originating in the bare need of living it exists for the sake of complete life."—W. A Dunning.)

राज्य की प्रकृति (Nature of State)

राज्य एक प्राकृतिक सस्था है। राज्य की उत्पत्ति का भाव मानव प्रकृति मे ही निहित होता है। 'प्राकृतिक' शब्द से यह ध्वनि प्रतिपादित होती है राज्य का विकास ठीक उसी प्रकार होता है जैसे किसी पौधे का मेज कुर्सी की तरह राज्य मानव निर्मित नही होता है।

(१) राज्य कृत्रिम के विपरीत प्राकृतिक है—मानव प्रकृति का विकसित रूप ही राज्य है। परिवर्तनशील जगत मे प्रत्येक परिवर्तन सोद्देश्य होता है। परिवर्तन एकदम नही हो जाता वरन् उसका एक क्रम होता है।

(अ) परिवर्तन के लिए किसी पदार्थ की आवश्यक्ता होती है,

(ब) उस पदार्थ के परिवर्तन के लिए शक्ति की आवश्यक्ता हो सकती है, यह शक्ति कृत्रिम (मानव श्रम) या प्राकृतिक क्रियाशीलता हो सकती है;

(स) तदनन्तर उपयुक्त वातावरण, और

(द) सामग्री या अस्तित्व अन्तिम अवस्था में पदार्थ को पहुँचा देता है। यह चारों क्रियाएँ ही पूर्ण होने पर परिवर्तन करती हैं। अरस्तू एक दार्शनिक है, वह इसी कारण से राज्य को प्राकृतिक सिद्ध करने के लिये उसकी तुलना प्रकृति के पौधे से करता है। प्रकृति में पौधे का वर्तमान स्वरूप जानने के लिये उपर्युक्त परिवर्तन क्रम का आश्रय लिया जा सकता है। किसी पौधे का प्रथम रूप बीज होता है (पदार्थ)। बीज की प्राकृतिक शक्ति अंकुरित करती है तदुपरान्त हवा, धूप, पानी आदि औपचारिक कारण विकसित करता है और अन्त में स्वतः पूर्ण वृक्ष या पौधा अन्तिम अवस्था में आ जाता है। यह परिवर्तन प्राकृतिक है क्योंकि द्वितीय अवस्था में प्रयोग की गई शक्ति प्राकृतिक थी मानवीय नहीं। यही तुलना राज्य को प्राकृतिक सिद्ध करने के लिए प्रयोग में लाई जा सकती है। अरस्तू ने राज्य को प्राकृतिक कहा है। इससे उसका अभिप्राय यही है कि राज्य की परिवर्तनशीलता का पदार्थिक कारण बीज के समान परिवार होता है जो स्वयं मानव निर्मित या कृत्रिम न होकर एक प्राकृतिक संस्था है। उसके परिवर्तन में क्रियात्मक कारण भी मनुष्य की प्राकृतिक भावनायें (biological instincts) ही है, उसका औपचारिक कारण भी प्राकृतिक आवश्यकतायें है जिनके लिये परिवार में रहना आवश्यक है और अन्त में राज्य का विकास उन्हीं के कारण होता है। सारांश में हम राज्य की प्राकृतिक स्थिति पुष्ट करने के लिये यह कह सकते है कि वह प्रकृति के विकास क्रम में वृक्ष के समान ही विकसित होता है।

(२) राज्य अन्य प्राकृतिक संस्थाओं से ही बनता है—राज्य प्रकृति-जन्य है। वह मनुष्य की अपना जीवन बनाये रखने और अपने वंश विस्तार की प्राकृतिक भावनाओं की उपज है। परिवार इसके विकास का प्रथम सोपान है। परिवार में मनुष्य का सम्बन्ध निम्न तीन प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता है। स्वामी और दास का सम्बन्ध (Herile), स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध (Nuptial), पिता और सन्तान का सम्बन्ध (Paternal) यह सम्बन्ध निम्नलिखित कारणों से प्राकृतिक होते है -

(अ) वंश विस्तार (business of propagation) की प्राकृतिक भावना स्त्री और पुरुषों को एक दूसरे के समीप लाती है। यह भावना कृत्रिम नहीं कही जा सकती। इस प्रकार पति-पत्नी की सामीप्यता की प्राकृतिक भावना से विकसित होने वाली संस्था भी प्राकृतिक होगी।

(ब) आज्ञा देने और आज्ञा पालन की भावना भी प्राकृतिक ही होती है। परिवार में गृह स्वामी जिसमें अपूर्व गुण बूझ और विवेक होता है, आज्ञा देता है। तथा स्त्री, दास और सन्तान जिसमें उस जैसी विवेकशीलता नहीं होती उसके आदेशों का पालन करते है। यह दोनों तत्व ही प्राकृतिक होते हैं। परिवार में सभी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं के कारण ही एकत्रित होते है। यदि एक व्यक्ति वंश विस्तार की भावना के कारण एक होता है तो अन्य विवेक के अभाव में आदेश पालन करते हुये जीवन व्यतीत करने के लिये संगठित होते हैं। अतएव हम यह स्पष्ट कर सकते है कि राज्य का जन्म प्राकृतिक संस्थाओं और मनुष्य की प्राकृतिक भावनाओं के कारण होता है। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। कुटुम्ब का दूसरा क्रम गाँव है, गाँव में उसका विकास प्राकृतिक है। परिवार में जीवित रहने की भावना के

कारण मनुष्य एकत्रित होते है, गाँव मे वे सुखी जीवन बिताने के लिये संगठित होते हैं। यह विकास क्रम राज्य मे जाकर पूर्ण होता है जहाँ आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत करने के अवसर मिलते है।

(३) राज्य संस्था व्यक्ति, परिवार और गाँव से पूर्व होने के कारण प्राकृतिक है (State is prior to individual family and village, therefore natural)—यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह बात गलत दिखाई देती है और ऐसा दिखाई देता है कि सर्व प्रथम व्यक्ति, फिर परिवार, गाँव और अन्त मे राज्य मे आता है, लेकिन दार्शनिक विवेचन यह सिद्ध करता है कि राज्य इन संस्थाओ से पूर्व निर्मित होता है। राज्य व्यक्ति, परिवार एव गाँव से इसलिये पूर्व का है क्योकि वह पूर्ण रूप से हमारे सामने आने से पूर्व ही हमारे विचारो मे बन चुका था। वह हमारी कल्पना या मानस पटल पर पहले ही से था। उदाहरण के लिये जब हम किसी चित्र या भवन का निर्माण करते हैं तो हमारे नेत्रो के सम्मुख उपस्थित होने वाला पूर्ण भवन या चित्र, निर्माण प्रारम्भ होने से भी पहले ही मस्तिष्क मे निर्धारित कर लेते हैं कि भवन अथवा चित्र का स्वरूप क्या होगा? वास्तविक रूप मे निर्माण होने मे काफी श्रम और समय लगता है। हम अपनी बुद्धि मे पहले ही उसका निर्माण कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार राज्य के निर्माण से पूर्व कल्पना मे राज्य बन जाता है अत सरकार राज्य निर्मित होने से पहले, व्यक्ति, परिवार और गाँव के विकास क्रम मे भी वह हमारे विचार जगत मे उत्पन्न हो चुका था। डनिंग ने इस उक्ति का समर्थन करते हुए कहा है कि "काल चक्र पर राज्य परिवार और गाँव के बाद आता है विचार क्रम मे यह दोनो से पूर्व है।" विचार जगत मे राज्य का पूर्वगामी होना इस बात का प्रमाण है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है *जिसका विकास मानवीय* विचारधाराओ का प्रतीक है।

(४) राज्य परिवार, गाँव आदि में पूर्वगामी और प्राकृतिक संस्था है (State is both prior and natural to man, family and village)—इस बात का अन्य दार्शनिक प्रमाण यह है कि पूर्ण अंग से अधिक महत्वपूर्ण है। पूर्ण अनेको अगो से मिलकर बनता है। उदाहरण के लिये मानव शरीर हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि अनेको अंगो का एक समूह है। इन पृथक-पृथक अंगो का अध्ययन उस समय तक कोई महत्व नही रखता, जब तक सम्पूर्ण जीवधारी का अध्ययन न कर लिया जाय। शरीर से पृथक हाथ-पैर का कोई महत्व नही रहता, शरीर से अलग होते ही उनकी चेतना शक्ति लुप्त हो जाती है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण से अलग अंग का कोई महत्व नही हो सकता। राज्य की भी यही अवस्था है। वह भी विभिन्न व्यक्तियो, परिवारो, गाँवो द्वारा निर्मित एक पूर्ण है और इसीलिये "पूर्ण होने के कारण उसका अंगो से, अधिक महत्व है।" ['Whole must necessarily be prior to the parts.'] इन कथनो के आधार पर हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि राज्य प्राकृतिक है।

(५) राज्य का आधार न्याय है (Justice is the basis of State)—न्याय मनुष्य की विवेक बुद्धि पर आधारित होता है। विवेक प्राकृतिक गुण है जो मनुष्य को अन्य जीवधारियो से भिन्नता प्रदान करता है। अत यह स्पष्ट है कि प्रकृति ही मनुष्य के राजनैतिक प्राणी बनाने के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य के विवेक पर आधारित होने के कारण राज्य भी प्राकृतिक संस्था है।

मनुष्य की सम्भाषण शक्ति, सुख, दुःख की अनुभूति आदि विशेषतायें भी मनुष्य को राजनैतिक प्राणी स्वीकार करती है। प्रकृति यह उपयोगी प्रवृत्तियाँ मनुष्य को प्रदान करती है जिनका विकास मनुष्य राज्य के अन्तर्गत करता है यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो हम आज मनुष्य को भी पशुओं और जानवरों की श्रेणी में देखते। यह अन्तर राज्य सस्था की ही देन है। यही कारण है कि राज्य को प्राकृतिक संस्था कहते है।

(६) आगिक सिद्धान्त (Organic Theory)—इसके द्वारा अरस्तू ने राज्य को प्राकृतिक सस्था सिद्ध किया है। अरस्तू का कथन है कि राज्य एक सावयव रचना है। सावयव की विशेषता यह होती है उसका अपना विकास होता है। प्रत्येक अंग अपना-कार्य करते हैं, और अपना कार्य करते हुये वे सावयवी पर निर्भर रहते हैं। उससे पृथक होते ही उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता। सावयवी से अलग किये जाने पर अगों की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सावयवी के प्रत्येक अग का परस्पर सामजस्य पूर्ण विकास होता है। किसी भी अंग के आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने पर सम्पूर्ण सावयव पर उसका प्रभाव पड़ता है। राज्य के विषय में भी यह पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। राज्य भी एक शरीर रचना है। उसका विकास भी शरीर के समान ही प्राकृतिक है। राज्य के प्रत्येक अग (नागरिक) अपना कर्तव्य निर्धारित करते हैं और निर्धारित कार्य करते हुये वे राज्य पर निर्भर होते हैं, राज्य से पृथक होते ही उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। जैसे ही किसी व्यक्ति को राज्य से अलग किया जाता है उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी विकास राज्य में ही हो सकता है। एक ओर परिवार जीव शास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, सामाजिक इच्छाओं की पूर्ति करता है तो राज्य नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करता है, जो समस्त व्यक्तियों को ही घेर लेती है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का प्रयत्न करता है, सम्पूर्ण विकास प्रकृति द्वारा ही हो सकता है फलस्वरूप राज्य एक प्राकृतिक संस्था है।

अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार
(Views relating to Slavery)

अरस्तू के समकालीन यूनान में समाज का संगठन तीन विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से मिलकर होता था। सर्व प्रथम नागरिक जो राज्य के शासन में भाग लेते थे और सामाजिक व राजनैतिक अधिकारों का उपभोग करते थे। इसके बाद विदेशी जो व्यापार आदि के लिए राज्य में रहते थे और केवल सामाजिक अधिकारों का लाभ उठाते थे। तीसरे वर्ग में दास, जिन्हें उपरोक्त दोनों ही अधिकारों में से कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं होता था। यह समझा जाता था कि नागरिक का कार्य राजनीति में भाग लेना है और दास का कार्य उसके गृह की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उत्पादन करना है। इस प्रकार तत्कालीन यूनान की आर्थिक समृद्धि का आधार दास थे जो कृषि, शिल्प तथा हस्तकलाओं आदि के द्वारा उत्पादन व्यवस्था बनाये रखते थे। समाज में अधिकांश व्यक्ति दास होते थे। प्लेटो ने दास प्रथा पर अपने विचार उत्पादक वर्ग के रूप में प्रकट किये। उसने उन्हें समाज का सबसे निम्न स्तर प्रदान किया और जो कुछ राजनैतिक योजनायें प्रतिपादित की वे सब उपरोक्त वर्गों से ही सम्बन्ध रखती थी। प्लेटो इस वर्ग को तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से

देखता था और यही कारण है कि उसने उनके सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप मे विचार भी नही किया। अरस्तू परम्परावादी होने के कारण तत्कालीन नगर राज्य की सर्व प्रचलित दास प्रथा का विरोध नही कर सकता था। उसने दासता को स्वाभाविक और आवश्यक ठहराया।

अरस्तू के समय मे सॉफिस्ट विचारक दास प्रथा का विरोध कर रहे थे। उनका विचार था कि मानव मात्र मे कोई अन्तर नही हो सकता है। मनुष्य मनुष्यो का स्वामी नही हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति समान है। इन विचार धाराओ के होते हुए भी अरस्तू दास प्रथा का औचित्य सिद्ध करने की ओर अग्रसर हुआ। वह यह जानता था कि यदि उसने इस सवमान्य प्रथा के विरोध मे विचार व्यक्त करना प्रारम्भ किया और उन विचारो का प्रचार हो जाने पर उन्हे क्रियान्वित किया गया तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायगा। उस समय मे यूनान का दास *उन सभी कार्यों को करता था जिनसे कुछ भी उत्पादन हो सकता हो।* वे उत्पादन के सर्वेसर्वा थे। कला, कौशल, उद्योग, दस्तकारी आदि सभी कार्य दास किया करते थे।

दासता का औचित्य (Justification of Slavery)—दास प्रथा का औचित्य सिद्ध करते हुए अरस्तू न कहा कि प्रत्येक परिवार के जीवन निर्वाह तथा आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। बिना सम्पत्ति के परिवार का प्रबन्ध नही हो पाता है और श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के मार्ग मे बाधा पडती है। सम्पत्ति का विभाजन दो भागो मे किया जा सकता है, निर्जीव सम्पत्ति जैसे, मेज, कुर्सी, पलंग, मकान आदि, सजीव सम्पत्ति जैसे बैल भैंस, दास आदि। दोनो ही *प्रकार की सम्पत्ति जीवित रहने और अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है।*

(१) कुछ शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के लिए पैदा होते हैं (Some are born to govern, while others to be governed)—दास प्रथा प्राकृतिक होती है। दास के अन्तर्गत प्रकृति ने ही वह गुण भर दिये हैं जिससे वे अन्य लोगो की आज्ञाओ का पालन करते है। किसी भी आवश्यकता को पूरा करने के लिये दो तत्वों—आज्ञा देने और आज्ञा पालन—की आवश्यकता पडती है। हम यदि विश्व के सभी मनुष्यो का विश्लेपण करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमे आदेश देने की क्षमता (Governing Capacity) होती है तथा कुछ व्यक्ति *आदेश पालन करने की क्षमता (Capacity of governed)* रखते हैं। यह विशेषतायें जन्म के साथ ही आती हैं। कुछ शासन करने के लिये पैदा होते हैं, अन्य शासित होने के लिए जन्म लेते है। दास इस दूसरे वर्ग के होते है। प्रकृति ने ही उनका निर्माण इस प्रकार किया है कि वे उन योग्यताओ से सम्पन्न होते हैं जो एक सफल सेवक के लिए आवश्यक होती हैं। व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ ही यह निर्धारित करती हैं कि कौन व्यक्ति किस कार्य के लिए उपयुक्त है। अत. दास प्रथा प्राकृतिक है।

(२) दास केवल शारीरिक शक्ति का प्रतीक होता है (Slave symbolises only physical power)—दास प्रथा प्राकृतिक है इसे सिद्ध करने के लिए अरस्तू अगला तर्क यह देता है कि किसी भी कार्य के भली प्रकार सम्पादन के लिए दो प्रकार की शक्तियो की आवश्यकता होती है—बौद्धिक और शारीरिक। स्वामी बौद्धिक

शक्ति का प्रतीक होता है और दास शारीरिक शक्ति का। ऐसी अवस्था में दोनों शक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण एकीकरण ही कार्य की सफलता प्रदान कर सकता है।

(३) स्वयं प्रकृति ही दासता एवं स्वामी के तत्वों से युक्त होती है (Factors master and the slaves are with in the nature)—स्वामी और दास के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर अरस्तू दास प्रथा को उचित ठहराता है। वह कहता है कि सम्पूर्ण प्रकृति में शासक और शासित तत्व दिखाई देते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध ही मधुरतापूर्ण जीवन व्यतीत करने का अवसर देता है। उदाहरण के लिए किसी वाद्य यन्त्र का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें कुछ प्रधान और गौण स्वर होते हैं। यही दशा बुद्धि की प्रधानता तथा वासना की गौणता में लक्षित होती है। बुद्धि आत्मा का गुण है जो शरीर पर शासन करती है। आत्मा शासक होती है शरीर शासित। यही विचार अरस्तू एक उपमा द्वारा स्पष्ट करते हुए कहता है कि पालतू पशु जंगली जानवरों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं। दास पालतू पशु के समान है। यह आवश्यक होता है कि वे मनुष्य की अधीनता में रहें और उनके आदेशों का पालन करें।

(४) दासता की उपयोगिता (Utility of slavery)—दास प्रथा प्राकृतिक है इसे स्पष्ट करने के बाद अरस्तू इस प्रश्न पर विचार करता है कि दास प्रथा की उपयोगिता एकांगी नहीं है वरन् वह दास तथा स्वामी दोनों के ही लिये उपयोगी है।

(i) स्वामी की दृष्टि से दास प्रथा की उपयोगिता—दास प्रथा तत्कालीन यूनान की अर्थव्यवस्था का स्तम्भ थी। दास उत्पादन कार्यों में व्यस्त रहते थे और परिणाम स्वरूप गृहस्वामी परिवार की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर राज्य के कार्यों पर दत्त चित्त होकर विचार कर पाते थे। इसलिये दास प्रथा राजनीतिक चिन्तन के लिये नागरिकों को अवसर प्रदान करती थी। यह दास प्रथा की स्वामी की दृष्टिकोण से उपयोगिता थी।

(ii) दास की दृष्टि से दास प्रथा की उपयोगिता—दास व्यवस्था सेवक के लिए उपयोगी थी। दास विवेक शून्य होता था, ऐसी अवस्था में उसका जीवन व्यतीत करना दूभर हो सकता था। स्वामी अपने विवेक के प्रकाश से दास के जीवन में छाये अँधेरे को मिटा सकता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दास प्रथा प्राकृतिक ही नहीं वरन् आवश्यक भी थी। वह दास और स्वामी दोनों के हित के लिये उचित थी।

अरस्तू ने दास के जीवन के अस्तित्व को स्वामी के अस्तित्व से पृथक नहीं बताया है। दास इच्छा शून्य होता था। वह एक यन्त्र के समान होता था जिसकी अपनी इच्छा शक्ति नहीं होती थी। जिस प्रकार एक यन्त्र स्वयं अपने लिये कुछ भी नहीं कर सकता है उसी प्रकार दास भी अपने लिये कुछ नहीं कर सकता था।

दासता के प्रकार (Kinds of Slavery)—दासता दो प्रकार की होती है :—

(१) प्राकृतिक दासता (Natural slavery)—जिसमें दास वही व्यक्ति बनता है जो बौद्धिक अन्तर के कारण आज्ञा पालन करने में समर्थ होता है। व्यक्ति प्रतिभा के अन्तर के कारण आदेश देते हैं, और दूसरे उनका पालन करते हैं। इस प्राकृतिक अन्तर के कारण उत्पन्न दास प्रथा अवश्य ही प्राकृतिक होती है। "स्वामी और सेवक" सम्बन्ध विवेकीय होता है यदि वह किसी सर्वमान्य प्राकृतिक सिद्धान्त पर आधारित

हो। यह सिद्धान्त किसी मानवीय उद्योग की पूर्ति के लिए दी गई आज्ञा और उसके पालन करने के सामजस्य में ही निहित है। व्यक्ति एक दूसरे से इसी कार्य क्षमता के आधार पर भिन्न होते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनको आज्ञा तथा निर्देशन करने की बुद्धि प्राप्त होती है दूसरे कुछ कम बुद्धि के कारण उन आदेशो को क्रियान्वित कर सकते हैं। प्रथम प्रकृति से स्वामी और द्वितीय प्रकृति से दास होते है।

(२) **सामयिक अथवा वैधानिक दासता** (Legal slavery)—कभी-कभी प्राकृतिक गुणो के विपरीत भी व्यक्ति दास बना लिये जाते हैं। जिन व्यक्तियों मे स्वामी बनने की क्षमता होती है वे बाह्य परिस्थितियो के परिवर्तित हो जाने के कारण दासत्व भोगते है। इस श्रेणी मे युद्ध मे पराजित व्यक्ति आते हैं जिन्हें इस नियम के कारण दास बनाया जाता है कि वे भी युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति का ही एक अग हैं। (सम्पत्ति सजीव और निर्जीव दोनो प्रकार की बताई जा चुकी है।) सामयिक दासता का औचित्य सिद्ध करने के लिये अरस्तू यह तर्क देता है कि उन्हें केवल पाशविक शक्ति के द्वारा ही बन्दी नही बनाया जाता वरन् विजय सदैव उच्च स्थिति—बौद्धिक एव शारीरिक—का अनुगमन करती है। युद्ध बन्दियो को दास बनाने को न्याय सगत ठहराने के लिये अरस्तू विजेता को बौद्धिक गुणो से सम्पन्न होना, आवश्यक बताता है। सामयिक दासत्व का समर्थन अरस्तू दो आधारो पर करता है, प्रथम वही व्यक्ति दास बनाये जाने चाहिए जो दासत्व के प्राकृतिक गुणो से युक्त हो, दूसरे उनमे बौद्धिक क्षमता विजेता की तुलना मे कम हो।

यूनान के नगर राज्यो की प्रचलित विचारधारा को मान्यता प्रदान करने हेतु अरस्तू ने कहा कि केवल गैर यूनानी नस्ल के व्यक्तियों को ही दास बनाना चाहिये। लोगो का यह विचार था कि यूनान के नागरिक सभ्यता के पुतले है और अन्य जाति के व्यक्ति असभ्य होते है। अतः असभ्य व्यक्तियो को अपनी अधीनता मे लाना उनके हित के लिये भी आवश्यक था। यूनानी अन्य यूनानियो को दास न बनाये यह अरस्तू का विचार था।

अरस्तू ने दास प्रथा के समर्थन के साथ ही उनके प्रति उदार व्यवहार की मांग की। उसने कहा कि स्वामी को दास के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये। उनको अपने शरीर का ही अग समझना चाहिये। उसने मित्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये क्योकि प्रकृति ने ही उन्हें यह सम्बन्ध प्रदान किया है। अरस्तू ने यह आश्वासन भी दिलाया है। दास को अच्छे आचरण के कारण स्वतन्त्रता भी दी जा सकती है। इसलिये दास को यदि वह स्वतन्त्रता का इच्छुक है, अपने स्वामी को अपना हितैषी समझ कर उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये।

आलोचना (Criticism)—अरस्तू ने सर्वप्रथम दास प्रथा का समर्थन किया और विस्तार पूर्वक विचार व्यक्त किये। उसके इन विचारों की आज तीव्र आलोचना की जाती है।

दार्शनिक आलोचना (Philosophical Criticism)

(१) **स्वामी तथा दास का बौद्धिक अन्तर नहीं माना जा सकता** (The intellectual difference between the master and slave cannot be fathomed)—अरस्तू ने दास का औचित्य सिद्ध करते हुये उसे प्राकृतिक बताया। उसने कहा है कि प्रकृति ने ही मनुष्य का बौद्धिक स्तर असमान होता है। कुछ व्यक्ति

इस योग्य होते है कि वे अपने विवेक के आधार पर अन्य व्यक्तियों को आदेश दे सकें तथा अन्य व्यक्ति विवेक की कमी के कारण उन आदेशों का पालन ही करते हैं। यह बौद्धिक भेद, आन्तरिक होता है। इस आन्तरिक अन्तर को किस प्रकार देखा जा सकता है? वह कौन सा मापक है जो इस बात का पता लगा सके कि प्रकृति ने अमुक व्यक्तियों को स्वामी अथवा दास होने के लिए उत्पन्न किया है। अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार की यह प्रथम त्रुटि है कि यह ऐसा आधार देने में असमर्थ रहा जो स्वामी और दास के बौद्धिक अन्तर को स्पष्ट कर सके।

(२) युद्ध बन्दियों का दास बनाना न्याय सगत नहीं ठहराया जा सकता (The enslavement of prisoners cannot be justified)—यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि प्रकृति ने ही बौद्धिक अन्तर के आधार पर व्यक्तियों को स्वामी अथवा दास बनाया है, तो अरस्तू के युद्ध बन्दियों के दास बनाने को किस प्रकार न्याय सगत ठहराया जा सकता है। युद्ध में बन्दी बनाये जाने से पूर्व प्रकृति ने उन व्यक्तियों को स्वामी का स्तर प्रदान किया था लेकिन अरस्तू कहता है कि युद्ध म पराजय बौद्धिक हीनता के आधार पर होती है अत पराजित व्यक्ति को दास बनाया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार युद्ध बन्दियों को दास बनाने का अभिप्राय मनुष्यों को प्रकृति के आधार पर नहीं बाँटता। प्रत्येक व्यक्ति जो गुणों से स्वामी बनने योग्य होता है, दास बनाया जा सकता है और इस प्रकार दासत्व प्राकृतिक होने के स्थान पर कृत्रिम हो जाता है।

(३) अरस्तू ने दास और पशुओं में कोई अन्तर नहीं किया है (Aristotle has failed to strike any distinction between the slave and the beast)—उसने दास को स्वामी के प्रति अतीव श्रद्धा रखने तथा अपने स्वामी की आत्मा का अभिन्न अंग बनाने के लिये विचार व्यक्त किया है। इसका अभिप्राय यह है कि दास के जीवन का कोई अस्तित्व नहीं और वह एक पशु है जो स्वामी के हित को ही अपना हित समझे।

(४) अरस्तू द्वारा समाज को दो वर्गों—स्वामी तथा दास—में विभाजित करना उपयुक्त नहीं माना जा सकता (Aristotelian division of Society into masters and slaves in no case be justified)—अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचारों की अंतिम दार्शनिक आलोचना यह की जाती है कि उसने शासक तथा शासित का भेद दो भागों में किया है। मनुष्य में बौद्धिक प्रतिभा का अन्तर दो प्रकार का होता है। एक उच्च प्रतिभा के कारण शासक हो सकता है दूसरा निम्नता के कारण शासित। वास्तविकता यह है कि यदि हम मानवीय प्रतिभा की उच्चता आदि के आधार पर विभाजन करें भी तो उसे उसे केवल दो भागों में ही नहीं बाँट सकते। यह भिन्नता स्तर के आधार पर अनेक वर्गों मे विभाजित की जा सकती है। एक मनुष्य गुणों में सर्वोच्च होता है दूसरा उससे निम्न तथा माध्यम और इसी क्रम में सबसे निम्न। इस प्रकार की अनेकों श्रेणियाँ की जा सकती है। अतएव अरस्तू का दो भागों में वर्गीकरण करना अनुपयुक्त है।

दासता सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास (Contradictions in views of slavery)—(१) अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचारों में यह विरोधाभास पाया जाता है कि वह दास को एक ओर सजीव सम्पत्ति बताता है और उसे पशुओं के

समकक्ष ले आता है जहाँ वे बैल की तरह कार्य करते है दूसरी ओर वह उन्हे कार्य यन्त्र कह कर पुकारता है । यह दो परस्पर विरोधी विचार है कि एक ही प्राणी सजीव हो, और वह निर्जीव यन्त्र हो । दास निश्चय ही यन्त्र के समान निर्जीव नही होता वह स्वामी की इच्छाओ को क्रियान्वित करते समय अपनी इच्छा का भी ध्यान रखता है ।

(२) जन्म से अविवेकी दास में विवेक का विकास उपहासात्मक है (The idea of cultivation of rationality in the irrational slave, is ridiculous)—दासता से सम्बन्धित एक विरोधाभास यह है अरस्तू एक स्थान पर दासत्व दास के लिये आवश्यक बताता है । उसके अनुसार विवेक के आधार पर हीन व्यक्ति इसलिये दास होता है कि वह विवेकी स्वामी के सहारे पर ही अपना जीवन व्यतीत कर सकता है । इसके विपरीत अरस्तू ने दास को अच्छे व्यवहार के आधार पर मुक्त किये जाने का विचार भी व्यक्त किया । क्या वह मुक्त दास विवेकहीनता को अच्छे व्यवहार के आधार पर पूरा कर सकता है ? यह कभी भी सम्भव नही हो सकता एक अविवेकी दास प्रबुद्ध व्यक्ति की भाँति स्वतन्त्र हो जाने पर अपने जीवन का विकास कर सके । अत अरस्तू का यह कहना है कि जन्म से अविवेकी दास मे दीर्घ अवसर व्यतीत हो जाने पर विवेक उत्पन्न हो जाता है काल्पनिक है ।

(३) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दास स्वामी को कभी भी अपना मित्र नहीं समझ सकता (Psychologically slave can never recognise the master as his friend)—इसके अतिरिक्त अरस्तू ने यह भी बताया था कि दास को स्वामी को अपना मित्र समझना चाहिये । लेकिन क्या वह दास जिसे पशुओ के समक्ष समझने वाला, उसके प्रति अत्याचार करता हो उसे कभी भी मित्र समझ सकता है, कदापि नही उसके हृदय मे घृणा हो सकती है मित्र भाव नही ।

दासता आधुनिक युग के लिये अनुपयुक्त है (Slavery is unsuitable in modern time)—(१) यदि अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचारो को आज क्रियान्वित किया जाय तो वह श्रमिक, कृषक, शिल्पी जिन्हे सम्मानित नागरिक समझा जाता है कभी भी दास कहलाना स्वीकार नही करेंगे । वे आज अपने आप को पूँजीपतियो का साझेदार बनाना चाहते है, केवल आधिपत्य मे रहना उन्हे पसन्द नही होगा ।

(२) इसके साथ ही आज के विकासोन्मुख युग मे समानता के विचार फैल रहे हैं । मानव विश्व बधुत्व का उपासक हो गया है । वह कभी इन सकुचित विचारो को उचित नही समझेगा जो उन्हे अपने हो समाज मे घृणित समझते हो ।

(३) दासता को उचित ठहराना अमानुषिक और आपत्तिजनक है । सबसे अधिक आश्चर्य और दुख की बात यह है कि राजनीतिशास्त्र के प्रारम्भिक प्रतिपादक इस वर्ग को पशु या यन्त्र कहते हैं अथवा उस पर विचार करना भी अशोभनीय समझते हैं । लेकिन इसमे हम उन्हे दोषी नही ठहरा सकते । उन्होंने जो कुछ विचार व्यक्त किये वे तत्कालीन समाज मे प्रचलित थे और उस समय की अर्थ व्यवस्था के प्रमुख आधार थे ।

सम्पत्ति (Property)

प्लेटो ने सम्पत्ति को बुराई की जड बताया था और शासक तथा सैनिक वर्ग को सम्पत्ति से वचित रखने का विचार व्यक्त किया । अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'राज-

नीति' के प्रारम्भिक भाग में राज्य की प्रकृति दास प्रथा पर विचार करने के बाद सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसे आवश्यक बताया। सम्पत्ति की व्याख्या करते हुए उसने कहा "परिवार अथवा राज्य के प्रयोग में लाये जाने वाले यन्त्रों का नाम ही सम्पत्ति है।" (The store of instrument to be used in a household or in a state.) अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—१. परिवार के लिये सम्पत्ति की आवश्यकता, और २. सम्पत्ति की सीमाएँ।

सम्पत्ति की आवश्यकता (Necessity of Property)

अरस्तू ने सम्पत्ति को व्यक्ति एवं उसके पारिवारिक जीवन के लिये आवश्यक बताया। परिवार में रहते हुये खाना तथा वस्त्रों की आवश्यकता होती है। पेट की अग्नि बुझाने के लिये उसे कृषि द्वारा उत्पादित अन्न, पशु-पक्षी अथवा मछली आदि की आवश्यकता होती है, इसके साथ ही मानव प्रकृति की कठिनाइयों से रक्षा करने के लिये मकान तथा वस्त्रों का होना बहुत जरूरी होता है। अन्न, घर तथा वस्त्र आदि यह सब सम्पत्ति होते हैं। मनुष्य की उपर्युक्त आवश्यकतायें प्रकृति जन्य हैं। फलस्वरूप प्रकृति ही सम्पत्ति का आधार है। संक्षेप में, अरस्तू सम्पत्ति को जीवन धारण तथा विकास के लिये आवश्यक बताता है। सम्पत्ति प्राकृतिक होती है।

सम्पत्ति औदार्य भावना प्रदर्शन की दृष्टि से आवश्यक है। निर्धनों, अतिथियों, मित्रों आदि के प्रति विनम्रता व्यक्तिगत सम्पत्ति द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। स्वागत-सत्कार करने का उपयुक्त अवसर सामूहिक सम्पत्ति होने पर नहीं आ सकता।

सम्पत्ति की सीमा (Limits of Property)- यद्यपि सम्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये होती है लेकिन इससे यह अभिप्राय नहीं कि वह असीम होनी चाहिये। सम्पत्ति के एकत्रित करने आदि पर सीमा होनी चाहिये। सम्पत्ति परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन है। इस साधन का आकार उसके उद्देश्य से अनुचित होना चाहिये अन्यथा असन्तुलित आकार कभी भी समुचित लक्ष्य को पूरा नहीं होने देगा। स्पष्टीकरण करते हुये कहा जा सकता है "किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हथौड़ा वजनदार होना चाहिये लेकिन इससे हथौड़ा बनाने वाले का उद्देश्य, उसे उतना भारी, जितना वह बना सकता हो बनाना नहीं हो सकता। जिस कार्य के लिये हथौड़ा बनाया जा रहा हो, उससे उसकी वजन सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है और अच्छा हथौड़ा निर्माता इस सीमा का ध्यान रखता है।" अरस्तू ने सम्पत्ति को साधन (instrument) बताया, इससे यही अभिप्राय था कि वह परिवार की आवश्यकताओं के अनुपात में अपनी सीमा निर्धारित करे। अतएव अरस्तू सम्पत्ति को प्राकृतिक एवं अनिवार्य बताते हुये उसके उपार्जन में सीमा निर्धारित कर देता है जिससे, 'मुर्गीमार मारने के लिये मुगदर' न बनाना पड़े। अरस्तू सम्पत्ति का उपार्जन एक निर्धारित सीमा तक ही उचित ठहराता है। परिवार की सम्पत्ति अर्जित करने का कार्य अन्य कार्यों की अपेक्षा कम करना चाहिये क्योंकि उसका प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति को गुणवान बनाना है, धनाढ्य नहीं।

अरस्तू ने सम्पत्ति का वर्गीकरण दो भागों में किया है—सजीव और निर्जीव। सजीव सम्पत्ति से उसका अभिप्राय गाय, बैल, घोड़े आदि एवं दासों से था। यह सभी परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन हैं। गाय दूध देती है, बैल

हल चलाता है, घोड़े से यात्रा की जाती है, दास खेत मे कार्य करता है। निर्जीव सम्पत्ति मे अन्न, मकान, वस्त्र, जूते आदि आते हैं। यह सभी व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन है।

सम्पत्ति का प्रयोग (Application of property)—सम्पत्ति का प्रयोग भी दो प्रकार का होता है। प्रथम, सम्पत्ति का स्वामी उससे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है उदाहरण के लिये एक व्यक्ति जूते का निर्माण करता है और स्वयं उसका प्रयोग करता है। जूते का यह प्रयोग प्राकृतिक है। इसके विपरीत वह जूते का अप्राकृतिक प्रयोग भी कर सकता है। वह अपनी किसी अन्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसे जूते को अन्य व्यक्ति को दे सकता है और उसके बदले मे किसी अन्य वस्तु या पैसे लेकर अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। यह प्रयोग व्यापार तथा आदान प्रदान का विकसित करता है।

सम्पत्ति का उपार्जन (Acquisition of property)—सम्पत्ति का उपार्जन भी दो प्रकार से हो सकता है—प्राकृतिक और अप्राकृतिक।

(i) प्राकृतिक उपार्जन वह होता है जहाँ वस्तु को केवल आवश्यकता पूर्ति मात्र के लिए उत्पादित किया जाता है। व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता भोजन होती है और उसकी पूर्ति के लिए पशुपालन, कृषि शिकार तथा मछली पकड़ना आदि प्रक्रियाएँ की जाती है। पशु पकड़ने आदि से मिलता हुआ उत्पादन का ढंग लूट एवं युद्ध होता है। युद्ध को प्राकृतिक उत्पादन साधन सिद्ध करते हुए अरस्तू ने कहा कि उसका उद्देश्य मनुष्य को प्रकृति द्वारा जो दास होने योग्य है, दास बनाना ही है।

(ii) 'सम्पत्ति का अप्राकृतिक उपार्जन वह होता है जब जीवन बनाये रखने के स्थान पर, धन का कभी समाप्त न होने वाला संग्रह किया जाता है। इस श्रेणी मे व्यापार, वस्तुओं का क्रय विक्रय आदि आते है अतः उसका लक्ष्य आवश्यकता पूर्ति से परे होता है।

वस्तुओं के परस्पर आदान प्रदान का स्थान मुद्रा ले लेती है और क्रय-विक्रय प्रारम्भ हो जाता है जो आगे चलकर उतना जटिल बन जाता है कि व्यक्ति अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है और परिणामस्वरूप मुख्य कार्य सहायक हो जाता है। मुद्रा वस्तुओं के आदान-प्रदान को सरल बनाती है और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का सहायक तत्त्व है यह आगे चलकर प्रमुख तत्त्व हो जाती है और मनुष्य धन संचय को महत्व देना शुरू कर देता है। यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि सभी व्यक्ति धन के पीछे दौड़ने लगते हैं। यह सब गलत कार्य है और इससे व्यक्ति के किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। उदाहरण के लिये धन लोलुप व्यक्ति भी दास के समान होता है जो जिस पदार्थ को छुए सोना बना सकता है परन्तु अन्न जल भी सोना हो जाने के कारण भूख से तड़पता है। धन संग्रह में एक स्थिति यह आती है जब किसी वस्तु के विक्रय द्वारा धन पैदा करने के स्थान पर स्वयं धन को ही उधार देकर अधिक धन कमाया जाता है। यहाँ रुपया जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के स्थान पर स्वयं ही रुपये की पुनरोत्पत्ति करता है। अतएव सूद (ब्याज) धन कमाने का निकृष्टतम उपाय है। इस प्रकार यह सभी धन संग्रह की प्रक्रियायें अप्राकृतिक है। प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों के विपरीत दिखाई देते हुए भी

अरस्तू मौलिक रूप में बहुत समानता रखता है। वह भी सम्पत्ति को एक बुराई बताता है जो अधिशासन लक्ष्य भ्रष्ट हो जाती है और केवल मात्र आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थान पर धन संचय को उद्देश्य बनाती है फलस्वरूप समाज को दूषित करती है।

आलोचना (Criticism)—अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की सराहना और आलोचनायें दोनों ही की जाती है। अरस्तू ने राजनैतिक अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्तों की अच्छी विवेचना की है। उसने उत्पादन तथा विनिमय के सिद्धान्त का सुन्दर प्रतिपादन किया है तथा उपयोग के मूल्य एवं विनिमय के मूल्य के अन्तर को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट किया है। मुद्रा का चित्रण तो इतना अच्छा किया ही नहीं जा सका। परन्तु फिर भी अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की निम्न आलोचनाएँ भी की जाती हैं

(१) यह नैतिकता के विरुद्ध है (It is against morality)—अरस्तू ने सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रखते हैं। उसके लूट को उपार्जन का प्राकृतिक आधार बताया था। अविकसित मनुष्य के लिए चाहे यह साधन प्राकृतिक भले ही हो, लेकिन आज के उन्नतिशील युग में यह मनुष्य की नैतिकता के विपरीत समझा जाता है।

(२) सम्पत्ति की सीमा निश्चित करना कठिन है (It is difficult to set the limits of property)—सम्पत्ति उपार्जन की सीमा निर्धारण करना अस्पष्ट है। अरस्तू कहीं भी यह स्पष्ट नहीं कर सका कि कितनी सम्पत्ति मनुष्य संचित कर सकता है। यदि सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करने के लिये उसे 'उद्देश्य पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन' से नापने का प्रयत्न करें तो पर्याप्त कितना होगा यह सिद्ध करना असम्भव है।

(३) यह स्पष्ट नहीं है कि विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के लिये सम्पत्ति की सीमायें भी भिन्न होंगी (It is not clear whether different limits upon property will be set for persons of different status)—यदि सम्पत्ति की सीमा 'पर्याप्त' के आधार पर निर्धारित की जाय तो क्या वह सम्पूर्ण समाज के मनुष्यों के लिये समान होगी। क्या उच्च स्तर और निम्न स्तर के मनुष्यों के लिए समान मात्रा में 'पर्याप्त' होगा। दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'पर्याप्त' साधन अवश्य ही अलग-अलग होंगे। लेकिन अरस्तू इस अन्तर को विस्मृत कर केवल एक सीमा लगाकर शान्त हो जाता है। उसने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला कि विभिन्न स्तर के मनुष्यों के लिए सम्पत्ति की सीमा भी भिन्न होगी, यह उसकी त्रुटि है।

(४) मानव-प्रकृति को भुला कर सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा कर अरस्तू एक बड़ी भूल करता है। (It is a great mistake on the part of Aristotle that he forgets human nature and restraint the accumulation of land)—अरस्तू ने स्वाभाविक प्रकृति पर प्रतिबन्ध लगाया है। व्यक्ति को अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन, धन का अधिक से अधिक मात्रा में संग्रह करने के कारण प्राप्त होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विस्तार की कामना ही मनुष्य को मिट्टी से सोना बनाने का प्रोत्साहन देती है। ऐसी अवस्था में अरस्तू का यह कहना कि एक सीमा से अधिक सम्पत्ति का उपार्जन नहीं किया जा सकता है, मनुष्य को निष्क्रिय बनायेगा जो हाथ

पर हाथ रख कर बैठा रहेगा। अतः अरस्तू मानव प्रकृति को विस्मृत कर सम्पत्ति के उपार्जन की सीमा लगाकर बहुत बड़ी भूल करता है।

(५) **अरस्तू का सिद्धान्त बड़े उद्योगों के हित में नहीं है** (Aristotelian principle of property is not in favour of large scale industries)—अन्त में, धन से धन प्राप्त करना (ब्याज द्वारा) और वस्तु विनिमय से लाभ प्राप्त करना अरस्तू ने अनुचित बताया है। वर्तमान युग में औद्योगिक विकास में धन ब्याज आदि पर लेकर उद्योगों को बढ़ावा दिया जाता है तथा उत्पादन भी विस्तृत पैमाने पर किया जाता है। यदि बड़े-बड़े उद्योगों को सचालित किए रखना आवश्यक है तो अरस्तू का यह सिद्धान्त अनुपयुक्त है।

अरस्तू द्वारा प्लेटो की आलोचना (Aristotelian criticism of Plato)—अरस्तू ने 'राजनीति' की द्वितीय पुस्तक में स्पार्टा, क्रीट तथा कार्थेज आदि में प्रचलित तत्कालीन श्रेष्ठ संविधानों तथा हिप्पोडैमस (Hippodamus), फैलीज (Phalies) तथा सोलन (Solon) आदि विचारकों के संविधान के ऊपर विचारों का वर्णन और उनकी आलोचना की है। अरस्तू ने अपने आध्यात्मिक गुरु प्लेटो की आलोचना की है। द्वितीय पुस्तक में प्लेटो की आलोचना ही अधिकांश में पाई जाती है। अरस्तू ने प्लेटो के कई सिद्धान्तों पर अपना मतभेद प्रकट किया। इन दोनों विचारकों के दृष्टिकोण में अन्तर था। प्लेटो आदर्शवादी था अरस्तू यथार्थवादी। अध्ययन पद्धति के दृष्टिकोण से प्लेटो निगमन मूलक (Deductive) था अरस्तू आगमन मूलक (Inductive)। इन अन्तरों के कारण प्लेटो और अरस्तू में एक-दो समानताओं (राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति पर दोनों ही विचारक एक है।) के अतिरिक्त व्यापक मतभेद पाये जाते हैं। अरस्तू ने प्लेटो की जो आलोचनायें की हैं उन्हें हम चार भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) **राज्य की एकता सम्बन्धी आलोचना** (Criticism of Excessive Unity of the State)—प्लेटो ने एक स्वप्न द्रष्टा की भाँति ऐसे राज्य की कल्पना की थी जो एकता पर आधारित होगा।

(अ) **केवल एकता के पीछे दौड़ना घातक होगा** (To run after unity alone will prove dangerous)—अरस्तू ने सर्व प्रथम प्लेटो के इस विचार की आलोचना करते हुए कहा कि एकता राज्य का मौलिक तत्व अवश्य है लेकिन एकता मात्र के पीछे दौड़ना **बहुत ही घातक होता है।** राज्य अनेक विभिन्नताओं का संगम है जिसमें विभिन्न बौद्धिक स्तरों, रुचि तथा उद्देश्यों वाले लोग एकत्रित होते हैं। यदि हम किसी ऐसे राज्य की कल्पना करें जिसमें केवल एक ही भारी मनुष्य हो, तो ऐसा राज्य एक परिवार में और परिवार एक इकाई मनुष्य में सीमित हो जायगा। राज्य में विभिन्नता व्याप्त होती है। अनेकों मनुष्य वहाँ निवास करते हैं और उनकी आवश्यकतायें होती हैं जिन्हें अलग-अलग अनेक व्यक्ति पूरा करते हैं। इस प्रकार राज्य के लिए विभिन्नता होना अति आवश्यक है।

(आ) **प्लेटो का राज्य की एकता का सिद्धान्त अनुपयुक्त** (Platonic view of the unity of the state is improper)—इस एकता के विचार का खण्डन करने के लिए अरस्तू यह भी कहता है कि सभी व्यक्ति एक समय पर कभी भी शासक नहीं हो सकते। कुछ व्यक्ति किसी समय पर शासक होते हैं और आदेश देते हैं, अन्य व्यक्ति

उस समय शासित होते हैं और उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। यदि सभी किसी एक समय पर शासक हो जायेंगे तो शासित कौन होगा ? प्रशासन के लिए विभिन्नता होना आवश्यक है। विभिन्नतामय वातावरण में ही ज्ञान का उचित विकास हो सकता है। राज्य में हमको प्रत्येक क्षेत्र विभिन्नता युक्त ही दिखाई देते हैं। अतः प्लेटो का राज्य की एकता का विचार अनुपयुक्त दिखाई देता है।

अरस्तू ने प्लेटो के राज्य की एकता के स्थान पर विभिन्नता की अभिव्यक्ति, उसके विचारों का पूर्ण अध्ययन किये बिना ही व्यक्त की है। प्लेटो ने राज्य में एकता स्थापित करनी चाही थी लेकिन इसके साथ ही उसने आदर्श राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण ३ भागों में कर दिया जो पूर्ण रूप से आत्मिक विभिन्नताओं के आधार पर अलग-अलग संगठित होते हैं। इस प्रकार अरस्तू द्वारा की गई प्लेटो की आलोचना अनुपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि प्लेटो ने अनेकता में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। मनुष्यों में परस्पर तीन विभिन्न गुण होते हैं यह तीनों ही गुण विभिन्न असमान श्रेणियों में व्यक्तियों का विभाजन कर देते हैं। न्याय व्यवस्था द्वारा इनके गुणों में प्लेटो ने सामंजस्य स्थापित करना चाहा है। यदि अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद के संरक्षक या सैनिक वर्ग के ऊपर यह आरोप लगाया होता, उस अवस्था में यह ठीक होता, लेकिन विभिन्नता के आधार पर स्थापित राज्य में यह आलोचना ठीक नहीं।

(२) प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Platonic Communism)—प्लेटो के साम्यवाद का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है, (अ) पत्नी साम्यवाद (ब) सम्पत्ति का साम्यवाद। इस आधार पर प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना भी दो भागों में की जा सकती है :—

(अ) पत्नी साम्यवाद की आलोचना (Criticism of Communism of Wives)—प्लेटो ने राज्य की एकता के लक्ष्य को पूरा करने के लिये पत्नी साम्यवाद को आवश्यक बताया। किसी पुरुष को किसी स्त्री विशेष को अपनी पत्नी नहीं स्वीकार करना होगा। प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री का ही पति समझा जायगा। अरस्तू ने इन विचारों की निन्दा करते हुए कहा कि यह विचार अप्राकृतिक और हेय है।

(i) पत्नी साम्यवाद राज्य की एकता को ही नष्ट करेगा (Communism of wives will put an end to the state of unity)—मानव प्रकृति सुन्दर वस्तुओं और नारियों में व्यक्तिगत स्वामित्व की इच्छा रखती है। जब कोई पुरुष किसी स्त्री का पति नहीं होगा, सभी स्त्रियाँ समान रूप से उनकी पत्नी समझी जायेंगी। ऐसी अवस्था में सभी पुरुष सुन्दर स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाना चाहेंगे जिसके कारण उनमें परस्पर संघर्ष होगा और राज्य की एकता नष्ट हो जायेगी। हत्या, संघर्ष, मार-पीट, अपहरण आदि बुराइयाँ बढ़ जायेंगी।

(ii) स्त्रियों के साम्यवाद का विचार अनैतिक है (The very idea of communism of wives is beyond morality) - इस अवस्था में भाई-बहिन, पिता-पुत्री, आदि के नैतिक दृष्टि से सम्मानित सम्बन्धों में भी अनुचित व्यवहार होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये पशु बन जायेगा और वह किसी भी सम्बन्ध का मूल्य नहीं समझेगा।

(iii) **इस अवस्था में प्रेम का स्थान घृणा ले लेगी** (Contempt will replace love)—क्षणिक सम्पर्क दो प्राणियों में प्रेम के बीज अंकुरित करने में असमर्थ रहेगा। क्षणिक और नित्य नवीन सम्पर्क की अनुभूति प्रत्येक स्त्री पुरुष के हृदय में घृणा की भावनायें भर देगें और वे दोनों ही एक-दूसरे से नफरत करने लगेंगे।

(iv) **पारिवारिक साम्यवाद नैतिक गुणों के विकास में बाधक होगा** (Communism of wives and family will prove hinderance in moral values)—परिवार नैतिक गुणों की प्रथम पाठशाला है। माता-पिता, पति-पत्नी भाई-बहिन, पुत्र-पुत्रियां के सम्बन्ध ही नैतिक गुणों के आधार है। इनमें अनेकानेक गुण-उदारता, दया, सेवा त्याग, परोपकार का विकास होता है। यही गुण समाज को प्रगति की ओर ले जाते है परन्तु प्लेटो का परिवार का साम्यवाद इन नैतिक गुणों का, फलस्वरूप समाज का विकास अवरुद्ध कर देगा।

(v) **विभिन्न कोटि की स्त्रियों के लिये पुरुषों का चयन किस प्रकार होगा यह स्पष्ट नहीं है** (It is not clear, as to how the selection of persons will be made for the ladies of different catagories)—प्लेटो ने स्त्री-पुरुष समागम के लिये चुने हुए युग्मों को वसंत आदि पर्व पर मेलों में मिलन की व्यवस्था की। उसने कहा कि सर्वोत्कृष्ट कोटि के स्त्री-पुरुष उससे मध्यम तथा निम्नकोटि के स्त्री-पुरुष ही परस्पर अपना साथी इन पर्वों पर चुन लिया करेंगे। प्लेटो का यह विचार भी उचित नहीं है। विभिन्न कोटि के **स्त्री पुरुषों का चयन किस आधार पर किया जायगा, यह अस्पष्ट है।**

(vi) **संरक्षकों की सामूहिक व्यवस्था में शिशुओं का ध्यान नहीं रखा जायगा** (Children will not be looked after in an organization of collective parentage)—स्त्री साम्यवाद की स्वाभाविक देन बच्चों का साम्यवाद है। शिशु जन्म के बाद ही राजकीय बाल पोषण गृह (Cratches) पहुँचा दिया जायगा तथा योग्य दाइयाँ उसका लालन-पालन करेंगी। अरस्तू ने प्लेटो के इस विचार का विरोध करते हुए कहा कि दाइयाँ कितनी भी योग्य हो लेकिन वे माता के दुलार की पूर्ति नहीं कर सकती। माता-पिता अपने बच्चे के साथ जो स्नेह करते है वह उनके वैयक्तिक स्वरूप का प्रतीक है। दूसरे प्लेटो ने कहा था कि यदि व्यक्ति अपने बच्चों को नहीं पहचानता है तो वह राज्य के सभी बच्चों के प्रति अधिक उच्च और समान प्यार रखेगा। यह बात अव्यावहारिक है। पुत्र के प्रति माता-पिता की ममता अन्य व्यक्तियों में नहीं हो सकती। तीसरे, जो सभी व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है उसका कोई भी ध्यान नहीं रखता। व्यक्ति अहं युक्त प्राणी है। वह जिससे अपनत्व रखता है उसके प्रति अधिक ध्यान देता है। यदि राज्य के नागरिक राज्य के हजार बच्चों के पिता हो तो निश्चय ही वे उनमें से किसी पर ध्यान नहीं देंगे। ऐसी अवस्था मे पुत्र होने से व्यक्तिगत स्वरूप मे भतीजा होना अच्छा है।

(ब) **सम्पत्ति साम्यवाद की आलोचना** (Criticism of Communism of Property)—प्लेटो ने राज्य की एकता के लिये सम्पत्ति को घातक बताया और कहा कि शासक एवं सैनिक व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रख सकेंगे। उनकी आवश्यकतायें सामान्य रूप मे पूर्ण की जायेंगी। अरस्तू ने सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना की। उसने कहा कि सम्पत्ति व्यक्ति के जीवन धारण करने के लिए तथा विकास करने के

लिए नितान्त आवश्यक है। प्लेटो द्वारा अभिव्यक्त सम्पत्ति का साम्यवाद निम्न लिखित रूप में अनुपयुक्त है।

(i) **व्यक्ति के श्रम तथा लाभ में सन्तुलन नहीं रखता (Absence of balance between the labour and profit of man)**—यदि व्यक्ति अधिक श्रम करने के बाद अनुपात में बहुत थोड़ा लाभ प्राप्त करे और अन्य व्यक्ति कम श्रम करने पर अधिक प्राप्त करें तो स्वभावतः ही अधिक कार्य करने वाले के हृदय में अधिक काम न करने की भावना बढ़ेगी।

(ii) व्यक्ति अपने परिश्रम का फल अपने व्यक्तिगत स्वामित्व में रखना चाहता है। उसका व्यक्तिगत स्वामित्व का विचार ही उसे अधिक से अधिक श्रम करने का प्रोत्साहन देता है। व्यक्तिगत स्वामित्व ही वह साधन है जो रेत कणों को स्वर्ण में परिवर्तित कर सकता है। कार्य का गौरव उसका लाभ है। व्यक्ति रात-दिन परिश्रम करता है क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि वह जो कुछ भी पैदा करता है वह उसका है। उसे यदि यह आभास हो जाय कि राज्य अथवा अन्य कोई उसका अपहरण भी कर सकता है तो वह कभी भी अधिक परिश्रम नहीं करेगा। इस प्रकार अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति का खंडन किया और कहा कि साम्यवाद व्यक्ति को अकुशल, अकर्मण्य तथा निरुत्साही बनाता है व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व का आकर्षण ही व्यक्ति को अधिक मेहनत करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

प्लेटो ने सम्पत्ति का साम्यवाद भी केवल उपरोक्त दो वर्गों के लिये ही आवश्यक बताया है। तृतीय वर्ग को जो राज्य का अधिकांश भाग है, सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रदान किया है।

(३) **दार्शनिक शासक की आलोचना (*Criticism of Philosopher King*)**—प्लेटो ने आदर्श राज्य के शासन में दार्शनिक शासक को सर्वोच्च स्थान दिया है। अरस्तू ने दार्शनिक शासक के सम्बन्ध में प्लेटो की आलोचना की है। प्लेटो ने मनुष्यों को स्वर्ण, रजत तथा ताम्र आदि विभाजनाओं से युक्त माना है। जिस मनुष्य में स्वर्ण होने का गुण विद्यमान है, वह दार्शनिक शासक होता है। यह गुण *परिवर्तित नहीं होता, निरन्तर बना रहता है। ऐसी अवस्था में दार्शनिक शासक का* पद भी स्थाई रहता है क्योंकि उसके गुण सदैव बने रहते हैं।

प्लेटो के दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रजातन्त्र के लिये अनुपयुक्त है और कुलीन तन्त्र के समीप आ जाता है (The theory of Philosopher King is anti-democratic and it comes closer to aristocracy)—दार्शनिक शासक *को अविचल शासक बना देने का एक भयंकर परिणाम यह होता है संरक्षक तथा* सैनिक वर्ग में आन्तरिक विद्रोह हो जायेगा। वे व्यक्ति जो वीरता तथा साहस से प्रवीण हैं, अपने शौर्य को प्रदर्शित करने के लिये इच्छुक रहेंगे। सैनिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति शासन के इस महत्वपूर्ण पद को अपने हाथ में लेना चाहेंगे, इसके अतिरिक्त पत्नी साम्यवाद भी शौर्य सम्पन्न वर्ग के दार्शनिक शासक का विरोध करने को प्रोत्साहन देगा। *सुन्दर नारियों पर अपना व्यक्तिगत एकाधिपत्य रखने की इच्छा उन्हें* दार्शनिक शासक से मुक्त होने के लिये शक्ति का आश्रय लेने पर विवश करेगी।

(४) अन्य आलोचनायें (Other criticisms)—प्लेटो ने व्यवस्थापकों को सभी नागरिकों को प्रसन्न रखने के लिये विधि निर्माण करने का आदेश दिया। अरस्तू ने

सभी नागरिकों को सुखी अथवा प्रसन्न बनाना असम्भव बताया। यह वास्तव मे ठीक नही मालूम पडता कि राज्य का प्रत्येक नागरिक प्रसन्न हो। यह हो सकता है कि अधिकांश या नागरिकों का एक वर्ग प्रसन्नता अनुभव करे। प्रसन्नता गणित अंकों के समान नहीं होती व्यक्ति उन्हें पृथक अस्तित्व मे भी नही सचय करता है, वह तो व्यक्तिगत वस्तु है। उसका अनुभव राज्य के कुछ व्यक्ति ही कर सकते है। सभी व्यक्ति एक साथ प्रसन्नता अनुभव कर सकें ऐसी विधियाँ बन सकती हैं, उपयुक्त नही मालूम पडता।

(i) **समाज को दो शासकीय वर्गों में विभाजित करने का अर्थ है दो राज्यों का समर्थन** (To divide society into two administrative classes is to confirm the existence of two states)—प्लेटो के आदर्श राज्य मे जनता को दो भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग मे शासक तथा सैनिक और दूसरे वर्ग मे उत्पादक होंगे। प्रथम वर्ग की सख्या थोडी होगी और द्वितीय वर्ग की सख्या की दृष्टि से बाहुल्य होगा। प्लेटो राज्य की एकता के लिये साम्यवाद, शिक्षा आदि जिन विचारों का वर्णन करता है वे सभी उपरोक्त (शासक और सैनिक) वर्ग से ही सम्बन्ध रखते हैं। उत्पादक वर्ग के लिये वे सुविधा और सगठन नही होंगे जो शासक तथा रक्षक वर्ग को प्रदान किये जायेंगे। प्लेटो इस प्रकार अपने आदर्श राज्य के बहुसख्यक समूह को इतना अधिक घृणित समझता है कि वे उसके शासन सगठन सम्बन्धी विचारों मे उचित स्थान पाने मे असमर्थ रहे। अरस्तू ने प्लेटो के उत्पादक वर्ग के प्रति उचित ध्यान देने के अन्याय की आलोचना की है। वह कहता है कि दो प्रकार की शासक योजनायें प्रस्तावित करना, दो राज्यों के सिद्धान्त का समर्थन है जबकि प्लेटो एकतावादी विचारक है।

(ii) प्लेटो के उत्पादक वर्ग पर उचित ध्यान न देने की आलोचना करते हुए अरस्तू कहता है कि इस वर्ग का शासन मे कोई स्थान नही होगा। उन पर अस्त्र-शस्त्र होंगे या नही, वे युद्ध मे भाग लेंगे या नही उनकी शिक्षा व्यवस्था क्या होगी आदि पर विचार करने के स्थान पर अपनी पुस्तक में विषय से दूर की सामग्री भर दी है। [He has filled his treatise with matter foreign to the purpose.]

(iii) प्लेटो ने लॉज मे राज्य के सैनिकों की सख्या ५०४० निर्धारित की। यदि इनके अतिरिक्त परिवार तथा नौकर आदि मिलकर रहने लगेंगे तो एक नगर राज्य के स्थान पर बेबीलोन (Babylonia) जैसे बडे राज्य की आवश्यकता होगी। यह राज्य एक साम्राज्य के समान होगा।

(iv) प्लेटो के आदर्श राज्य का अन्य राज्यों के साथ वैदेशिक सम्बन्ध किस प्रकार का होगा इस पर कोई मत व्यक्त नही किया। सामान्यत उनमे युद्ध आदि होंगे क्योंकि वे हर राज्य मे होते रहते हैं।

(v) अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति की सीमा निर्धारण करने की आलोचना की है। अरस्तू ने आलोचना करते हुये कहा कि प्लेटो ने मनुष्य के लिये केवल उतनी सम्पत्ति आवश्यक बताई जितनी के द्वारा वह सामान्य रूप मे रह सके। यह अनुचित है। मनुष्य एक विकासशील प्राणी है, वह केवल जीवित रहना ही नहीं चाहता वरन् अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहता है।

(vi) इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का समान वितरण भी आलोचना का एक विषय है। भूमि आदि नागरिकों में समान रूप से वितरण करने के लिये उसको बराबर हिस्सों में बाँट दिया जायगा। लेकिन नागरिकों की संख्या बढ़ती जाती है ऐसी स्थिति में सम्पत्ति की व्यवस्था बनाने के स्थान पर बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रबन्ध करना चाहिये। शिशुओं की मृत्यु स्त्रियों के निसन्तान होने पर भी, यह बढ़ती हुई जनसंख्या निश्चित रूप में निर्धनता लाती है। निर्धनता अन्य बुराइयों के साथ विद्रोह करने पर विवश करती है।

(vii) अरस्तू ने प्लेटो के शासक तथा शासित के सम्बन्ध को ठीक प्रकार अभिव्यक्त न करने की आलोचना की है। प्लेटो ने कहा था कि जिस प्रकार वस्त्र निर्माण के लिये ताने-बाने (wrap and woof) में सम्बन्ध होता है यही सम्बन्ध शासक और शासित में होना है। अरस्तू कहता है कि इससे दोनों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता।

(viii) व्यक्ति की सम्पत्ति की मात्रा निर्धारित करने के बाद प्लेटो ने कहा कि व्यक्ति उसे पाँच गुनी तक बढ़ा सकते हैं। अरस्तू ने आलोचना करते हुये कहा सम्पत्ति के विस्तार का प्रभाव राज्य पर क्यों नहीं पड़ता।

(ix) प्लेटो ने नागरिकों को मकान रखने की स्वीकृति प्रदान की है। इन मकानों में से एक मकान राज्य के किनारे पर और दूसरा केन्द्र में होगा। अरस्तू ने कहा कि यह व्यक्ति के लिये असुविधाजनक होता है कि वह दो मकानों में एक साथ रह सके।

(x) अरस्तू ने लॉज (Laws) की शासन व्यवस्था की आलोचना करते हुये कहा कि मिश्रित सरकार भ्रष्ट होती है।

अरस्तू ने प्लेटो की लॉज प्रतिपादित शासन व्यवस्था की आलोचना की है। प्लेटो ने जिस मिश्रित राज्य का विचार व्यक्त किया है वह न तो प्रजातन्त्र ही है और न ही कुलीनतन्त्र, वरन् दोनों शासन पद्धतियों के बीच में स्थित है। लॉज में तथाकथित सर्वोत्तम शासन प्रजातन्त्र और निरकुंशतन्त्र का सम्मिश्रण ही है। यह भ्रष्टतम शासन है। अरस्तू ने कहा कि अनेकों प्रकार की शासन पद्धतियों का मिश्रण दो प्रकार की शासन पद्धति से श्रेष्ठ होता है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शासन में राजतन्त्र का कहीं भी दर्शन नहीं होता। इसमें कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र का मिश्रित रूप दिखाई देता है। प्लेटो कुलीनतन्त्र की ओर अधिक आकर्षित है, जैसा मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति से स्पष्ट होता है। धनिक नागरिक असेम्बली के सदस्य होते हैं, वही मजिस्ट्रेटों का चयन करते हैं, यहाँ धनिक वर्ग को ही अधिकांश प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया जाता है यह कुलीनतन्त्र के प्रति प्लेटो का प्रेम प्रदर्शित करता है। इसकी पुष्टि एक और उदाहरण द्वारा की जा सकती है। सिनेट के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार सभी नागरिकों को प्राप्त है। धन के चार गुने तथा तीन गुने सम्पत्ति वाले इस निर्वाचन में भाग लेते हैं। अन्तिम, दो और एक गुनी सम्पत्ति वाले जिन्हें प्लेटो तृतीय और चतुर्थ श्रेणी का नागरिक कहता है, मतदान में अनिवार्य रूप से भाग लेने का अवसर नहीं दिया गया। इस प्रकार प्लेटो ने प्रथम दो वर्गों के नागरिकों को निर्वाचन में अनिवार्य रूप से भाग लेने का अवसर दिया। निम्न वर्ग के प्रति वह पूर्ण उदासीन है।

अरस्तू ने प्लेटो के अनेको विचारो की त्रुटियो पर प्रकाश डाला है। यह त्रुटियाँ कुछ तो यथार्थ मे हैं लेकिन कई स्थानो पर उनकी आलोचना अनुचित की गई है। प्लेटो के प्रथम ग्रन्थ 'रिपब्लिक' की आलोचना करते समय अरस्तू अनुभव मूलक है और प्रो० सेबाइन के अनुसार 'लॉज' की आलोचना कहीं-कहीं ठीक प्रतीत नहीं होती।' (Moreover, it is some times astonishingly inaccurate.') अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य के विचार मे उनका अनुकरण भी किया।

नागरिकता (Citizenship)

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक मे नागरिक और नागरिकता की परिभाषा दी है। अरस्तू ने इस विषय पर अपने विचार स्वय प्रश्न कर्त्ता एवं उत्तर दाता के कथोपकथन द्वारा स्पष्ट किये है। सर्व प्रथम उसने यह प्रश्न किया कि 'राज्य क्या है' इसका उत्तर देते हुए उसने बताया कि 'राज्य नागरिको का एक समूह है।' राज्य की परिभाषा बदली हुई है। पहले राज्य परिवार तथा गाँवो का समूह था, अब वह नागरिको का समूह बन गया। नागरिक किसे कहते हैं? राज्य मे अनेको प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, उनमे से नागरिक किसे कहे? नागरिक की परिभाषा सदैव प्रत्येक शासन प्रणाली मे एक सी नही होती। गणतन्त्र मे 'नागरिक' जिसे कहते हैं, वह कुलीनतन्त्र के 'नागरिक' से भिन्न होता है।

अरस्तू ने नागरिक की परिभाषा दो भागो में की है

(१) नागरिक की निषेधात्मक परिभाषा (Negative definition of citizen)—अरस्तू ने इस प्रश्न का स्पष्ट और सीधा उत्तर देने के बजाय निषेधात्मक रूप मे परिभाषा देना प्रारम्भ किया। उसने पहले यह विचार किया कि कौन व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकते हैं।

(अ) राज्य मे निवास करना ही किसी व्यक्ति को नागरिक नही बना देता है। प्रत्येक राज्य मे कई प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जैसे दास तथा विदेशी। इन व्यक्तियो को नागरिक नही माना जाता वरन् नागरिक के समक्ष हेय समझा जाता है।

(आ) उस व्यक्ति को भी नागरिक नही कह सकते हैं जिसे न्यायालयो द्वारा कानूनो का रक्षण प्राप्त हो। न्यायालय मे अन्य व्यक्तियो को दोषी ठहराना या न्याय किये जाने की माँग, किसी व्यक्ति को नागरिक नही बनाती है। अनेकों विदेशी निवासी भी राज्यो के समझौते आदि के आधार पर न्यायालय से न्याय करा सकते हैं। अत. कानूनो के सरक्षण का अधिकार नागरिक नही बनता।

(इ) वह व्यक्ति जिन्हे मताधिकार से वंचित कर दिया जाता है तथा राज्य से निकाल दिया जाता है उन्हें भी नागरिक नही कहते हैं।

(ई) नागरिक उस व्यक्ति को भी नही कहते जिसके पिता राज्य के नागरिक हो। किसी व्यक्ति के माता-पिता दोनो ही, बाबा दादा आदि भी नागरिक हो, तो भी उनकी सतान को नागरिक नही कह सकते। यदि हम उन्हे नागरिक कहें तो राज्य की स्थापना करने वाले प्रथम पुरुषो आदि को किस प्रकार नागरिक कह सकेंगे। क्योंकि उनके माता-पिता राज्य के नागरिक नहीं थे।

(२) **नागरिक की सकारात्मक परिभाषा** (Positive definition of citizen)—अरस्तू यह विचार व्यक्त करने के बाद कि अमुक व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकते, इस प्रश्न पर विचार करता है कि कौन-कौन नागरिक हो सकता है।

(अ) नागरिक वह व्यक्ति है जो न्याय कार्य में भाग लेता है।

(आ) राज्य के प्रशासन आदि के लिए जनसभा में भाग लेता है। वह व्यक्ति जो इन दोनों कार्यों में से एक अथवा दोनों ही में भाग लेता है। इन दोनों अधिकारों का थोड़े या बहुत काल तक वह उपभोग करता रहा है नागरिक कहलाता है। हम स्पष्ट करते हुए यह कह सकते हैं कि नागरिक के अन्दर यह गुण होना चाहिए कि वह नाविक के समान राज्य रूपी जहाज की सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्य करता रहे। राज्य के सभी नागरिकों का यह समान उत्तरदायित्व होता है कि राज्य की सुरक्षा के लिये विधि निर्माण तथा न्याय कार्यों में अवश्य भाग लें। अतः नागरिक का प्रथम गुण न्याय तथा व्यवस्थापन में भाग लेना है।

(इ) अरस्तू ने नागरिक का शिक्षित होना भी आवश्यक बताया। जिस प्रकार राजा अपने पुत्रों को घुड़सवारी आदि अन्य सैनिक शिक्षा प्रदान करता है उसी प्रकार नागरिकों को भी राज्य कार्य सम्पन्न करने की शिक्षा प्रदान की जायगी। राज कार्य में सक्रिय भाग लेने के लिए व्यक्ति में दो गुण होने चाहिये—उसे अपने से वरिष्ठ विचारों को क्रियान्वित करने के लिए आज्ञा पालन करना आना चाहिये। साथ ही उसे आज्ञा देने की क्षमता रखनी चाहिये। जब तक आज्ञा पालन और आज्ञा प्रदान करने की शक्तियों का उचित मिश्रण किसी व्यक्ति में नहीं पाया जायगा, वह नागरिक नहीं हो सकता। अतः नागरिक वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें शासक और शासित होने की क्षमता हो।

(२) दोनो ही उच्च वर्ग का समर्थन करते हैं (Both stand by the upper class)—प्लेटो ने आर्थिक दृष्टि से हीन, शारीरिक श्रम करने वाले उत्पादक वर्ग को नागरिक मानते हुए भी, उन्हे राज्य कार्य मे भाग लेने का अवसर नही दिया है। अरस्तू ने स्पष्ट रूप से उन्हे शारीरिक श्रम आदि करने के कारण अवकाश न मिलने का बहाना बनाया है। वास्तव मे देखा जाय दोनो ही विचारक समान विचार रखते हैं और समाज के उच्च वर्ग को ही राज कार्य मे भाग लेने देने का अवसर प्रदान करते हैं और निम्न वर्ग को उनकी कृपाकाक्षा पर छोड देते हैं।

आलोचना (Criticism)—अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की अनेको आलोचनायें की जाती हैं।

(१) उसने नागरिकता की बहुत संकोर्ण परिभाषा की है (He has given a very narrow definition of citizenship)—इस परिभाषा के आधार पर राज्य की जनसंख्या का अल्पाश ही नागरिक कहला सकता है।

(२) नागरिक की योग्यता अथवा गुण निर्धारण करना कठोर है (It is difficult of lay down the qualifications and characteristics of citizenship)—केवल वही व्यक्ति नागरिक कहला सकते हैं जो न्याय अथवा व्यवस्थापन मे सक्रिय सहयोग देते हो। इसके अतिरिक्त अन्य श्रेणी के व्यक्ति जो बाद मे सम्पत्ति एकत्रित करलें या शिक्षित हो, नागरिक नही हो सकते। क्या कोई विदेशी न्याय और व्यवस्थापन काय करने पर नागरिक कहला सकता है, अरस्तू ने प्रकाश नही डाला।

(३) अरस्तू की परिभाषा केवल एक राज्य के लिये है (Aristotelian definition of citizenship is only for one state)—अरस्तू ने नागरिक की यह परिभाषा केवल एक ही प्रकार के राज्य के लिए दी है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन के अतिरिक्त, प्रतिनिधि-मूलक प्रजातन्त्र (Representative democracy), कुलीनतन्त्र या राजतन्त्र मे इस परिभाषा का कोई मूल्य नही होगा। अरस्तू ने यह स्वीकार किया था कि प्रत्येक शासन प्रणाली मे नागरिक की परिभाषा भिन्न होनी है।

(४) पर्याप्त सम्पत्ति के अर्थ कुलीनतन्त्र से है (Adequate Property means aristocracy)—अरस्तू की नागरिक की परिभाषा उस समय की शासन व्यवस्था पर धनिकों के प्रभाव को स्पष्ट करती है। अरस्तू ने नागरिक के लिये पर्याप्त सम्पत्ति की सीमा निर्धारित की है। अतः पर्याप्त सम्पत्ति का अभिप्राय ही कुलीनतन्त्र से है।

(५) नागरिक की परिभाषा द्वारा अरस्तू समाज को दो भागों में बाँट देता है (Through his definition of citizenship Aristotle segregates society into two parts)—अरस्तू ने नागरिक की परिभाषा द्वारा अपने राज्य की जनसंख्या का विभाजन दो भागो मे कर दिया। एक ओर नागरिक के अधिकार से सुशोभित कुछ व्यक्ति, जिन्हें शासन मे भाग लेने का अवसर प्राप्त होगा। हाथ से कार्य करना जिनके सम्मान के प्रतिकूल होगा। तथा दूसरे वर्ग म गौरव हीन श्रमिक होंगे, जिन्हे अधिकारो के स्थान पर कर्तव्य ही करने होंगे। वे श्रम करेंगे, सम्पत्ति पैदा करेंगे।

(६) अरस्तू द्वारा बनाये गये नागरिक प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में किस व्यक्ति को कहेंगे, यह स्पष्ट नहीं (It is not clear that who will be the citizen in direct democracy)।

(७) अरस्तू ने नागरिक की तुलना नाविक से करते हुए बताया था कि यह राज्य रूपी पोत की रक्षा के लिये सचेष्ट होता है। प्रत्येक नागरिक को राज्य की सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। क्या राज्य के हित और सुरक्षा में अन्य व्यक्तियों (दास तथा अनागरिकों) का कोई हाथ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य में सभी का हित केवल कुछ गिने-चुने नागरिकों का ही हित होगा। जिसमें केवल नागरिक ही योग दे सकेंगे।

(८) यह पतन पर जाने का प्रयत्न है (It is an attempt at degeneration)—अरस्तू ने प्लेटो की शिक्षा को विस्मृत कर दिया है जहाँ सत्ता और सम्पत्ति मिल जाते हैं पतन हो जाता है। उसने सम्पत्तिशालियों को ही सत्ता में भाग लेने का अवसर दिया है। यह अवश्य ही पतन के मार्ग पर जाने का प्रयत्न है।

(९) राज्य की जनसंख्या का दो भागों में विभाजन अशान्ति और विद्रोह उत्पन्न करेगा (The division of states population into two parts would certainly create restlessness and revolt)—सम्पत्तिशाली नागरिक कहलायेंगे तथा राज्य के कार्यों में भाग लेंगे। इनकी संख्या बहुत कम होगी। यह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जो धनाढ्य वर्ग के विरोध में हो। केवल अपने वर्ग का ध्यान रख कर कार्य करेंगे। दूसरे वर्ग में शोषित श्रमिक होंगे जो निश्चय ही अपनी हीन अवस्था और पृथक वर्ग के व्यवहार के कारण, ईर्ष्यालु होंगे तथा विद्रोही आदि के लिये प्रयत्नशील रहेंगे।

(१०) यह एक जटिल प्रश्न है (It is peculiar question)—नागरिक के लिये नागरिक माता पिता की सन्तान होना अनिवार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो राज्य की स्थापना करने वाले किस प्रकार नागरिक होंगे। इस आधार पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि राज्य कार्य में पैदा होते ही कोई मनुष्य कार्य करना शुरू नहीं करता। क्या दास अथवा विदेशी निवासियों की सन्तान जो राज्य कार्य में भाग लेना चाहती हो नागरिक बन सकते हैं। यह एक जटिल प्रश्न है।

(११) अरस्तू का नागरिक आधुनिक युग में अव्यवहार्य रहेगा (Aristotelian citizen would remain impracticable in modern times)—मतदान के अवसर को छोड़ कोई भी व्यक्ति केवल राजनीति में ही भाग नहीं लेता है अनेकों व्यक्ति केवल दोनों वक्त मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं, करोड़ों व्यक्ति स्वतः अपनी जीविका अर्जित करते हैं, उन्हें हम क्या नागरिक न कहें ? आज के युग में नागरिक की परिभाषा आर्थिक बन्धनों से मुक्त है।

राज्य का उद्देश्य (Objects of the State)—राज्य का उद्देश्य क्या है ? प्रत्येक कला और विज्ञान का उद्देश्य अच्छाई (good) होती है। राज्य का ध्येय भी भलाई या अच्छाई करना ही है, यह न्याय (justice) द्वारा स्थापित किया जा सकता है। न्याय सभी व्यक्तियों के हित के लिये राज्य द्वारा प्रदान किया जाता है। न्याय राज्य के व्यक्ति समूह में समता की भावना बढ़ाता है। नागरिकों में अनेकों प्रकार की

असमानतायें पाई जाती हैं, कुछ शारीरिक शक्ति के आधार पर, कुछ विद्वता के आधार पर, धन के आधार पर एक दूसरे से उच्च हो सकते हैं। राज्य मे उन सभी व्यक्तियो को जो किसी भी स्थिति मे समान होते हैं समान अवसर प्रदान किया जाता है। इस प्रकार राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों के प्रति न्याय का विस्तार करते हुए उनके हित और प्रसन्नता के लिये अवसर प्रदान करना ही है।

राज्य तथा शासन में अन्तर (Difference between State and Government)—अरस्तू जैसे प्रतिभा सम्पन्न विचारक के लिये राज्य और शासन मे अन्तर करना कठिन नही था। उसने अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा इन दोनो सज्ञाओ के अन्तर को बहुत ही स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया। उसने कहा कि राज्य नागरिको का वह समूह है जो उसकी सीमा मे निवास करते हैं। शासन (Government) नागरिकों के उस वर्ग को कहते है जो राज्य मे व्यवस्था तथा नियन्त्रण रखता है वह सभी विभागो, विशेषत जिसमे सम्प्रभुता निहित होती है, उसका सचालन करता है।" ["The form of Government is the ordering and regulating of the city, and all the offices in it, particularly those where in the Supreme power is lodged" A Treatise on Government Aristotle, p. 79] राज्य एक स्थाई सस्था है। उसमे नागरिक सदैव निवास करते हैं। शासन बदला जा सकता है, सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों से लेकर दूसरे वर्ग को प्रदान की जा सकती है।

राज्य का वर्गीकरण (Classification of State)—राज्य और शासन मे अन्तर स्पष्ट करने के बाद अरस्तू ने शासन के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख किया। उसने कहा है कि प्रत्येक शासन मे एक विशेषता होती है, वह सम्पूर्ण राज्य पर सर्वोच्च सत्ता रखता है। राज्य के विभाजन के दो प्रमुख आधार है।

(१) सर्वोच्च शक्ति कितने व्यक्तियो द्वारा प्रयोग की जाती है।

(२) शासक उस शक्ति का प्रयोग किस उद्देश्य से करते हैं? अरस्तू ने कहा कि राज्य के स्वरूप मे जो परिवर्तन होते हैं, उसका अभिप्राय ही यह होता है कि वहाँ पर शासन पद्धति मे परिवर्तन हो जाता है। यदि शासन परिवर्तन को राज्य परिवर्तन न कहें तो अन्य कोई ऐसा लक्षण नहीं है जिसके द्वारा हम राज्य मे होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट कर सकें। राज्य का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को बनाये रखना और सद्‌गुणी जीवन प्रदान करना है। सदगुणी जीवन का अभिप्राय नैतिक जीवन से होता है। व्यक्ति के जीवन की नैतिक आवश्यकतायें राज्य के सरक्षण मे ही पूरी होती हैं। राज्य की नैतिकता उसके शासन यन्त्र की नैतिकता होती है। शासन जब नैतिकता के आधार पर सम्पूर्ण जन समूह के हित की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है उसे शुद्ध स्वाभाविक अथवा विधि सगत शासन कहते हैं। लेकिन जैसे ही शासन का लक्ष्य केवल अपने सकुचित वर्ग का हित हो जाता है उसको भ्रष्ट, विकृत अथवा विधि निरपेक्ष शासन कहते हैं। अरस्तू ने राज्य अथवा शासन के वर्गीकरण का यह आधार प्लेटो से लिया है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ स्टेट्समैन मे इसको प्रतिपादित किया है। हम अरस्तू के वर्गीकरण और प्लेटो के वर्णन में समानता पाते है। अत हम कह सकते हैं कि अरस्तू का राज्य वर्गीकरण मौलिक नहीं है। हेरोडोटस तथा प्लेटो भी इसे उनसे पूर्व व्यक्त कर चुके थे।

अरस्तू के वर्गीकरण को स्पष्ट करने के लिये यह तालिका सहायक होगी।

शासकों की संख्या का आधार	नैतिकता का आधार	
	स्वाभाविक (शासन सम्पूर्ण जनता के हित के लिये किया जाय।)	अस्वाभाविक (शासन, शासक वर्ग के हित के लिये किया जाय।)
एक व्यक्ति प्रभुत्व सम्पन्न हो	राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुंश तन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्ति प्रभुत्व सम्पन्न हों	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	धनिक वर्ग तन्त्र (Oligarchy)
बहुसंख्या प्रभुत्व सम्पन्न हो	प्रजातन्त्र (Polity)	कुप्रजातन्त्र (Democracy)

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य अथवा शासन के वर्गीकरण की यह तालिका स्पष्ट करती है कि 'प्रशासन या प्रत्येक सरकार सम्पूर्ण राज्य पर अपना प्रभुत्व रखती हो, यह सर्वोच्च शक्ति अवश्य ही एक व्यक्ति, या कुछ अथवा बहुतों को प्राप्त हो, जो उस शक्ति का प्रयोग सामान्य हित के लिए करते हों, उसे (राज्य को) सुशासित कहेंगे, लेकिन जब एक, कुछ या बहुत उस शक्ति के प्रयोग करने वाले अपने तक ही उसे केन्द्रित रखें, बुरा राज्य होता है।" जब सामान्य हित के लिए, किसी राज्य का शासन एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है, वह राजतन्त्र है। जब एक व्यक्ति से अधिक परन्तु थोड़े से व्यक्ति शासन करते हैं और उनका ध्येय भी सामान्य हित हो तो उसे कुलीनतन्त्र कहते हैं। अधिकांश व्यक्तियों द्वारा जन हितार्थ शासन होता है, वह सुप्रजातन्त्र कहलाता है। लेकिन शासकों की विकृत इच्छाओं के कारण शासन भी भ्रष्ट हो जाता है। सामान्य हित का परित्याग कर शासक अपने स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न हो जाते हैं। तब वही शासन क्रमशः निरंकुश तन्त्र, धनिक वर्ग तन्त्र तथा कुप्रजातन्त्र हो जाते हैं? यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शासकों की संख्या ही क्या एक मात्र विभाजन का आधार है? क्या यह आवश्यक नहीं कि धनाढ्य व्यक्ति कम हों या अधिक, उनका शासन कुलीनतन्त्र ही हो? अरस्तू ने इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये यह स्वीकार किया है कि यदि अधिक व्यक्ति सत्ता का उपयोग करते हों और वे धनाढ्य हों उस शासन को कुलीनतन्त्र ही कहेंगे। जब शासन धनिकों के हाथ में

होता है चाहे उनकी संख्या कम या अधिक हो, वह कुलीनतन्त्र ही है, जब शासन निर्धनों के हाथ में होता है, (कुछ या अधिक होने पर भी) वह प्रजातन्त्र है।"

राजतन्त्र अन्य शासनों से अच्छी तरह स्थापित किया जाता है। यह आदर्श शासन होता है, यदि शासक गुणी, विधि अनुकूल शासन करने वाला हो। राजतन्त्र वंश-परम्परागत और निर्वाचित होता है। सभ्यता के विकास से पूर्व, प्रथम चरण में, कला-अस्त्र-शस्त्र में निपुण व्यक्तियों ने लोगों को इकट्ठा किया और नागरिक समाज बना कर इच्छुक मनुष्यों को अपने शासन में रखा। युद्ध में उनका नेतृत्व किया, उनके मतभेदों को सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में दूर किया और अपनी शक्तियाँ नागरिक, पारिवारिक तथा वैदेशिक सभी क्षेत्रों में प्रयोग कर वंश-परम्परागत राजतन्त्र की स्थापना की। इसके विपरीत राजतन्त्र निर्वाचन भी होता है जिसे अरस्तू ने प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में देखा था। राजतन्त्र की शक्तियाँ सम्पूर्ण जीवन भर के लिये हो सकती हैं या किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए थोड़े समय के लिए हो सकती हैं।

विधि शासन और राजतन्त्र में से कौन-सा शासन श्रेष्ठ होता है?—इस प्रश्न का उत्तर राजतन्त्र के समर्थक यह देते हैं कि विधि सामान्य प्रकार होती हैं विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त होने की क्षमता का उनमें अभाव होता है इसीलिये लिखित विधियों के आधार पर शासन नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति के शासन में, राजा ही विधियाँ प्रदान करता है और उपयुक्त अवसर के लिये उन्हें अनुकूल बना सकता है। लेकिन अरस्तू इस तर्क का खंडन करते हुए, विधियों का महत्व प्रतिपादित करते हुये कहता है कि सम्पूर्ण जनता सामूहिक रूप में, एक व्यक्ति की अपेक्षा अपनी बौद्धिक शक्तियों का भली-भाँति प्रयोग कर सकती है, एक व्यक्ति का निर्णय क्रोध आदि दुष्प्रवृत्तियों से प्रभावित हो सकता है, इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि शासन विधि अनुकूल ही होना चाहिये। राजतन्त्र का खण्डन करते हुए अरस्तू यह भी कहता है कि एक राजा के गुण, अपूर्व बुद्धि वाला होने का अभिप्राय यह नहीं होता कि उसके उत्तराधिकारी भी उतने ही योग्य होंगे। अतः राजतन्त्र यद्यपि गुणी शासक प्राप्त होने पर देवताओं का शासन बन जाता है वह कुलीन और निर्धनों में सामंजस्य रखता है और राज्य हित के लिये कार्य करता है परन्तु इसे विधि के ऊपर आधारित होना चाहिये।

कुलीनतन्त्र शासन की अरस्तू ने परिभाषा नहीं की, लेकिन उसका आशय यह था, कि यह शासन कुछ धनाढ्य या उत्तम प्रकार के लोगों द्वारा किया जाता है। यह शासन भी कई प्रकार का होता है। जनगणना के आधार पर बहुसंख्यक निर्धनों को छोड़ने के उपरान्त बनाई गई तालिका में आने वाले व्यक्ति शासन करते हैं या राज्य के रिक्त पदों पर कुलीन पदाधिकारी नियुक्त हो जायें या जब वंश-परम्परागत कुलीन व्यक्तियों के हाथ में शासन की शक्ति हो उसे कुलीनतन्त्रीय शासन ही कहते हैं। कुलीनतन्त्र की परिभाषा करते हुये कहा जा सकता है कि समाज में यदि कुछ व्यक्तियों को छोड़ दिया जाय और योग्यता के आधार पर अन्य व्यक्ति शासन में भाग लें, वह कुलीनतन्त्र है। इस शासन में भाग लेने वाले गुणशक्तिशाली व्यक्ति होते हैं, जिन्हें राज्य कार्य में भाग लेने का अवकाश प्राप्त होता है। यह व्यक्ति जन हितार्थ, विधियों के अनुकूल शासन करते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का सर्वाधिक गुणी सिद्धान्तों पर आधारित राज्य है।

सुप्रजातन्त्र शासन में, अधिकांश जनता (जो सामान्यतः निर्धन होती है) सम्पूर्ण जनसमूह के हित के लिये शासन करती है। इस शासन में निर्धनों को स्वतन्त्रता तथा धनाढ्यों के धन की सुरक्षा प्रदान की जाती है। अधिक व्यक्तियों का शासन कुछ विद्वानों के शासन से श्रेष्ठ होता है। "जब अधिकांश व्यक्ति एक साथ हो जाते हैं वे स्वयं अलग-अलग गुणवान न होकर एक संगठित रचना के रूप में कुछ विद्वानों की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा दिये गये भोज से, जनता के सामूहिक भोज अच्छे होते हैं, क्योंकि वहाँ बहुत व्यक्ति व्यय उठाते हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि और गुण का सहयोग देता है और इस प्रकार संगठित होकर, वे अनेकों व्यक्तियों में से बन कर तैयार एक व्यक्ति हो जाते हैं, जिसके अनेकों पैर, हाथ तथा बुद्धि होती है।" सुप्रजातन्त्र में जनता अपने बौद्धिक योग और छोटे-बड़े सद्गुणों की संचित राशि के कारण श्रेष्ठतम गुणज्ञ व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान बन जाती है। फलस्वरूप उसका ज्ञान विषयों में भी श्रेष्ठ होता है।

स्वाभाविक शासन पर विचार करने के उपरान्त अरस्तू ने उनके अस्वाभाविक रूप पर भी विचार किया। उसने कहा कि जैसे ये शासन प्रयोगान्वित किये जाते हैं शीघ्र ही उनमें दोष आ जाते हैं और वे अस्वाभाविक रूप में क्रमशः निरंकुशतन्त्र या धनिक वर्ग तन्त्र अथवा कुप्रजातन्त्र में परिवर्तित हो जाते हैं। शासक अपने ही हित के लिये शासन करना प्रारम्भ कर देता है और जनता पर अत्याचार करता है, उसे निरंकुशतन्त्र कहते हैं। कुछ धनाढ्य शासन को अपने ही हितों की पूर्ति का माध्यम बना लें तो उसे धनिक वर्गतन्त्र कहते हैं। जब निर्धन व्यक्ति निर्धनों के लिए ही शासन करें उसे कुप्रजातन्त्र कहते हैं।

आलोचना (Criticism) :

(१) यह सरकार के वर्गीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है (It is nothing else but the classification of government)—अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना यह कह कर भी जाती है कि यह वर्गीकरण राज्य और संविधान का वर्गीकरण न होकर सरकार का वर्गीकरण है। अरस्तू के वर्गीकरण की यह आलोचना अनुपयुक्त है क्योंकि सर्व प्रथम अरस्तू ने ही यह वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुये किसी स्थल पर राज्य तो कहीं पर सरकार का वर्गीकरण कहा है। दूसरे यदि हम राज्य का वर्गीकरण करना चाहें तो वह सरकार के वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

(२) अरस्तू के राज्य का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है (Aristotelian classification of states is unscientific)—गार्नर ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि 'यह सरकार के वर्गीकरण के रूप में अनुपयुक्त है क्योंकि यह सरकार विभाजन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है।' बान महल ने भी इसकी आलोचना की। उसने बताया कि 'यह वर्गीकरण जिस सिद्धान्त पर आधारित है वह गणित सम्बन्धी है, सावयव (organic) नहीं, परिमाणात्मक है गुणात्मक नहीं।

(३) प्रजातन्त्र सम्बन्धी अरस्तू के विचार उचित नहीं हैं—अरस्तू ने प्रजातन्त्र को भ्रष्ट शासन बताया। यह व्याख्या आधुनिक प्रजातन्त्र की धारणा के साथ मेल नहीं खाती। आज प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।

(४) राष्ट्रीय राज्य के सम्बन्ध में यह वर्गीकरण कुछ नहीं कहता (It does not state anything about the nation states)—अरस्तू का यह वर्गीकरण तत्कालीन यूनान के नगर राज्य की पृष्ठभूमि पर अवलम्बित है। यद्यपि अरस्तू ने १५८ संविधानों के अध्ययन के बाद इस विषय पर विचार किया था लेकिन फिर भी वह राष्ट्रीय राज्य जैसे शासनों से अपरिचित था और यही कारण है कि उसने उनके बारे मे कुछ भी नहीं बताया।

(५) यह वर्गीकरण आज के युग के अनुकूल नहीं है (It is out of date and does not suit to the present conditions)—अरस्तू के राज्य का वर्गीकरण वर्तमान राज्यों को अपने आँचल मे समेटने मे असमर्थ है। आज कई देश ऐसे हैं, जिसमे उसके वर्गीकरण के एक से अधिक प्रकार पाये जाते हैं। यदि हम इंगलैंड के शासन को उसके अधीन वर्गीकृत करना चाहे तो हम देखते हैं कि वहाँ राजतन्त्र है, लार्ड सभा के कारण कुलीनतन्त्र है तथा लोकसभा-मन्त्रिमण्डल आदि के आधार पर प्रजातन्त्र है। तीन प्रकार के शासन एक ही राज्य मे एक साथ चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस वर्गीकरण का उप-वर्गीकरण भी नहीं दिया गया है जैसे वर्तमान प्रजातन्त्र—अध्यक्षात्मक, संसदात्मक, एकात्मक आदि आदि वर्गों मे भी विभाजित किया जा सकता है।

(६) यह अरस्तू की मौलिक देन नहीं है (It betrays Aristotle's fundamental ideas)—अन्त मे हम कह सकते है कि यह वर्गीकरण अरस्तू की मौलिक प्रतिभा की देन नहीं है। हेरोडोटस का संख्या सम्बन्धी आधार लेकर उसमे गुण विषयक आधार और मिला दिया है। अपने गुरु प्लेटो के वर्गीकरण को नाम परिवर्तन के अतिरिक्त पूरी तरह से उतार कर प्रस्तुत किया है।

अरस्तू का राज्यक्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त
(Aristotelian Theory of Revolution)

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ राजनीति की पाँचवी पुस्तक मे इस प्रश्न पर विचार किया है कि राज्य के शासन मे परिवर्तन क्यो और कैसे होते हैं तथा उन्हें किस प्रकार रोका जा सकता है। इस पुस्तक के अध्ययन से अरस्तू की दो विशेषतायें दिखाई देती हैं।

(१) उसका अध्ययन क्षेत्र व्यापक था। उसने यूनान के नगर राज्यों की शासन व्यवस्थाओं का गहन मन्थन किया। उसने देखा कि नगर राज्यों की शासन व्यवस्था मे बहुत ही शीघ्र परिवर्तन होते रहते है। उसके वैज्ञानिक मस्तिष्क ने उन कारणो को खोज निकाला, जिनके आधार पर शासनों मे परिवर्तन हुआ करते हैं। इस पुस्तक मे जब वह राज्यक्रान्तियों के कारणो पर प्रकाश डालता है, उनके उदाहरण भी देता चलता है।

(२) अरस्तू यथार्थवादी राजनीति विचारक था। राज्यक्रान्तियों के कारणों की खोज करने के उपरान्त उसने उन्हें दूर करने के उपायों पर भी प्रकाश डाला। यहाँ हम उसके विचारों को प्लेटो के आदर्शवाद से यथार्थ की ओर उन्मुख पाते हैं। डनिंग ने कहा है 'प्लेटो के व्यवस्थित विचार वर्तमान संविधानों के कल्पनालोकीय

आदर्श पर आधारित हैं। अरस्तू ने इस विषय पर अपनी पुस्तक में व्यापक मात्रा में ऐतिहासिक तथ्य दिये हैं और उनका अच्छा वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है।"

अरस्तू ने राज्यक्रान्तियों का वर्णन दो भागों में किया है। सामान्यतः (General) क्रान्ति क्या होती है? राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र आदि सभी प्रकार के शासन में वे कौन से कारण होते हैं जिनका परिणाम राज्यक्रान्ति होती है। यह कारण तो प्रत्येक प्रकार के शासन में क्रान्ति करते हैं। द्वितीय शासन विशेष (Particular) में क्रान्ति किन-किन कारणों से होती है। जिन कारणों से राजतन्त्र में क्रान्ति होती है, उनसे कुलीनतन्त्र में तथा प्रजातन्त्र में क्रान्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक प्रकार की पद्धति में अलग-अलग कारणों से क्रान्ति होती है। इसी प्रकार क्रान्ति निरोध के उपाय भी सामान्य तथा विशेष होते हैं।

क्रान्ति के प्रकार (Kinds of Revolution)—अरस्तू ने क्रान्ति में अन्तर स्थापित करते हुये बताया कि उनका स्वरूप सदैव एकसा नहीं होता। यदि किसी क्रान्ति द्वारा सम्पूर्ण शासन परिवर्तित किया जाता है तो किसी में प्रयोगकर्ता बदल जाते हैं। इसने निम्न प्रकार का अन्तर क्रान्तियों में स्थापित किया

(१) क्रान्ति द्वारा पूर्व स्थापित शासन किसी अन्य शासन प्रणाली में परिवर्तित कर दिया जाता है, उदाहरण के लिए प्रजातन्त्र को बदल कर कुलीनतन्त्र या कुलीनतन्त्र को उखाड़कर उसके स्थान पर प्रजातन्त्र स्थापित किया जा सकता है

(२) क्रान्ति द्वारा शासन पद्धति को परिवर्तित करने के स्थान पर उसके प्रयोगकर्ताओं को बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिए कुलीनतन्त्र शासन के प्रति विद्रोहकर उस शासन को वैसा ही बना रहने दें और समस्त शक्तियाँ विद्रोही वर्ग अपने हाथों में ले ले।

क्रान्ति के सामान्य कारण (General Causes of Revolution)

(१) समानता की आकांक्षा (Anxiety for equality)—अरस्तू ने क्रान्ति का प्रथम कारण मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाली समानता की इच्छा बताई। जब व्यक्ति यह देखता है कि वह जिस श्रेणी का है उससे निम्न व्यवहार उसे प्रदान किया जा रहा है। उसके गुणों, योग्यताओं आदि का ध्यान नहीं रखा जा रहा है, तो उसके हृदय में विद्रोह के विचार उठते हैं। जब राजा अपने बराबर वालों पर राज्य करता है तो अन्य व्यक्ति इसी असमानता से उत्प्रेरित होकर क्रान्ति कर देते हैं। (भारतीय राजपूत राजाओं का इतिहास इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। राजपूत वंशों में परस्पर एक दूसरे का विरोध करने का मूल कारण यही था कि वे आपस में बराबर वालों के आधिपत्य में नहीं रहना चाहते थे।) समानता के आधार पर क्रांति दो प्रकार की होती है।

(अ) जब दो व्यक्ति समान गुण तथा योग्यता आदि रखते हों। जहाँ दो या अधिक व्यक्तियों की योग्यता और गुणों में कोई अन्तर नहीं होता और वे पूर्ण तरह से समान होते हैं। लेकिन उनके पद आदि में अन्तर होता है, या समान गुणों के प्रदर्शन पर उन्हें समान पुरस्कार नहीं प्राप्त होता, ऐसी अवस्था में उनका मस्तिष्क यह विचार पैदा करता है कि समान होते हुए भी उन्हें समान पद या पुरस्कार प्राप्त नहीं होता। उनके प्रति किया गया यह भेद भाव उन्हें क्रान्ति करने के लिए विवश कर देता है।

(आ) क्रान्ति मूल्य के आनुपातिक असमानता के कारण होती है। एक व्यक्ति अपने गुणों की तुलना करता हुआ यह समझता है कि वह अन्य व्यक्तियों से गुणी है, अधिक गुणी होने के कारण उसके साथ अधिक अच्छा व्यवहार होना चाहिए, जब वह यह अनुभव करता है कि उसके गुणों का कोई महत्व नहीं दिया जा रहा है और 'सब धान बाईस पसेरी' समझे जा रहे हैं तो उसका हृदय क्रान्ति करने की सोचने लगता है। इस प्रकार क्रान्ति का प्रथम कारण मनोवैज्ञानिक है जिसमें व्यक्ति बराबर वालों में समानता चाहता है या अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपने गुणों का उचित आदर चाहता है। अरस्तू के शब्दों में 'समानता के इच्छुक क्रान्ति के लिए तत्पर रहते हैं, यदि वे यह देखते हैं कि जिन्हें वे अपने बराबर समझते हैं उन्हें जो कुछ प्राप्त हो रहा है, उतना वे प्राप्त नहीं करते, इसके साथ ही वे जो समानता में असन्तुष्ट हैं लेकिन अपना उच्च स्थान बनाना चाहते हैं क्योंकि उनसे तुच्छ व्यक्ति भी उसी स्तर पर हैं।"

(२) सम्मान तथा लाभ की आशा—क्रान्ति का दूसरा कारण व्यक्ति की सम्मान तथा लाभ प्राप्त करने की इच्छा होती है। विद्रोह करने वाले सम्मान तथा लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपने मित्रों और सहयोगियों को एकत्रित करते हैं और शासन को बदल कर सत्ता अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर यदि शासन द्वारा उनके आत्म-सम्मान को ठेस लगती है, तो वे उस साथ हुए सम्मान को पुनः प्रतिष्ठित कराने के लिए क्रान्ति मार्ग का ही अवलम्बन करते हैं।

(३) शासक का दुर्व्यवहार (Unpalatable Treatment by the administrator)— क्रान्ति शासक के दुर्व्यवहार का परिणाम है। व्यक्ति का शासन यन्त्र

के कर्मचारियों के बुरे व्यवहार से दुखी होकर क्रान्ति मार्ग की ओर अग्रसर होना पड़ता है। जब राज्य के कर्मचारी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए कार्य करते हैं और अनुचित साधनों द्वारा धन कमाना चाहते हैं तो शासित जनता पहले तो उनका विरोध करती है और बढ़ते-बढ़ते यह विद्रोह बन जाता है तथा नागरिकों को शासन बदलने के लिए विवश कर देता है।

(४) सम्मान (Pelf)—जब किसी व्यक्ति को शासन द्वारा सम्मानित किया जाता है, अन्य व्यक्ति उससे अपने आप को असम्मानित समझते हैं और वे राज्य में उपद्रव करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

(५) भय (Fear)—राज्य क्रान्ति भय के कारण होती है। व्यक्ति को अपराध के लिए जो दण्ड प्राप्त होता है वह उनमें भय का संचार करते हैं। वे राज्य के दण्ड भय से क्रान्ति करते हैं। दूसरे, व्यक्ति के आगामी भविष्य में बुराई की आशंका से भय होता है वह उस बुराई को पहले से ही रोकने के लिए क्रान्ति करता है। अरस्तू रोड्स (Rhodes) की क्रान्ति का उदाहरण देता है, वहाँ पर कुलीन वर्ग ने इस कारण विद्रोह किया था कि उन्हें यह भय था कि जनता उनके विरुद्ध आदेश स्वीकार करेगी।

(६) असमान वृद्धि (Imbalanced growth)—राज्य के प्रत्येक अंग में समान सन्तुलित वृद्धि होनी चाहिये। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में सन्तुलन रहता है तभी वह सुडौल लगता है, उसी प्रकार राज्य के प्रत्येक अंग में संतुलन रहना चाहिये क्योंकि असन्तुलित वृद्धि क्रान्ति का कारण बन जाती है। प्रजातन्त्र में निर्धन जनसंख्या में वृद्धि होती है जो अनियन्त्रित रहने के कारण दूषित प्रजातन्त्र में बदल जाती है। प्रजातन्त्र में धनी व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाने से वह धनिकतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

(७) चुनाव पद्धति में परिवर्तन (Change in election system)—कभी-कभी क्रान्तियाँ चुनाव पद्धति में परिवर्तन द्वारा भी हो जाती हैं जैसे मतदान के स्थान पर पर्ची डालने (lots) की रीति स्थापित की जाय। यह हेराया (Heraea) में हुआ था, जहाँ निर्वाचन पद्धति बदल कर मतदान के स्थान पर पर्ची डालना प्रारम्भ किया गया।

(८) असावधानी (Inadvertance)—असावधानी से कार्य करने पर भी क्रान्ति हो जाती है। जब किसी ऐसे व्यक्ति को, जो कानूनों और विधान का विरोधी है, प्रमुख पदों पर नियुक्त कर दिया है, वह अपने पद का लाभ उठाकर संविधान को ही परिवर्तित कर देता है। ओरस (Orus) राज्य में कुलीनतन्त्र को प्रजातन्त्र में परिवर्तित कर दिया गया।

(९) छोटे परिवर्तनों के प्रति उदासीनता (Indifference towards minor changes)—कभी-कभी छोटे परिवर्तनों के प्रति उदासीन रहने से भी क्रान्तियाँ हो जाती हैं। एम्ब्रेसिया (Ambracia) में पद धारण करने के लिये प्रारम्भ में थोड़ी सम्पत्ति की आवश्यकता होती थी। अन्त में उसे त्याग दिया गया क्योंकि इसमें कोई अन्तर नहीं समझा गया कि थोड़ी सम्पत्ति होने न होने में कोई अन्तर नहीं है।

(१०) मानव स्वभाव (Human nature)—क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण मानव स्वभाव होता है। इसे हम दो भागो मे देख सकते हैं (अ) ईर्ष्या—मनुष्य स्वभाव से ही ईर्ष्यालु होता है। वह किसी भी व्यक्ति को अपने से अधिक ऊँचा उठता हुआ देखता है, उससे ईर्ष्या करने लगता है और उसके प्रति क्रान्ति करने की सोचता है। (ब) घृणा—मनुष्य स्वभाव अन्य व्यक्तियो के प्रति घृणात्मक विचार उत्पन्न करने के लिये तत्पर रहता है। जैसे ही कुलीनतन्त्र मे जनता अपने ऊपर लगे हुये टैक्स और उनके आधार पर ऐश करते हुये रईस लोगो को देखता है वह उनसे घृणा करने लगता है और 'शीघ्र ही उनके विरुद्ध क्रान्ति का वातावरण तैयार कर लेता है।'

(११) विभिन्न राष्ट्रों का मिश्रण (Coglemeration of different nations)—विभिन्न राष्ट्रो के मिश्रण से भी क्रान्ति होती है। जब गणतन्त्र स्थापित किये गये या किसी राज्य मे विभक्त राष्ट्रो के निवासी रहने लगे, उनमे सदैव ही क्रान्ति हुई। थूरियम (Thurium) राज्य मे यही देखने मे आया, बिजेन्टियम (Byzantium) मे भी नये नागरिको का राज्य के प्रति किये जाने वाले विद्रोह का षड्यन्त्र पकडा गया। जब तक विभिन्न राष्ट्रो, नस्लो का पूर्ण सम्मिश्रण नही होता, विद्रोह का भय बना ही रहता है।

(१२) छोटे-छोटे कारण (Minor reasons)—राज्य क्रान्ति छोटे-छोटे कारणों के लिये नही वरन् छोटे-छोटे कारणो से होती है क्योंकि सामाजिक कारण उसमे योग देता है। जब राज्य के उच्च स्तरीय पदाधिकारी छोटे से कारण पर उलझ पडते हैं, राज्य क्रान्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए अरस्तू ने साइराक्यूज (Syracuse) के दो तरुण अधिकारियो का प्रेम सम्बन्धी संघर्ष क्रान्ति का कारण बताया। राज्य के सभी व्यक्ति एक-दूसरे के सहायक हो गये और शासन का तख्ता बदल दिया गया। प्रेम को राज्य क्रान्ति का कारण बताकर अरस्तू इस कथन की पुष्टि करता है कि 'प्रत्येक क्रान्ति के पीछे एक स्त्री होती है।' ('Behind every revolution there is a woman.')

(१३) उत्तराधिकार (Succession)—इसी प्रकार उत्तराधिकार के प्रश्न पर जो मतभेद बढ जाता है, वह क्रान्ति का कारण बन जाता है। फोशिया (Phoeca) की क्रान्ति उत्तराधिकार के लिये ही हुई थी। औरंगजेब ने सत्ता ग्रहण करने के लिये भी अपने पिता तथा बन्धु-बान्धवो के विरुद्ध क्रान्ति की।

(१४) शक्तिप्रदर्शन के आधार पर (On the basis of exhibition of physical strength)—यदि कोई व्यक्ति अपनी शक्ति आदि पर शासन स्थापित करता है, तो उसके प्रति अन्य व्यक्ति विद्रोह करने का प्रयत्न करते हैं। शासन स्थापित कर्ता चाहे कोई एक व्यक्ति हो, मजिस्ट्रेट हो या कोई कबीला आदि हो, उसके सत्ता प्राप्त करते ही अन्य व्यक्ति उसके प्रति विद्रोह करने के लिये संगठन प्रारम्भ कर देते हैं।

(१५) वर्ग संघर्ष (Class struggle)—राज्य क्रान्ति का एक कारण यह भी होता है कि उसके दो विरोधी वर्ग एक समान उद्देश्य को पूरा करना चाहते हैं। धनाढ्य तथा निर्धन दोनो एक दूसरे के विरोधी होते हैं और उनमे से जो वर्ग भी अधिक शक्तिशाली होता है, वह दूसरे वर्ग का विरोध करता है। यह भी क्रान्ति का एक कारण है।

राज्य क्रान्ति के सामान्य कारणों पर विचार करने के बाद विभिन्न प्रकार के शासनों में राज्य क्रान्ति क्यों होती है ? इस प्रश्न पर विचार करना है । एक व्यक्ति के शासन, कुछ व्यक्तियों के अथवा सभी व्यक्तियों के शासन में क्रान्ति जिन कारणों से होती है, उन्हें विशिष्ट कारणों के शीर्षक में रखा जा सकता है ।

क्रान्ति के विशिष्ट कारण (Particular reasons of revolutions)—**विकृत प्रजातन्त्र** (Democracy) शासन में क्रान्ति—क्रान्ति उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त, 'भीड़ नेतृत्व करने वाले' (Demagague) व्यक्तियों के षडयन्त्रों का परिणाम होती है । वह जनगण क्रान्ति कराने के लिये आवेशित करने वाले भाषण देते हैं और धनवानों को राज्य के प्रति उभाड़कर सगठित कर देते हैं तथा दूसरी ओर भीड़तन्त्र को उनके खिलाफ भड़का देते हैं । कोस (Cos) में भीड़ नेतृत्व कर्त्ताओं ने इसी प्रकार से क्रान्ति करा दी । रोड्स (Rhodes) हराक्लीया (Haraclea), मेगरा (Megara) तथा क्यूम (Cume) आदि में इन्हीं नेताओं ने एक ओर धनवानों को क्रान्ति के लिये सगठित और विवश किया और जनता में भी उनके प्रति विरोधी विचार भरे ।

इस कुप्रजातन्त्र में क्रान्ति के बाद पहले तो निरंकुशतन्त्र आता था क्योंकि उस समय पर भीड़ के नेता अधिकतर सैन्य योग्यता रखते थे । लेकिन नेतृत्व कला के विकास के कारण उनमें सैनिक गुण नहीं होते हैं और वे जनता में अपने प्रति विश्वास जाग्रत कर, धनवानों के प्रति घृणा जाग्रत कर, धनिकों को एकत्रित कर देते हैं और कुलीनतन्त्र स्थापित होता है ।

विकृत कुलीनतन्त्र (Oligarchy) में क्रान्ति निम्न कारणों से होती है :—

(१) इस शासन के प्रति विद्रोह का कारण आम जनता के प्रति दुर्व्यवहार होता है । प्रत्येक व्यक्ति उनका विरोध करने लगता है, कभी-कभी यह असन्तोष किसी कुलीनतन्त्र के व्यक्ति द्वारा नेतृत्व करने के कारण होता है ।

(२) शासकों की फूट के कारण क्रान्ति होती है । जिन धनी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर नहीं दिया जाता वे गिने चुने सत्ताधारियों में विरोध में क्रान्ति करते हैं । ईस्टर (Ister), मैसीलिया (Massilia), आदि में क्रान्ति के यही कारण थे । यद्यपि यह शासक श्रेष्ठतम प्रबन्ध करते हैं, लेकिन-शक्तियाँ बहुत थोड़े से हाथों में निहित रहने के कारण लोग उनका विरोध करते हैं ।

(३) विकृत कुलीन तन्त्र में क्रान्ति उन व्यक्तियों द्वारा भी की जाती है जो शासन के पदों पर होते हैं । इन व्यक्तियों में फूट डालने के लिए नेतृत्व कला विशारद दो वर्गों में बँट जाते हैं । एक तो थोड़े से व्यक्तियों की चापलूसी करते हैं, दूसरे प्रमुख सत्ताधारियों के साथ मिल जाते हैं और फलस्वरूप क्रान्ति करा देते हैं ।

(४) न्यायिक विभाग सर्वोच्च शक्ति को प्राप्त न होने पर भी जनसमूह को भड़का कर क्रान्ति करा देते हैं ।

(५) क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण धनिकों का विलासी जीवन व्यतीत करने के लिए धन का अपव्यय होना है । जनता के सेनता युक्त वर्ग को उनका यह अत्यन्त अनुचित नहीं मालूम पड़ता और वे क्रान्ति के लिये एकत्रित हो जाते हैं ।

(६) कुलीन तन्त्र के अन्दर एक और विकृत कुलीनतन्त्र का उदय भी क्रान्ति का कारण बन जाता है । जब शासन कुछ व्यक्तियों को सौंप दिया जाता है, वे भी

स्वय शासन न कर, अपने और थोड़े चुने हुये व्यक्तियों मे सिनेट का निर्माण करते हैं, जैसा ऐलिस (Elis) मे हुआ था, क्रान्ति का कारण बन जाते हैं। उनके मतभेद और महत्वाकांक्षायें क्रान्ति कराने मे सफल होती हैं।

(७) इस शासन मे क्रान्ति एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के अपमान किये जाने, अभियोग, विवाह, पर-स्त्री गमन, ,मिथ्याचार आदि के कारण होती है। क्रान्तियाँ युद्ध व शान्ति दोनों ही समय पर हो सकती है। अविश्वास आदि उनका कारण होते हैं।

कुलीनतन्त्र में विद्रोह के कारण (Reasons of Revolution in Aristocracy)—अरस्तू ने कुछ तथा अधिकांश व्यक्तियों के विकृत शासन मे क्रान्ति के कारणों पर विचार करने के बाद शुद्ध रूपों मे क्रान्ति के कारणो पर प्रकाश डाला। कुछ व्यक्तियो के शुद्ध शासन कुलीनतन्त्र (Aristocracy) मे क्रान्ति के कारण निम्न हैं :—

(१) क्रान्ति का पहला कारण सीमित व्यक्तियो को प्राप्त राजनैतिक शक्ति हैं। अधिकांश व्यक्ति उनसे अपनी तुलना करते हैं और उन्हें अपने समान समझते हैं।

(२) जब किसी महान् व्यक्ति का अपमान उन व्यक्तियो द्वारा होता है, जो उनसे निम्न होते हैं।

(३) जब कोई महत्वाकांक्षी व्यक्ति सत्ता ग्रहण कर लेता है।

(४) जब धनी निर्धनों मे संतुलन नही हो पाता।

सुप्रजातन्त्र में क्रान्ति का कारण यह होता है कि जन सामान्य यह समझते हैं कि शासक उनके समान ही है। उसके गुण-योग्यता आदि उनसे अधिक नही और यही कारण है कि असंतुष्ट जनसमूह क्रान्ति करता है।

अरस्तू ने सुप्रजातंत्र और कुलीनतंत्र के शुद्ध रूप के मिश्रित शासन के प्रति विद्रोह क्यों होते है, इस पर भी प्रकाश डाला है। उसने बताया कि इस पद्धति मे विद्रोह इसलिए होता है क्योंकि विभिन्न सिद्धान्तो का उचित सम्मिश्रण नहीं हो पाता। गुण और शक्ति का उचित सम्बन्ध न होने के कारण दोनों पद्धतियाँ अपने विकृत रूप की ओर झुकती हैं।

शासनतंत्रो मे परिवर्तन बाहर तथा अन्दर से हो सकते हैं। एक राज्य, जिसकी नीति विरोधी होती है, दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त कर, उसकी शासन पद्धति नष्ट कर, अपनी नीति प्रचलित करता है तथा आंतरिक परिवर्तन जन समूह एवं सत्ताधारियों के ही प्रयत्नो से होते हैं।

राजतंत्र और निरंकुशतंत्र मे क्रान्ति के कारण और उन्हे दूर करने के उपाय पाँचवी पुस्तक के दसवें अध्याय से पृथक रूप मे प्रारम्भ किये हैं। अतएव उस पर बाद मे विचार करना उपयुक्त होगा।

क्रान्ति से रक्षा के उपाय (Safeguards from Revolutions)—अरस्तू ने क्रान्ति के कारणो का वर्णन तत्कालीन राज्यों मे होने वाले परिवर्तनो के आधार पर किया था। उसने सामान्य और विशिष्ट कारणो के निवारण का उपाय भी अपनी बुद्धि के आधार पर प्रस्तुत किया। विरोधी वस्तुओं का उत्पादन भी विरोधी वस्तुओं

द्वारा होता है (Things coutrary produce contraries)। शासन का विरोध और उनका रक्षण एक दूसरे के विरोधी हैं। अत यदि उनके रक्षण का प्रबन्ध कर दिया जाय तो विद्रोह नही हो सकेंगे। 'अरस्तू ने क्रांति के कारणों की जितनी व्यापक व्याख्या की है, उतनी हो प्रभावोत्पादक व्याख्या वह उनके दूर करने के उपायों की देता है।" (Aristotle follows up his elaborate array of the causes that produce revolutions by an equally impressive array of means for preventing them."—W. A. Dunning) यदि निम्न उपाय प्रयोग मे लाये जायें तो क्रांतियाँ नही हो सकेंगी

(१) शासन को विधियों का सम्मान और उचित देखभाल करनी चाहिये—उसे यह देखना चाहिये कि कोई कार्य विधियों के प्रतिकूल न हो। इस सम्बन्ध मे छोटे और कम महत्व की बातों को भी विधि विपरीत होने पर रोकना चाहिए। शासन के स्वामित्व के लिये उसे कानून की उचित रक्षा करनी चाहिए। जैसे ही उसे उनके विरोध मे कुछ कार्य होता हुआ दिखाई दे उसे रोकना चाहिए। गुप्त रूप मे या अनजान मे भी यदि विधि के विरोध मे कोई कार्य हो रहा हो तो उसे रोकना, क्रांति के सूत्रपात को रोकना है।

(२) शासन को ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये जिससे जनता धोखे में आ जाय—क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को धोखे मे डाल सकता है लेकिन यह सम्भव नही कि वह सभी व्यक्तियों को वह सदैव धोखे मे रखने मे सफल हो जाय। अब्राहम लिंकन के अनुसार एक व्यक्ति अन्य दूसरे एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को धोखे मे रख सकता है। सभी व्यक्तियों को सदैव धोखे मे नही रखा जा सकता। एक न, एक दिन सत्य बात सामने आ जाती है और वही विद्रोह का आधार बन जाती है। इसीलिए शासन को धोखे-धड़ी का प्रयोग नही करना चाहिए।

(३) पदाधिकारियों को (विशेषरूप से भ्रष्ट प्रजातन्त्र में) ६ माह से अधिक पद पर नहीं रहने देना चाहिये—एक ही स्थिति मे पदाधिकारियों को स्थानान्तरित करते रहने से अन्य व्यक्तियों को कार्य करने का अवसर मिलता है और वे विद्रोह आदि के बारे मे नहीं सोच पाते हैं। इसके अतिरिक्त इस अवधि मे स्थानान्तरण करते रहने से पदाधिकारी भी भ्रष्ट नही होते।

(४) राज्य को पदाधिकारियों आदि के विवाद और संघर्ष रोकने के लिये विधियों का निर्माण करना चाहिये—उसे उच्च स्तरीय व्यक्तियों के संघर्षों को रोकने के साथ ही उन व्यक्तियों को भी रोकना चाहिए जो अब तक उनमे लिप्त नही हुए हों। अच्छे राजनीतिज्ञ सदैव बुराई को समूल नष्ट करते हैं। वे उसके पनपने से पूर्व ही उसे रोक देते हैं। राज्य की विधियाँ संघर्षों का प्रारम्भ करने से पूर्व ही उनका अन्त कर देती हैं।

(५) प्रजातंत्र और कुलीनतन्त्र में आय-व्यय का प्रतिवर्ष निरीक्षण होना चाहिये—उसका विगत वर्ष की स्थिति से मिलान किया जाय और जहाँ तक सम्भव हो उसका प्रतिवर्ष निर्माण किया जाय। राज्य की स्थिति के अनुकूल उसे घटाया या बढ़ाया भी जा सकता है।

(६) "राज्य में किसी भी व्यक्ति को ऐसा पद नहीं प्रदान करना चाहिये जिससे वह अन्य व्यक्तियों से बहुत ऊँचा उठ जाय—केवल मध्यम श्रेणी का सम्मान किया

जाना चाहिये। यह सम्मान स्थाई होते हुये भी उतना हानिकारक नही होता जितना थोड़ी देर के लिये दिया गया सर्वोच्च सम्मान। जिनको इस प्रकार का सम्मान दिया गया हो, धीरे-धीरे उसे वापिस ले लेना चाहिये।

(७) विधियों तथा अन्य सम्भव उपायों द्वारा इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि जनता के पदाधिकारी अपनी स्थिति का दुरुपयोग न करें और अनुचित लाभ न उठायें—साधारण जनता को इस बात से बहुत दुख होता है कि राज्य कर्मचारी जनता के धन की चोरी करते हैं। इस असन्तोष का एक कारण यह भी होता है कि उन्हे राज्य के सम्मान प्राप्त नही होते और दूसरे व्यक्तियो को उन पर देख कर जलन स्वाभाविक ही है।

(८) जनता के समस्त धन की व्यवस्था, आदान-प्रदान-सम्पूर्ण राज्य के सामने करना चाहिये—हिसाब की अनेकों प्रतियाँ करा कर उन्हे राज्य के विभिन्न क्षेत्रो मे रख दिया जाना चाहिए। कुलीन तन्त्र और प्रजातन्त्र के मिश्रण का तरीका यह है कि शासकीय कर्मचारियो को उनके कार्य के लिए वेतन नही दिया जाना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि धनी और निर्धन दोनो ही समान रूप मे शासन मे भाग ले सकेंगे। इन पदाधिकारियो को वेतन नही लेने के कारण, विधियो को उनके लिये उचित, सम्मान की व्यवस्था करनी चाहिये।

(९) यदि राज्य के शासन में परिवर्तन करने के लिये कुछ व्यक्ति उत्सुक हों, उनके व्यवहार और आचरण पर निगाह रखने के लिये एक पदाधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिये—इस पदाधिकारी को राज्य के शासन विरोधी आचरण का पता लगाना चाहिए। राज्य मे जो व्यक्ति अधिक सम्पन्न होने जा रहे हैं उनके आचरण से अन्य व्यक्तियो की रक्षा के लिये उनके विपरीत आचरण के लोगो को पदो पर नियुक्त करना उचित होगा। उदाहरण के लिए, धनिक वर्ग के सम्पन्न होने पर उनके आचरणो पर ध्यान रखा जाय और राज्य के पदो पर निर्धनो को नियुक्त किया जाय। इन वर्गों मे इस प्रकार सन्तुलन बन जायेगा और क्रांति का भय नही रहेगा।

(१०) राज्य क्रांति को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि राज्य के प्रथम श्रेणी के पदाधिकारियों की योग्यता के सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखी जायें—यह पद उन व्यक्तियो को ही दिया जाय जिन्हें राज्य के संविधान मे आस्था है, उनकी योग्यतायें, उनके पद के अनुकूल ही होना चाहिये। उनके गुण और कार्य दक्षता न्याय की धारणा के समान हो। कभी-कभी यह बहुत कठिन हो जाता है कि एक ही व्यक्ति मे यह तीनो योग्यतायें पाई जायें। इसकी पूर्ति के लिए अरस्तू ने एक आधार बताया कि हमे व्यक्ति के गुणो आदि पर ध्यान देने के साथ यह भी देखना चाहिए कि वह विधान की रक्षा के लिये तत्पर है या नही। यह भी स्मृतव्य है कि विदेशियो को महत्वपूर्ण पद प्रदान नही किये जायें।

(११) कुलीनतन्त्र में निम्न वर्ग के प्रति सद्व्यवहार रखना चाहिये—उनके हितो की प्रजातन्त्रीय धारणा रखनी चाहिए। धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा यदि उनके ऊपर अत्याचार किया जाय तो उनके अपराधी पर कठोर दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार प्रजातन्त्र में धनवानो के हित का ध्यान रखा जाय तथा सम्पत्ति के अपव्यय को रोकने का प्रबन्ध किया जाय।

(१२) संविधान के प्रति आस्था रखने वालों को राज्य के स्थाई स्वरूप बनाये रखने के लिये 'संविधान खतरे में' यह नारा लगाकर जागृत रखना चाहिये—इससे द्वारा वे नागरिक जो राज्य मे नित्य प्रति परिवर्तन विरोधी हैं, राज्य की रक्षा के लिए तैयार हो जाते है।

(१३) शासन को प्रजा का ध्यान अन्य समस्याओं में लगा कर अपना स्थायित्व बनाना चाहिए—समय-समय पर विदेशी आक्रमण आदि का भय दिखा कर प्रजाजनों को अपने प्रति भक्त बनाना चाहिए। वही मनुष्य जो उसका विरोध करते हैं, ऐसी स्थिति में मतभेद त्याग कर राष्ट्र की रक्षा भावना से तत्पर हो जाते हैं।

(१४) शासन को मध्यम श्रेणी का रखना चाहिए। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' के कथन को ध्यान में रखकर प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र कैसी भी पद्धति क्यों न हो, मध्यम मार्ग पर चलाना चाहिए ? अति विद्रोहजनक होती है, अतएव कोई भी कार्य ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे विद्रोह की स्थिति आ पाये।

(१५) राज्य क्रान्ति को दूर करने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपाय वह है, जिस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। नागरिकों को ऐसी शिक्षा प्रदान की जाय जिससे वे संविधान को अपनी आत्मा में उतार लें। शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति इस योग्य बन सकते है कि वे संविधान के अनुकूल अपना जीवन ढाल लें।

अरस्तू ने क्रान्ति को रोकने के उपायों के वर्णन में अपने कूटनीति विवेक की समझदारी, दूरदर्शिता का प्रयोग किया है।

राजतन्त्र (Monarchy) में क्रान्ति के कारण और दूर करने के उपाय—(Causes of Revolutions in Monarchy and the safeguards)—राजतन्त्र की स्थापना उच्च श्रेणी के व्यक्ति जन समूह से अपनी रक्षा के लिए करते हैं। राजा कुलीन व्यक्तियों में से अपने उच्च गुणों से आधार पर बना दिया जाता। राजतन्त्र में शासक जनता की रक्षा करता है। जनता स्वेच्छा से उसके आदेशों का पालन करती है। लेकिन ज्ञान के प्रकाश फैलने से वह यह समझ जाती है कि सम्प्रभु शक्तियां एक व्यक्ति के हाथों में नहीं हो सकती और इसीलिए वह उसके आदेशों का पालन करना बन्द कर देती है। शासन अत्याचार करना प्रारम्भ कर देता है। यह निरंकुशतन्त्र कहलाता है। इसमें प्रजातन्त्र और कुलीनतन्त्र की बुराइयाँ संगठित होती हैं। निरंकुश शासक विलासी जीवन व्यतीत करता है। जनता उसमें विश्वास नहीं रखती।

इस शासन क्रान्ति का कारण शासक की निर्दयता तथा अत्याचार होते हैं। शासन जनता से घृणा करता है, उनमें विश्वास नहीं रखता, उन्हें अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से वंचित कर देता है और यह दुर्व्यवहार यहाँ तक बढ़ जाता है कि, नागरिकों को देश से निकाल देता है। धनी वर्ग का दमन करने के लिए उन्हें अपमानित तथा बुरे रूप में दबाया जाता है। "फलस्वरूप उन व्यक्तियों में षड्यन्त्र प्रारम्भ हो जाते हैं, जो शासन करना चाहते थे या जो दास नहीं बनना चाहते।"

राजतन्त्र में क्रान्ति के कारण वही होते हैं, जो प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र में होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्याय क्रान्ति का कारण बनता है। जब किसी व्यक्ति या वर्ग को उसके व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि से वंचित कर दिया जाता है तो वह क्रान्ति की तैयारी प्रारम्भ कर देता है। भय तथा घृणा राजतन्त्र के उखाड़ने के लिए पर्याप्त कारण हैं।

राजतन्त्र में क्रान्ति निवारण के उपाय (Method to prevent revolutions in monarchy)—(१) राजतन्त्र की सुरक्षा के लिए राजा की शक्ति मर्यादित रखनी चाहिए। जब राजा की शक्तियों का क्षेत्र जितना कम होगा, उसका स्थायित्व उतना ही अधिक होगा। यदि वह कम अत्याचार करेगा और शासितों के प्रति समानतापूर्ण व्यवहार करेगा, शासित भी उसके प्रति घृणा, द्वेष आदि नहीं रखते।

(२) शासक को अपनी शक्तियाँ अन्य व्यक्तियों को प्रयोग के लिए दे देनी चाहिए।

(३) वह व्यक्ति जिनकी उच्च इच्छायें हों, उन्हें दबा कर रखना चाहिये। उन्हें जेल भेजा जाय, या राज्य से निष्कासित किया जाय या मार डालना चाहिए।

(४) जनता के पारस्परिक सहयोग को विकसित नहीं होने देने के लिये उन स्थानों पर प्रतिबन्ध रखना चाहिये जहाँ व्यक्ति आपस में मिलते-जुलते हों। सार्वजनिक भोजनालय, क्लब तथा शिक्षा संस्थाओं को बन्द करना चाहिए। राज्य को महत्वशील पारस्परिक विश्वास बढ़ाने वाली बातों पर निगरानी रखनी चाहिए।

(५) पढ़े लिखे व्यक्तियों के सम्मेलन आदि नहीं होने चाहिये, जहाँ वे आपस में उठ बैठ सकें और एक दूसरे से वार्तालाप कर सकें और परिचित हो जायें। जहाँ तक वह प्रयत्न कर सके, एक दूसरे से अनजान रखे क्योंकि ज्ञान विश्वास वृद्धि करता है।

(६) अजनबी व्यक्तियों को नगर द्वार के पास रखना चाहिए, जहाँ पर उनकी गतिविधियों को अच्छी भाँति देखा जा सके। उन्हें अपनी प्रजा को उन कृत्यों को, जो फारस आदि में प्रचलित हैं जैसे झुक कर तीन बार मुजरा करना आदि, सिखाना चाहिए। गुप्तचर सभाओं तथा वाद विवादों में जाकर जनता की बातें सुनें।

(७) राज्य की जनता में परस्पर अविश्वास और फूट पैदा कर देनी चाहिए। जिससे मित्र-मित्र से, धनवान-निर्धनों से कुलीन अन्य व्यक्तियों से झगड़ा करें और हाथा-पाई हो जाय।

(८) राजतन्त्र को क्रान्तियों से बचाये रखने के लिये जनता को निर्धन रखना चाहिए। उन्हें जीविकोपार्जन में ही इतना व्यस्त रखना चाहिए, जिससे उन्हें षड्यन्त्रों की बात तक सोचने का अवसर ही न मिले। जनता को निर्धन रखने के लिए उन पर कर लगाये जायें और जनता की समस्त व्यक्तिगत सम्पत्ति राजकोष में इकट्ठा कर ली जाय। साइराक्यूज में डायनोसीयस ने ५ वर्ष के शासन काल में जनता की व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने यहाँ इकट्ठी कर ली थी। जनता को व्यस्त रखने के लिये पिरेमिड, विशाल मन्दिर आदि भव्य निर्माण कार्य कराता रहे।

(९) राजतन्त्र में सदैव जनता को युद्ध में संलग्न रखे, जिससे उन्हें रोजगार प्राप्त होता रहे और अपने सेनापति के ऊपर निर्भर बने रहें।

निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति निवारण के उपाय—(१) निरंकुशतन्त्र को जनता के हृदय को आकर्षित करने के लिये भी कुछ कार्य करने चाहिए। उसे अपने हाथ में सम्पूर्ण शक्ति रखते हुये यह प्रदर्शित करना चाहिए कि वह परम राजतन्त्र ही है।

(२) उसे धन व्यय करने में मितव्ययी होना चाहिए। जनता अपने पसीने की कमाई देती है यदि वह उसका दुरुपयोग होते हुए देखती है, तो उसके हृदय में क्रान्ति की भावना उमड़ती है। शासकों को अपनी आय-व्यय का वास्तविक ब्यौरा रखना चाहिए।

(३) उसे धन एकत्रित करने का उद्देश्य स्पष्ट कर देना चाहिए कि वह राजकार्य तथा युद्ध आदि के लिये ही एकत्रित कर रहा है उससे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकतायें पूरी नहीं करेगा :

(४) उसका व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए जिसके प्रति जनता आदर करे, उससे मिलने आने वाले उससे प्रभावित होकर लौटें। यह उसी अवस्था में हो सकता है जब वह योग्य, गम्भीर, श्रेष्ठ, निष्कलंक चरित्र युक्त हो। उसे अपने परिवार की महिलाओं को भी अन्य महिलाओं के साथ अच्छा व्यवहार करने की शिक्षा देनी चाहिये।

(५) निरंकुश शासक को अपने राज्य में सजावट आदि करनी चाहिए जिससे जनता उसे अपना हितैषी समझे। उसको ईश्वरोपासना भी बहुत ढंग से करनी चाहिए।

(६) शासक को अपने राज्य के उच्च कोटि के व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिये। जो सम्मान सूचक उपाधि आदि वितरित करनी हो, उन्हें स्वयं अपने हाथों वितरित करे और जब कभी दण्ड आदि देना हो उसे अन्य अधिकारियों द्वारा प्रदान कराये।

(७) राज्य की रक्षा के लिये यह भी आवश्यक है कि किसी एक व्यक्ति को बहुत बड़ा न बना दे, जिससे वह सर्वोच्च सत्ताधारी बन जाय। कई व्यक्तियों को नियुक्त करना उपयुक्त रहेगा। ऐसी अवस्था में वे एक दूसरे पर नियन्त्रण रख सकेंगे। यदि कोई व्यक्ति शासन में पहले से ही हो, तो क्रमशः धीरे-धीरे नीचे के पद पर पहुँचाया जाय।

(८) निरंकुश शासक को असभ्यता के कार्य नहीं करने चाहिये। कठोर दण्ड, जहाँ तक सम्भव हो नहीं प्रदान किया जाय। दण्ड देते समय शासक को ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार धन लोलुप के धन हरण से जो प्रतिक्रिया होती है, वही किसी सम्मान-इच्छुक व्यक्ति के सम्मान पर आँच आने से होती है, इसलिये व्यक्तिगत दण्ड नहीं दिया जाय। यदि दण्ड देना ही पड़े तो उसका स्वरूप वही होना चाहिये जो एक पिता अपने पुत्र को सुधारने के लिये प्रयोग करता है।

(९) राज्य के धनी और निर्धन दोनों के साथ समान व्यवहार करना चाहिये। यदि उन दोनों में से कोई पक्ष अधिक शक्तिशाली हो, शासक को उससे ही मिल जाना चाहिये। जब वह शक्तिशाली वर्ग से मिल जाता है, वह षड्यन्त्र रोकने में समर्थ हो जाता है।

अरस्तू ने क्रांति और उनको दूर करने के कई उपाय राज्य के स्थाई बनाने के लिये आवश्यक दिखाई देते हैं। इन उपायों का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह कूटनीति में पारंगत रखता है और शासकों को उपदेश दे रहा है।

शासन के अंग और उनका संगठन
(Administrative Organs and their Organisation)

राज्य के कार्य संचालन के लिये शासन संस्था की आवश्यकता होती है। शासन संस्था के तीन अंग होते हैं। यह तीनों ही अंग आपस में सहयोग पूर्वक अपना

कार्य करते हैं। सबसे पहला अंग वादविवाद करने के लिये एक सभा के रूप मे कार्य करता है। यह जन सभा (Public Assembly) कहलाता है। यह सर्वोच्च सत्ताधारी होता है। यह अंग शासन को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि यह ऐसे कानूनो का निर्माण करता है, जो हितकारी होते है। यह जन सभा अल्पकाल तक बैठा करेगी, इसके सदस्यो को वेतन आदि नही दिया जायगा। यह निर्धनो की अवस्था सुधारने के लिये कानून बनायेगी तथा राज्य की बची हुई आय निर्धनो मे बांट दी जायेगी।

राज्य मे कार्यपालिका शक्तियो का प्रयोग करने वाले मजिस्ट्रेट होंगे उनकी संख्या राज्य के आकार के आधार पर कम या अधिक होगी यह मजिस्ट्रेट कई प्रकार के होंगे।

(१) बाजार नियन्त्रक मजिस्ट्रेट, राज्य के क्रय-विक्रय कर्त्ताओ की आवश्यकताओ की पूर्ति पर ध्यान देंगे।

(२) भवन निरीक्षक मजिस्ट्रेट राज्य के अन्दर व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक भवनो की देखभाल करेंगे, सडक की मरम्मत कराते रहेंगे, कच्चे, गिरने वाले मकानो का प्रबन्ध करायेगे। उनका यह कार्य बडे-बडे राज्यो मे कई मजिस्ट्रेटो मे बांट दिया जायगा। वे अलग-अलग भवन, फुब्बारे, समुद्र तट आदि की व्यवस्था करेंगे।

(३) भूमि तथा जंगलो का निरीक्षक (Inspector of Land and woods) राज्य के बाहर उसकी भूमि तथा जंगलो का कार्य संभालेंगे।

(४) कर संग्रह कर्त्ता कर सग्रह कर उसे विभिन्न विभागाध्यक्षो को सौंपेंगे।

(५) विधि सरक्षक (Proctors) न्यायालय के नियमों तथा व्यक्तिगत समझौतो आदि का लेखा-जोखा रखेंगे।

(६) यह पदाधिकारी जेल की देखभाल करेंगे तथा यह देखेंगे कि जिन्हें दण्ड दिये गये हैं वे दण्ड भुगत रहे हैं या नही, जुर्माना आदि चुकाया गया अथवा नही।

(७) राज्य रक्षक (city guard) पद पर युवक कार्य करेंगे। यह मजिस्ट्रेट विशेष योग्यता तथा बुद्धि वाले नागरिक होंगे। यह युद्ध और शान्ति काल मे राज्य के द्वार तथा चहारदीवारी की रक्षा करेंगे। इसको जनरल या पोलिमार्क कहा जायगा तथा इसी प्रकार अन्य कई प्रकार के मजिस्ट्रेट होंगे जो शिक्षा, वित्त आदि का प्रबन्ध करेंगे।

न्यायालय मे विभिन्न न्यायाधीश होंगे। वे अपने क्षेत्र मे न्याय करेंगे। युवको के अपराध पर युवक न्यायाधीश ही विचार करेंगे। विभिन्न न्यायाधीशों मे से एक निर्णय देगा दूसरा उसे क्रियान्वित करायेगा। उदाहरण के लिये बाजार मजिस्ट्रेट द्वारा दिये गये दण्ड को भवन मजिस्ट्रेट क्रियान्वित करेगा।

सर्वोत्तम राज्य (Best State)

अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के समान आदर्श राज्य अथवा सर्वोत्तम राज्य के सम्बन्ध मे अपनी रचना 'राजनीति' की सातवीं और आठवीं पुस्तक मे विचार

व्यक्त किये हैं। अरस्तू यथार्थवादी है, इसलिये वह पंख लगा कर कल्पना लोकीय विचार जगत में भ्रमण नहीं करता, उसने प्लेटो की आदर्शवादिता को अपनी यथार्थवादी लेखनी से चित्रित किया है। अतः हम कह सकते हैं कि अरस्तू के आदर्श राज्य का निर्माण यथार्थ और आदर्शवाद, इन दोनों के मिश्रित गारे से किया गया है। अरस्तू ने वास्तविकता को विस्मृत नहीं किया; और साथ ही अपने विशेष ज्ञान के आधार पर जिन सूक्ष्मताओं का चित्रण किया वह अद्वितीय है।

सर्वोत्तम राज्य वह राज्य होता है जिसमें नागरिक श्रेष्ठ और सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। श्रेष्ठ और सुखी जीवन बाह्य और आन्तरिक उपलब्धियों से प्राप्त होता है। सम्पत्ति, धन, तथा सम्मान आदि बाह्य साधन व्यक्ति को गुणी जीवन प्रदान नहीं करते, केवल सुखी बनाते हैं लेकिन जो व्यक्ति अपनी आत्मा के नैतिक विचारों को विकसित कर लेते हैं, अपनी उच्चता के कारण गुणी तथा श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते हैं। अधिक बुद्धि और गुणों से सम्पन्न व्यक्ति, आन्तरिक उपलब्धि के कारण बहुत सुखी रहता है। अतः सर्वश्रेष्ठ राज्य व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ गुणों पर आधारित होता है। यदि किसी एक व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ गुण प्राप्त होते हैं और वह शासन करता है, वह शासन आदर्श राजतन्त्र होगा। यदि इसी प्रकार कुछ व्यक्ति आदर्श गुण सम्पन्न होने के कारण शासन करेंगे तो वह शासन आदर्श कुलीनतन्त्र होगा। "वास्तव में वही शासन आदर्श होगा, जिसका आधार यह हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों के अनुसार गुणी जीवन व्यतीत करता हुआ सुखी रहे।"

अरस्तू का मध्य सिद्धान्त (Theory of Mean)—आदर्श राज्य नागरिकों का ऐसा समूह होगा, जो गुणी-बुद्धि सम्पन्न होने के अतिरिक्त धनी और निर्धनों में उचित सामंजस्य होने के कारण स्थाई होगा। "मानवीय समुदाय अत्यधिक धन अथवा निर्धनता होने के कारण दूषित हो जाता है और सम्पूर्ण बुराइयों के स्रोत इस अति पर आधारित होते हैं। जब समाज में किसी वर्ग के पास अतुल सम्पत्ति आ जाती है तो वह अभिमानी हो जाता है तथा राज्य के नियमों का पालन नहीं करता, दूसरी ओर निर्धनता मनुष्य में दासत्व ला देती है, वह आज्ञा देने में असमर्थ हो जाता है।"

अरस्तू ने आदर्श राज्य की प्रकृति निर्धारित करते हुये बताया कि उसमें नागरिक आज्ञा देने और आज्ञा पालन करने के गुणों से युक्त होना है। अतः यदि एक ओर धन की विपुलता के आधार पर एक वर्ग और उसकी न्यूनता के आधार पर निर्मित दूसरा वर्ग राज्य में स्थापित हो जायेंगे वे गुणों के सामंजस्य विहीन तो होंगे ही, साथ ही साथ उनमें भेदभाव बढ़ जायेगा और धन की गहरी खाई उनमें मित्रता और सहयोग बनाये रखने में बाधक होगी। प्रत्येक समुदाय का आवश्यक गुण सहयोग राज्य में नहीं रहेगा। अतः आदर्श राज्य धनी और निर्धन अवस्था के मध्य में स्थित होगा। आदर्श राज्य ऐसे नागरिकों का समूह होगा जो न तो अधिक धनी होंगे और न ही निर्धन वरन् बहुसंख्या में वे मध्यम श्रेणी के होंगे। यह राज्य क्रान्ति और परिवर्तन के भय से सुरक्षित रहेगा। इसमें शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा का प्राधान्य होगा।

आदर्श राज्य सुप्रजातन्त्र (Polity) तथा मिश्रित राज्य होता है यह प्रजातन्त्र (Democracy) तथा कुलीनतन्त्र दोनों के ही गुणों का एकीकृत रूप होता है।

इसमे दोनो शासन के उल्लेखनीय तत्व मिल कर उसे सफल बनाते हैं। अरस्तू किसी भी राज्य विशेष को ही आदर्श राज्य नहीं कहता है वरन उसका कहना है कि प्रत्येक राज्य निर्धारित परिस्थितियो तथा वातावरण मे आदर्श राज्य बन सकता है। सुप्रजातन्त्र का ही विशेषाधिकार नही है कि वह आदर्श राज्य कहलाये। एक व्यक्ति का शासन भी आदर्श हो सकता है तथा कुछ व्यक्तियो का शासन भी, लेकिन उनके लिये आवश्यक तत्व उपयुक्त परिस्थितियाँ हैं। यदि राज्य अपने वर्तमान रूप को नित्य परिवर्तित करता रहेगा उसे आदर्श राज्य नहो कहा जा सकता। आदर्श राज्य का गुण उसका स्थायित्व है। अत. जो राज्य अधिक स्थाई रह सकता होगा, वह आदर्श कहलायेगा। प्रत्येक शासन मे यह गुण पाया जाता है, लेकिन उसका निम्न क्रम होता है :

(१) आदर्श राजतन्त्र (२) विशुद्ध कुलीनतन्त्र, (३) मिश्रित कुलीनतन्त्र, (४) सुप्रजातन्त्र, (५) अत्याधिक सौम्य कुप्रजातन्त्र, (६) अत्याधिक सौम्य भ्रष्ट कुलीनतन्त्र, (७) कुप्रजातन्त्र तथा भ्रष्ट कुलीनतन्त्र का मध्यवर्ती शासन, (८) उग्र कुप्रजातन्त्र, (९) उग्र कु-कुलीनतन्त्र, (१०) निरकुश तन्त्र।

अरस्तू ने आदर्श राज्य के निर्माण के लिये गुणो की साधना के अतिरिक्त बाह्य साधनो पर प्रकाश डाला है। उसने राज्य की विभिन्न आवश्यकताओ मे सन्तुलन रखने के लिये जन संख्या तथा भूमि आदि की सीमा निर्धारित की। आदर्श राज्य मे निम्न बातो को ध्यान मे रखना चाहिये—

१. जनसंख्या (Population)—आदर्श राज्य की जनसख्या न तो अत्यधिक होनी चाहिये और न हो कम। अधिक जनसख्या सम्पन्नता तथा सुख के लिये उतनी ही अनुपयुक्त है जितनी कम जनसख्या। अरस्तू यहाँ पर मध्यम जनसख्या का अनुयायी है। एक कलाकार को अपने विचारो को चित्रित करने के लिये जितनी सामग्री आवश्यक होती है, उससे कम से काम नहीं चलता है और अधिक अनावश्यक हो जाती है। एक ६ इच लम्बे जहाज अथवा दो फर्लाङ्ग लम्बे जहाज दोनो ही अनुपयुक्त होते हैं, उन्हें केवल आवश्यकता के अनुकूल होना चाहिये। इसलिये आदर्श राज्य की जनसख्या इतनी होनी चाहिये, जो उनके निवासियो को प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक हो। उसकी आवश्यकतायें भली प्रकार पूरी हो जाती हो और वे स्वतन्त्रता पूर्वक स्वनियंत्रण मे रहते हो।

यह अत्यधिक जनसख्या इतनी होगी कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे से भली प्रकार से परिचित होगा और अपने साथी नागरिको के बारे मे सब कुछ जानता होगा। यदि सभी व्यक्तियो को एक स्थान पर एकत्रित किया जाय और उनमे जोर से कुछ कहा जाय तो सब सम्मिलित लोग उसे सुन सकें। मजिस्ट्रेट आदि उन्हें एक ही दृष्टि मे देख सकें। वे नागरिको के अपराधो तथा चरित्रों आदि की जानकारी रखते हो जिससे गवाह आदि की जरूरत न पडे। नागरिको की इस सख्या का निरीक्षण आसानी से किया जा सके।

२. भूमि (Territory)—भूमि का आकार भी जनसख्या की भाँति ही न तो इतना अधिक होना चाहिये कि उसकी रक्षा की व्यवस्था न हो सके और न ही इतना कम होना चाहिये कि नागरिको की आवश्यकतायें भी पूरी न हो सकें। वह अपनी सीमाओ के अन्तर्गत सभी स्थानो को सहायता प्रदान करने तथा प्राप्त करने

के लिये उपयुक्त होनी चाहिये। राज्य की स्थिति समुद्र के तट के पास होनी चाहिये। समुद्र के आस-पास बसे होने से अनेकों लाभ हैं। सर्वप्रथम यह राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। समुद्र और तट मार्ग दोनों ही यह शत्रु के आक्रमण का मुकाबिला कर सकता है। यह आयात तथा निर्यात की सुविधा प्रदान करता है। लेकिन विदेशों से व्यापार को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया जायगा। राज्य में एक किला होगा जिसके चारों ओर ऊँची सुरक्षात्मक दीवार होगी, जल और थल सेना होगी।

राज्य की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुये अरस्तू ने कहा कि समुद्र तट से सम्पर्क होने के कारण राज्य की जल वायु स्वास्थ्य वर्धक रहेगा। पूर्वी राज्य में पूर्व से आने वाली हवायें सर्वाधिक स्वास्थ्यप्रद होती हैं। शीत ऋतु में उत्तरी राज्य श्रेष्ठ है। यहाँ पानी की कमी नहीं, नदियाँ होने से पीने के लिये अच्छा पानी प्राप्त होगा। राज्य में मकानों का निर्माण सुरक्षा के आधार पर किया जायगा जिससे शत्रु आसानी से प्रवेश नहीं कर सकें। राज्य में जनता की उपासना आदि की आवश्यकता पूर्ति के लिये मन्दिर होंगे तथा स्तम्भ आदि सजावट करेंगे।

३. नागरिकों का चरित्र (Character of citizens)—अरस्तू ने बताया कि आदर्श राज्य के नागरिकों का चरित्र यूनानी होना चाहिये। शीत प्रदेश के निवासियों का साहस, स्वतन्त्रता के प्रति जागरूकता, एशियावासियों की सहज बुद्धि, कलाप्रियता, आदि गुण यूनानी जाति की विशेषता है। यही गुण किसी भी आदर्श राज्य के नागरिकों को एक ओर विवेक तथा सांस्कृतिक गुण दूसरी ओर स्वतन्त्रता प्रेम के लिये मर मिटने की प्रेरणा देते हैं।

४. समाज का वर्गीकरण (Classification of society)—अरस्तू ने आदर्श राज्य के निवासियों को दो भागों में विभाजित किया। प्रथम वर्ग में नागरिक आते हैं। नागरिकों का लक्ष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सुख प्राप्त करना है। अतः यह वर्ग कला, शिल्प, उद्योग आदि में भाग नहीं लेगा। नागरिक केवल शासक, सैनिक तथा पुरोहित का कार्य कर सकेंगे। दूसरे वर्ग में अन्य बचे हुए समस्त निवासी आते हैं जो अपनी योग्यता के अनुसार विभिन्न प्रकार के कार्य करेंगे और राज्य को सुखी बनाने के लिये योग देंगे। इस वर्ग में राज्य की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कृषक, कला-विशारद, सैनिक, व्यापारी आदि होंगे हैं। अलग-अलग कार्यों को अलग-अलग व्यक्ति करेंगे या एक ही व्यक्ति कलाकार, सैनिक आदि सभी कार्यों को करेगा? इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू ने बताया, कि कुछ कार्य तो ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, कुछ कार्य करने के लिये विशेष योग्यता होनी चाहिये, उदाहरण के लिये सैनिक को युद्ध कला का विशेष ज्ञान होना चाहिये और उसमें अदम्य साहस होना चाहिये। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने यह भी बताया कि व्यक्ति को वही कार्य करने देना चाहिये जिसके लिये उन्हें प्रकृति ने योग्य बनाया हो जैसे युवावस्था में नागरिकों में साहस होता है, प्रौढ़ावस्था में निर्णय शक्ति होती है, अतः युवकों को सैनिक तथा वृद्धावस्था में न्यायाधीश का कार्य करना चाहिये। दास कृषि तथा कलात्मक उत्पादन किया करेंगे। नागरिकों को श्रम नहीं करना पड़ेगा। वे अपने सुखी जीवन के लिये जीविकोपार्जन आदि की चिन्ता से मुक्त रहेंगे।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण वर्णन के अतिरिक्त अरस्तू ने आदर्श राज्य की आन्तरिक व्यवस्था की सूक्ष्मताओं पर विचार किया। राज्य कैसे संगठित होगा, अपनी सुरक्षा कैसे

करेगा, उसमे जल व्यवस्था किस प्रकार होगी सडको की व्यवस्था क्या होगी तथा मकान आदि किस प्रकार बनाये जायेंगे आदि पर विचार किया। सुरक्षा व्यवस्था पर अरस्तू के विचार पढने से ऐसा विदित होता है कि वह आक्रामक युद्ध नही चाहता था और यदि शत्रु आक्रमण कर दे तो उसका मुकाबला करने के लिये हर सम्भव अस्त्र-शस्त्रो से तैयार रहना चाहिये।

(५) शिक्षा (Education)—अरस्तू ने नागरिको मे आदर्श चरित्र निर्माण के लिये *प्लेटो के समान एक व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया। राज्य की* पूर्णता उसके अगो की पूर्णता होती है, उसके अग (नागरिक) नैतिक और बौद्धिक उच्चता प्राप्त करने पर ही पूर्ण होते हैं। अत नागरिक को श्रेष्ठ बनाने के लिये एक रूपता युक्त, अनिवार्य, सार्वजनिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिये।

शिक्षा का उद्देश्य नागरिको का सर्वाङ्गमुखी विकास करना होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रम मे पठन, व्यायाम, सगीत तथा चित्रकला होनी चाहिये। पठन एव चित्रकला जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षा प्रदान करती है, व्यायाम शरीर को फुर्तीला बनाये रखने के लिये आवश्यक है, सगीत थके हुये शरीर एव मस्तिष्क को ताजगी प्रदान करता है। उसका महत्व अन्य शिक्षाओ से किसी प्रकार कम नही क्योकि बिना सगीत के क्लान्त मन विश्राम नही कर पाता और फलस्वरूप उसको आगे क्रियाशील नही बनाये रख सकते।

अरस्तू ने शिक्षा के पाठ्यक्रम पर भी विचार किया है। स्पार्टा ने एक मात्र सैनिक पाठ्यक्रम के कारण स्पार्टा का पतन हो चुका था अत अरस्तू ने सैनिक गुणो के साथ-साथ नागरिको के बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणो के विकास पर विशेष जोर दिया। उसने कहा कि ७ वर्ष की आयु होने पर माता-पिता के सरक्षण से बच्चो को ले लिया जायगा और उनको ऐसी शिक्षा दी जायेगी जो शारीरिक विकास के लिये आवश्यक हो। इसके सात वर्ष बाद बौद्धिक पाठ्यक्रम प्रारम्भ होगा जिसमे विभिन्न शास्त्रो तथा सगीत की शिक्षा दी जायेगी। इस शिक्षा पद्धति द्वारा नागरिक स्वास्थ्य-सौन्दर्य युक्त, नैतिक बौद्धिक पूर्णता युक्त, उच्च विचार तथा श्रेष्ठ कार्य करने वाले गुणवान मनुष्य बनेंगे।

सर्वोत्तम राज्य की आलोचना (Criticism of best state)—अरस्तू के आदर्श राज्य चित्रण मे कुछ ऐसे तत्व हैं जिनकी आलोचना की जाती है। अरस्तू यथार्थ आदर्श राज्य के सम्बन्ध मे विचार करता है जिसे भूतल के निवासी प्रयोगान्वित करें, लेकिन सत्य यह है कि उसने यूनान मे प्रचलित शासन पद्धतियो एव उनके गुणो को जिन्हे वह उपयुक्त समझता था, सकलन किया। एक शासन पद्धति मे जिस गुण को उचित समझा जाता है वह केवल उन्ही परिस्थितियो मे सफल हो सकते है यदि उन सबको एक स्थान पर रखा जाय तो यह हो सकता है कि वह पृथक रूप मे श्रेष्ठ प्रतीत हो, लेकिन सम्पूर्ण रूप मे भौडे मालूम पड़ें।

(१) केवल अपने देश को सर्वोत्तम मानना अरस्तू के विचारों की संकीर्णता प्रदर्शित करता है (*Extreme love of his own country depicts Aristotles narrowness*)—अरस्तू के आदर्श राज्य की आलोचना करते हुये यह कहा जाता है कि उसका आदर्श राज्य यूनान की पृष्ठभूमि पर आधारित है और उसके अतिरिक्त उसे कहीं क्रियान्वित भी नही किया जा सकता। उसने आदर्श राज्य के निवासियों

के चारित्रिक गुणों के सम्बन्ध में यूरोपीय देशों एवं एशिया के देशों के गुणों का समन्वय करना आवश्यक बताया है। यह गुण अपने भौगोलिक प्रभाव के परिचायक हैं फिर किस प्रकार उन्हें अन्य स्थान पर बनने वाले आदर्श राज्य में प्रविष्ट कराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू यह भी स्वीकार करता है कि यूनान ही एक मात्र ऐसा देश है जहाँ पर यह गुण पाये जाते हैं। यह उसका मातृभूमि के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है लेकिन अपनी ही जाति अथवा देश को सर्वोत्तम समझना उस जैसे महान् विचारक के लिये उचित नहीं दिखाई देता। यह उसके विचारों की संकीर्णता प्रदर्शित करता है।

(२) आदर्श राज्य केवल नगर राज्यों के लिये उपयुक्त हो सकता है (It can only fit the city states)—आदर्श राज्य का यह विचार केवल नगर राज्यों के लिये ही प्रस्तुत किया गया था। उन्हें देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि नियोजक एक माडल पर बैठा हुआ अपना मन बहला रहा है। यदि उसको प्रयोगान्वित किया जाय तो वर्तमान युग में उसका कोई महत्व नहीं। आज विशाल राष्ट्र बन गये हैं जो अरस्तू के मजिस्ट्रेटों के एक दृष्टि में निरीक्षण को अव्यावहारिक तथा असम्भव बना देते हैं।

(३) केवल आयु परिवर्तन के साथ मनुष्य में परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है (Change in age does not signify change in man)—आदर्श राज्य में व्यक्ति अपनी आयु के अनुसार कार्य करेंगे। युवावस्था में शौर्य का परिचय देने वाला सैनिक कभी भी वृद्धावस्था में न्यायाधीश का कार्य नहीं कर सकता। यद्यपि सैनिक कार्य करने के लिये जोश की आवश्यकता होती है लेकिन इनके साथ-साथ मनुष्य के मस्तिष्क का झुकाव भी उस ओर होना चाहिये। प्रत्येक युवक सैनिक का कार्य अच्छी तरह से नहीं कर सकता। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति युवावस्था में सैनिक और वृद्धावस्था में न्यायाधीश भी नहीं बन सकता। दोनों कार्यों को करने के लिये अलग-अलग गुण होने चाहिये जो किसी एक व्यक्ति में आयु परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं हो सकते।

(४) आदर्श राज्य के समाज का दो वर्गों में विभाजन भी अनुपयुक्त है (It is not to bisect society in ideal state)—एक वर्ग नागरिक होगा जो राजनीति में भाग लेने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करेगा। दूसरा वर्ग श्रमिकों (दासों) का होगा जो केवल उत्पादन कार्य करेगा। क्या यह विचार पूँजीवादी वर्ग के प्रतीक अप्रजातन्त्रात्मक राज्य का निर्माण नहीं करते। जहाँ एक व्यक्ति कमाये दूसरा उसके शोषण पर निर्भर रह कर मौज उड़ाये और यही नहीं उसे राजनीति में भाग लेने का अवसर भी प्रदान न किया जाय जिससे वह अपने जैसे अन्य व्यक्तियों को संगठित कर इस अत्याचार का विरोध भी कर सके। यह समाज अवश्य ही समानता के सिद्धान्त का विरोधी है अतः कभी भी 'आदर्श' नहीं हो सकता। अरस्तू के समाज वर्गीकरण सम्बन्धी विचार तत्कालीन प्रचलित दास प्रथा के समर्थन और उसे न्यायिक ठहराने के प्रयत्न मात्र हैं।

इसके विपरीत अरस्तू ने आदर्श राज्य के कुछ सिद्धान्तपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त प्रदान किये हैं। अरस्तू ने राज्य की जनसंख्या के लिये उसकी उपयुक्तता की सीमा निर्धारित की है और यदि राज्य की आबादी घटती-बढ़ती है तो उसका हम

भी प्रस्तुत किया है। जैसे यदि राज्य की जनसंख्या मे वृद्धि हो रही हो, और वह अपने नागरिकों को भोजन आदि देने मे भी असमर्थ हो तो परिवार नियोजन ही एक मात्र उसका निराकरण है।

अरस्तू ने शिक्षा व्यवस्था पर राज्य के नियन्त्रण को उचित बताया है। यह विचार भी उसकी दूरदर्शिता का प्रतीक है। आज विश्व के अधिकाश देशो मे शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण है। राज्य पाठ्यक्रम आदि भी निर्धारित करता है, योग्य छात्रो को प्रोत्साहन देता है।

अरस्तू ने बन्धन और सन्तुलन सिद्धान्त पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि जिस रूप मे यह सिद्धान्त आज प्रतिपादित किया जाता है, अरस्तू ने वैज्ञानिक ढंग से उसकी व्याख्या नही की, उसके विचारो मे अति के विपरीत मध्यम मार्ग के अनुसरण की झलक मिलती है, यह इस सिद्धान्त का आधार है।

सम्प्रभुता
(Sovereignty)

सम्प्रभुता की वैधानिक व्याख्या तत्कालीन यूनान के विचारको के लिए अज्ञात थी। इसकी वैज्ञानिक परिभाषा, नित्य प्रति परिवर्तन नगर राज्यो के लिये अपरिचित थी। यही कारण है कि अरस्तू ने सम्प्रभुत्व के सम्बन्ध मे किसी एक स्थल पर विचार प्रकट नही किये वरन् यत्र-तत्र अस्फुट रूप मे सर्वोच्च शक्ति के निवास पर विचार किया है। यद्यपि उनका वैधानिक महत्व नही है लेकिन वह अरस्तू की मौलिक दूरदर्शी प्रतिभा का प्रतिपादन करते हैं। अरस्तू की सम्प्रभुता के निवास सम्बन्धी धारणा उसे आधुनिक युग का विचारक बना देती है।

सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जिसे किसी एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियो या अधिकाश व्यक्तियो को प्रयोग करने का अधिकार होता है। यदि एक व्यक्ति इस शक्ति का उपभोग करता है तो उसे राजतन्त्र कहा जाता है। वह सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग विधियो के अनुकूल करता है। स्पार्टा मे राजतन्त्र पर परम्पराओ तथा विधि का आधिपत्य रहता है वह उनके विरोध मे कार्य नहीं करता। श्रेष्ठ मानव का शासन तथा श्रेष्ठ विधियो का शासन इन दोनो मे कौन श्रेष्ठ है। राजतन्त्र के समर्थक विधियो की दृढता के कारण उन्हें अनुपयुक्त बताते हैं क्योकि वे सामान्य विचारधारा का अनुगमन करती हैं और उन्हें परिस्थिति विशेष के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता। लिखित नियमो की दृढता उनका महत्व नष्ट कर कर देती है। दूसरी ओर विधि शासन के समर्थक सम्पूर्ण शक्तियाँ विधियो मे ही निहित रखना चाहते हैं क्योकि उनका शासन व्यक्तिगत भावनाओ क्रोध, ईर्ष्या आदि के प्रभाव से वंचित होता है। सम्प्रभुता एक के स्थान पर पर कुछ व्यक्तियों मे उनके गुण, योग्यता अथवा धन के आधार पर निहित होनी चाहिये। अरस्तू ने इस विचारधारा का खण्डन करते हुये बताया कि कुछ विद्वान अथवा गुणी व्यक्तियों के निर्णय के स्थान पर यदि सम्पूर्ण जनता को ही निर्णय करने का अधिकार दिया जाय तो वह अधिक अच्छा रहता है जिस प्रकार संगीतज्ञ की अपेक्षा उसके सुनने वाले, पाकशास्त्री की अपेक्षा भोजन करने वाले उसके गुणो को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। अत. यह कहना कि जन्म, गुण, धन आदि की उच्चता के आधार पर कुछ विशेष व्यक्तियों को सम्प्रभुता प्राप्त होनी चाहिये, ठीक नही। सम्प्रभुता सम्पूर्ण जन समूह को प्राप्त

होनी चाहिये। जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और समान होता है अतः सम्प्रभुता सार्वभौमिक (Popular) होनी चाहिये।

अरस्तू ने सम्प्रभुता के निवास पर विचार करते हुये यह बताया कि यदि वह जनता को सौंप दी जायेगी तो निर्धन व्यक्ति उसका दुरुपयोग कर सकते हैं और धनी व्यक्तियों के प्रति अत्याचार किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि वह धनी व्यक्तियों के हाथ में सौंप दी जाय, तो वह निर्धनों को सतायेंगे। यदि एक व्यक्ति के हाथ में सौंपी जायगी, वह स्वेच्छाचारी हो जायगा। अरस्तू कहता है कि सम्प्रभुता व्यक्तियों के उस समूह को सौंपी जाय जो राज्य के उद्देश्य पूर्ति में सबसे अधिक सहायक हो। राज्य की स्थापना मनुष्य अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये करता है। राज्य में सर्वोच्च शक्ति ऐसे व्यक्तियों को ही प्रदान करनी चाहिये जो अच्छे, गुणी जीवन व्यतीत करने में अधिक सहायक हों। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति कितने ही योग्य और गुणी क्यों न हों, अधिकांश व्यक्तियों के गुणों का योग उनसे अधिक होता है। अतः अरस्तू जनप्रिय सम्प्रभुता का समर्थक है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लिया जाना चाहिये कि राज्य के प्रत्येक पदाधिकारी की नियुक्ति तथा प्रत्येक कानून निर्माण में सभी व्यक्ति भाग लेंगे। महत्वपूर्ण तथा मौलिक पदाधिकारियों की नियुक्ति आदि पर जन समूह की स्वीकृति ली जायेगी। जन-समूह पदाधिकारियों के निर्वाचन को कुशलतापूर्वक कर सकता है।

अरस्तू ने जनप्रिय सम्प्रभुता को निरपेक्ष नहीं रखा। सम्प्रभुता चाहे एक व्यक्ति में निहित हो, अथवा कुछ या अधिकांश व्यक्तियों में निहित हो उसके ऊपर विधियाँ होनी चाहिये। किसी व्यक्ति समूह के स्थान पर विधियों का शासन होना चाहिये। विधि शासन सर्वश्रेष्ठ होता है। मजिस्ट्रेट आदि पदाधिकारी उसके संरक्षक होते हैं। विधि सर्वोत्कृष्ट मस्तिष्क की अनुपम कृति है, जो यह सर्वोच्च शक्ति मस्तिष्क को सौंपता है वह ईश्वरीय शासन आमन्त्रित करता है। सर्वोत्कृष्ट मनुष्य का शासन भी बिना विधियों के नियन्त्रण से पाशविक हो जाता है क्योंकि वासनायें उसे भ्रष्ट कर देती हैं। विधि इच्छाविहीन विवेक है, यदि विधियों के अनुसार कभी कार्य करना असम्भव प्रतीत हो तो जब विधि अस्पष्ट अथवा जटिल हो व्यक्तियों को उसे स्पष्ट करने का अवसर दिया जाय। जब विधियों की कमी पूरी करने का अवसर मनुष्यों को दिया जाय तो यह कार्य एक के स्थान पर अनेक व्यक्तियों को दिया जाना चाहिये। एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यक्ति उस कमी को अधिक अच्छी तरह पूरा कर लेंगे।

अरस्तू के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार की तीन विशेषताएँ हैं: सर्वप्रथम वह जन प्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का समर्थन करता है। द्वितीय वह जनप्रिय मानव निश्चित होना चाहिये। तृतीय वह विधियों की सीमा में रह कर कार्य करे।

अरस्तू की सम्प्रभुता की व्याख्या अस्पष्ट और जटिल है (Aristotelian definition of sovereignty is intricate and ambigous)—वह एक, कुछ तथा अधिकांश व्यक्तियों में सम्प्रभुता निहित करता है, इसके साथ ही विधि को भी सर्वोच्च बना देता है। यह समझना कठिन हो जाता है कि वह व्यक्ति को सर्वोच्च

मानता है या विधि को। वह लोकप्रिय प्रभुता का समर्थन करता है लेकिन उन्हें विधियो के अनुसार आचरण करने के लिये परामर्श देता है। यदि प्रभुता लोकप्रियता जन समुदाय मे निहित होती है तो विधियो के स्थान को सर्वोच्च नही कहेंगे।

इसके अतिरिक्त यदि विधियो को सम्प्रभु स्वीकार करें तो उनमे संशोधन करने और परिवर्तन करने वाली सस्था को निम्न स्थान दिया जायगा।

विधि और न्याय
(Law and Justice)

अरस्तू ने 'राजनीति' मे विधि पर विचार किया। उसने विधि के गुण और स्वरूप पर विद्वत्तापूर्वक चिंतन किया और बताया कि विधियाँ मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। सद्गुणी और नैतिक जीवन की आवश्यकतायें विधियो के बिना पूरी नही हो सकती। मनुष्य, पूर्ण होने पर, पशुओ से श्रेष्ठ है, लेकिन जब, विधियो और न्याय से पृथक हो जाता है, सबसे निकृष्ट हो जाता है। विधियो के आधार पर ही मनुष्य पूर्ण होता है। यही कारण है कि अरस्तू विधियो को सर्वोच्च महत्व प्रदान करता है। यहाँ वह प्लेटो से पृथक दिखाई देता है क्योंकि वह विधि शासन का स्थान बुद्धिमानो को नही देना चाहता। अपूर्व बुद्धि के शासक मे भी विधि का अवैयक्तिक गुण नही होता। उसमे व्यक्तिगत दोष आ जाते हैं।

अरस्तू ने बताया कि विधियो का निर्माण मनुष्य करता है। बुद्धिमान और अनुभवी व्यक्ति जिन कार्यों को करते है, उन्हें परम्परा बना कर अन्य लोग मानते है। विधि के रूप मे, इन्ही परम्पराओ को, मानव अनुभव की सन्तान होने के कारण, निश्चित स्वरूप प्रदान किया जाता है। इस प्रकार यद्यपि विधियाँ मनुष्य कृत होती हैं लेकिन फिर भी विवेक को सर्वश्रेष्ठ अनुकृति होने के कारण वह स्वय ईश्वर के समकक्ष हैं।

अरस्तू ने विधियों के गुणो पर भी प्रकाश डाला। प्रथम, विधियाँ अपरिवर्तन-शील होती हैं। उनमे परिवर्तन नही किया जाना चाहिये। द्वितीय, विधि विवेक का प्रतीक है। मनुष्य ने उन्हें सर्वोत्कृष्ट विवेक के आधार पर निर्मित किया है। मनुष्य के विवेक की कृति होने पर भी वह उसकी आकाक्षाओ आदि से प्रभावित नही होती। ('The law is reason unaffected by desire')। संक्षेप मे यह कह सकते हैं कि विधि शासन व्यक्तियो के शासन से श्रेष्ठ होता है। वह मजिस्ट्रेट का स्थान नहीं ग्रहण करता वरन् वह मजिस्ट्रेटो को नैतिक शक्ति प्रदान करता है। तृतीय, विधि परम्पराओ के विपरीत लिखित होती है। चतुर्थ, विधि नैतिक होती है।

अरस्तू ने कहा कि विधियो का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। यदि लिखित विधियो की परिधि से बाहर कुछ विषय रह गये हों तो उन पर एक या कुछ व्यक्तियो के स्थान पर अधिकांश व्यक्तियो को विचार करना चाहिये। विधि को पूर्ण बनाने या सशोधन आदि करने के लिये अधिकांश व्यक्तियों की सहमति आवश्यक है। विधियाँ सर्व मान्य होती हैं कोई भी व्यक्ति उनके निर्माण के बाद उनका उल्लघन नहीं कर सकता।

न्याय की विवेचना करते हुये अरस्तू प्लेटो का अनुयायी प्रतीत होता है। न्याय नैतिकता का गुण है। न्याय व्यक्तियो को उनकी शक्ति तथा गुणो के अनुसार महत्व

प्रदान करता है। उदाहरण के लिये अच्छे बांसुरीवादक को अच्छी बाँसुरी प्रदान करना न्याय है, अच्छे कुल के व्यक्ति को अच्छी बांसुरी प्रदान करना अन्याय है। जिस कार्य के लिये व्यक्ति की आवश्यकता है, उसके उसी गुण को महत्व देते हुये उसे स्थान प्रदान करना न्याय है। (Equals ought to receive equal) राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को सद्गुणी और नैतिक जीवन प्राप्त कराना है। व्यक्ति अपने गुणों के समान प्राप्त करता रहता है तभी राज्य आदर्श बन जाता है।

प्लेटो एवं अरस्तू (Plato and Aristotle)

अरस्तू एव प्लेटो दोनों ही राजनीति शास्त्र के आधार स्तम्भ हैं। राजनीति शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में इन दोनों ही विचारकों ने किसी न किसी प्रकार से अपने प्रभाव की छाप लगा दी है। कालरिज के वक्तव्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या तो प्लेटो का अनुयायी होता है या अरस्तू का। इसका अभिप्राय यह है कि कभी वह कल्पना जगत की प्लेटो की ऊँचाई से वास्तविक जगत में उतरता है तो कभी वह अरस्तू के यथार्थ जगत से प्लेटो के कल्पना लोक में भ्रमण करता है।

समानतायें (Similarities)—प्लेटो और अरस्तू में अनेकों समानतायें पाई जाती हैं। इनकी समानताओं की खोज करने पर "गुशोमहल ने 'रिपब्लिक' तथा 'पालिटिक्स' में ६२ समान स्थल खोज निकाले थे।"

(१) प्रथम समानता यह है कि दोनों ही विचारक आदर्शवादी हैं। "अनेकों विचार जो अरस्तू के प्रतीत होते हैं वे प्लेटो की रचनाओं में पाये जाते हैं।"

(२) दोनों ही राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानते हैं जिसकी उत्पत्ति मनुष्य की प्रकृतिजन्य आवश्यकताओं के लिये हुई है।

(३) दोनों ही राज्य का अस्तित्व भले जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक मानते हैं।

(४) दोनों ही विचारक शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण में रखना चाहते हैं।

(५) दोनों ही विचारक एक आदर्श राज्य की खोज में संलग्न हैं।

(६) दोनों ही राज्य को मनुष्य की भौतिक तथा नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये आवश्यक बताते हैं।

(७) दोनों ही अपने विचारों को यूनान के नगर राज्यों से सम्बद्ध रखते हैं और उनके विचारों में यूनान की सामाजिक राजनैतिक छाप स्पष्ट है।

(८) दोनों ही व्यावहारिक दृष्टि से शासकों को शिक्षित करने में विश्वास रखते हैं। अरस्तू सिकन्दर महान को प्रशिक्षण देने के लिये मकदूनिया जाकर, प्लेटो डेनीशियस के पासर डायनोसियस को शिक्षा देने का अनुकरण करता है।

असमानतायें (Dissimilarities)—इन मौलिक समानताओं के अतिरिक्त इन विचारों को क्रियान्वित करने के प्रश्न पर दोनों विचारकों में अन्तर दिखाई देता है। "अरस्तू अपने गुरु से विचारों के सार के स्थान पर उनके प्रकार तथा तरीके में अधिक भिन्न है।............प्लेटो में वे परामर्श, अव्यक्त संकेतों अथवा उदाहरण के रूप में पाये जाते हैं, जबकि अरस्तू के विचारों में निश्चितता, स्पष्ट सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों से सम्बद्ध न होने वाले सामान्य विचार हैं। यह अन्तर दोनों दार्श-

निको की बौद्धिक विशेषताओ पर आधारित है। प्लेटो कल्पनावादी और सश्लेषण-वादी है, अरस्तू विश्लेषणवादी है।"

(१) अरस्तू की पद्धति आगमनात्मक है और प्लेटो की निगमनात्मक (Aristotelian method is inductive while Platonic method is deductive)—अरस्तू एव प्लेटो की अध्ययन पद्धति मे भी अन्तर पाया जाता है। प्लेटो की अध्ययन पद्धति निगमन मूलक (Deductive) है। वह किसी भी विषय पर पूर्व निर्धारित धारणा को सिद्ध करने के लिये ही विचार प्रकट करता है। उसने पहले से गुण तथा अच्छाई के सम्बन्ध मे धारणा बना ली और उसको पुष्ट करने के लिये कल्पना लोक मे उडान भरने लगा। इसके विपरीत अरस्तू आगमन मूलक (Inductive) पद्धति का आश्रय लेता है। वह व्यापक पर्यवेक्षण के उपरान्त परिस्थितियो के विश्लेषण से तथ्यो एव सिद्धान्तो को खोजता है। अरस्तू ने 'राजनीति' की रचना से पूर्व तत्कालीन प्रचलित १५८ देशो की शासन प्रणालियो का अध्ययन किया। ऐतिहासिक अनुभवो को विश्लेषण करने के बाद उन्हे लेखनी बद्ध किया। इस विचार का खण्डन करते हुए यह कहा जा सकता है कि अरस्तू निगमन मूलक पद्धति का प्रयोग भी करता है। उसने यूनान के नागरिको के चरित्र को सर्वश्रेष्ठ बताया। यूनान की प्रचलित मान्यताओ को अपने विचारो मे अपनाया।

(२) प्लेटो राजनीति एव नीति शास्त्र को मिला देता है अरस्तू उन्हे पृथक कर देता है (Plato mixed politics with ethics whereas Aristotle separates them)—अरस्तू तथा प्लेटो मे यह अन्तर है कि प्लेटो के विचारो मे राजनीति तथा नीतिशास्त्र दोनो को मिला दिया है। अरस्तू ने पहली बार राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक करने का प्रयास किया, उसने राजनीति शास्त्र को एक पूर्ण आत्म-निर्भर विज्ञान बना दिया। लेकिन इस विचार की आलोचना करते हुये कहा जाता है कि राजनीति को नीति शास्त्र मे पृथक करने के लिए अरस्तू ने स्वेच्छा से कोई प्रयत्न नही किया, यह उसके अचेतन प्रयास का परिणाम है। उसने इस प्रश्न पर विचार किया कि मनुष्य का हित सबसे अधिक कौन शास्त्र कर सकता है? उसने उत्तर दिया, राजनीति शास्त्र, क्योकि सम्पूर्ण शक्तियो की पूर्ण उन्नति के लिए परस्पर मनुष्यो मे सहयोग होना चाहिये। राज्य मे मनुष्यो का सहयोग निर्धारित किया जाता है और इस पर विचार करने वाला शास्त्र राजनीति शास्त्र है।

(३) राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में मतभेद है (Both differ as to the political institutions)—प्लेटो एव अरस्तू मे कुछ राजनैतिक सस्थाओ मे भी मतभेद पाया जाता है। प्लेटो ने सम्पत्ति को सभी बुराइयो की जड बताया था और कहा था कि सरक्षको सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं होगा। सम्पत्ति शासक एव सैनिको को भ्रष्ट कर देती है। अरस्तू ने इसके विरोध मे कहा कि सम्पत्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। सम्पत्ति ही व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होती है। उससे व्यक्ति की प्रतिभा का पता चलता है। सम्पत्तिहीन व्यक्ति पख विहीन पक्षी के समान होता है। अत व्यक्ति की बौद्धिक प्रतिभा तथा विकास के लिए सम्पत्ति का होना जरूरी है। *वैयक्तिक सम्पत्ति का आवश्यक होना अरस्तू के सुखी और आर्थिक सम्पन्न जीवन का प्रतीक है।*

(४) प्लेटो पत्नी तथा परिवार को सैनिकों के लिये अनावश्यक मानता है और अरस्तू राज्य के अनिवार्य अंग के रूप में उन्हें महत्व देता है—अरस्तू एव प्लेटो पत्नी

और परिवार को शासक तथा सैनिकों के लिये अनावश्यक बताता है। लेकिन अरस्तू ने राज्य के अनिवार्य अंग के रूप में स्त्री का महत्व प्रतिपादित किया है। राज्य नागरिकों का समूह है, उसके परिवार में पत्नी का प्रमुख स्थान है। उसका सफल वैवाहिक जीवन उसको इस प्रकार की विचारधारा प्रदान करता है।

(५) प्लेटो एकतावादी है और अरस्तू अनेकतावादी है—इन दोनों विचारकों में एक अन्तर यह है कि प्लेटो एकतावादी विचारक है जो राज्य में नागरिकों को भिन्न-भिन्न स्तरों पर विभाजित कर उन्हें अपने क्षेत्र में ही कार्य करने के लिए विवश करता है। अरस्तू ने इस प्रकार की एकता को अमानवीय, यान्त्रिक और बौद्धिक प्रगति को अवरुद्ध करने वाली बताया है। वह अनेकता के आधार पर तुलनात्मक अवसर प्रदान करता है जो उन्नति का मूल मन्त्र है। प्लेटो एकतावादी है अरस्तू अनेकतावादी।

(६) प्लेटो प्रगतिवादी है और अरस्तू रूढ़िवादी (Plato is progressive while Aristotle is conservative)—अनेकों विद्वान इन दोनों विचारकों के अन्तर को अभिव्यक्ति करते हुए बताते है कि प्लेटो मूल रूप में प्रगतिवादी या अरस्तू रूढ़िवादी। वह दार्शनिक रूढ़िवादिता का पिता था। एक आकाश में भ्रमण करता है दूसरा पृथ्वी वासी है। एक स्वच्छन्दतावादी कल्पनाशील विचारधारा का जनक है दूसरा यथार्थवादियों का।

अरस्तू का अनुदाय एवं महत्व (Place of Aristotle)

अरस्तू राजनीति शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। उसके विचारों में यद्यपि यूनानी विचारधारा की छाप दिखाई देती है जो नगर राज्य, दासता, कृषक तथा श्रमिकों को नागरिकता प्रदान न करना, यूनानी श्रेष्ठमत गुणों के पुतले हैं आदि के रूप में यह स्पष्ट करती है कि अरस्तू जैसे दार्शनिक ने भी इन धारणाओं से ऊपर उठने का यत्न नहीं किया। फिर भी उसकी विद्वता, सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि, विवेकीय दूरदर्शिता का ऐसा प्रमाण है जो देश अथवा काल की सीमाओं के बन्धन से मुक्त है।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है' 'राज्य मनुष्य की आवश्यकताओं के कारण जन्म लेता है, सुखी तथा भले जीवन के लिये अब तक बना हुआ है,' अमर वाक्य सम्पूर्ण राजनीति शास्त्रियों के मार्ग दर्शन करते रहे हैं। अरस्तू ने राजनीति शास्त्र को सम्प्रभुता का विचार प्रदान किया। वह एक निश्चित मानव की सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता अनुभव करता है और उसे आधुनिक युग के लोकप्रिय सम्प्रभु का बाना पहना देता है। लोकप्रिय निश्चित मानव बौद्धिक और नैतिक गुणों से युक्त होगा तथा वह विधियों की इच्छानुसार कार्य करेगा सम्प्रभुता का यह विचार पूरी तरह से आधुनिक है। एक समुदाय को सर्वोच्च शक्ति देकर उस पर विधि का नियन्त्रण लगा देने से वह कार्य करने में स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता।

अरस्तू ने सरकार के तीन अंग बताये। उसने कहा कि शासन कार्य के आधार पर विधायी, कार्यकारिणी तथा न्यायालय में विभक्त किये जा सकते हैं। विधायी अंग से उसका अभिप्राय व्यवस्थापिका से था, इसका कार्य नवीन विधियों का निर्माण करना नहीं था वरन् पूर्व निर्मित विधियों को पूर्णता प्रदान करना था। कार्यकारिणी तथा न्यायालय में पदाधिकारी होते थे जो लगभग वर्तमान काल जैसे कार्य करते थे। अरस्तू का यह विभाजन मॉन्टेस्क्यू के शक्ति विभाजन के सिद्धान्त का आधार बना।

अरस्तू के आर्थिक विचार राजनैतिक संस्थाओं पर उसका प्रभाव स्पष्ट करते हैं। उसने कहा कि अत्यधिक धन या उसकी न्यूनता क्रान्ति का कारण बन जाती है। राजनैतिक संस्थाओं का जन्म या अन्त आर्थिक तत्वों के कारण होता है।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता समानता के विचारों से तत्कालीन राजनीतिक जगत प्रभावित हुआ। मध्य और आधुनिक युग के एक्वीनाज मार्सीलियो, दांते, मैकियावेली बोदाँ, मान्टस्क्यू, हीगल, आस्टिन, मार्क्स आदि विद्वानों ने अरस्तू के सिद्धान्तों को अपने विचारों का आधार बनाया। मैक्सी (Maxey) इसी कारण अरस्तू को प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक कहता है। (First Political Scientist)

सहायक पुस्तक

Aristotle	'Politics' (William & Ellis.)
Barker	The Politics of Aristotle.
Cocker	. Reading in Political Philosophy.
Dunning	A History of Political Theory (Ancient and Mediaevel)
Doyle	A History of Political Thought
Foster	Masters of Political Thought.
Gettell	History of Political Thought.
Maxey	Political Philosophers
Sabine	A History of Political Theory.
Suda	: A History of Political Thought
राजनरायन गुप्त एवं चतुर्वेदी	: पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास।
वर्मा एस० सी०	पाश्चात्य राज दर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. अरस्तू को राजनीति शास्त्र का जनक क्यों कहा जाता है, कारणों सहित विचार कीजिये।

२. अरस्तू के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए स्वाभाविक व आवश्यक दोनों ही है। स्पष्टीकरण करिये।

३. राज्य की प्रकृति एवं उत्पत्ति पर अरस्तू के विचार क्या हैं, व्यक्त कीजिये।

४. अरस्तू के राज्य के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए। आज की परि-स्थितियों में इसे कहाँ तक स्वीकार किया जा सकता है।

५. अरस्तू किन कारणों से दासता को आवश्यक बताता है, समझाइये।

६. अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार बताइये। क्या यह विचार प्लेटो के विचारों के परिष्कृत रूप कहे जा सकते हैं ?

७. अरस्तू ने नागरिकता की व्याख्या किस प्रकार की है स्पष्ट कीजिये।

८. राज्य क्रान्ति क्यों होती है और उन्हें दूर करने के क्या उपाय हैं ?

९. अरस्तू के आदर्श राज्य की व्याख्या कीजिए। क्या उसे राज्य का मध्य सिद्धान्त कहा जा सकता है ?

१० अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की क्या आलोचनायें की हैं, आपके मतानुसार वे कहाँ तक सत्य हैं ?

अध्याय ३

टॉमस एक्वीनास

(Thomas Aquinas)

[१२२७ से १२७४]

"Aquinas is one of the great Systemetic Philosphers of the world'
—*M. B. Foster*

केवल १३ वीं शताब्दी के दार्शनिकों में ही नहीं वरन् मध्य युग के समस्त विचारकों में एक्वीनास को महानतम माना जाता है। जॉन फास्टर ने उसे विश्व के क्रमबद्ध दार्शनिकों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वह अकेला ही मध्यकाल के समस्त विचारकों के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। एक्वीनास की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसने विचार की विभिन्न धाराओं को, जो उस समय तक पृथक्-पृथक् प्रवाहित हो रही थी, एकत्रित करके संश्लिष्ट रूप प्रदान किया। इतना महत्त्वपूर्ण श्रेय केवल एक्वीनास को ही प्राप्त है। अत टॉमस धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान समझा जाता है। बड़े-बड़े नरेश यह अपेक्षा करते थे कि वह उनको उनके कर्त्तव्य से अवगत कराये। साइप्रस के राजा ह्यूग द्वितीय ने इसी प्रकार की प्रार्थना की थी। ब्रेबिण्ट की डचेस ने यहूदियों को उनके प्रति दुर्व्यवहार से मुक्ति दिलाने के सम्बन्ध में टॉमस से कई सम्मतियाँ प्राप्त की थी। स्वयं पोप एक्वीनास को सलाह देने के लिये आमन्त्रित किया करते थे, जब वे धार्मिक प्रश्नों में बुरी तरह उलझ जाते थे। उसकी सम्मतियाँ शतप्रतिशत उपयुक्त होती थी। यही कारण है कि उसके शब्दों का आदर देववाणी के रूप में होता था। कई बार उसे बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पदों पर आसीन होने को कहा गया किन्तु उसने उन्हें ठुकरा दिया तथा अपने विद्यार्जन का लक्ष्य प्रतिष्ठित पदों को प्राप्त करना नहीं समझा। पोप अर्बन के प्रस्ताव को उसने ठुकराते हुए कहा था कि उसका ध्येय किसी अन्य व्यक्ति पर शासन करना नहीं है। वह अपना जीवन सत्य की खोज में लगाना चाहता था। ज्ञानार्जन से उसका एकमात्र लक्ष्य ईश्वर से साक्षात्कार स्थापित करना रहा।

संक्षिप्त जीवन परिचय

टॉमस का जन्म सन् १२२६ में नेपिल्स नामक राज्य के एक्वीनो नगर में हुआ था। इसी नगर में उसके पिता काउण्ट थे। टॉमस के सात भाई-बहन थे। अपनी नार्मन वंश की माता थ्योडोरा के संरक्षण में आरम्भ से ही उसका लालन-पालन बड़े ही स्नेह के साथ हुआ। टॉमस ने भी आरम्भ से अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। डोमनीकन सम्प्रदाय के शुद्ध आदर्शों एवं नैतिक

कानूनो से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने पिता की आशाओं पर पानी फेर दिया और १२४४ में उसका सदस्य भी बन गया उसके माता पिता को इससे बड़ा धक्का-सा लगा। यहाँ तक कि क्रुद्ध हो उन्होंने उसे पकड़वा मंगवाया तथा एक वर्ष ताले में बन्द रखा। एक रूपवती स्त्री भी विवाह के लक्ष्य से उसके पास भेजी गई। शादी के नाम से उसने ऐसा रौद्र रूप धारण कर लिया कि बेचारी उस स्त्री को अपनी जान छुड़ाकर वहाँ से भागना पड़ा। इस एक वर्ष के कठोर एकान्त में उसने ईसाई धर्मग्रन्थों का विशद अध्ययन किया। उसने अवसर पाकर माता को अपने पक्ष में सहमत कर लिया और उन्हें यह स्पष्ट कर दिया कि उसने सांसारिक जीवन को त्यागने का दृढ़ सकल्प कर लिया है। पिता की असम्मति रहते हुए भी वह एक दिन बन्द कमरे में से भाग निकला और अपने सम्प्रदाय के मठ में जाकर छिप गया।

वहाँ से अपने को असुरक्षित पाकर वह पेरिस चला गया। पेरिस विश्वविद्यालय में उसकी प्रतिभा की धाक जम गई। वहाँ से वह जर्मनी गया, जहाँ उसने बोल्सटाड के अलबर्ट की शिष्यता ग्रहण की और अरस्तू के तर्कशास्त्र एवं राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन किया। अरस्तू की रचनाएँ इस समय तक अरबों तथा यहूदियों के माध्यम से पश्चिमी दार्शनिकों को उपलब्ध हो चुकी थीं। अलबर्ट अरस्तू के विचारों का प्रमुख प्रचारक था। जर्मनी से वह फिर एक बार पेरिस वापस आया। १२५६ में उसे अपने मामले की पैरवी करने के लिये स्वयं रोम जाना पड़ा क्योंकि पेरिस विश्वविद्यालय ने उस समय तक किसी को भी भिक्षु सम्प्रदाय का सदस्य होने के कारण उपाधि नहीं दी थी। जब वह अपने मामले में पोप की स्वीकृति लेकर विजयी होकर लौटा तो पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे धर्म के आचार्य की उपाधि से सम्मानित किया। इसके बाद १२ वर्ष तक वह ईसाई धर्म का प्रचार करता रहा तथा उसने कई अनुपम ग्रन्थों की रचना की। ईश्वर के चिंतन में वह अपने होश हवास तक गवाँ बैठता था, अचेतन अवस्था के दौरे उसे प्रायः आने लगे थे। वह औषधि का प्रयोग नहीं करता था, जिसके फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य क्षीण होता गया। १२७४ में उसका देहावसान होगया और पर्याप्त विवाद के पश्चात् पोप के निर्णयानुसार उसका शव डोमनीकन सम्प्रदाय को दे दिया गया।

एक्वीनास की रचनाएँ

कुल मिलाकर उसने ३० ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय हैं—

१. सम्मा थियोलॉजिया (Summa Theologia)
२. पॉलिटिक्स की टीका (Commentaries on the Politics of Aristotle)
३. दि रूल ऑफ प्रिन्सेज (The rule of Princes)
४. सम्मा कॉन्ट्रा जेन्टाइल्स (Summa Contra Gentiles)

टॉमस के विधि सम्बन्धी विचार उसकी अनुपम रचना सम्मा थियोलॉजिया में मिलते हैं। 'रूल आफ प्रिन्सेज' नामक पुस्तक से हमें उसके राजनीतिक विचारों का पता लगता है। उसकी पद्धति समन्वयात्मक है। स्कॉलास्टिक दर्शन के सहयोग से

उसने यूनानी दर्शन की सर्वोत्तम बातो का समावेश मध्ययुग मे प्रचलित धार्मिक विश्वासो के साथ किया है। एक्वीनास के दार्शनिक विचारो पर अरस्तू के दार्शनिक विचारो का विशेष प्रभाव जान पडता है।

प्रकृति सम्बन्धी विचार

टॉमस एक्वीनास ने विधियो का विवेचन किस विस्तार एव रूप मे किया है, इसको जानने से पूर्व उसके सम्बन्ध मे कुछ और बातें भी जान लेना आवश्यक-सा है। एक्वीनास भी अपने गुरु की भाँति ईसाईकृत अरस्तू को ससार के समक्ष रखने के कार्य मे रत हो गया। ऐसा करने के प्रयत्न मे उसने जिस दर्शनधारा की सुखद रचना की उसके अन्तर्गत विज्ञान, दर्शन तथा धर्मशास्त्र को समन्वित करके विश्व का सह-सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित किया। उसने अपने लक्ष्य की पूर्ति अपनी महान् एव अनुपम रचना 'सम्मा थियोलॉजिया' (Summa Theologia) के द्वारा की है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं तथा लगभग दसलाख शब्द हैं। इस ग्रन्थ मे टॉमस ने पाप, अवतार, तपस्या, श्रद्धा ऐक्य, अनेक्य आदि प्रश्नो से लेकर कानून, न्याय तक का वर्णन है। यह केवल एक ग्रन्थ ही नही है वरन् उसमे उसकी समस्त विचारधारा निहित है। प्रो० मूद ने इस सम्बन्ध मे कहा है, "यह विचार का भव्य तथा विशाल प्रासाद है जिसमे अफलातून की परम्पराओ तथा अरस्तू के दर्शन का रोमन कानून, बाइबिल की शिक्षाओ, चर्च फादर्स तथा अन्य महान् धर्मशास्त्रियो के कथनो के साथ समावेश हुआ है।" एक्वीनास ने समस्त मानव ज्ञान को एक इकाई के रूप मे स्वीकार किया है जिसकी तुलना एक पिरामिड से की जा सकती है। इसके आधार का निर्माण विशिष्ट ज्ञानो से हुआ है, इस सबके ऊपर सार्वभौमिक ज्ञान है, दर्शन। इसी से सार्वभौमिक सिद्धान्तो का निरूपण होता है। इसका लक्ष्य ज्ञान की किसी विशिष्ट धारा का अध्ययन करना नही है वरन् यह समस्त विश्व का अध्ययन है। विशिष्ट विवेक से विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होती है, किन्तु दर्शन की उपलब्धि सामान्य विवेक से ही सम्भव है। जबकि यूनानी दार्शनिक अपनी मानसिक उडान को विशुद्ध विवेक के माध्यम से भरकर ज्ञान के शिखर तक ही सीमित रह जाते हैं किन्तु टॉमस इससे भी ऊपर धर्मशास्त्र को मानता है, जिसका माध्यम है अन्तर्ज्ञान। इस अन्तर्ज्ञान की दृष्टि मे श्रद्धा का निवास है। विवेक द्वारा अर्जित ज्ञान को वह पूर्ण सत्य नहीं मानता। सेबाइन (Sabine) ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि "विज्ञान तथा दर्शन जिस प्रणाली को प्रारम्भ करते है, धर्मशास्त्र उसे पूर्ण करता है, किन्तु उसकी तारतम्यता को वह कभी नष्ट नही करते हैं, किन्तु कहीं भी वे एक दूसरे से नही टकराते, एक दूसरे के विरुद्ध कार्य नही करते।" ("Theology completes the system of which science and philosophy form the beginning but never destroy its continuity Faith is the fulfilment of reason. Together they build the temple of knowledge but nowhere do they conflict or work at cross purposes.") अरस्तू की भाँति टॉमस भी यह मानता है कि बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोच्च अवयव है। सच्ची प्रकृति के प्रसंग मे वह अरस्तू से आगे बढ़ कर कहता है कि मनुष्य का सर्वोच्च भाग बुद्धि नहीं वरन् आत्मा है। इसी कारण मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा की मुक्ति होना चाहिए न कि सांसारिक विषयो का बौद्धिक चिन्तन। यदि मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है तो मानव जीवन का तत्त्व आत्मा में

खोजना चाहिए न कि बुद्धि में। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य उसके अनुसार ईश्वर ज्ञान होना चाहिए न कि प्रकृति का ज्ञान। उसी के शब्दों में "प्रभु की प्रीति इतनी तीव्र है कि मानव मस्तिष्क इसे देख कर चौंधिया जाता है।" अरस्तू ने प्रकृति तथा मनुष्य के विषय में जो कुछ भी कहा है, टॉमस उसे असत्य नहीं मानता किन्तु उसका दोष यही है उसकी दृष्टि अनुकम्पा के उस गगन तक नहीं जा सकी जो प्रकृति के जगत से परे है। प्रकृति विषयक अपने विश्लेषण के आधार पर ही टॉमस यह मानता है कि जिस प्रकार प्रकृति का प्रत्येक अंग अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी होता है, ठीक उसी प्रकार समाज का छोटे से छोटा व्यक्ति भी उपयोगी होता है। टॉमस अरस्तू की भाँति यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने से महत्तर व्यक्ति की सेवा करता है और जो व्यक्ति उच्चतम आसन पर आसीन रहता है, वह लघुतर व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन करता है। वह भी यह मानता है कि समाज की रचना सब के लाभ के लिए हुई है।

टॉमस के राज्य सम्बन्धी विचार

अरस्तू के सदृश टॉमस भी राज्य को एक स्वाभाविक संस्था के रूप में देखता है। उसकी उत्पत्ति भी वह प्राकृतिक मानता है। राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए है क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में व्यक्ति का स्वाभाविक विकास सम्भव नहीं है। अरस्तू से प्रभावित टॉमस ईसाई मत द्वारा प्रतिपादित इस विचार का पूर्णतः खण्डन करता है कि राज्य पापमय है और उसकी उत्पत्ति केवल अपराध एवं पाप पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से हुई है। वह यह नहीं मानता कि मनुष्य के पापी होने से ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। टॉमस ने स्कॉलास्टिक दर्शन की मूल प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए इन दो परस्पर विरोधी विचार धाराओं में समन्वय स्थापित करने की कोशिश की है। अपनी समन्वयात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए उसने राजकीय शक्ति का स्रोत ईश्वर को बताया। समाज यह शक्ति ईश्वर से प्राप्त करके शासन क्षमता सम्पन्न शक्तियों के हाथों में सौंप देता है। इस प्रकार एक ओर वह राजसत्ता का मूल स्रोत सामाजिक व्यवस्था में मानता है, तो दूसरी ओर राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित दैवी सिद्धान्त का भी समर्थन करता है।

टॉमस में कुछ आधुनिक विचारों के भी अंकुर प्राप्त होते हैं। अरस्तू की भाँति उसने भी राज्य को सामाजिक कल्याण का एक विधेयात्मक अंग कहा है। वह भी राज्य को शुभ जीवन के लिये सेवाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान समझता है, जिसमें कतिपय उद्यम अपना योगदान देते हैं। मनुष्य के अन्दर वह भी अन्तर्निहित महान् शक्तियों के दर्शन करता है, जिनका विकास केवल राज्य में ही सम्भव हो सकता है। राज्य को शिक्षा, ज्ञानार्जन, स्वास्थ्य, शिशु आश्रमों तथा अन्य समाजोपयोगी कार्यों का सम्पादन करना अपेक्षित है। इसके साथ-साथ एक्वीनास यह भी कहता है कि सांसारिक सुखों की अपेक्षा राज्य अथवा व्यक्ति को उच्चतर भविष्य एवं मोक्ष को प्राथमिकता देनी चाहिये। उसका यह भी आग्रह है कि राज्य की शुभ एवं स्वस्थ जीवन की सृष्टि ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित मोक्ष सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिये। समाज तथा राज्य का संगठन इस पारलौकिक सुख के लक्ष्य को समक्ष रखकर होना चाहिये। टॉमस के अनुसार मानव समाज में पूर्णता लाने की दृष्टि से दो संगठन होने चाहियें—लौकिक तथा धार्मिक। पहले की

दूसरे के आधीन होना आवश्यक है। अरस्तू ने अपनी राज्यरूपी धारणा को केवल लौकिक सुख तक ही सीमित रखा किन्तु टॉमस ने चर्च को सामाजिक संगठन के शिखर पर रख कर अरस्तू के विचारों में परिशोधन प्रस्तुत किया। चर्च को राज्य का प्रतिद्वन्दी न बता कर उसका पूरक बताया। टॉमस अरस्तू का खण्डन नहीं करता किन्तु उसे एक व्यापक दर्शन में संश्लिष्ट कर देता है।

राज्यों का वर्गीकरण (Classification of the States)—इस दिशा में भी टॉमस ने अरस्तू के राज्य के वर्गीकरण सिद्धान्त को ही मौलिक मानकर उसका अनुसरण किया है। राजतन्त्र (Monarchy) को टॉमस ने भी सर्वोत्तम प्रकार का शासन माना है। निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny) को वह राजतन्त्र का ही भ्रष्ट रूप मानता है। सर्वोत्तम राज्य वह है जहाँ राजा विवेक तथा न्याय से शासन करता है। एकता को वह राज्य का एक गुण मानता है जो राजतन्त्र में ही प्राप्त हो सकता है। *इसके पश्चात् राज्यों का वर्गीकरण अभिजाततन्त्र, (Aristocracy)*, मध्यवर्गीय जनतन्त्र (Polity), समान्ततन्त्र तथा लोकतन्त्र में किया जा सकता है। विधि-विहित मार्ग से भ्रष्ट होने पर राजतन्त्र अत्याचारतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। अत्याचारी शासक विवेक एवं न्याय से कार्य नहीं करता। किन्तु जान सॅलिसबरी की भाँति एक्वीनास प्रजा को शासक के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार नहीं देता। टॉमस का यह विश्वास है कि क्रान्ति प्रजा को अत्याचारों से मुक्ति दिलाने में सफल हो सके ऐसा आवश्यक नहीं है। वह राज्यतन्त्र को वंशानुगत के स्थान पर निर्वाचित कर देने की सहमति देता है। एक्वीनास इस बात का भी समर्थन करता है कि निर्वाचित शासक को यह शपथ भी लेनी चाहिये कि वह विधियों के अनुकूल शासन करेगा।

राज्य का लक्ष्य (Aim of the State) —टॉमस व्यक्ति तथा राज्य के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं मानता। व्यक्ति इस मायारूपी भवसिन्धु से मुक्ति अथवा निर्वाण पाना चाहता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य समस्त माया मोह के तीव्र बन्धनों को काट फेंके, जब वह अपने को सद्गुण सम्पन्न बनाले। किन्तु मनुष्य विविध भौतिक बाधाओं के कारण अपने मार्ग को दुःसाध्य एवं लक्ष्य को अप्राप्य समझकर कुण्ठित हो रहता है। ऐसी अवस्था में राज्य का यह *मौलिक कर्तव्य है कि वह मनुष्य को धैर्य प्रदान कर उसके आत्मोत्सर्ग एवं नैतिक* विकास में आने वाले बन्धनों का निवारण करके एक स्वस्थ मार्ग की स्थापना करे। यही वस्तुतः राज्य का सबसे बड़ा लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त टॉमस ने राज्य के कर्त्तव्यों को दो भागों में विभाजित *किया है—प्राथमिक कर्त्तव्य तथा गौण* कर्त्तव्य। प्राथमिक कर्त्तव्य में वह शान्ति एवं व्यवस्था को स्थान देता है। राज्य की एकता तथा राज्य की शान्ति में वह कोई व्यवधान नहीं करता। इनको वह समान अभिव्यक्तियाँ ही समझता है। राज्य का दूसरा कार्य बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा है। शासक वर्ग का संक्षेप में यह कर्त्तव्य है कि शिक्षा तथा यातायात के साधनों का समुचित विकास करके व्यक्ति के नैतिक विकास में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करे।

विधि का विवेचन —टॉमस के कानूनी विचारों का विश्लेषण करने से पूर्व हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि वह धर्मसत्ता का समर्थन करते हुए भी पोप को राजकीय शक्ति का स्रोत नहीं मानता और न ही उसे सम्राट को पदच्युत करने

का अधिकार देता है। वह धर्म के आध्यात्मिक अधिकारों को कानूनी रूप प्रदान करना नहीं चाहता। किन्तु लौकिक कार्यों में अप्रत्यक्ष रूप में वह पोप के हस्तक्षेप को स्वीकार कर लेता है। इसी कारण टॉमस को एक नम्र पोपवादी कहा जाता है। टॉमस का यह भी दृढ विश्वास है कि राज्य अपने लोक हितकारी लक्ष्य की पूर्ति केवल तभी सम्पन्न कर सकता है जबकि उसके द्वारा राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कानून के अनुसार हो। नैतिक उद्देश्यों की अपेक्षा करने वाला शासक हीन एवं पतित होकर अत्याचारी बन जाता है। आततायी शासक की हत्या की आज्ञा वह नहीं देता किन्तु यदि सामाजिक अव्यवस्था न फैले तो उसकी अवज्ञा करने की स्वीकृति अवश्य देता है। अपने विशाल ग्रन्थ सम्मा थियोलाजिया में उसने कानून का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया है। उसने भी अन्य अपने पूर्ववर्ती लेखकों की भाँति राज्य की व्याख्या कानून के आधार पर की है न कि कानून की व्याख्या राज्य के आधार पर। उसने अपनी पुस्तक में कानून के स्वरूप तथा स्रोत की व्याख्या अधिक व्यापक रूप से की है।

प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ने कानून को विशुद्ध एवं तृष्णा-रहित विवेक माना। सैलिसबरी कानून का औचित्य अथवा अनौचित्य नैतिकता के आधार पर ठहराता है, किन्तु कानून की आधुनिक परिभाषा में नैतिक औचित्य को उसका कोई अंग नहीं माना जाता। कानून को सार्वभौमिक सत्ता की आज्ञा मात्र बताया जाता है। एक्वीनास ने इन दोनों छोरों के बीच का मार्ग अपनाते हुए कानून की समन्वित परिभाषा इस प्रकार की कि "कानून सामान्य हित के लिये विवेक का आदेश है जो उसके द्वारा लागू किया जाता है जिसके हाथ में समाज का संरक्षण हो।" ("Law is an ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has the care of a community.") टॉमस के अनुसार कानून में दोनों ही गुणों का होना आवश्यक है—राजा द्वारा वह लागू किया जाय तथा वह विवेक-सम्मत भी हो। यदि राजा द्वारा कानून विवेक सम्मत नहीं है और उसका उद्देश्य भी सामान्य हित नहीं है, तो वह कानून सच्चा कानून कदापि नहीं हो सकता। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि कानून चाहे कितना ही विवेक सम्मत क्यों न हो, यदि उसे लागू करने की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है, वह उचित नहीं है। अत: कानून में दोनों ही बातों का संयोग होना चाहिये। टॉमस ने अपने कानून के सिद्धान्त में यूनानी, स्टोइक, रोमन, तथा ईसाई आदि दृष्टिकोणों का समन्वय किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि टॉमस ने विश्व को एक शिखरोन्मुखी संगठन माना है, जिस शिखर पर ईश्वर का साम्राज्य है। इस संगठन में हीन से हीन वस्तु का एक उद्देश्य है, और वह है सम्पूर्ण की प्राप्ति। कोई भी वस्तु ध्येय से पृथक नहीं मानी जा सकती। वस्तुओं में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मानवीय कानून भी दैविक विवेक की अभिव्यंजना मात्र है, विवेक सम्मत है। यह भी उन्हीं दैवी कानून से सम्बन्धित है। व्यापक विश्व में व्याप्त विवेक की अभिव्यक्ति कानूनों में होती है। दैविक कानूनों के साथ मानवीय कानून का समागम ही तो शाश्वत कानून कहलाता है। सेबाइन का यह कहना सही है कि टॉमस किसी ऐसी मानवीय अथवा दैवी इच्छा में विश्वास नहीं करता जो कि आदेश रूप में मानव समाज अथवा प्रकृति के लिये कानून बनाती हो। टॉमस ने विधि का विस्तृत विवेचन करते हुए उसके तीन लक्षण बताये हैं—सार्वभौमिकता, अपरिवर्तनशीलता तथा

स्वाभाविकता। मनुष्य द्वारा निर्मित विधि को वह रचनात्मक विधि कहता है, किन्तु यदि उससे धर्म के मौलिक सिद्धान्तों अथवा न्याय की उपेक्षा होती है तो हम उसे यथार्थमय रचनात्मक विधि नहीं कह सकते वरन वह उसका भ्रष्ट स्वरूप है। टॉमस तो विधि को इतना महत्त्व प्रदान करता है कि उसका आदि स्रोत वह प्रकृति को मानता है जिसके उल्लंघन करने की शक्ति किसी में नहीं है चाहे वह पोप ही क्यों न हो। विधि के प्रति आस्था एवं श्रद्धा को भी टॉमस महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उसके इन्हीं विचारों के आधार पर लॉक ने अपने कानून सम्बन्धी सिद्धान्त को विकसित किया था टॉमस ने कानूनों का वर्गीकरण करते हुए उसके चार भेद बताये हैं— (१) शाश्वत विधियाँ (२) प्राकृतिक विधियाँ (३) मानवीय विधियाँ और (४) दैवी विधियाँ।

१. शाश्वत विधियाँ (Eternal laws) —शाश्वत विधियाँ वे विधियाँ हैं जो ईश्वर के मस्तिष्क में रहती हैं, जिसके माध्यम से ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है। ये विधियाँ समस्त विश्व तथा समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। समस्त सृष्टि, देव, जीव, वनस्पति, पदार्थ इसी कानून के आधीन हैं। मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के कारण इनको नहीं समझ पाता। ये विधियाँ सर्वोच्च विवेक का प्रतीक हैं। किन्तु टॉमस मानवीय प्रकृति में कुछ दैवी अंश भी मानता है। इसी अंश पर शाश्वत विधियों की एक हल्की-सी भीनी क्षीण छाया निरन्तर विद्यमान रहती है। यह स्पष्ट नहीं होती। मनुष्य अपने चेतन मस्तिष्क द्वारा भी इसका सही पूर्ण विश्लेषण नहीं कर पाता। *इस पर भी वह शाश्वत महत्व को स्वीकार करता हुआ उस अदृश्य की इच्छानुकूल* अपने आचरण को बनाने का प्रयत्न करता है। जो कार्य ईश्वर की इच्छानुकूल होते हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं समझ पाता, जो उसके बौद्धिक-परिधि से परे होते हैं ईश्वर की उन आज्ञाओं को वह भाग्य का विधान या कुदरत का खेल कह देता है। मनुष्य को यह दैवी आभास केवल इसलिये प्राप्त होता है कि जिसमें वह सृष्टि के साथ अपने को सम्बद्ध कर सके।

२. प्राकृतिक कानून (Natural laws) —प्राकृतिक कानून विश्व में निर्मित शाश्वत कानून का प्रतिबिम्ब मात्र है। किन्तु ये अस्पष्ट नहीं होते। उनकी उत्पत्ति का स्रोत भी शाश्वत कानून है। ये मनुष्य की ग्राह्य शक्तियों का परिचय देते हैं। मानव हृदय में प्राकृतिक कानून उसी प्रकार से अंकित हैं जिस प्रकार से वे अमानवीय जगत पशु, पदार्थ, वनस्पति में विद्यमान हैं। *मानव में इनकी अभिव्यक्ति अधिक* सुन्दर ढंग से होती है। अमानवीय जगत में इनका पालन यांत्रिक रूप में होता है, जहाँ पशु-पक्षियों को आत्म सुरक्षा करते समय शुभ-अशुभ का कोई ज्ञान नहीं होता। साधारण भाषा में प्राकृतिक कानून हम उन नियमों को कह सकते हैं जिनके माध्यम से ईश्वर अमानवीय जगत के व्यापार को निर्देशित करता है। ये आवश्यक एवं *अपरिवर्तनीय नियम हैं जिनका कोई अपवाद नहीं है। इसके विपरीत मानव जगत* में मनुष्य दैविक विवेक का लाभ उठाकर शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि प्रश्नों में भेद को जानने की चेष्टा करता है। पाप से बचने के लिये ईश्वर ने मनुष्य को विवेक प्रदान किया है। मानव जगत में दैविक विवेक की अभिव्यंजना को हम नैसर्गिक कानून (Natural laws) कहते हैं। जब इस दैविक कानून को विवेकहीन रूप में अमानवीय जगत में प्रयुक्त किया जाता है, उसे हम प्राकृतिक कानून (Laws of Natural) कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो मानव हृदय में अंकित प्राकृतिक कानून

निश्चित नियमों की अपेक्षा आदर्शों की व्यवस्था ही अधिक है। प्राकृतिक कानून मानव संस्थाओं के मापदण्ड को निर्धारित करता है किन्तु यह साध्य तक पहुँचने के लिये साधनों को नहीं जुटाता। "यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा मनुष्य दैविक योजना की सिद्धि में भाग ले सकता है।"

(३) दैविक कानून (Divine laws)—दैवी विधियाँ वे हैं, जिनका उल्लेख धर्मग्रन्थों में किया गया है। शाश्वत तथा प्राकृतिक कानूनों को मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के कारण अज्ञात ही समझ सकता है। इसी कारण इस अभाव की पूर्ति करने के लिए ईश्वर ने दैविक कानून की रचना की है, जो अधिक व्यापक एवं विस्तृत हैं तथा मानव जीवन के प्रत्येक प्रश्न का समाधान करने की क्षमता अपने में रखते हैं। मानव जीवन का प्रत्येक कार्य उनसे संचालित हो सकता है। दैविक कानून वे नियम हैं जो कि मनुष्य को उसकी अन्तर्बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं। यह मानव बुद्धि की खोज नहीं है जैसा कि प्राकृतिक कानून हैं। ईश्वर ने अपने इन दैविक कानूनों का ज्ञान यहूदियों को सिनाई पर्वत पर, मुसलमानों को मुहम्मद द्वारा, ईसाइयों को ईसा द्वारा तथा हिन्दुओं को वेदों द्वारा कराया। दैविक कानून मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का ही नियमन करते हैं, लौकिक पक्ष का नहीं। विभिन्न कालों में दैवी कानून का रूप भिन्न-भिन्न होता है। परमात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही दैविक कानून है जो विवेक सम्मत हैं अर्थात् ये हमारे विवेक को नष्ट नहीं करते। ये बुद्धिवादी नहीं हैं। इनका आधार है विवेक एवं श्रद्धा। सेबाइन (G. Sabine) के शब्दों में "टॉमस की प्रणाली विवेक तथा श्रद्धा पर अवलम्बित है, किन्तु उसे इस बात में कभी सन्देह नहीं हुआ कि दोनों मिलकर एक ही भवन का निर्माण करते हैं।"

(४) मानवीय कानून (Human laws)—कानून के अन्य रूपों की अपेक्षा टॉमस मानवीय कानून का अधिक विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। वह मानवीय कानून का प्रत्यक्ष सम्पर्क नैसर्गिक कानून के साथ स्थापित करता है। मानवीय कानून नैसर्गिक कानून की पूर्ति है। प्राकृतिक कानून यह तो बताता है कि हत्या करना अथवा चोरी करना पाप है किन्तु उनकी वह परिभाषा नहीं करता और न ही उनके सम्बन्ध में दण्ड के विधान की व्यवस्था करता है। इसकी पूर्ति मानवीय कानून द्वारा होती है। दैविक कानून विशिष्ट स्थितियों के लिए नहीं होते जबकि मानवीय कानून विशिष्ट स्थितियों का विवेचन एवं संचालन करते हैं। प्राकृतिक कानूनों में विशेषात्मकता नहीं होती। इसके विपरीत मानवीय कानून निश्चित होते हैं। उनके निर्माण का समय भी निश्चित होता है। मानवीय कानून कुछ ऐसी बातों को न्यायपूर्ण घोषित करता है, जो पहले न्यायपूर्ण नहीं थी और कुछ ऐसी बातों को अन्यायपूर्ण ठहराता है, जो पहले अन्यायपूर्ण नहीं मानी जाती थी। उदाहरण के लिए, शस्त्र रखना तथा समाचार पत्रों में सामग्री विशेष को प्रकाशित करना।

यद्यपि मानवीय कानून समाज के संरक्षक राजा द्वारा लागू किया जाता है किन्तु वह मनमानी नहीं कर सकता। उसे भी अपने आचरण का निर्वाह कुछ सीमाओं में रहकर करना पड़ता है। कानूनों में कोई बात बुद्धि अथवा विवेक विरोधी नहीं होनी चाहिए। टॉमस स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मानवीय कानून बुद्धि के अध्यादेश हैं। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि मानवीय कानून को नैसर्गिक कानून का विरोधी नहीं होना चाहिए क्योंकि प्राकृतिक कानून मानव स्तर पर

दैविक नियमो की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि एक्वीनास मानवीय कानून को भी प्राकृतिक कानून के अधीन रखना चाहता है। *टॉमस यह भी स्पष्ट कर देता है कि नागरिको को बुद्धि विरोधी कानूनो को* मानने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। अत राजकीय कानूनो को मानने का कर्तव्य असीमित नही है। यह बात पहले है कि उनसे विवेक का नाश न होता हो। स्वय एक्वीनास के ही शब्दो मे मनुष्य शासको की आज्ञाओं का पालन करने के लिये उसी सीमा तक बाध्य है, जिस सीमा तक वह न्याय की माँग हो। इस कारण यदि उसका शासनाधिकार न्यायोचित नही है, बल्कि अनुचित रूप से छीना हुआ है अथवा यदि उसका आदेश न्यायोचित नही है तो प्रजा उनका पालन करने के लिये बाध्य नही है। हाँ, यदि सयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के *लिये ऐसा करना पडे तो दूसरी बात है।"*

राजा की कानून बनाने की शक्ति पर तीसरा प्रतिबन्ध टॉमस यह लगाता है कि उनकी (कानूनो की) रचना सामान्य हित के लिये होनी चाहिए और वह तभी सम्भव है जबकि कानून सर्वसम्मति से बनाये जायें। उसने कानूनो का औचित्य जनता द्वारा मान्यता दिये जाने पर अवलम्बित माना है। इसके अतिरिक्त टॉमस *ने कानून बनाने के अधिकार पर एक प्रकार की सीमा और निर्धारित की है कि राजा कानून बनाने की शक्ति केवल लौकिक विषय तक ही सीमित है।* आध्यात्मिक विषयो के सम्बन्ध मे राजा हस्तक्षेप नही कर सकता। कानूनो के सम्बन्ध मे जो कुछ एक्वीनास ने कहा है उसे सारत निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

(१) केवल न्यायसगत एवं धर्मयुक्त कानून ही मानवो के लिये उपयुक्त है।

(२) मानवीय कानूनो को धर्मविहित होने के लिए उन्हे प्राकृतिक कानूनो के अनुसार होना चाहिए।

(३) यदि कोई मानवीय कानून प्राकृतिक कानूनो के अनुरूप नहीं है, तो नागरिक उसको मानने के लिये बाध्य नही हैं। उन्हे अपराधी घोषित करके दण्ड देना भी वैध नही है।

(४) कानूनो का लक्ष्य सामान्य हित होना चाहिये तथा उनका निर्माण भी समाज के समर्थन से किया जाय।

(५) *कानून विवेक विरोधी नही होने चाहिये, वे मनुष्य के अत करण को* मान्य होने चाहियें।

डनिंग के शब्दो मे, "शाश्वत कानून विश्व को नियन्त्रित करने वाली योजना *है जो कि ईश्वर के मस्तिष्क मे विद्यमान है। प्राकृतिक कानून मनुष्य का एक* बुद्धिपरक प्राणी के रूप में शाश्वत कानून मे भाग लेना है, जिसके माध्यम से वह अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता हुआ अच्छाई तथा बुराई के मध्य पार्थक्य स्थापित करता है। मानवीय कानून मानवीय बुद्धि द्वारा, प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तो का विशिष्ट लौकिक स्थितियो में प्रयोग है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव विवेक की सीमाओं और *अपूर्णता की प्राप्ति की जाती* है और मनुष्य को परलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है। यह दैविक ज्ञान का कानून है।" ("The lex aeterna is the controlling

plan of the universe, existing in the mind of God. Natural Law is the participation of man, is a rational creature, is the eternal law for the devire reason though which he distinguishes between good and evil and seeks his true end Human Law is the application, by human reason, of the precepts of natural Law to particular earthly conditions. The divine law in the special sense is the though which the limitations and imperfections of human reason are supplemented and man is infallibly directed to his super mandane end—eternal blessedness, it is the law of Revelation.")

टॉमस का धर्मसत्ता तथा राजसत्ता सम्बन्धी मत

मध्ययुग में धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य कठोर संघर्ष था। यह संघर्ष था सर्वोच्च सत्ता का। चर्च राजसत्ता को मनुष्य के पापों की उत्पत्ति कहकर उसकी उपेक्षा करता था तथा राजसत्ता किसी भी स्थिति में धार्मिक हस्तक्षेप को बर्दाश्त करने के लिये तैयार नहीं थी। इन दोनों के मध्य क्या सम्बन्ध होना चाहिये, इसके समाधान का प्रयत्न टॉमस ने किया। राज्य का कर्तव्य हैं ऐसी परिस्थियों की उत्पत्ति करना जिसमें रहकर मनुष्य सद्‌गुणों का उपार्जन कर सके। ईश्वर से साक्षात्कार स्थापित करके मुक्ति प्राप्त कर सकें। यह मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। मोक्ष के लिए आत्मिक शुद्धि चाहिए जो कार्य धर्म द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। टॉमस का ऐसा मत है कि वह शक्ति, जो मनुष्य को आत्मिक शुद्धि प्रदान करती है, संयम की शिक्षा देती है, अवश्य ही उस शक्ति से श्रेष्ठतर है जो केवल बाह्य साधनों के जुटाने तक अपने को सीमित रखती है, किन्तु फिर भी दोनों सत्ताओं का अपने अपने स्थान पर महत्त्व है। दोनों को प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग से कार्य करना चाहिए। बाह्य सत्ता के अधिकारियों को धर्मसत्ता के अधिकारियों से आन्तरिक शक्ति ग्रहण करनी चाहिए। इससे समस्त संसार का कल्याण होगा। टॉमस ने धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठ बताते हुए, इस बात पर बल दिया कि यदि समस्त विश्व ईसाई धर्म को स्वीकार करके पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार कर उसकी शरण में पहुँच जाय तो मानव मात्र के कष्टों का अन्त हो सकता है। पोप की आज्ञा का पालन राजसत्ता तथा संसार के हित में होगा। टॉमस ने पोप के इस अधिकार का समर्थन किया है कि राजाओं तक को धार्मिक सत्ता की उपेक्षा करने पर बहिष्कृत कर सके। टॉमस का यह विचार था कि पोप की एकतावादी शक्ति का ह्रास हो जायगा तो सामन्तवादी योरोप परस्पर लड़-भिड़कर नष्ट हो जायेगा। किन्तु टॉमस योरोप में राष्ट्रवाद के अंकुरों को प्रस्फुटित होते हुए नहीं देख पाया। श्री राजनारायण गुप्त के शब्दों में, "टॉमस अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को प्रयुक्त करने के बाद भी व्यावहारिक जगत में पोपों तथा धर्माधिकारियों को सम्पत्ति का दुरुपयोग करने से नहीं रोक सका। यह बात इतिहास सिद्ध है।" टॉमस आवश्यकता से अधिक समन्वयवादी बन गया है।

टॉमस का अनुदाय

एक्वीनास ने अरस्तू के विचारधारा रूपी धड़ पर चर्च के धर्म शास्त्रीय विचार तथा पोप की श्रेष्ठता रूपी सिर को रखने का प्रयास किया। सर्वाधिक आश्चर्य

की बात तो यह है कि लोक हितकारी राज्य की अतिप्रगतिशील विचारधारा प्रदान करने वाले दार्शनिक ने दास प्रथा का समर्थन यह कहकर किया कि इससे सैनिकों को वीरत्व लाभ प्राप्त करने में सहयोग मिलेगा। प्रो० सूद ने एक्वीनास के अनुदाय की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "एक्वीनास ने अरस्तू की 'पालिटिक्स' और सन्त आगस्टाइन के उपदेशों में एक महान् समन्वय स्थापित किया, ऐसे समन्वय इतिहास में गिने चुने ही हैं।" कानून का आधार सर्वसम्मति एवं जनकल्याण स्वीकार करके एक्वीनास ने उसे नई दिशा दी। टॉमस एक्वीनास ने ही अरस्तू के विधानवाद (Constitutionalism) का प्रसार किया। लार्ड एक्टन ने सत एक्वीनास को सबसे पहला ह्विग बताया, यद्यपि बार्कर इसे स्वीकार नहीं करता। अरस्तू ने टॉमस एक्वीनास को शिक्षित किया और उसके माध्यम से रिचर्ड हूकर को भी शिक्षित किया। वह हूकर के माध्यम से लॉक का भी आचार्य था और सिविल गवर्नमेण्ट नामक ग्रन्थ का प्रेरणास्रोत भी था।

टॉमस ने राज्यशास्त्र का उद्धार किया क्योंकि उस समय तक राज्यशास्त्र को धार्मिक अपवादों ने बुरी तरह जकड रखा था, टॉमस का यह महत्त्वपूर्ण अनुदाय था। एक्वीनास के दर्शन में यूनानी रोमन तथा मध्ययुग के पादरी लेखकों का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। कुछ लेखक टॉमस को व्यक्तिवादी भी मानते हैं। टॉमस व्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है। टॉमस समाज, राज्य तथा समस्त आर्थिक व्यवस्था को व्यक्ति के हित का साधन मात्र मानता है। टॉमस की रचनाओं में आद्योपान्त मध्यकालीन प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

SELECT READINGS

Dunning History of Pol Theory
Sabine G Pol Theory.
Foster Masters of Pol Thought
Gettell History of Pol Thought.
Doyle History of Political Thought.
Suda J P. राजनीतिक विचारों का इतिहास।
नारायण गुप्त तथा चतुर्वेदी पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास।
कन्हैलाल वर्मा पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास।
वर्मा एस० सी० पाश्चात्य राज दर्शन

अध्याय ४

मैकियावेली

[Machiavelli]

[३ मई १४६९ से २२ जून १५२७]

"One must be a fox to recognise traps and a lion to frighten wolves." —*Machiavelli.*

"Machiavelli more than any other individual, is the father of modern political theory." —*Jones.*

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारकों में मैकियावेली का विशिष्ट स्थान है। वह मध्ययुग की राजनीतिक विचार पद्धति के अन्तिम चरण तथा आधुनिक युग के प्रथम चरण के सन्धिकाल का देदीप्यमान नक्षत्र है। उसके द्वारा प्रवाहित राजनीति शास्त्रीय ज्ञान गंगा के कारण उसे आधुनिक राजनीतिक विचारों का जनक कहा जाता है। उसने मध्ययुग के राज्य पर छाए हुए धार्मिक प्रभावों को दूर किया, व्यावहारिक राजनीति के कूटनीतिक पक्ष पर मनन किया और आधुनिक युग के राजनीति शास्त्रियों को अनुप्राणित किया। उसके विचारों में चाणक्य एवं अरस्तू का समन्वय प्राप्त होता है।

जीवन परिचय

(Life Sketch)

मैकियावेली का पूरा नाम निकोलो मैकियावेली (Niccalo Machiavelli) था। उसका जन्म इटली के फ्लोरेंस नगर में ३ मई, १४६९ को एक मध्यवर्गीय कुलीन परिवार में हुआ था। फ्लोरेंस तत्कालीन ज्ञान के पुनर्जागरण आन्दोलन का केन्द्र होने के कारण विख्यात था। मैकियावेली के पिता का नाम बरनार्डो-डि-निकोलो मैकियावेली (Bernardo di Niccolo Machiavelli) था।

मैकियावेली की शिक्षा फ्लोरेंस के एक विद्यापीठ में हुई। परिवार की साधारण स्थिति के कारण वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहा। अतः उसकी शिक्षा अधूरी रह गई। वह शासन में उच्च महत्वपूर्ण पद पाने में असमर्थ रहा, लेकिन परिवार के शुभचिन्तकों के प्रयत्नों से वह सरकारी सेवा में प्रवेश कर गया। इस समय में फ्लोरेंस एक गणराज्य था, जिसका शासन मेडिसी दल (Madici) के हाथों में था। फ्रांस के शासक चार्ल्स आठवें ने फ्लोरेंस पर चढ़ाई कर दी और मेडिसी वंश का शासन समाप्त कर अपना शासन स्थापित किया। मैकियावेली की अभूतपूर्व

प्रतिभा, गजब की पर्यवेक्षण शक्ति तथा अथक परिश्रम के कारण वह शीघ्र ही उन्नति कर गया। वह सदस्यीय परिषद् (Council of Ten) का सचिव बना दिया गया वह अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण २३ बार फ्रांस, रोम, जर्मनी आदि देशों में राजदूत बनाकर भेजा गया। इस प्रकार कूटनीतिक पदों पर रहने के कारण राजनीति के व्यावहारिक पहलू का ज्ञान प्राप्त करने का यह अवसर सहज ही उसे प्राप्त हो गया।

मैकियावेली अपने व्यावहारिक राजनीति के ज्ञान को क्रियान्वित करने का अवसर भी नहीं पा सका था कि फ्रांस और स्पेन के परस्पर वैमनस्य के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उथल-पुथल प्रारम्भ हो गई। फ्रांस के फ्लोरेंस से सम्पर्क होने के कारण १५०९ में रेवेना के युद्ध में फ्रांस को हार हो जाने पर, फ्लोरेंस में स्पेन के समर्थकों ने शासनतन्त्र बदल दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि मैकियावेली को भी पद से पृथक कर दिया गया। मैडिसी वंश का शासन स्थापित होना उसके लिए दुर्भाग्य की बात हुई।

मैकियावेली ने पद से पृथक होने के बाद व्यावहारिक राजनीति के अनुभव को अधिक विस्तृत करने के लिए राजनीति के ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया। उसने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर इटली की समस्याओं का अध्ययन किया और उनका हल निकालने का प्रयत्न किया। मैडिसी वंश के नव स्थापित शासन को वे आपत्तिजनक दिखाई दिए और उन्हें उसने अपने प्रति षड्यन्त्र समझकर मैकियावेली को कारागार में डाल दिया। मैकियावेली के मित्रों ने एक वर्ष बाद उसे कारागार से मुक्त करा लिया। मैकियावेली ने शेष जीवन फ्लोरेंस के बाहर एक गाँव में व्यतीत किया। वहाँ उसने समाज सेवा, साहित्य के अध्ययन एवं सृजन में समय लगाया। उसने इसी समय में राजनीतिशास्त्र की ख्यातिप्राप्त पुस्तकों की रचना की। उसने ये पुस्तकें शासकों को प्रभावित कर पुनः महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने के उद्देश्य से लिखी थीं। 'दि प्रिंस' का समर्पण भी इस (मैडिसी) वंश के शासक को किया। लेकिन मैकियावेली उद्देश्य प्राप्ति में विफल हुआ और ५८ वर्ष की अल्पायु में २२ जून, १५२७ को एक साधारण व्यक्ति की भाँति इस नश्वर संसार को छोड़कर चला गया।

मैकियावेली अपने युग का शिशु
(Machiavelli Child of his Times)

कोई भी व्यक्ति युग के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। प्रत्येक कवि, लेखक विचारक, दार्शनिक युग के वातावरण सामयिक परिस्थितियों—सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक—आदि से प्रभावित होता है। जिस प्रकार प्लेटो तथा अरस्तू पर उनके युग की स्पष्ट छाप है उन्होंने नगर राज्यों के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किए हैं, दासता को अनिवार्य और स्वाभाविक बताया है, उसी प्रकार मैकियावेली पर भी उसके युग की अमिट छाप है। उसके विचारों में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। वह राजनीति शास्त्री बनने से पूर्व व्यावहारिक राजनीति का कुशल अभिनेता रह चुका था। अपनी मातृभूमि तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संस्थाओं की अवस्था ने उसे विशेषपूर्ण विचार निर्माण में अत्यन्त सहयोग दिया। प्रो० डनिंग ने मैकियावेली पर युग की स्पष्ट प्रतिच्छाया को प्रकाश करते हुए उचित

ही कहा है कि "प्रतिभा सम्पन्न फ्लोरेंस निवासी सत्य ही पूर्ण रूप से अपने युग का शिशु था।" ("The brilliant Florentine was in the fullest sense the child of his times") प्रो० डनिंग का यह कथन मैकियावेली पर विशेष रूप से चरितार्थ दिखाई देता है क्योंकि अन्य विचारकों की अपेक्षा उस पर तत्कालीन वातावरण का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। राजनीति शास्त्र में मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के प्रारम्भ का प्रतीक बनकर वह युग का प्रतिनिधित्व करता है। मैकियावेली को युग का शिशु बनाने का श्रेय उस युग की निम्न महत्वपूर्ण विचार-धाराओं को है—

(१) सुदृढ़ राजतन्त्र का समर्थन (Supports to unlimited monarchy)—मैकियावेली १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १६वीं शताब्दी के सन्धियुग में राजनीति का व्यावहारिक अध्ययन कर रहा था। उसने इटली तथा विश्व के अन्य देशों की राजनीतिक संस्थाओं का, उनकी प्रकृति आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया। उसने देखा कि राज्य की सीमित सत्ता का लोप हो रहा है। पश्चिमी यूरोप में राजतन्त्र की स्थापना हो रही है, राजतन्त्र संसद, नगर राज्य पोप तथा सामन्तों की सत्ता के स्थान पर सुदृढ़ होता जा रहा था। सरकार तथा राज्य सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन लक्षित हो रहा था। वे शक्तियाँ जो सामन्तों, निगमों आदि के हाथ में थीं शीघ्रता से राजतन्त्र के हाथों में आती जा रही थीं। राज सत्ता के स्रोत के रूप में, सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार, जो रोमन प्रभाव के कारण न्यायाधीशों या दैवीय अधिकार से प्रेरित थे, १६वीं सदी के सामान्य राजनीतिक विचार बन गये। सुदृढ़ निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना के कारण मध्ययुग की संस्थायें लुप्तप्राय थीं। वह तलवार के आधार पर चर्च को भी अपने अधीन कर चुका था। सर्वत्र निरंकुश राजतन्त्र की धाक दिखाई देती थी। इंगलैण्ड में गुलाब का युद्ध (War of Roses) समाप्त होने पर हेनरी सातवें ने ट्यूडर वंश का निरंकुश शासन प्रारम्भ किया। उसने सामन्तों की उच्छृंखलता को दबा दिया और सम्प्रभु तथा मध्यम वर्ग की रक्षा की। उसके उपरान्त हेनरी आठवें तथा एलिजाबेथ प्रथम आदि रूप में निरंकुश राजतन्त्र को बनाये रखने में सफल हुए। फ्रांस में १०० वर्ष तक (१३३७-१४५३) चलने वाले युद्धों ने मध्य युग की साम्प्रदायिक सामन्त तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रभाव समाप्त किया और १५वीं सदी के उत्तरार्ध में एकाधिकार वाले सुदृढ़, संगठित राजतन्त्र की स्थापना की। १४३९ के अध्यादेश ने राष्ट्र की सैन्य सत्ता पर केवल राजा के हाथों में और फिर राजा की शक्ति क्रान्ति से पूर्व तक बहुत बढ़ी चढ़ी रही। स्पेन में ईसाबेला तथा फर्डीनेण्ड के विवाह के कारण अरागोन (Aragon) तथा कैस्टाइल (Castile) एक हो गये और सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना द्वारा स्पेन १६वीं शताब्दी की सर्वोत्तम शक्ति बन गया। जर्मनी में भी प्रशा और आस्ट्रिया के राजतन्त्र का उदय हो रहा था। दुर्बल मैक्स् मिलियन अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील था। मैकियावेली ने यह भली-भाँति देखा कि यह युग शक्तिशाली शक्ति का समर्थक है। राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में सुदृढ़ शक्ति का बोलबाला होगा। अत: उसकी रचनाओं में सुदृढ़ राजतन्त्र के समर्थन की झलक दिखाई देती है। प्रो० डनिंग ने कहा है कि "यह युग सुदृढ़ शक्ति का युग था जो धर्म निरपेक्ष और धार्मिक दोनों के क्षेत्र में स्पष्ट था, मैकियावेली की रचनाओं में इसका यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध है।" इन परिवर्तनों से राजनीतिक सिद्धान्तों में भी परिवर्तन दिखाई दे रहा था। मैकियावेली

की रचनाएँ इन परिवर्तनों से ओतप्रोत हैं। उसमें सुदृढ़ राजतन्त्र का समर्थन दृष्टिगोचर होता है।

(२) राष्ट्रीयता की भावना का युग (Age of national feeling)—मैकियावेली ने अपने युग की राष्ट्रीयता की भावना के प्रभाव को ग्रहण किया। राजतन्त्रों तथा शक्तिशाली शासन की स्थापना के साथ साथ राष्ट्रीयता की भावना फैल रही थी। पोप व ईसाई साम्राज्य की स्थापना का विचार धूमिल हो चुका था। इंगलिश, फ्रेन्च, जर्मन स्पेनिश आदि में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता था। राजतन्त्र पूरी तरह से राष्ट्रीय शासन का चिन्ह बन गया था वह उत्साह सम्मान से देखा जाता था, प्रान्त तथा नगर आबाद होते जा रहे थे। मैकियावेली ने यह अनुभव किया कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी जातीय, भौगोलिक आदि एकता के आधार पर संगठित होते जा रहे हैं लेकिन इटली का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं है। उसने अपने राजनीतिक सुधारों द्वारा इटली को, युग की राष्ट्रीयता की भावना के साथ कदम मिलाकर चलने के लिये प्रेरित किया।

(३) इटली की दुरावस्था (Decline of Italy)—इटली की अवस्था अत्यन्त हीन और शोचनीय थी। वह सुदृढ़ राजतन्त्र या राष्ट्रीय विचारों से प्रोत्साहित नहीं हो सकी थी। उसकी शासन प्रणाली, विदेशी नीति, आर्थिक स्थिति आदि दोषपूर्ण थी। इटली छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभक्त था लेकिन जिस युग में मैकियावेली ने अपनी लेखनी सम्भाली, वह ५ राज्यों में संगठित था। दक्षिण में नेपल्स का राज्य (Kingdom of Naples) उत्तर पश्चिम में मिलान प्रदेश (Duchy of Milan), उत्तर पूर्व में वेनिस का गणराज्य (Republic of Venice), मध्य में फ्लोरेंस का गणराज्य (Requblic of Florence) तथा पोप राज्य (Papal State)। यहाँ फ्रांस तथा स्पेन जैसा एकछत्र राज्य नहीं स्थापित हो सका था। इटली के इन पाँचों प्रदेशों की दशा ठीक नहीं थी। ये सब एक ओर आपसी कलह तथा लड़ाई-झगड़े में व्यस्त रहते थे, दूसरी ओर फ्रांस तथा स्पेन इन्हें हड़पने के लिये उत्सुक थे। इन दोनों की प्रतिस्पर्धा तथा राज्यों को आन्तरिक वैमनस्य का हल निकालने वाली कोई संस्था न थी। मैकियावेली ने सर्वप्रथम अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित किया कि इटली की उन्नति एक राजा के राज्य में हो सकती है, जो नैतिक प्रभाव तथा भौतिक साधनों के संचय द्वारा इटली को ऊँचा उठा सकता है। अतः मैकियावेली ने इटली की बुरी अवस्था को सुधारने के लिए एकछत्र राजतन्त्र स्थापित होना आवश्यक बताया।

(४) पोप का पावन प्रभाव (Papal Influence)—तत्कालीन राजनीति में पोप का तत्कालीन पावन प्रभाव छाया रहा था। पोप की स्थिति एवं नीति विलक्षण थी, वह अपनी शक्तियाँ पोप राज्य (Papal State) के संगठन की ओर लगा रहा था। मैकियावेली के समकालीन पोप निकृष्ट कोटि के राजनीतिज्ञ थे यद्यपि उन्होंने अपने राज्य को संगठित कर श्रेष्ठ शासन प्रदान किया था। यह एक अनुपम विडम्बना थी कि यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र में पोप ने अपना राज्य स्थापित कर अपना शासन प्रारम्भ कर दिया था। इटली के केन्द्रीय शासन तथा ईसाई राज्य की स्थापना की उत्कट अभिलाषा, परस्पर विरोधी विचार धाराओं के होने के कारण इटली के संगठन में बाधक हो रही थी और एकीकरण के स्थान पर उसे कमजोर बना रही थी। इटली में कोई भी ऐसी सत्ता नहीं दिखाई देती थी, जो उसे एकत्रित कर सके। मैकियावेली ने यह अनुभव किया कि इटली को फ्रांस या स्पेन के राज्य के समान संगठित शक्ति

बनने देने मे पोप बाधक हो रहा है । पोपशाही के अविगनान (Avignan) स्थानान्तरण से, उसकी शक्तियाँ भी विभाजित हो गईं और रोमन चर्च मे अराजकतापूर्ण वातावरण दिखाई दे रहा था । पोप या छोटे-छोटे सामन्तो पर भी नियन्त्रण नही रह गया था । पोप इटली को स्वय एकत्रित करने मे शक्तिहीन तथा अन्य राज्यो को एकत्रित होने से वचित रखने मे यथेष्ट शक्ति सम्पन्न था । एक ओर वह आन्तरिक अवस्थाओ को ऐसा रखता था कि इटली सगठित न हो सके । दूसरी ओर वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के कारण स्पेन, फ्रास आदि को इटली पर आधिपत्य जमाने के लिये नेतृत्व प्रदान करता था । मैकियावेली ने अपने समय के अन्य इटली वासियो की भाँति इस अवस्था के लिये चर्च को उत्तरदायी ठहराया । मैकियावेली ने चर्च को इटली के विभाजन का आधार माना । उसने कहा कि "चर्च ने हमारे देश को विभाजित कर रखा है और रख रहा है । निश्चय ही कोई देश उस समय तक सुखी नही हो सकता, जब तक वह एक ही शासन की आज्ञाओ का पालन न करे, चाहे वह गणतंत्र हो या राजतंत्र जैसा कि फ्रांस और स्पेन मे है इटली इस अवस्था मे नहीं है । इसका मुख्य कारण चर्च है जो इटली को एक शासन गणतन्त्र या राजतन्त्र से शासित नही होने देता।" ["That the Church has kept and still keeps our country divided. And certainly a country can never be united and happy, except when it obeys wholly one government, whether a republic or a monarchy as is the case in France and in Spain, and the sole cause why Italy is not in this condition, and is not governed by either one republic or one sovereign, is the church." —Machiavelli.]

(५) इटली का सामाजिक और नैतिक पतन (Social and Moral downfall of Italy)—मैकियावेली ने इटली के सामाजिक और नैतिक जीवन का निरीक्षण किया । उसने देखा कि इटली की सामाजिक संस्थायें पतन की ओर जा रही थी । नैतिक पतन और भ्रष्टाचार सर्वत्र दिखाई दे रहा था । प्राचीन सामाजिक संस्थाएँ अब मृतप्राय थी, और मध्ययुग की संस्थाएँ तथा चर्च साम्राज्य अब स्मृति मे भी नहीं थे । निर्दयता तथा हत्यायें शासन की सामान्य बात समझी जाती थी । सच्चाई तथा विश्वास लुप्त हो गये थे । शक्ति और धूर्तता सफलता की कुञ्जी थी । नग्न स्वार्थपरता, नीचता आदि ने मनुष्यो को जानवरो से भी निकृष्ट बना दिया था । यह अवस्था अवैधानिक भ्रमण (Expedient nomads) की थी । कानून और न्याय-विहीन होने के कारण यह अरस्तू के इस कथन को सार्थक करती थी कि मनुष्य को जब न्याय और विधियों से पृथक् कर दिया जाता है, यह जानवरों से भी निकृष्ट हो जाता है ।" [Man, when separated from law and justice is the worst of all animals.—Aristotle.]

(६) आर्थिक स्थिति का प्रभाव (Influence of economic condition)—१५वीं शताब्दी मे आर्थिक परिवर्तन होना शुरू हो गया था, यह परिवर्तन मध्ययुग की संस्थाओं पर क्रान्तिकारी प्रभाव डालते थे । व्यापार आदि स्थानीय थे । आवागमन के साधन सीमित होने के कारण वह देश की सीमा से आगे जाने मे असमर्थ थे । स्थानीय बाजार मे, निर्धारित वस्तुएँ निर्धारित मार्ग से आती जाती थी । उन पर उत्पादको के संघ नियन्त्रण रखते थे । व्यापार का केन्द्र नगर होते थे ।

जो व्यापारी घूम फिर कर व्यापार करते थे उनको अधिकतम लाभ होता था। यह उन्ही वस्तुओं का अधिक से अधिक व्यापार करते थे, जिनसे उन्हें अधिक से अधिक लाभ हो। सरकार वस्तुओं के स्तर, उनके मूल्य तथा सेवा की शर्तों को निर्धारित करती थी। १६ वीं शताब्दी के आरम्भ से ही प्रत्येक राजतन्त्र ने राष्ट्रीय स्रोतो का शोषण कर, घर तथा बाहर व्यापार बढाकर, राष्ट्रीय शक्ति बढाने की ओर ध्यान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जिसके पास विपुल पूंजी थी। यह वर्ग अव्यवस्था, सामन्तो और राज्यो का विरोधी था। उनका हित घर तथा बाहर सुदृढ शासन की स्थापना मे ही सुरक्षित रह सकता था। यह वर्ग राज्य के हाथो में सैन्य शक्ति एव न्याय रखना पसन्द करता था। निरंकुश तथा अत्याचारी राजतन्त्र, बुरा होते हुए भी, उन्हें उस समय सभी शासन प्रणालियों में श्रेष्ठ मालूम पड़ता था। मैकियावेली ने इस बात का अध्ययन किया। युग का प्रत्येक वर्ग तथा नागरिको का समूह सबल राजतन्त्र का पक्षपाती है और वही उनके कष्टों का निवारण करने के लिये एक मात्र उपाय है, यह अध्ययन ही मैकियावेली की रचनाओ का केन्द्र विन्दु है। यही कारण है कि उसे युग का शिशु कहा जाता है।

(७) बौद्धिक पुनरुत्थान (Renaissance)—यह युग विद्या एवं ज्ञान के पुनरुत्थान का युग था। पुनरुत्थान प्राचीन आदर्शों के प्रति झुकाव प्रदर्शित कर रहा था। इसी समय में सांस्कृतिक आन्दोलन सफलता की चरम सीमा पर था। कला और साहित्य मध्ययुग के प्रभाव का परित्याग कर प्राचीन विश्व के यूनान, रोम के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। दर्शन, विज्ञान भी प्राचीनता की स्फूर्तिदायक प्रेरणा अंगीकार कर रहे थे। नैतिकता और धर्म का भी झुकाव इसी ओर था। यह युग स्वतन्त्रता का युग था जिसमे विचारो के ऊपर लगे हुये मध्ययुगीन बन्धन टूट रहे थे और लौकिक जगत् शृंखलामुक्त होकर निर्द्वन्द्व विचार प्रकट कर रहा था। प्रो० डनिंग ने इस प्राचीनता के स्वतन्त्रताबद्धक विचारो का चित्रण करते हुए कहा है "इस युग की प्रमुख बौद्धिक लक्षण स्वतन्त्रता थी—यह स्वतन्त्रता सीमाओं और बन्धन की स्वतन्त्रता थी जो मनुष्य के विचारो और कार्यों पर सिद्धान्तो एवं तरीकों द्वारा लगा दी गई थी।" ["*The dominant intellectual note of the age* was freedom—freedom from the limitations and restraints imposed upon men's thought and action by the methods and dogmas of scholasticism, and freedom to relief in every species of activity which the untrammelled spirit of the ancients had suggested"—Dunning] मानव का साहित्य, कला, विज्ञान और दर्शन का विकास स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही होता है। यदि उन्हें प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तो प्राकृतिक गति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। प्राचीन यूनान और रोम में इस प्रकार की स्वतन्त्रता थी। इटली पर इस पुनरुत्थान का प्रभाव पडना स्वाभाविक भी था। फ्लोरेंस इस पुनरुत्थान युग का सर्वमान्य केन्द्र बन चुका था। मैकियावेली पर इस युग की छाप पडी। तत्कालीन वातावरण फ्लोरेंस मे जन्म होने और शिक्षा आदि के कारण, मैकियावेली की तीव्र बुद्धि ने अपने विचारो द्वारा उस समय की राजनीतिक समस्याओं को सुधारने के लिए सुझाव प्रस्तुत किये। वह सुझाव इस बौद्धिक पुनरुत्थान आन्दोलन से प्रभावित थे। "Man is the measure of all things" जैसे सॉफिस्ट विचारो का प्रभाव पुनरुत्थान काल के फलस्वरूप जनता पर हुआ।

मैकियावेली अपने युग का शिशु है। उसने इटली को स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य बनाने के लिये अपनी महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित की, यह युग की विचारधारा का समर्थन और प्रतिनिधित्व ही था। उस समय में सबल राजतन्त्र ही राष्ट्रीयता का प्रतीक समझा जाता था। मैकियावेली ने अपनी अध्ययन पद्धति, मानव के स्वभाव, धर्म और राजनीति के पृथक्करण आदि का जो परिचय दिया है, वह उस युग की देन थी। इसीलिये प्रो० डनिंग ने मैकियावेली को युग शिशु सम्बोधित किया है। जोन्स ने भी इसी प्रकार कहा है कि 'राजनीति शास्त्री न होते हुए भी मैकियावेली अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा आधुनिक राजनीति दर्शन का जनक माना जाता है।" [Machiavelli more than any other individual and despite the fact that he is hardly a political theorist, is the father of modern political thought]

मैकियावेली की रचनाएं
(His Writings)

मैकियावेली की राजनीतिक रचनाएं प्रमुखत निम्न चार है . (१) दि प्रिंस (The Prince) (२) दि डिसकोर्सेज आन दी फर्स्ट टन बुक्स आफ टिटस लिवियस (The Discourses on the first ten books of Titus Livius), (३) दि आर्ट आफ वार (The Art of War), (४) दि हिस्ट्री आफ फ्लोरेंस (The History of Florence)।

'प्रिन्स' का परिचय

'प्रिंस' की रचना मैकियावेली ने १५१३ में की थी परन्तु इसका प्रकाशन मृत्योपरान्त ही हो पाया। इसमें मैकियावेली ने शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना, शक्ति को स्थाई रखने का विस्तार करने आदि पर विचार किया है। मैकियावेली को राजनीति शास्त्र के विचारकों में अग्रिम पंक्ति प्रदान करने का श्रेय इसी ग्रन्थ को है। लेकिन वास्तविकता यह है कि यह ग्रन्थ उसके विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। मैकियावेली ने इस ग्रन्थ का समर्पण मैडिसी वंश के शासक को अपने निजी स्वार्थ पूर्ति के लिये किया था। वह चाहता था कि यदि शासक प्रसन्न हो जायेगा तो उसे पुन कोई महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो जायगा। दुर्भाग्य का विषय यह है कि यह ग्रन्थ मैकियावेली के विचारों की सही अनुकृति न होते हुए भी, उनके विचारों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। डिसकोर्सेज में मैकियावेली का वास्तविक चित्र दिखाई देता है। इसमें वह रोमन गणराज्य का विचार लेकर उदित हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि मैकियावेली गणतन्त्र का समर्थक, प्रचारक और प्रशंसक बन गया हो। दोनों ग्रन्थों में अलग-अलग विचार देख कर क्यों न कहा जाय कि यह दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के विरोधी मालूम पड़ते हैं। विलेरी (Villari) ने कहा कि वह व्यक्ति जो मैकियावेली के डिस्कोर्सेज से परिचित होगा और 'प्रिंस' रचना का उद्देश्य जानता होगा सम्भवतः इस रूप में यह भविष्यवाणी कर सकता है कि प्रिंस में क्या विचार है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैकियावेली गणतन्त्र का उपासक है लेकिन निजी स्वार्थ के कारण वह 'प्रिंस' में राजतन्त्र का शासकों का समर्थक बन गया। परन्तु हम यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिये की समकालीन इटली में गणराज्य की स्थापना

होने के लिये उपयुक्त परिस्थितियों का अभाव था। राजतन्त्र ही वहाँ सफल हो सकता था। मैकियावेली की ये राजनीतिक रचनाएँ राजनीति शासन को कथावस्तु के स्थान पर कूटनीति तथा सफल शासन निर्माण के लिए व्यावहारिक राजनीति से परिपूर्ण है। उस समय इटली को 'चाणक्य' की आवश्यकता थी जो वहाँ की अराजक अवस्था को शक्तिशाली राजतन्त्र द्वारा सुधार सके। मैकियावेली की ये रचनायें कूटनीतिज्ञ की सूक्ष्म अवलोकी सफल बौद्धिक चतुरता, गम्भीरता तथा घटनाओं के पूर्व निर्णय की शक्ति से प्रभावित थी। उसका लक्ष्य इटली को एक उन्नतिशील राष्ट्र बनाना था। अत उसने एक मातृभूमि के उपासक के रूप मे इटली को सुदृढ राष्ट्र बनाने के ढग, उसकी शक्ति बढ़ाने, वे दोष, जो राज्य को पतन की ओर ले जाते है, उन्हे दूर करने के उपायों पर प्रकाश डाला है। मैकियावेली का लक्ष्य इटली की अराजकता के स्थान पर शान्ति सुव्यवस्था प्रदान करना था। वह उसे समृद्ध और वैभव सम्पन्न राष्ट्र बनाना चाहता था। व्यापार की उन्नति समृद्धि का भाग होनी है। इन सबके लिये मैकियावेली राजतन्त्र को उपयुक्त समझता था। अपनी रचनाओ मे इसीलिए वह राष्ट्र तथा सबल राजतन्त्र का समर्थक दिखाई देता है। मैकियावेली का लक्ष्य इटली के समकालीन बौद्धिक पुनरोदय को बढ़ावा देना था। उसने अन्धविश्वासो एव मूढ़ताओ को हटाकर धर्म की अनीति से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न किया।

मैकियावेली पर प्रभाव (Influences on Machiavelli)—मैकियावेली की रचनाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर तीन विभिन्न प्रकार के प्रभाव पडे हैं —

(१) वह यूनानी विचारधारा से, विशेष रूप से अरस्तू से, प्रभावित हुआ। *अरस्तू का प्रभाव राजनीति और नीति तथा धर्म के पृथक्करण, शासन को स्थाई बनाने* के प्रयत्नो राज्य के अन्य सस्थाओ से सर्वोच्च होने, राज्य के वर्गीकरण आदि पर दिखाई देता है।

(२) वह रोमन राजनीतिक विचारधाराओं से भी प्रभावित हुआ। उसके रोमन गणराज्य सम्बन्धी विचार, विधियों आदि पर प्रभाव इसके उदाहरण हैं।

(३) मैकियावेली पर समकालीन राजनीतिक विचारों का प्रभाव पड़ा। उसने प्रचलित धार्मिक सत्ता की बुराइयों को देखा और उनके पतन के उपरान्त उठते हुए राजतन्त्रों का अध्ययन किया, जिनसे प्रभावित हुए बिना वह नही रह सका। चर्च और राज्य के सत्ता हथियाने के लिए चल रहे सघर्ष का निर्णय करते हुए उसने राजतन्त्र का समर्थन किया।

मैकियावेली की अध्ययन पद्धति (Machiavelli's Methods of Study)—मैकियावेली की अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक (Historical), वैज्ञानिक (Scientific) पर्यवेक्षणात्मक (Observational), आगमनात्मक (Inductive) तथा अनुभव मूलक (Empirical) है। उसकी अध्ययन पद्धति मध्ययुग से पूर्ण रूप से भिन्न है। मध्य युग में चर्च ईसाई धर्मग्रन्थो और प्राकृतिक कानूना को जीवन की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए आधार मानते थे। मैकियावेली उनके प्रति आदर प्रकट नहीं करता और वैज्ञानिक ढग से अपने विचारों का निर्माण करता है। वह अपने युग के पूर्व मान्य विचारों के अनुसार धर्म, रूढियों, अन्ध-विश्वासो, रीति-रिवाजों आदि के आधार

पर समस्याओं का हल खोजने का प्रयत्न नहीं करता। उसने ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया। उसे इस बात का गर्व था कि वह राजनीति तथा इतिहास को संबंधित करने वाला प्रथम विचारक है। उसका कथन था कि राजनीति के अध्ययन करने का सर्वमान्य तरीका ऐतिहासिक ही हो सकता है। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य जैसा आज है वैसा ही आज से पूर्व प्रत्येक युग और हर एक स्थान पर था। मनुष्य के उद्देश्य, आकांक्षाएँ समस्याएँ और उनके समाधान करने का ढंग भी सर्वदा प्रत्येक स्थान पर एक-सा ही था। अतः ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति द्वारा भूतकाल का अध्ययन वर्तमान अवस्था की समस्याओं पर प्रकाश डालता है और भविष्य के लिये घोषणाएँ भी करता है। इतिहास भूतकालीन प्रयोगों का भंडार होता है जिसमें सफलता और असफलताओं का लेखा-जोखा रहता है। राजनीतिज्ञ वर्तमान परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं का हल निकालने के लिये उसका आश्रय लेता है। उसे यह जानकारी लेनी पड़ती है कि समान परिस्थितियों में समान समस्याओं का क्या परिणाम हुआ था आज भी उन्हीं अवस्थाओं में उनका क्या परिणाम होगा। मैकियावेली ने समकालीन समस्याओं का समाधान प्राचीन यूनान और रोम के इतिहास द्वारा निकालने का प्रयत्न किया।

मैकियावेली की अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक है अथवा नहीं? इस प्रश्न की समीक्षा करते हुये प्रो० डनिंग ने यह मत प्रकट किया कि "मैकियावेली की पद्धति वास्तव में ऐतिहासिक होने के स्थान पर देखने में ही ऐतिहासिक थी [In fact Machiavelli's method was historical in appearance rather than in reality."]। मैकियावेली ने ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग उलटे रूप में किया। उसने इतिहास की घटनाओं के आधार पर वर्तमान समस्याओं का समाधान करने का विचार प्रस्तुत नहीं किया, वरन् उसने वर्तमान समस्याओं का अध्ययन किया, उनके लिये निष्कर्ष निकाले और उनकी सत्यता सिद्ध करने के लिये इतिहास में उनकी समानता खोज निकाली। वह अपने समय में परिस्थितियों का सर्वोच्च पर्यवेक्षक था। वह समस्याओं का अध्ययन करने में और उनका अनुभव के आधार पर समाधान निकालने में इतना कुशल था कि प्रो० डनिंग उसे "अपनी समकालीन परिस्थितियों का सर्वाधिक उचित पर्यवेक्षक और विश्लेषणकर्ता कहते हैं।" ["Of the circumstances of his own time he was a most accurate observer and a most accurate analyst."]

त्रुटि नही रहती, लेकिन वह राजतन्त्र का समर्थन करने के लिए इतना दृढ प्रतिज्ञ था कि उसने मानव प्रकृति के एक पहलू को ही पूर्ण समझ लिया।

संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि मैकियावेली ने ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, पर्यवेक्षणात्मक और अनुभवमूलक पद्धति का अनुसरण किया। उसने सभी पद्धतियो का प्रयोग अपने विचारो को पुष्ट करने के लिये किया। उसने इटली की तत्कालीन अवस्था सुधारने के लिये निष्कर्ष निकाले। इतिहास मे उनके समान निष्कर्ष खोज कर उन्हें न्यायसगत ठहराया तथा वैज्ञानिक रूप मे पहल से ही निर्धारित समस्याओ का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की। अपने पर्यवेक्षण और अनुभव को सकुचित सीमा मे रख और अपने मतलब की बात ढूँढ निकालने के बाद उनका प्रयोग नही किया।

मैकियावेली की वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति (His Scientific method of study)—मैकियावेली के जन्म से पूर्व मध्यकालीन अध्ययन पद्धति प्रचलित थी। इस पद्धति मे अधविश्वास मूढता तथा धर्मग्रन्थो की परम्पराओ आदि का स्थान था। यह अध्ययन का अवैज्ञानिक ढग था। मैकियावेली ने वर्तमान वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का श्रीगणेश किया। उसने ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक, अनुभवमूलक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति के प्रयोग द्वारा तत्कालीन इटली की अवस्था सुधारने के लिये विचार किया। उसने इटली की अवस्था का पर्यवेक्षण किया, व्यावहारिक ज्ञान के अनुभव द्वारा उन दोषो को दूर करने का प्रयत्न किया विश्लेषण द्वारा जो निष्कर्ष निकाले उन्हे इतिहास की कसौटी पर परख कर प्रतिपादित किया। यह आधुनिक युग मे भी अध्ययन करने का मान्य तरीका है। आज यद्यपि इनका विकास हो गया है लेकिन सर्वप्रथम मैकियावेली ने ही यह तरीका प्रयुक्त किया था।

मैकियावेली की अध्ययन शैली त्रुटि विहीन नही है। वह आधुनिक युग की नीव रखते हुये, निम्न दोषो से युक्त है। प्रथम पर्यवेक्षण बहुत ही सकुचित है। इटली के अतिरिक्त वह अन्य राष्ट्रो का पर्यवेक्षण किये बिना ही अपना निष्कर्ष व्यक्त करता है और गलत सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। द्वितीय वह निष्कर्ष पहले ही निकाल लेता है और उन्हे इतिहास के आधार पर पुष्ट करता है। इन दोषो के होते हुए भी उसकी पद्धति आज भी प्रयोग मे लाई जाती है।

मानव स्वभाव (Human Nature)

मैकियावेली के राजनीतिक विचारो का अध्ययन मानव स्वभाव के विवेचन से प्रारम्भ किया जाता है क्योकि उसके अनुसार मानवीय सस्थायें एव तत्सम्बन्धी विचार मानव पद्धति पर ही आधारित होते है। मैकियावेली द्वारा प्रतिपादित मानव स्वभाव की विवेचना आगे चलकर हॉब्स के मानव स्वभाव वर्णन का आधार बनी।

(१) **मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है**—मैकियावेली ने कहा कि मनुष्य स्वभावतः एक स्वार्थी प्राणी है। वह सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक आदि जो भी कार्य करता है, पूर्ण स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही करता है। मनुष्य का प्रेम प्रदर्शन भी स्वार्थ का प्रतिरूप है। स्वार्थ पूर्ति की सम्भावना समाप्त होने ही मनुष्य विमुख होकर विद्रोह करते हैं। प्रजा अपनी सुरक्षा की स्वार्थमयी आवश्यकता के कारण शासक चाहती है। मनुष्य यह जानता है कि यदि वह अकेला रहेगा तो अन्य प्राणी उसकी दुर्बलता के कारण उसे नष्ट कर देंगे। अत अपने प्राणों की रक्षा के

लिए वह राज्य के रक्षण में रहता आया है। राजा भी अपने स्वार्थ के लिये शासन करता है। वह अपनी शक्ति को बढ़ाना और स्थाई रखना चाहता है इसलिये वह शासन करता है। इस प्रकार शासन (राज्य, मनुष्य के सद्गुणों का प्रतीक न होकर दुर्गुणों का ही प्रतिनिधित्व करता है। यह मनुष्य की दुर्बलता, अपूर्णता और स्वार्थी प्रवृत्ति का प्रतिरूप है।

(२) मानव इच्छाएँ असीमित होती हैं—मानव स्वभाव की दूसरी विशेषता यह है कि वह आक्रामक और अधिक से अधिक संग्रह करने के लिये लालायित रहता है। मनुष्य यह चाहता है कि जो कुछ उसके पास है वह बना रहे और वह उसमें अधिक परिवर्द्धन करता रहे। उसकी इच्छायें असीमित और अनन्त हैं। मैकियावेली ने कहा, 'मनुष्य सदैव अपनी आकांक्षाओं को नियन्त्रित करने की सीमा से अनभिज्ञ रहने की भूल करता है। [Men always commit the error of not knowing when to limit their hopes.] इन अनियन्त्रित इच्छाओं के कारण प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष होते हैं। अधिकाधिक प्राप्त करने की इच्छा अराजकता फैलाती है। मनुष्य स्वभाव से ही 'अकृतज्ञ (कृतघ्न) अस्थिर धोखेबाज कायर और लोभी (Ungrateful fickle, deceitful cowardly and avaricious) होता है। मानव स्वभाव की यह विशेषता सुदृढ़ शासन की आवश्यकता स्पष्ट करती है।

(३) मनुष्य भयभीत रहने वाला प्राणी है—मानव स्वभाव का एक और प्रमुख तत्त्व 'भय' है। मनुष्य भय के कारण दुष्प्रवृत्तियों को त्यागता है। यदि उन्हें यह भय दिखाया जाय कि राज्य के कानूनों का पालन न करने से उन्हें दण्डित किया जायगा, उसी समय श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने की ओर वह ध्यान देगा। मनुष्य अपनी दुष्प्रवृत्तियों को भय के कारण ही त्यागता है। मैकियावेली भय और घृणा में अन्तर स्पष्ट करता है। वह कहता है कि शासक को प्रजा को भयभीत रखना चाहिये लेकिन कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे वह उससे घृणा करने लगे। 'उसने भय और घृणा का अन्तर देते हुए बताया कि शासक को व्यक्ति की हत्या करना उसकी सम्पत्ति के अपहरण से श्रेष्ठ समझना चाहिये। मैकियावेली के शब्दों में, "मनुष्य पिता की हत्या, सम्पत्ति अपहरण की अपेक्षा शीघ्र भूल जाता है" ['Men more readily forget the death of a father than the loss of patrimony.'] मैकियावेली यहाँ स्वभाव की दो विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। मनुष्य की अधिकाधिक प्राप्त करने की इच्छा उसके सम्पत्ति प्रेम का परिचायक है। यदि उसके सम्पत्ति संग्रह के मार्ग में कोई बाधक होता है तो वह उससे घृणा करने लगता है। अतः शासक को भूल कर भी मनुष्य की सम्पत्ति का अपहरण नहीं करना चाहिए। घृणा और अनियन्त्रित संग्रह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संक्षेप में मैकियावेली मानव स्वभाव को पापी, स्वार्थी और दुष्ट मानता है। यह तत्कालीन इटली के मनुष्यों का स्वार्थी स्वभाव तथा ईसाई धर्म के मनुष्य के पापी माने जाने के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतीत होता है।

मैकियावेली के राजनैतिक विचार भौतिक समृद्धि के प्रति उसकी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं। उस काल के विचारकों के अनुसार राज्य को भौतिक और नैतिक जीवन प्रदान करने वाला मध्ययुग के विचारों के अनुसार [illegible] का यह प्रसंग नहीं मानता है। राज्य मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति—आकांक्षा तथा सम्पत्ति की रक्षा

के कारण बना है। राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्र मे अधिकतर व्यक्तियो को आर्थिक लाभ होता है।

आलोचना (Criticism) - मैकियावेली के मानव स्वभाव को स्वार्थी, लोभी, आदि बताने की आलोचना निम्न प्रकार से की गई है

(१) उसका पर्यवेक्षण बहुत संकीर्ण है (His observation is narrow)—यह कहा गया है कि मैकियावेली ने मानव चरित्र के जिस विकृत रूप का चित्रण किया है, वह केवल मात्र इटली के तत्कालीन निवासियो का ही चित्र है। उसका पर्यवेक्षण बहुत संकीर्ण है। उसने राजतन्त्र की स्थापना के लिए जो मान्यताएं बनाई हैं, उन्हें ही सिद्ध करने के लिये वह अपने विचार बना लेता है। यदि उसने इटली के अन्यत्र मनुष्य चरित्र का अध्ययन किया होता, तो कभी भी उसे स्वार्थ लोलुप नही बताता।

(२) मैकियावेली का मानव स्वभाव का अध्ययन एकांगी है (His study of human nature is one-sided)—उसने मनुष्य के एक पक्ष को ही देखा। मनुष्य स्वार्थी होने के साथ ही परमार्थी और त्यागी भी है। वह सम्पत्ति का संग्रह करता है लेकिन आवश्यकता पड़ने पर दान भी करता है। यह समाज मनुष्य की स्वार्थी भावनाओ से अधिक त्याग और परोपकार पर टिका हुआ है। मनुष्य के त्याग, दया, सेवा और परोपकार की प्रकृति मैकियावेली के पर्यवेक्षण से दूर रही। वह मनुष्य के उस पक्ष का अध्ययन करता है जहाँ वह पशुओ के समकक्ष दिखाई देता है लेकिन उसका देवत्व नही दीखता। वह मानव स्वभाव के दो अंगो मे से केवल एक का ही वर्णन करता है।

(३) उसके विचार विरोधाभासपूर्ण हैं (His views are full of contradictions)—मैकियावेली के इन विचारो मे विरोधाभास लक्षित होता है। वह राज्य मे स्वार्थी और दुष्ट मनुष्य का सुधार सम्भव बताता है। मैकियावेली के कथनानुसार मनुष्य अधिकाधिक शक्ति बढ़ाना चाहता है जिसका परिणाम सतत् राज्य विद्रोह होगा और राज्यसत्ता हथियाने के लिय अशान्ति और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। ऐसी अवस्था मे सुदृढ़ राजतन्त्र किस प्रकार स्थापित हो सकेगा।

(४) मैकियावेली का यह कहना गलत है कि राज्य की उत्पत्ति मानव स्वभाव के दोषो के फलस्वरूप हुई (It is wrong and sinister on the part of Machiavelli to state that the state has come into existence as a result of the weaknesses of human nature)—मानव स्वभाव की पशुता पर राज्य संस्था की स्थापना हुई है। मैकियावेली के यह विचार राज्य को अच्छे जीवन व्यतीत करने के लिये बनाई गई संस्था नही मानते और इस प्रकार राज्य बुराई पर आश्रित एक आवश्यक संस्था बन जाता है। मैकियावेली इस प्रकार व्यक्तिवादी विचारधारा के 'राज्य एक आवश्यक बुराई (necessary evil) का प्रतिपादन करता है। **राज्य की स्थापना मानव स्वभाव के दोषो के कारण हुई है, यह कहना मानव स्वभाव की अच्छाइयों का अपमान करना है**

नैतिकता सम्बन्धी विचार
(His Views regarding Morality)

मैकियावेली के नैतिकता सम्बन्धी विचार उसे राजनीति शास्त्र के विद्वान

की अपेक्षा कूटनीतिज्ञ बना देते है। उनकी प्रसिद्धि का सबसे महत्वपूर्ण कारण उनके यही विचार हैं। इन्हीं विचारों के अध्ययन से हम मैकियावेली से भलीभाँति परिचित हो सकते है, यही वह विचार हैं जो उसका मध्ययुग से सम्बन्ध विच्छेद कर आधुनिक युग का प्रारम्भ करते है मध्ययुग मे राजनीतिशास्त्री धर्म और नैतिकता से पृथक् विचार व्यक्त करने की सोच भी नहीं सकते थे। मैकियावेली ने धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध को विच्छेद ही नहीं किया वरन् उन्हें राजनीतिक विचारों के सम्मुख महत्वहीन बना दिया। मध्ययुग मे प्रचलित ईश्वरीय और प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त मे मैकियावेली ने प्रीति नहीं दिखाई।

मैकियावेली को आधुनिक युग के राजनीतिशास्त्री बनाने का श्रेय, राजनीति को आचारशास्त्र से पृथक करने के कारण प्रदान किया जाता है। यद्यपि अरस्तू ने भी इस ओर अपनी लेखनी को गतिशील किया था लेकिन वह स्पष्ट रूप मे राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् नहीं कर सका। अरस्तू राजनीति को नैतिक सिद्धान्तों से अप्रभावित नहीं मानता है। मैकियावेली ने सर्वप्रथम राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग कर स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया। उसने अपने वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट किया कि नैतिकता सर्वश्रेष्ठ गुण है लेकिन वह राजनीति के गुणों को प्रभावित नहीं कर सकती।

मैकियावेली ने नैतिकता के सिद्धान्त की द्वैध व्याख्या की—(१) राज्य या शासक की नैतिकता और (२) नागरिकों की नैतिकता। राज्य या शासक के लिये नैतिकता अलग होती है और नागरिकों के लिये अलग। प्रिंस और डिसकोर्सेज मे मैकियावेली ने नैतिकता की यह दुहरी विवेचना की। इसके कारण उसकी विचार धारा का नामकरण ही 'मैकियावेली वाद" (Machiavellism) कर दिया गया। व्यक्ति यदि विधियों का उल्लंघन करता है तो वह अनैतिकता है, राज्य द्वारा विधि का उल्लंघन करना अनैतिक नहीं, व्यक्ति का किसी की हत्या करना अनैतिक है उसके लिये दण्ड दिया जायगा; राज्य युद्ध मे हजारों व्यक्तियों की हत्या करता है, वह अनैतिक नहीं पूर्णतया नैतिक है।

की धारणा अभिव्यक्त करती हैं इसलिए वह नैतिकता से ऊपर है। राजा अपनी सफलता से प्रेरित होकर यदि जघन्य कृत्य भी करे और यदि वह सफल हो जाय तो भी उसके कार्य अनैतिक नहीं होते। इसका अभिप्राय यह है कि मैकियावेली शासक को हिंसा, निर्दयता, अविश्वास, छल-कपट क्रूरता, अनीति आदि को पूर्ण स्वच्छन्दता से प्रयोग करने का अवसर प्रदान करता है। मैकियावेली ने शासक को स्वभावतः अच्छा क्षमाशील, दयालु, सच्चा, धार्मिक और सद्गुणी स्वीकार किया। उसने कहा कि नरेश को अच्छा शासक होना चाहिए लेकिन अपने लक्ष्य—शासन को स्थाई रखने और उसका विस्तार करने—को विस्मृत नहीं करना चाहिए। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसे अपनी स्वभावगत अच्छाई त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिए। जब जैसी परिस्थितियाँ हों उसे उनके अनुकूल बन जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता। कुशल राज्य के स्थाइत्व के मार्ग में बाह्य परिस्थितियों को सुधारने के लिये यदि अनुचित कार्य भी करे, तो वह कार्य अनैतिक नहीं होंगे। नरेश पूर्ण सत्यता, समस्त मानवता, समस्त धर्म तथा पूर्ण वफादारी के साथ अपने विवेक से प्रेरित होकर न्याय करे। राज्य की रक्षा का प्रश्न उपस्थित होने पर उसे इन गुणों का परित्याग करने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। मैकियावेली ने इसकी व्याख्या करते हुये कहा है "नरेश को राज्य के स्थाइत्व का ध्यान रखना चाहिए, उसके साधन सदैव सम्माननीय समझे जायेंगे और उनको सभी स्वीकार करेंगे।" डिसकोर्सेज में भी स्वर यही है कि 'मेरा यह विश्वास है कि जब राज्य के अस्तित्व को खतरा हो, नरेश और गणराज्य को, उन्हें बनाए रखने के लिए विश्वास तोड़ कर कृतघ्न बन जाना चाहिए। ["Let the prince, then, look to the maintenance of the state, the means will always be deemed honourable and will receive general approbation." "I believe that when there is a fear for the life of the state both monarch and republics to preserve it will break faith and display ingratitude."—Machiavelli]

मैकियावेली ने इस प्रकार राज्य के कल्याण और विकास को प्राथमिकता प्रदान करते हुए नैतिकता को राज्य के आधीन रखा है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह अनैतिक जीवन व्यतीत करता था। वह राजनीतिक विचारों में नैतिकता विहीन अवश्य था। मैकियावेली ने न्याय और अन्याय, नैतिक-अनैतिक दया-निर्दयता आदि को राज्य की सुरक्षा के सम्मुख समान समझा है। वह कहता है कि 'जब व्यक्ति के देश की सुरक्षा दांव पर लगी हो उस समय इस प्रकार का कोई भी विचार नहीं करना चाहिए कि यह न्याय है या अन्याय है, दया या निर्दयता, सम्माननीय या घृणास्पद है, इसके विपरीत सब बात भूल कर केवल वही मार्ग अपनाना चाहिए जो देश की रक्षा कर सके और उसे स्वतन्त्र बनाये रहे। ["When the safety of one's country is at stake, there must be no consideration of what is just or unjust, merciful or cruel, glorious or shameful, or the contrary, every thing must be disregarded save that course which will save her life and maintain her independence."]

मैकियावेली ने शासक के नैतिक गुणों में दो विशेषताओं का होना आवश्यक बताया है। वह कहता है कि शासक में शेर और लोमड़ी के गुण होने चाहिये। शेर बहादुरी और शक्ति का प्रतीक है, लोमड़ी चतुरता और चालाकी की। नरेश को

साम्राज्य के स्थाई रखने और विस्तार करने के लिये इन दोनों गुणों को उचित सामंजस्य के साथ प्रयोग करना चाहिये। उसे प्रजा को निरंकुशता पूर्वक भयभीत रखना चाहिये। सामान्य अवस्था में प्रजा को दिये गये वचन का पालन करना चाहिये और परिस्थितियों के विलोम हो जाने पर उनसे मुँह मोड़ने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार शासक में शेर तथा लोमड़ी के गुणों का समन्वय होना चाहिए।

(ii) प्रजा के लिये नैतिकता (Morality for the subjects)—मैकियावेली ने प्रजा के लिए भी नैतिकता की विवेचना की है। प्रजा को सद्गुणी, कर्त्तव्य परायण आज्ञापालक होना चाहिये। प्रजा को शासक के आदेशों को कर्त्तव्यभाव से पूरा करना चाहिये। उन्हें राज्य के हित के लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का त्याग करना चाहिये। शासक प्रजा वत्सल या अत्याचारी कैसा भी हो, प्रजा को स्वामिभक्त रहकर उसके भले-बुरे प्रत्येक आदेश को नतमस्तक होकर पालन करना चाहिये। मैकियावेली का यह विचार ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नारी को पति परमेश्वर समझने के लिये दिया गया उपदेश है। उसने प्रजा को अपने पड़ोसियों के साथ मैत्री रखने का परामर्श दिया।

उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करता है कि मैकियावेली ने प्रजा के केवल मात्र कर्त्तव्य ही बताये हैं। वह सबल शासक की स्थापना पर जोर देता है। यही कारण है कि उसने दोहरी नैतिकता का प्रतिपादन किया। कुछ विद्वान मैकियावेली के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि वह राजा को विशेष महत्त्व प्रदान करता है और उसके अनैतिक कार्यों को भी नैतिक स्वीकार करता है। एक ही कार्य यदि प्रजा द्वारा किया जाता है, अनैतिक होता है और शासक द्वारा किये जाने पर वह नैतिक बना रहता है। लेकिन मैकियावेली द्वारा द्वैध नैतिकता प्रतिपादन का समर्थन हम निम्न आधारों पर कर सकते हैं :—

(१) शासक और प्रजा की नैतिकता में मैकियावेली ने अन्तर इसलिये किया था क्योंकि १६वीं शताब्दी में शासक को भ्रष्टाचार आदि का सामना करना पड़ रहा था। वह अपनी दुर्बल स्थिति के कारण उन परिस्थितियों का मुकाबला करने में असमर्थ था। मैकियावेली यह चाहता था कि भ्रष्टाचार आदि दूर हो और शासक ठीक प्रकार शासन कर सकें। इसके लिये आवश्यकता थी कि उसके अनैतिक कार्यों का भी समर्थन किया जाय। यही कारण है कि वह द्वैध नैतिकता की व्याख्या करता है।

(२) मैकियावेली व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। वह प्लेटो के समान आदर्शवादी नहीं था जो कल्पना में हवाई महल बनाता रहा। उसने वास्तविकता का अध्ययन करने के उपरान्त यह आवश्यक समझा था कि शक्ति सम्पन्न नरेश ही सर्वहितकारी सिद्ध होगा। यही कारण है कि उसने शासन के लिये भिन्न नैतिकता की व्याख्या की।

मैकियावेली ने नैतिकता के समान धर्म को भी राजनीति से पृथक कर दिया। मध्य युग में धर्म और राजनीति एक-दूसरे से सम्बद्ध माने जाते थे। मैकियावेली ने यह अनुभव किया कि धर्म और पोप ही राज्य के पतन का कारण है। अतः उसने धर्म को राजनीति से पृथक ही नहीं किया वरन् धर्म को निम्न स्थान प्रदान किया। उसने कहा कि धर्म संस्थाएँ, अन्धविश्वासों और मूढ़ताओं के कारण प्रजा के भाग्य

के साथ खेल करती हैं। राज्य को उनको कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये। मॅकियावेली के धर्म को अधीन स्थान देने से यह नहीं समझना चाहिये कि वह अधार्मिक था वरन् वह एक विचारक था जो धर्म और नैतिकता में दृढ श्रद्धा रखता था। लेकिन वह एक व्यावहारिक राजनीतिशास्त्री था जिसे सुदृढ शासन की स्थापना द्वारा तत्कालीन अव्यवस्था और व्याप्त असन्तोष को दूर करना था। इसलिए उसने सुदृढ राज्य की स्थापना से मार्ग में बाधक तत्वों का विरोध किया। धर्म और नैतिकता ही राज्य की सुदृढ स्थापना के मार्ग की बाधायें थी, जिन्हें दूर करने के लिए उसने जो विचार व्यक्त किये उन्हे देखने से ऐसा दिखाई देता है कि कोई अधार्मिक और अनैतिक व्यक्ति प्रलाप कर रहा है।

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति
(Origin and Nature of the State)

राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध मे मॅकियावेली ने एक राजनीतिक विचारक के रूप मे अपने विचार व्यक्त नही किये। वह अपनी मूलभूत समस्या का निराकरण करते हुये राज्य की उत्पत्ति पर यत्र तत्र कुछ विचार अभिव्यक्त कर देता है। वह एक सबल शासन का लक्ष्य लेकर चला और उसने चर्च, मानव स्वभाव, तथा इटली की तत्कालीन परिस्थितियो मे बाधक पाया। अतः राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे उसके अस्फुट विचार इन्ही प्रसगो मे आ गये। उन्हे सकलित कर इस प्रकार रखा जा सकता है।

मॅकियावेली ने राज्य को प्राकृतिक सस्था नही माना। वह राज्य सस्था का आविर्भाव मानव जीवन के प्रारम्भ से नहीं करता। वह राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक ऐसी अवस्था की कल्पना करता है जब मनुष्य बिना राज्य के रहता था। इस राज्य विहीन अवस्था मे मनुष्य अराजक जीवन व्यतीत करता था। उस समय न कोई मानव सभ्यता या सस्कृति थी और न ही वैधानिक व्यवस्था थी। मनुष्य की प्रकृति दुष्ट थी; वह स्वार्थी, अहकारी इच्छालु जीवन व्यतीत करता था। मॅकियावेली ने इसे प्राकृतिक अवस्था बताया है। इस राज्य और शासन विहीन अवस्था मे मनुष्य अपने आपको और अपनी सम्पत्ति को असुरक्षित समझकर चिंतित होता था। वह इच्छालु और अधिक से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करने की इच्छा रखता था, लेकिन नित्यप्रति यह भय बना रहता था कि उसकी सम्पत्ति का अपहरण न हो जाय, उन्हे एक ऐसे मानव की आवश्यकता दिखाई देती थी जो उन्हे सुरक्षा प्रदान कर सके। इसलिये प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यों ने शक्तिशाली मानव को अपना शासक चुना जो उन्हे व्यक्तिगत एव साम्पत्तिक सुरक्षा प्रदान करेगा।

मूल्याकन :

(१) मॅकियावेली ने मध्ययुग के प्रचलित दैवी सिद्धान्त का खंडन किया (He rejects Divine Origin Theory of State)—यह उस समय राज्य की उत्पत्ति का सर्वमान्य सिद्धान्त था। राजा को ईश्वर का दूत या प्रतिनिधि माना जाता था और चर्च इस नाते से अपना विशेष प्रभाव बना कर राजनीति में हस्तक्षेप करता था, दुर्बल शासक पोप के आधिपत्य मे आ जाते थे और शासन अव्यवस्थित

हो जाता था। मैकियावेली ने राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का विरोध किया और बताया कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों ने की है, वह ईश्वर प्रदत्त नहीं है।

(२) राज्य प्रकृति प्रदत्त होने के स्थान पर कृत्रिम है (State is not born but man made)—राज्य आदिकाल से नहीं था वरन् जब मनुष्यों ने उसकी आवश्यकता समझी, उसका निर्माण किया। इस प्रकार मैकियावेली राज्य को कृत्रिम संस्था बताता हुआ शासक को विशेष अधिकारों से सज्जित कर देता है। वह प्लेटो, अरस्तू की भाँति राज्य को प्राकृतिक नहीं मानता और कहता है कि उसकी रचना मनुष्य ने अपनी सम्पत्ति आदि को सुरक्षित रखने के लिये की है।

(३) राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की दूषित प्रवृत्तियों के कारण होती है (State is originate in the evil tendencies of human life)—मनुष्य की कलह, संघर्ष, दुष्ट और स्वार्थी प्रवृत्तियों ने राज्य को उत्पन्न किया। राज्य इस प्रकार स्वयं एक दूषित संस्था बन जाता है जिसका जन्म मनुष्य की दूषित विचारधारा के कारण होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मैकियावेली राज्य को श्रेष्ठ और अच्छा जीवन प्रदान करने वाली संस्था नहीं मानता। अरस्तू ने राज्य को सद्गुणी जीवन प्रदान करने वाली संस्था बताया था और दोषों के कारण उत्पन्न राज्य से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अच्छे जीवन को प्राप्त करने में सहायक होगा।

(४) मैकियावेली राज्य की उत्पत्ति को कृत्रिम बताकर शक्तिशाली बना देता है (He make that *State exception ally strong by declaring it* artificial)—राज्य का जन्म ही व्यक्ति को सुरक्षित रखने की शक्ति होने के कारण होता है। अतः इस प्रकार राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करके के लिए स्वतन्त्र है क्योंकि वह उसे व्यक्तियों ने ही सुरक्षा प्रदान करने के लिए सौंपी थी। मैकियावेली ने व्यक्ति को राज्य के सम्मुख नतमस्तक होने का पावन कर्त्तव्य सौंप कर राज्य की शक्तियों को विस्तृत किया और सुदृढ़ शासन की व्यवस्था पर जोर दिया। मैकियावेली इस प्रकार निरंकुश शासन का समर्थन करता है और वह व्यक्ति से अपना व्यक्तित्व राज्य में विलय कर देने का प्रस्ताव करता है। वह इटली को सुदृढ़ शासन प्रदान करना चाहता था, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसने स्वार्थी और दुष्ट मनुष्य को यह आश्वासन दिया कि वह राज्य में ही अपने दोषों को दूर कर सकता है।

(५) राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त से ऐसा प्रकट होता है कि व्यक्ति के राज्य के प्रति केवल कर्त्तव्य और राज्य के व्यक्ति के प्रति अधिकार ही होते हैं। राज्य व्यक्तियों को आदेश प्रदान करता है लेकिन व्यक्ति राज्य को आदेश प्रदान नहीं कर सकते। इस प्रकार मैकियावेली ने व्यक्ति को राज्य के बन्धन में जकड़ कर राज्य को पूर्ण रूप से मुक्त छोड़ दिया है।

(६) *मैकियावेली का नरेश हॉब्स का लेवियाथन है* (His king is Hobbes, Leviathan)—*राज्य की उत्पत्ति की इस विवेचना ने हॉब्स के समझौता* सिद्धान्त का मार्ग प्रदर्शन किया, मैकियावेली का नरेश हॉब्स के 'लेवियाथन' का ही प्रतिरूप है।

आलोचना (Criticism)—राज्य की उत्पत्ति की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है—

(१) कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है (No Scientific method)— मैकियावेली ने राज्य की उत्पत्ति का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। उसने अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं के औचित्य को सिद्ध करने की चेष्टा की है।

(२) ऐतिहासिक अपवाद (It is a historical fiction)— राज्य की उत्पत्ति होने से पूर्व एक ऐसी अवस्था थी जब व्यक्ति राज्य के बिना रहता था, यह विचार ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य है। हमें इतिहास में कोई भी चरण ऐसा नहीं दिखाई देता जब राज्य न हो और मनुष्य अराजक जीवन व्यतीत करता हो। प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अनैतिकता का है।

(३) मानव स्वभाव का अशुद्ध मूल्यांकन है (Wrong estimation of human nature)—मानव प्रकृति के दो पक्ष होते हैं; एक पशु पक्ष—जिसमें मनुष्यों को स्वार्थी, दुष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं, दूसरी देव पक्ष—जिसमें त्याग, प्रेम आदि सद्गुण होते हैं। मैकियावेली ने राज्य की उत्पत्ति प्रथम पर आधारित मानी है। यह त्रुटिपूर्ण है। स्वार्थी मनुष्य कभी भी अन्य व्यक्तियों को सर्वोच्च सत्ता स्वतः सौंपने के लिये तैयार नहीं हो सकता।

(४) पाशविक शक्ति पर आधारित राज्य स्थायी नहीं हो सकता (States based on physical violence and power can never be stable)—मैकियावेली ने राज्य की विशेष स्थिति का निर्माण किया और बताया कि दमन और पशु बल ही राज्य को स्थायित्व प्रदान करते हैं। यह भ्रम पूर्ण है। हिटलर, नेपोलियन आदि शासकों ने पाशविक शक्ति के ऊपर राज्य का निर्माण किया। वह कुछ समय तक उस शक्ति के आधार पर राज्य का वैभव बढ़ाते रहे लेकिन पाशविक शक्ति पर आधारित उनका राज्य स्थायी न हो सका और शीघ्र ही उसका पतन हो गया। ("You can enslave one for all times some for some time but not all for all times.")

(५) यह कहना असत्य है कि राज्य के आज्ञापालन का आधार केवल शक्ति है (Force alone is not the basis of our obligations towards the State)—मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन केवल शासक के शक्ति भय के कारण ही करते हैं यह भी विवेकपूर्ण सत्य नहीं। राजनीति में मनोविज्ञान बहुत सहायता करता है। कोई भी शासक भयत्रस्त कर अपना शासन नहीं कर सकता।

राज्य का वर्गीकरण (Classification of State)

राजनीतिक विचार क्षेत्र में मैकियावेली अरस्तू से प्रभावित था। उसने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य के वर्गीकरण को अपना आधार बनाया। अरस्तू ने राज्य का वर्गीकरण दो आधारों पर किया था—एक शासक की सख्या का आधार, दूसरा, नैतिकता का आधार। मैकियावेली ने भी राज्य के इन दोनों आधारों को अपना लिया। उसके वर्गीकरण को यदि राज्य के स्थान पर शासन का वर्गीकरण कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

सर्वोच्च शक्ति के प्रयोगकर्ताओं की सख्या के आधार पर शासन एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या अधिकांश व्यक्तियों का शासन होता है। नैतिकता के आधार पर यह शासन विशुद्ध रूप में जनता के हित की भावना से किया जाता है; अशुद्ध रूप में शासक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने के लिये शासन करता है। मैकिया-

वेली ने बताया कि एक व्यक्ति का विशुद्ध शासन राजतन्त्र (Monarchy), कुछ व्यक्तियों का शासन कुलीन तन्त्र (Aristocracy) और अधिकांश व्यक्तियों का शासन वैधानिक प्रजातन्त्र (Constitutional Democracy) कहलाता है। जब यह अशुद्ध हो जाता है, शासक अपने निजी स्वार्थों के आधार पर शासन करता है तब क्रमशः निरंकुशतन्त्र (Tyranny), कुलीनतन्त्र (Oligarchy), प्रजातन्त्र (Democracy) होता है।

मैकियावेली इस वर्गीकरण के प्रत्येक रूप की विशद विवेचना के चक्कर में नहीं पड़ा। उसने राजतन्त्र और गणतन्त्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। मैकियावेली ने प्रिंस में राजतन्त्र के ऊपर विचार किया है, लेकिन इससे हमें यह नहीं समझना चाहिये कि वह राजतन्त्र का समर्थन हृदय से करता है। यह ग्रन्थ लोरेंजो को समर्पित किया गया था, जिसके पीछे उसकी स्वार्थ भावना निहित थी, वह पुनः कोई शासकीय पद प्राप्त करना चाहता था। अतः यह मैकियावेली के विचारों का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसका सही प्रतिनिधित्व 'डिसकोर्सेज' में हुआ है। वह गणतन्त्र का समर्थक है।

राजतन्त्र का समर्थन करते हुये मैकियावेली ने बताया कि शक्ति सम्पन्न शासक राज्य में व्यवस्था रखने, शान्ति बनाये रखने के लिये आवश्यक है। उसने राजतन्त्र का दो भागों में विभाजन किया। प्रथम निरंकुश राजतन्त्र—इसमें शासक के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता वह अपनी शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से करता है। द्वितीय विधि-शासित राजतन्त्र—इसमें राजा के क्रिया कलापों पर विधियाँ नियन्त्रण रखती है, राजा मन माने ढंग से शासन नहीं कर सकता और न ही अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त मैकियावेली ने राजतन्त्र का विभाजन उसके पद ग्रहण करने के आधार पर—वंश परम्परागत राजतन्त्र और निर्वाचित राजतन्त्र—किया। उसने कहा कि जनता द्वारा निर्वाचित राजतन्त्र श्रेष्ठ शासन होता है।

गणतन्त्र का समर्थन

(१) गणतन्त्र में सम्पत्ति का नियन्त्रण एवं वितरण जनता के प्रतिनिधि करते हैं—गणतन्त्र मैकियावेली का मनोवांछित शासन था। उसने गणतन्त्र का समर्थन कई कारणों से किया है। उसने कहा कि सम्पत्ति और राज्य का परस्पर सम्बन्ध होता है। नागरिकों की सम्पत्ति जितनी सुरक्षित होगी और जितना सुविधाजनक उसका वितरण होगा, नागरिक उतने ही सुखी होंगे। गणतन्त्र में सम्पत्ति का वितरण उदारतापूर्वक होता है फलस्वरूप नागरिक राज्य के प्रति विद्रोह की भावना नहीं सोच सकते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह वितरण किसी और ने नहीं किया है वरन् उन्होंने ही (अप्रत्यक्ष रूप में) किया है। गणतन्त्र इस प्रकार उत्तम-गुणों से युक्त रहता है।

(२) अधिकांश व्यक्तियों का शासन सार्वजनिक हित का प्रतीक है—गणतन्त्र की सराहना करते हुए मैकियावेली कहता है कि इसमें एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिकांश व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। इससे दो लाभ होते हैं प्रथम तो उनमें असन्तोष का अवसर नहीं होता। द्वितीय अनेक व्यक्ति किसी भी विषय पर अधिक सर्वांगपूर्ण, निष्पक्ष बुद्धि द्वारा सार्वभौम होकर सोचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि शासन नीति की सफलता असफलता उसके ऊपर निर्भर है। वे

अपना पूरा-पूरा सहयोग शासन को सफल बनाने के लिये प्रदान करते हैं। वे शासन के आलोचक नहीं वरन् सहायक स्तम्भ होते हैं। यदि कभी शासन को असफलता का सामना करना पड़ता है तो वे उसके प्रति विद्रोह करने की नहीं सोचते क्योंकि वे जानते हैं कि उसका उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं, स्वयं उन्हीं का है।

(३) **शासन में जनता गौरवान्वित होती है**—गणतन्त्र का महत्त्व इसलिये भी है कि इस शासन का सम्पादन करने का गौरव जनता को प्राप्त होता है। जनता ही दिन प्रति दिन के शासन को संचालित करने के लिये पदाधिकारियों का निर्वाचन करती है। जनता ही नागरिकों को विशिष्ट कार्यों के उपलक्ष में सम्मान सूचक उपाधि से विभूषित करती है। अन्य देशों से कैसा सम्बन्ध हो, यह तय करना भी जनता के ऊपर निर्भर होता है।

मन्धियाँ करना तथा उनका पालन करना नागरिकों की सामान्य इच्छा पर आधारित होता है। नागरिक अपनी सहमति पर्याप्त तर्क-वितर्क के उपरान्त उसकी आवश्यकता और उपयोगिता के कारण देते हैं। यह अवसर गणतन्त्र में ही सम्भव हो सकता है।

(४) **समयानुकूल परिवर्तन की क्षमता**—गणतन्त्र की एक विशेषता यह है कि इस शासन में समयानुकूल परिवर्तन होने की क्षमता होती है। समयचक्र अबाध गति से घूमता रहता है, परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। सम्पूर्ण जनता उन परिवर्तनों को लक्षित करती है और समय की गति के साथ कदम मिलाकर चलती है। उसके बदलते रहने से विद्रोह की आशंका भी नहीं रहती।

(५) **जनता का विश्वास निहित होता है**—गणतन्त्र में जनता का विश्वास रहता है। इसके कारण वह राजतन्त्र से अधिक स्थाई रहता है। मैकियावेली स्थाई शासन को सर्वश्रेष्ठ शासन मानता है। रोम का गणराज्य रोमन साम्राज्य की अपेक्षा स्थायी रहा। ह्यूम के अनुसार वह गणतन्त्र को स्थायित्व पर आधारित मानता है।

गणतन्त्र के दोष :

मैकियावेली ने गणतन्त्र का समर्थन किया लेकिन उसके दोषों को भी वह विस्मृत नहीं कर सका।

(१) गणतन्त्र प्रारम्भ में ही स्थापित नहीं किया जा सकता। वह शक्तिशाली शासक का समर्थक था। उसने कहा कि पहले राजतन्त्र का शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर देनी चाहिए। उसके बाद ही गणतन्त्र स्थापित किया जा सकता है। अशान्ति और उपद्रव के समय में गणतन्त्र सफल नहीं हो सकता। इसलिये कुछ ऐसे पदाधिकारियों की नियुक्ति करना चाहिए जो राजतन्त्र के समान शक्ति के निरंकुश प्रयोग द्वारा उपद्रवी तत्वों का विनाश कर सकें।

(२) मैकियावेली विधि शासन का समर्थक है। वह यह भी जानता है कि विधियाँ एक समय पर बनाई जाती हैं, उनमें भविष्य की परिस्थितियों के अनुकूल होने की क्षमता नहीं होती, उन्हें अनुकूल बनाने के लिये परिवर्तन की व्यवस्था होनी चाहिए।

(३) गणतन्त्र में राज्य के पदाधिकारियों की शृंखला बन जाती है, वे भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी उचित जाँच की व्यवस्था होनी चाहिए।

(४) गणतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। सभी व्यक्ति बिना दलबन्दी के शासन मे भाग नहीं ले सकते। दलबन्दी के दोष गणतन्त्र में आ जाते हैं। लेकिन दलबन्दी के दोषो को वह इसलिये स्वीकार करता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता मिले और यह आवश्यक समझता है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात सुनकर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाय।

राजतन्त्र और गणतन्त्र पर विचार करने के बाद मैकियावेली कुलीनतन्त्र पर भी विचार करता है। वह कुलीनतन्त्र का कठोर आलोचक है। उसने कहा कि सामन्त आदि इटली के पतन मे सहायक हैं। ये लोग अपने धन का सदुपयोग नहीं करते और आलसी जीवन व्यतीत करते हैं। यह किसी प्रकार का शासन पसन्द नहीं करता।

मिश्रित शासन (Mixed Government)—सर्वश्रेष्ठ शासन मिश्रित शासन होता है। मैकियावेली शक्ति की सबलता का समर्थक था लेकिन वह किसी भी रूप मे उसे निरंकुश या नष्ट नहीं होने देना चाहता था। कोई भी शासन उसी अवस्था में श्रेष्ठ होता है जब उसमें भली-भाँति नियन्त्रण रखा जाय। यह सन्तुलन मिश्रित शासन में ही सम्भव है। वहां राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और वैधानिक प्रजातन्त्र मिश्रित शासन स्थापित करने से तीनों वर्गों की शासन पद्धति के गुण एक स्थान पर एकत्रित होकर, एक-दूसरे के ऊपर नियन्त्रण भी रखते हैं। वह रोमन विचारकों पोलीबियस और सिसरो से प्रभावित दिखाई देता है। यहाँ वह अरस्तू के मिश्रित संविधानों से पृथक् विचार व्यक्त करता है। *अरस्तू मिश्रित संविधानों में कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र* का क्षेत्र चाहता था, रोमन विचारक तीनों पद्धतियों का मिश्रण चाहते थे। लेकिन मैकियावेली कुलीनतन्त्र से घृणा करता था यही कारण है कि उसका मिश्रित शासन-राजतन्त्र और प्रजातन्त्र की ओर अधिक झुका हुआ दिखाई देता है। इन दोनों शासन पद्धति के मिश्रण का अभिप्राय निर्वाचित राजतन्त्र है। तत्कालीन इटली में निर्वाचित राजतन्त्र ही सफल सिद्ध हो सकता था।

राज्य का विस्तार (Extension of dominion)—राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों शासन पद्धतियों मे राज्य का विस्तार हो सकता है। उसने कहा कि राज्य का विकास ही जीवन है और स्थायित्व मृत्यु है। राज्य के विस्तार का समर्थन करने के लिये मैकियावेली ने मानव स्वभाव का सहारा लिया है और कहा कि मानव स्वभाव से ही विकासशील प्राणी है वह अपनी इच्छाओं की कोई सीमा नहीं रखता। उसकी इच्छा शक्ति असीमित होती है। वह एक चीज प्राप्त कर, दूसरी, तीसरी और अनेकानेक वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है। उसकी विकासोन्मुख इच्छाएँ अनन्त हैं। जैसे ही उनका अन्त होता है, व्यक्ति का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। राज्य की प्रकृति भी ठीक इसी प्रकार की है। वह भी नित्य अपना विकास करना चाहता है। *यदि राज्य अपना विकास करना स्थगित कर देता है तो वह भी जीवित नहीं रह पाता* और वह मिट जाता है। बिना विस्तार के बड़े से बड़े राज्य का पतन हो जाता है। उदाहरण के लिये, रोमन साम्राज्य के शासकों ने विस्तार करना बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका पतन हो गया। अतः प्रत्येक शासन चाहे वह गणतन्त्र हो या राजतन्त्र, सदैव अपने पड़ोसी राज्यों को पराजित कर अपने आधिपत्य में लाने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनुष्य के समान राज्य भी अपने प्रदेश को बढ़ाने के लिए सचेष्ट रहने पर उन्नति कर जाते हैं।

राज्य का विस्तार दो प्रकार से होता है—(१) अपने देश के किसी प्रान्त या क्षेत्र पर एक ही सरकार का शासन लागू करना, (२) किसी अन्य पड़ोसी राज्य को अपने स्वामित्व में ले आना। इस प्रकार मैकियावेली ने प्रथम, इटली को एकता के बन्धन में बाँधने के लिये विचार व्यक्त किये। दूसरे, राज्य का प्रादेशिक विस्तार करने की दृष्टि से वह फ्रांस और स्पेन से प्रभावित हुआ क्योंकि वे इटली आदि अन्य प्रदेशों को अपने आधिपत्य में लाना चाहते थे।

राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों ही पद्धतियों में राज्य का विस्तार होना आवश्यक है। एक राजतन्त्र में शासक की महत्वाकांक्षा के कारण विस्तार होता है तो गणतन्त्र में आवश्यकतायें विस्तार का कारण बन जाती हैं। जनसंख्या की वृद्धि और उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अन्य देशों को जीतते हैं। मैकियावेली ने बताया कि अपने ही देश के प्रदेशों को जीतना सरल होता है। वहाँ पर नस्ल, भाषा आदि की एकता होने के कारण शासन विस्तार में बाधा नहीं पड़ती, वहाँ पुरानी संस्थाओं और उसके महत्व को वैसा ही बना रहने देते हैं और एक शासक का स्थान दूसरा शासक ले लेता है। प्रदेश विस्तार उस समय जटिल समस्या बन कर सामने आता है जब भिन्न भाषा और नस्ल को पराजित किया जाता है। उनकी भाषा और उनकी धारणायें अपरिचित होने के कारण, उन्हें जीतने में कठिनाई होती है। लेकिन सबसे अधिक कठिनाई उस समय होती है जब किसी गणतन्त्र को अपने प्रदेश में मिला लिया जाता है। क्योंकि गणतन्त्र के शासन में नागरिक स्वतन्त्रता और अपने संविधान का लाभ उठाते रहे थे, उनकी मधुर स्मृति उन्हें विद्रोह करने के लिये उभाड़ती रहेगी। मैकियावेली ऐसे अवसर पर उस देश की जनता का सर्वनाश करने का सन्देश देता है।

राज्य के प्रदेश का विस्तार करने के लिये शासक में निम्न गुण होने चाहियें। वह सबल, शक्ति लोलुप, कूटनीतिज्ञ होना चाहिये। एक कुशल शासक का गुण जीते हुए प्रदेश में सुधार योजनाओं के प्रवेश करने की क्षमता से पता लगता है। वे लोग जो पहले शासक संस्थाओं का लाभ उठाते रहे थे, उसका निश्चय ही विरोध करते हैं। अतः सामान्य शासक संस्थाओं आदि के परिवर्तन में रुचि नहीं लेते और इस खतरे को योग्यता वाले शासक ही उठाते हैं। नये संविधान और शासन की सफलता कुशल सैन्य-शक्ति पर आधारित होती है। वह किराये की सेनाओं के स्थान पर नागरिकों की सुशिक्षित सेनाओं को इसके लिये उपयुक्त समझता था। मैकियावेली द्वारा प्रतिपादित शासक के गुणों की भारतीय व्याख्या करते हुए हम कह सकते हैं कि शासक में साम-दाम-दण्ड-भेद आदि गुण होने चाहियें।

प्रदेश का संरक्षण (Preservation of dominion)—शासक को प्रदेश को जीतने के अतिरिक्त अपने प्रदेश तथा जीते हुये प्रदेश की रक्षा करनी चाहिये। गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों के लिये ही आवश्यक है कि वे अपने प्रदेशों को सुरक्षित रखें। बिना प्रदेश के उचित संरक्षण प्रदान किये उसका विस्तार आदि करना व्यर्थ हो जायगा। नागरिकों को विकसित जीवन व्यतीत करने के लिये राज्य में शांति और सुव्यवस्था होनी चाहिये। मैकियावेली शासन व्यवस्था बनाये रखने के लिये शासक को निम्न तरीकों को स्मरण रखने का सन्देश देता है

(१) राजतन्त्र में शासक को प्रादेशिक मान्यता प्राप्त संस्थाओं और परम्पराओं के प्रति आदर करना चाहिये। शासक को जनता की भावनाओं को नहीं उभाड़ना

चाहिये। प्रजा को यदि यह विश्वास हो जाय कि संस्थायें और परम्परायें सुरक्षित हैं और उसे उनके उपभोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है तो वह कभी भी शासक के प्रति विद्रोह करने की नहीं सोचते। नवीन संस्थाओं आदि की स्थापना हानिकारक होती है क्योंकि प्रथम तो वह वर्ग उसका विरोध करना प्रारम्भ कर देता है जिसे प्राचीन संस्थाओं द्वारा लाभ प्राप्त हो रहा था, द्वितीय नये सुधारों के लाभ की आशा नहीं होती।

(२) शासक को निरंकुश होना चाहिये। यदि नवीन विजित राज्य के नागरिक उसके आधिपत्य को स्वीकार करने में आना-कानी दिखावें तो उन्हें कुचलने में शासक को ढील नहीं करनी चाहिये।

(३) शक्तिशाली शासन सुदृढ़ सेना पर निर्भर होता है। शासक को एक शक्तिशाली सेना रखनी चाहिये जो हर परिस्थिति के लिये उपयुक्त हो।

(४) शासक को प्रजा के धन को व्यय करने में मितव्ययी होना चाहिये। लूट में प्राप्त धन को प्रजा और सैनिकों में उदारतापूर्वक वितरित करना चाहिये।

(५) शासक को जनता के मामलों में कभी भी निर्बलता नहीं दिखानी चाहिये, और सदैव कठोर रहना चाहिये।

(६) शासक को कभी भी प्रजा की सम्पत्ति और स्त्रियों का अपहरण नहीं करना चाहिये। मनुष्य इनके प्रति अपार प्रेम रखता है।

(७) उसे जनता को भयभीत रखना चाहिये। भय के कारण ही जनता उसकी आज्ञाओं का पालन करती है और शासक के प्रति अनुरक्त रहती है। लेकिन उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह घृणा में परिवर्तित न हो जाय।

(८) राजा को सम्माननीय कार्य स्वयं करने चाहियें। पुरस्कार वितरण, उपाधियाँ प्रदान करनी चाहिएँ। असम्माननीय कार्य जिनसे प्रजा को कष्ट होता हो, अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा कराने चाहिये। दण्डारोपण, कर वसूल करना आदि अपने सेवकों के हाथों में रखना चाहिए। इसका लाभ यह होता है कि जनता के असन्तोष को वह कर्मचारियों की त्रुटि कह कर टाल सकता है।

(९) उसे प्रत्येक ऐसे अवसर का लाभ उठाना चाहिए जिससे उसका सम्मान बढ़ता हो।

(१०) शासक को प्रजा को सदैव बड़ी-बड़ी योजनाओं आदि के भुलावे में डाले रखना चाहिए। जनता बड़ी योजनाओं से आकर्षित होकर दोषों को भूल जाती है और उसके प्रति विद्रोह आदि की सोचने की फुरसत भी नहीं रहती।

(११) शासक को पड़ोसी राज्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिए जिससे वे सभी एक होकर उसके विरुद्ध आक्रमण न कर दें। उन्हें परस्पर संगठित होने का अवसर नहीं देना चाहिए। ज्यों ही वे हो सकें उन्हें परस्पर झगड़ों में उलझा देना चाहिए।

(१२) यदि पड़ोसी राज्यों में संघर्ष हो तो सदैव उनमें दिलचस्पी लेनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर मध्यस्थता आदि द्वारा उन पर अत्यन्त प्रभाव जमाना चाहिए।

(१३) शासक को व्यापार और उद्योग कला, कृषि कला की उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन पर कभी-कभी भार रूप कर नहीं लगाने चाहिये। शासक को स्वयं कभी भी व्यापार नहीं करना चाहिए।

(१४) प्रजा के विकास के लिए आवागमन तथा विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता द्वारा वह अपने शासन के प्रति जनता की भावना का सही-सही पता लगा सकता है और ठीक समय पर उनका निराकरण कर सकता है।

(१५) शासक को धर्म निरपेक्ष रहना चाहिए। उसे धार्मिक पदाधिकारियों को अपने आधीन रखना चाहिए। उन्हें कभी भी ऐसा अवसर नहीं प्रदान करना चाहिए जिससे कभी वे राज्य का विरोध कर सकें।

(१६) उसे काव्य, साहित्य तथा संस्कृति का संरक्षण करना चाहिए।

(१७) राजा को चाटुकार मन्त्रियों से दूर रहना चाहिए और उनकी केवल उतनी ही बात माननी चाहिए जितनी उसे उचित मालूम पड़े।

(१८) शासक को राज्य की जनसंख्या का ध्यान रखना चाहिए और यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उसके विकास द्वारा ही राज्य उन्नति कर सकता है।

(१९) उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि धन की अपेक्षा अच्छे सैनिक लाभदायक होते हैं। धन अच्छे सैनिक नहीं उत्पन्न कर सकता जबकि अच्छे सैनिक धन उत्पन्न कर सकते हैं।

(२०) शासक को छोटे-छोटे राज्यों को हड़प कर जनता को अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय देना चाहिए। इससे नागरिक प्रभावित होकर उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं।

मैकियावेली के सेना सम्बन्धी विचार
(His Views regarding Military)

मैकियावेली एक शक्तिशाली शासन की स्थापना करना चाहता था। शासन को शक्तिशाली बनाने के लिये सेना की आवश्यकता होती है। किसी भी राज्य में सेना के दो कार्य होते हैं—प्रथम, वह नागरिकों को भयभीत रखती है और आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखती है। दूसरे, बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करती है। सेना व्यवस्था रखने, सुरक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त राज्य के प्रदेश को विस्तृत करने में भी सहायक होती है। मैकियावेली ने इटली तथा बाह्य राज्यों के पर्यवेक्षण के आधार पर सेना को तीन भागों में वर्गीकृत किया है—

(१) राष्ट्रीय सेनायें (National Militia)—राष्ट्रीय सेनायें अधिकतर बाह्य देशों की वे सेनायें थीं जो इटली पर आक्रमण करती थीं। इटली पर स्पेन, फ्रांस विशेष रूप से घात लगाये रहते थे। उनके पास राष्ट्रीय सेना होती थी। इनके सैनिक रुपये-पैसे के लोभ में लड़ाई में भाग नहीं लेते थे। उनमें राष्ट्रीय चेतना होती थी और वे अपने देश की सम्मान वृद्धि के लिये लड़-मरने में अपना गौरव समझते थे।

(२) राज्य की सेनायें (State Militia)—इटली के राज्यों के पास अपनी सेनायें होती थीं। यह राष्ट्रीय सेनाओं की अपेक्षा कमजोर होती थीं। राज्य की

सेनाओं के संगठन आदि में निम्न कारणों से आक्रान्ता की सेनाओं का सामना करने की क्षमता नहीं होती थी। प्रथम, इनकी संख्या बहुत थोड़ी होती थी। द्वितीय, इनमें सामन्त आदि के सेनापतित्व के कारण फूट रहती थी। तृतीय, इनका संगठन भी ठीक नहीं होता था। अतएव उन्हें युद्ध में अन्य सेनाओं को किराये पर लड़ने के लिये बुलाना पड़ता था, लेकिन फिर भी दुर्बलता के कारण जीतने में असमर्थ रहती थीं।

(३) किराये की सेनायें (Mercenary troops)—तत्कालीन इटली में किराये पर लड़ने के लिये सैनिक मिलते थे। सामन्तों की सेनायें आक्रमण होने पर इनको अपनी सहायता के लिये बुलाती थीं। यह स्वाभाविक होता था कि उनमें लड़ने के लिये उत्साह होने के स्थान पर धन का लोभ क्रियात्मक शक्ति था। वे धन पाने के लिये ही लड़ते थे और यदि विरोधी पक्ष उन्हें अधिक धन देने को तैयार हो जाता था तो वे अपने हथियार डालकर युद्ध के बीच में ही लड़ाई बन्द कर देते थे, या शत्रु की ओर मिल जाते थे, या उसे गुप्त भेद आदि दे देते थे। इस प्रकार की सेनाओं पर कभी भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। वे उत्तरदायित्व विहीन, लालची, कायर होते थे। इस प्रकार के सैनिक निकृष्ट कोटि के, अराजकता फैलाने वाले, गुन्डों का समूह होते थे। यह धन लोलुप सिद्ध होते हैं जो देश शक्ति हीन और किसी के प्रति वफादार नहीं होते। वे उसके लिये अधिक भयावह सिद्ध होते जो उन्हें नौकर रखता था। यह राजकोष रिक्त कराने, शासन का स्वयं नाश कराने में सहायक होते थे। मैकियावेली ने पर्यवेक्षण के बाद बताया कि इटली का पतन इस प्रकार की सेनाओं द्वारा ही हुआ था।

इसलिये मैकियावेली ने बताया कि शक्तिशाली राज्य को धन से अधिक अच्छे सैनिकों पर ध्यान देना चाहिये। डनिंग के शब्दों में "शक्ति का आधार धन नहीं अपितु अच्छे सैनिक होते हैं.........धन सदैव अच्छे सिपाहियों को नहीं तैयार करेगा, लेकिन अच्छे सैनिक सदैव धन पैदा करेंगे।" [Not money, but good soldiers, are in reality the essence of strength, money will not always procure good soldiers, but good soldiers will procure money.] मैकियावेली ने नागरिकों की शिक्षित, मजबूत, अनुशासित तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना रखने की आवश्यकता पर जोर दिया। सैनिकों की आयु १७ वर्ष से ४० वर्ष के मध्य में होनी चाहिये। उनको विशेष सैन्य शिक्षा दी जाय, राष्ट्रप्रेम और मातृभूमि के लिये प्राण उत्सर्ग करने की भावना को विकसित किया जाय। ऐसे सैनिक देश की रक्षा करने और विस्तार करने में अच्छी तरह से सहायक होंगे। मैकियावेली के यह विचार इटली को संगठित सुदृढ़ राष्ट्र बनाने के उद्देश्य से प्रेरित थे।

राष्ट्रीयता (Nationality)

मैकियावेली ने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में वैज्ञानिक रूप में विचार व्यक्त नहीं किये। उसने राष्ट्रीयता की व्याख्या, क्रम बद्ध विवेचन, तत्व आदि पर विचार नहीं किया लेकिन फिर भी विद्वान उसे आधुनिक राष्ट्रीयता का जनक कहते हैं। उसने इटली को स्वतन्त्र, एक जातीय राज्य के रूप में संगठित करने पर विचार किया। वह उसे अन्य राज्यों से पृथक एकता के बन्धन में बंधा देखना चाहता था। इसी आधार पर प्रो० डनिंग उसे राष्ट्र राज्य का प्रथम प्रणेता कह कर पुकारते हैं।

परन्तु डनेंशा के इस मत के विपरीत एलन का मत यह है कि उसके विचारो में राष्ट्रीयता के तत्वो की संगत विवेचना अप्राप्य है। यह विवेचना कुछ ठीक दिखाई देती है क्योंकि वास्तव में मैकियावेली ने राष्ट्रीयता के तत्वो आदि पर प्रकाश नहीं डाला। लेकिन हमको यह नही भूलना चाहिये कि इस विचार का मूल प्रतिपादक मैकियावेली ही है, उसके ही पथ प्रदर्शन के परिणाम स्वरूप १८ वीं शताब्दी मे राष्ट्रीयता की विचारधारा व्यापक बनी। उसने राष्ट्र-राज्य के विचार की रूपरेखा प्रदान की।

सम्प्रभुता (Sovereignty)

मैकियावेली ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अपने विचार बहुत ही धूमिल अवस्था में प्रकट किये हैं। उसने सम्प्रभुता के लिये सोवरीण्टी (Sovereignty) शब्द भी प्रयोग नहीं किया। सम्प्रभुता की अस्पष्ट व्याख्या और उसमें पूर्ण तत्त्वो का अभाव है।

मैकियावेली के अन्य विचारो की भाँति यह विचार भी इटली को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिये व्यक्त किये गये विचारो मे प्रतिध्वनित होता है। इन्ही विचारो मे वह सम्प्रभुता के दो तत्वो पर विचार करता है, यद्यपि उसका ध्येय सम्प्रभुता की व्याख्या करना नही है। उसने कहा कि शासन की शक्ति अविभाज्य होती है। इससे सम्प्रभुता का प्रथम तत्त्व अविभाज्यता (Indivisibility) प्राप्त हुआ। वह इस प्रकार यह स्पष्ट करता है कि नरेश की शक्ति अविभाज्य होती है। उसे हम सम्प्रभुता कह कर पुकार सकते हैं। उसने सम्प्रभुता का दूसरा तत्व सर्वोपरिता बताया। सर्वोपरिता को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सर्वोपरिता से यह अभिप्राय है कि राज्य की सीमा के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति उसके आदेशो का पालन करता है। कोई भी व्यक्ति, सस्था या वर्ग उसके आदेशो का उल्लघन नहीं कर सकता। सभी व्यक्ति शासन के भय से आज्ञा का पालन करते हैं। सम्प्रभुता के आधुनिक और वैज्ञानिक प्रवर्त्तको मे ऑस्टिन का मत इसके विपरीत है। वह कहता है कि शासन के आदेश का पालन करना नागरिको का स्वभावगत आज्ञापालन होना चाहिये। बाह्य सर्वोपरिता का अभिप्राय यह है कि नरेश किसी अन्य राज्य के आदेशों का पालन भी नही करता। सीमा से बाहर प्रत्येक राज्य समानता के आधार पर संगठित होते हैं, नरेश न तो उनके प्रति उत्तरदायी होता है और न ही उनके आदेश को किसी दबाव मे आकर पालन करता है।

मैकियावेली ने सम्प्रभुता पर वैज्ञानिक विचार नहीं प्रदान किये वरन अस्पष्ट रूप मे अन्य विचारो मे उसकी झलक दिखाई देती है। लेकिन फिर भी वह सम्प्रभुता विचारक हॉब्स और बोदाँ का अग्रगामी था। उन्होंने सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारो की जटिलता को सरलता में परिवर्तित कर दिया। उसने शक्तिशाली राज्य की स्थापना के लिये कल्पना के पंख लगा कर शासक की सर्वोच्च शक्ति की व्याख्या की। उसका परिणाम यह हुआ कि उसमे सम्प्रभुता पर विचार प्राप्त हुए।

विधि एवं विधिनिर्माता
(Law and Lawmaker)

मैकियावेली ने विधि एव विधिनिर्माता को अनुपम महत्त्व प्रदान किया।

मध्ययुग में तीन प्रकार की विधियाँ प्रचलित थीं। प्राकृतिक विधि (Natural law), दैवीय विधि (Divine law) तथा परम्परागत विधि (Conventional law)। मैकियावेली ने तीनों प्रकार की विधियों को अछूता छोड़ कर नागरिक विधि (Civil law) पर ही अपने विचार व्यक्त किये। उसने कहा कि नागरिक विधियाँ सर्वोच्च होती हैं। यह नागरिकों के स्वार्थों, दृष्टिकोण का पथप्रदर्शन करती है, उन्हें व्यवस्था प्रदान करती है। राज्य और समाज में ही यह विधियाँ नागरिकों को प्राप्त हो सकती है। प्राकृतिक अवस्था में इनका कोई मूल्य नहीं होता। विधि विहीन (Lawless) अवस्था अराजक (Anarchy) होती है। विधियाँ ही इस अराजक अवस्था को दूर कर सकती हैं।

एक सफल, आदर्श राज्य में विधि निर्माता सर्वोच्च शक्ति रखता है। वह विधियों का निर्माण करता है और उनके आधार पर उत्कृष्ट राज्य की स्थापना करता है। उसके द्वारा बनाई गई विधियाँ राज्य और नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र का स्वरूप निर्धारित करते हैं। नैतिक और नागरिकों के गुणों का विकास विधियों द्वारा ही होता है। जब नागरिक भ्रष्ट हो जाते हैं, वे अपने आप नहीं सुधर सकते तो उन्हें सुधारने का महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माता ही कर सकता है जो उन्हें सुधार कर पुनः गौरवमय स्थान प्रदान कर सकता है।

विधि-निर्माता नागरिकों के राजनीतिक स्वरूप में ही नहीं वरन् सामाजिक और नैतिक रूप में भी, विधियों और अपनी तीव्र बुद्धि द्वारा सुधार कर सकता है। यदि वह अपनी कला के नियमों से परिचित है, तो उसके कार्यों की कोई सीमा नहीं। वह नवीन राज्य की स्थापना कर सकता है, पुराने राज्य को नूतन कलेवर प्रदान कर सकता है, प्राचीन शासन पद्धति बदल कर नई शासन पद्धति स्थापित कर सकता है। वह राज्य का ही नहीं, अपितु समाज का उसकी नैतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी संस्थाओं का कुशल कलाकार होता है। मैकियावेली के यह विचार प्राचीन विचारक पोलीबियस, सिसरो की विधि-निर्माता की कल्पना के अनुकरण मात्र हैं। उसने इटली की विषमता देख कर उसे सुधारने के लिये एक शासक को महत्वपूर्ण अधिकार सौंपने का प्रयत्न किया। उसके दार्शनिक एवं राजनीतिक अनुभव ने मनुष्य के अहंवादी होने के कारण विधि के पीछे समाज को एकत्र रखने वाली शक्ति को स्थान दिया। हॉब्स ने बाद में इन्हीं विचारों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

विधि-निर्माता शासक होता है। विधि निर्माण करने के कारण वह विधियों से परे है। यहाँ हम 'राजा कोई गलती नहीं करता' की प्रतिध्वनि सुनते हैं। विधि यदि नैतिकता निर्धारित करती है तो शासक नैतिकता से भी परे है। नैतिकता का द्वैध सिद्धान्त इसी पर आधारित है। यदि शासक कोई आपत्तिजनक कार्य करता है फिर भी उसे दोषी नहीं मानते "यह ठीक ही है कि जब कार्य उसे अभियोगी बनाता है परिणाम उसे क्षमा कर देता है।" ['It is well that when the act accuses him, the result should excuse him."] इस प्रकार विधि एवं विधिनिर्माता के सिद्धान्त द्वारा मैकियावेली ने अपने ध्येय को पूरा करने का प्रयत्न किया।

सम्पत्ति (Property)

सम्पत्ति के सम्बन्ध में वह अरस्तू का अनुयायी है। उसने कहा कि सम्पत्ति राज्य का आधार है। मनुष्य इच्छाशु प्राणी है। वह सदैव अधिक से अधिक सम्पत्ति

एकत्रित करना चाहता है। सम्पत्ति अर्जित करने, उसे बनाये रखने की महत्त्वाकांक्षा ही एक ऐसी संस्था का निर्माण करती है, जिसे राज्य कहते हैं। वह अपनी शक्ति के आधार पर नागरिकों को यह आश्वासन प्रदान करता है कि जो कुछ भी वे अपने परिश्रम द्वारा अर्जित करें, उसके मनचाहे उपभोग करने के लिये वे स्वतन्त्र हैं। राज्य उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। मैकियावेली ने कहा कि व्यक्ति अपने शरीर से अधिक सम्पत्ति को चाहता है उसके प्रति उसका मोह इतना होता है कि वह शरीर के प्रति किये गये अत्याचार को भूल सकता है लेकिन सम्पत्ति के अपहरण को नहीं भूलता। शासक को सतर्क रहने के लिये सुझाव देते हुए उसने बताया कि व्यक्ति को आर्थिक दण्ड की अपेक्षा शारीरिक यातना देनी चाहिये। व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

मैकियावेली के विचारों में असंगतियाँ
(Contradictions in his Ideas)

मैकियावेली के विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त उसके विचारों में पाई जाने वाली असंगतियों को देखना अनुचित न होगा। मैकियावेली के विचारों में असंगतियाँ पाया जाना स्वाभाविक ही था। वह मध्ययुग के अन्तिम चरण और आधुनिक युग के विकास के सन्धि युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसके अमूल्य विचारों जटिलता और अस्पष्टता के साथ असंगतियाँ भी पाई जाती हैं। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में इस तरह व्यस्त हो जाता है कि यन-केन-प्रकारेण उसे सिद्ध करना चाहता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उनमें विरोधाभास आ गये। प्रमुख असंगतियाँ निम्न हैं :—

(१) प्रकृति से दुष्ट और स्वार्थी मनुष्य का सुधार अतार्किक है—मैकियावेली ने राजनीतिक सिद्धान्तों पर मानव स्वभाव से विचार करना प्रारम्भ किया है। मानव स्वभाव के दूषित पहलू ने उसका ध्यान आकर्षित किया। उसने बताया है कि मनुष्य प्रकृति से ही दुष्ट, स्वार्थी, कृतघ्न, महत्त्वाकांक्षी है। वह अपने लाभ के लिये निन्दनीय हत्या भी कर सकता है। उसका स्वार्थी दृष्टिकोण ही उसके कार्यों का आधार होता है। लेकिन बाद में मैकियावेली कहता है कि विधिनिर्माण समाज को सुधार सकता है। व्यक्ति ही सम्पूर्ण समाज है। स्वभाव से ही दुष्ट व्यक्तियों के समूह को सुधारने का विचार अतार्किक दिखाई देता है।

(२) स्वार्थी मनुष्य सहयोग और त्याग की संस्था (राज्य) का निर्माण नहीं करेंगे—राज्य की उत्पत्ति ही असंगत विचारों पर आधारित है। मनुष्य स्वार्थी होता है, स्वार्थी और लालची मनुष्य कभी भी सहयोग पूर्वक जीवन नहीं व्यतीत करेगा। प्रत्येक स्वार्थी मनुष्य राज्य की शक्तियों को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करेगा, फलस्वरूप अशान्ति का वीभत्स दृश्य उपस्थित हो जायगा। राज्य में मनुष्य सहयोग-पूर्वक रहते हैं। सहयोग के लिए त्याग की आवश्यकता होती है, स्वार्थरत मनुष्य त्याग की बात सोच भी नहीं सकता। अतः स्वार्थी मनुष्य राज्य की स्थापना नहीं कर सकते।

(३) गणतन्त्र और निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन—मैकियावेली ने प्रिंस में राजतन्त्र और डिसकोर्सेज में गणतन्त्र की स्थापना पर जोर दिया है। उसने इन दोनों पद्धतियों में गणतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ बताया क्योंकि उसमें स्वशासन और समान

आर्थिक उपलब्धियाँ रहती हैं, लेकिन वह आदि से अन्त तक शक्तिशाली निरंकुश शासन का समर्थन दिखाई देता है। इस प्रकार वह दो विरोधी तत्त्वों का एकाकार करना चाहता है जो असम्भव है—(१) शक्तिशाली निरंकुश शासन (२) जनता का स्वशासन। स्वशासन में शक्तियाँ जनता के हाथ में होती है, वह निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधियों को कार्यवाहक शक्तियाँ सौंप देती है। यह कार्यवाहक कभी भी निरंकुश होने का स्वप्न भी नहीं देख सकता क्योंकि वह जनता की इच्छा का आदर करने पर ही पुनः सत्ता प्राप्त कर सकता है।

(४) राज्य की उत्पत्ति शक्तिशाली मनुष्य द्वारा अन्य व्यक्तियों को रक्षा का आश्वासन प्रदान करने के कारण हुई। शक्ति शासक को निरंकुश बना देती है और वह शक्ति के द्वारा अन्य व्यक्तियों की रक्षा करने के बजाय अधिकाधिक शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर लेना अपना लक्ष्य बना लेता है। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि राज्य की उत्पत्ति सुरक्षा प्रदान करने के लिये होती है तो वह उसके बाद भी क्यों बना रहता है। आज समाजवाद के मानने वाले राज्य के हाथों में अधिकाधिक शक्तियाँ सौंपना चाहते हैं जिससे वह नागरिकों के कल्याण के लिये अधिक से अधिक कार्य करे। अरस्तू ने भी स्वीकार किया था कि राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं के लिये होती है और वह अच्छे जीवन के लिये बना रहा है। अतः हम कह सकते है कि राज्य की उत्पत्ति सुरक्षा प्रदान करने के साथ ही अच्छा जीवन प्रदान करने के लिये होती है।

(५) नैतिकता की दुहरी व्याख्या असंगत है—मैकियावेली ने नैतिकता पर विचार करते हुए उसे अवसर के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। उसने नैतिकता की दुहरी व्याख्या की। वह एक ओर तो मनुष्य को सदाचार और कर्त्तव्य परायणता का पाठ पढ़ाता है, दूसरी ओर शासन को मनमाना व्यवहार करने की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता प्रदान करता है। नैतिकता के नियम शाश्वत होते हैं। वह पद और स्थिति के आधार पर बदलते नहीं। वह शासक को अनियन्त्रित नैतिकता का प्रयोग अपने विचारों को सफल बनाने के लिये करता है।

मैकियावेली का महत्त्व
(Importance of Machiavelli)

मैकियावेली राजनीति शास्त्र का महान दार्शनिक है। उसे आधुनिक राजनीतिक विचारों का प्रथम प्रवर्तक कह कर सम्मानित किया जाता है। प्रो० डनिंग ने कहा है कि "मैकियावेली को कभी-कभी प्रथम आधुनिक राजनीति दार्शनिक कह कर पुकारते हैं। यह कथन उतना ही सत्य है कि वह मध्ययुग का अन्त करता है जितना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ करता है।" [Machiavelli is some times called the first modern political philosopher. It is quite as accurate to say that he ends the mediaeval era as that he began the modern era.] बर्ड ने उसे आधुनिक राजनीति विचारों का प्रणेता मानते हुए कहा है, "वह ऐसे समाज में रहता था जब यूरोप का प्राचीन ढाँचा गिरता जा रहा था और राज्य एवं समाज को चकाचौंध करने वाले नये सिद्धान्त सामने आते जा रहे थे, उसने घटनाओं की तार्किक विवेचना का प्रदान किया, अवश्यम्भावी विषयों की भविष्यवाणी तथा ऐसे नियमों का निर्माण किया, जो आगामी राजनीति को प्रभावित

रखेंगे। मैकियावेली व्योम में एक ऐसे नक्षत्र के समान दिखाई देता है जो ब्राह्म मुहूर्त में रात्रि के अन्धकार के प्रयाण और दिन में सूर्य के प्रकाश का संकेत लेकर उदित होता है। राजनैतिक दर्शन में मध्ययुग अस्तव्यस्तता और अन्धकार का युग था। मैकियावेली राजनीति के अन्धकार को दूर करता हुआ आधुनिक युग का सन्देश लेकर प्रस्तुत हुआ। उसने मध्ययुग के आदर्शों को त्याग कर नवीन युग के विचारों का सन्देश दिया। *यही कारण है कि हम उसे राजनीतिक विचारों में आधुनिक युग* का निर्माता कहते हैं। उसे यह गौरव निम्न विचारधाराओं के कारण प्रदान किया जाता है—

राष्ट्रीय राज्य की कल्पना (His view of Nation State)—*मध्य युग में राज्य नगर राज्य या प्रान्तीय राज्य होते थे। उनका शासन सामन्त करते थे।* यह सामन्त शक्ति हीन होते थे। उनकी सेना, न्यायालय, राज्य कर्मचारी राज्य के प्रबन्ध में सहायक होते थे। इनकी असंगठित शक्ति के कारण उन पर आक्रमण होते रहते थे। मैकियावेली ने सर्वप्रथम राष्ट्रीय राज्य की कल्पना प्रस्तुत की। उसने सर्व प्रथम यह बताया कि इन छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर भाषा, धर्म, नस्ल, आदि की एकता के आधार पर राज्य राष्ट्र होने चाहियें जो राष्ट्रीय उन्नति और सुरक्षा की उचित व्यवस्था कर सकें। यह प्रारम्भ में अस्पष्ट और जटिल होने पर भी *मैकियावेली की मौलिक देन है।*

'राज्य,' 'धर्म निरपेक्ष राज्य', 'सम्प्रभुता' आदि शब्दों का प्रथम प्रयोगकर्त्ता—यही नहीं राज्य से सम्बन्धित अनेकों शब्द और विचार सर्वप्रथम मैकियावेली ने प्रयोग किये। 'राज्य' के अर्थ में 'स्टेट' (State) शब्द सर्वप्रथम मैकियावेली ने ही प्रदान किया। गार्नर ने कहा है कि 'स्टेट' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इटली के कूटनीतिज्ञ मैकियावेली ने किया। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या एवं तत्व प्रदान किये जिनका आगामी युग में बोदाँ, हॉब्स आदि ने प्रतिपादन किया। राज्य की धर्म-निरपेक्षता (Secular State) पर भी सर्वप्रथम उसने ही विचार किया। राज्य का कोई धर्म *नहीं होना चाहिए। राज्य को धर्म का प्रचार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार हम* देखते हैं कि मैकियावेली ने 'राज्य,' 'राष्ट्र,' 'धर्म निरपेक्ष राज्य' एवं 'सम्प्रभुता' आदि आधुनिक धारणाओं को सर्वप्रथम अभिव्यक्त किया।

राज्य को चर्च और पोप के प्रभाव से मुक्त करना (Emancipation of ***State from the influence of Church and Pope)***—*मध्य युग में चर्च और* पोप राज्य पर छाये हुए थे। वह राज्य के कार्यों में अत्यधिक दिलचस्पी लेते थे और राजाओं को अपने चंगुल में रखते थे। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये राजाओं को लड़ाते रहते थे। मैकियावेली ने राज्य को धार्मिक संस्थाओं के प्रभाव से मुक्त रहने का परामर्श दिया। उसने बताया कि मनुष्यों का सबसे अधिक हित राज्य ही कर सकता है। अतः अन्य सभी संस्थायें उसके अधीन रहें। आज धार्मिक तथा अन्य संस्थाओं को इसी मान्यता के कारण राज्य के आधीन रखा जाता है।

व्यक्तिवाद का समर्थन (Support of Individualism)—सब प्रथम मैकियावेली ने आधुनिक युग की प्रमुख विचारधारा 'व्यक्तिवाद' का समर्थन किया। उसने बताया कि राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति आदि को सुरक्षित रखने के लिये बनाया जाता है। राजा को व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण कभी भी नहीं करना चाहिये।

इसी आधार पर आधुनिक युग के व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रचार किया।

मैकियावेली के विचारों ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। मध्य युग के सिद्धान्त ढह गये और नवीन युग का श्रीगणेश हुआ। वह व्यावहारिक राजनीति के कुशल खिलाड़ी के रूप में सामने आया। उसने राजनीति, कूटनीति, युद्धकला पर प्रकाश डाला। समाज की आर्थिक धार्मिक राजनीतिक समस्याओं के निराकरण में वह दार्शनिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। उसके विचारों से हॉब्स, बोदाँ, लॉक, स्पिनोज़ा प्रभावित हुए। सेबाइन ने उसका महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि "मैकियावेली का चरित्र और उसके दर्शन का वास्तविक अर्थ आधुनिक इतिहास की एक जटिल पहेली है। वह मानवी दुर्बलताओं का प्रतिनिधि अटूट देशभक्त, दृढ़ राष्ट्रीयतावादी राजनीतिक मसीहा विश्वस्त प्रजातान्त्रिक तथा निरंकुशता का प्रबल समर्थक है।" [The character of Machiavelli and the true meaning of his philosophy have been one of the enigmas of modern history. He has been represented as an utter cynic an impassioned patriot, an ardent nationalist a political Jesuit, a convinced democrate, and an unscrupulous seeker after the favour despotes."]

मैकियावेली और कौटिल्य
(Machiavelli and Kautilya)

मैकियावेली और कौटिल्य दोनों की विचारधाराओं में इतना अधिक साम्य है कि विद्वान कौटिल्य को पूर्व का मैकियावेली कहते हैं। दोनों के विचारों में निम्न प्रमुख समानतायें पाई जाती है—

(१) दोनों ही प्रशासनिक विधि मूलक ग्रन्थों के रचयिता हैं—मैकियावेली और कौटिल्य राजनीति शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान माने जाते है। दोनों ही विचारकों ने अपने ग्रन्थों में राजनीतिक विचारधाराओं के स्थान पर राज्य शासन संचालनार्थ संवैधानिक विधियों पर विचार किया है। एक ओर प्रिंस, और दूसरी ओर 'अर्थशास्त्र' दोनों में ही प्रशासनिक सिद्धान्तों पर मनन किया गया है।

(२) दोनों ही छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर सबल साम्राज्य के पोषक हैं—दोनों ही एक लक्ष्य से प्रेरित है। कौटिल्य भारत के छोटे-छोटे बिखरे हुए राज्यों के स्थान पर सबल साम्राज्य के अभ्युदय की कल्पना को साकार करने के लिये प्रयत्नशील है तो मैकियावेली भी इटली को एकता के सूत्र में बाँधने की लालसा से प्रेरित है।

(३) सबल राजतन्त्र का समर्थन—दोनों विचारक सबल राजतन्त्र के समर्थक हैं। शासक की सहनशीलता, नम्रता के स्थान पर ओजस्विता, साहस व अदम्य शक्ति ही किसी राज्य का कल्याण कर सकती है, ऐसा दोनों ही का अटल विश्वास है।

(४) शासक का स्थान नैतिकता से ऊपर उठा देते हैं—शक्तिशाली नृप का प्रत्येक कार्य औचित्यपूर्ण होता है। शासक सामान्य नागरिकों की दृष्टि से भी अनुचित और अनैतिक कार्य क्यों न करे, वह नैतिक और उचित होता है। शासक

को दोनों ही विचारक 'अनैतिकता' के बन्धन से मुक्त कर सर्व-सत्ताधिकार के प्रयोग की खुली छूट देते हैं।

(५) दोनों ही राज्य सम्वर्द्धन और रक्षक के उपासक हैं—राजा का कार्य अपने शासन को दृढ़तापूर्वक बनाये रखना और नये प्रदेशों को विजय करना है। कौटिल्य और मैकियावेली दोनों ही अपने शासक से अपने प्राप्त राज्य की भली-भाँति रक्षा और उसकी सीमा विस्तार की आशा करते हैं।

(६) धर्म का राज्य पर प्रतिबन्ध अस्वीकृत है—राज्य की प्रगति में धर्म और धार्मिक संस्थाएँ बाधक होती हैं। अतः धर्म सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा कर राज्य को मुक्त रखना आवश्यक है। दोनों ही इस विचारधारा से प्रभावित हैं।

(७) दोनों ही व्यावहारिक राजनीति के ज्ञाता हैं—कौटिल्य और मैकियावेली दोनों का अध्ययन और मनन क्षेत्र व्यावहारिक राजनीति है। उन्होंने व्यावहारिक राजनीति के अनुभव के आधार पर अपने ग्रन्थों को शासक के पथ प्रदर्शन हेतु लिखा है।

अन्तर—मैकियावेली और कौटिल्य में उपर्युक्त साम्य के अतिरिक्त कुछ प्रमुख विभिन्नतायें भी लक्षित होती हैं—

(१) ग्रन्थ लेखन में मनोवैज्ञानिक असमानता—मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ 'प्रिंस' की रचना शासन से निष्कासित होने के बाद शासक को प्रसन्न कर पुनः पद प्राप्त करने के प्रलोभन से की। इसके विपरीत कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत सम्राट पद पर प्रतिष्ठित कर, विशाल मौर्य साम्राज्य के प्रधानमन्त्री के रूप में राजा को परामर्श देने के लिये 'अर्थशास्त्र' प्रस्तुत किया। अतः निश्चय ही दोनों की मनोवैज्ञानिक असमानता उनके ग्रन्थों में लक्षित होती है।

(२) विचारों की मौलिकता का अन्तर—मैकियावेली युगशिशु एवं युग प्रवर्तक है जो अपने समय की विचारधारा से पश्चात्तर राजनीति की पूर्व प्रतिपादित परम्परा का खण्डन करता है और नये युग का स्रष्टा बन कर सामने आता है। कौटिल्य स्वतः यह स्वीकार करता है कि वह पूर्व प्रतिपादित 'अर्थशास्त्रियों की परम्परा में एक और अर्थशास्त्र प्रस्तुत कर पूर्व के ग्रन्थों का निचोड़ प्रदान कर रहा है। स्पष्टतः यह मौलिक रचना नहीं है जबकि मैकियावेली का मौलिक अनुदाय है।

(३) विचार क्षेत्र की भिन्नता—मैकियावेली ने अपनी दृष्टि को केन्द्रीय सुदृढ़ शासन तक ही सीमित रख राजा, सैनिक आदि पर ही विचार किया। इसके विपरीत कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में केन्द्रीय शासन, स्थानीय शासन, गुप्तचर, अमात्य प्रशासनिक अधिकारियों, न्याय, राजस्व, कूटनीति, परराष्ट्र सम्बन्ध आदि पर विचार कर ग्रन्थ का क्षेत्र व्यापक कर दिया।

(४) शासक की निरंकुशता में समानता नहीं है—ऊपर से देखने पर कौटिल्य तथा मैकियावेली दोनों का शासक पूर्ण निरंकुश दिखाई देता है। वास्तविकता यह है कि मैकियावेली का 'प्रिंस' निरंकुशता की चरम सीमा तक जा सकता है, बशर्ते उसके कार्य प्रजा में घृणा का संचार न करते हों। लेकिन कौटिल्य का नृप वर्णाश्रम, पुरोहित, मन्त्रिपरिषद द्वारा सीमित शक्ति का उपभोग करता है।

(५) शासक की नैतिकता के स्तर में अन्तर—मैकियावेली ने शासक को अनैतिक, कपटपूर्ण, छल तथा धोखा करने की अनुमति प्रदान की है। वह प्रजा के

साथ विश्वासघात कर सकता है। परन्तु कौटिल्य राजा को शत्रु, अधार्मिक, और दुष्ट लोगों का विनाश करने के लिये ही कुटिल उपायों का आश्रय लेने का परामर्श देता है।

सहायक पुस्तकें

Doyle	History of Political Thought.
Dunning W A	A History of Political Theories (Ancient & Mediaeval).
Foster	Masters of Political Thought.
Maxey	Political Philosophers
Sabine G. H	A History of Political Theory.
Suda J. P.	A History of Political Thought.
S. Commins & R. N. Linscalt	The Political Philosophy.
गुप्त एवं चतुर्वेदी	: पाश्चात्य दर्शन का इतिहास
कन्हैयालाल वर्मा	: पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास
वर्मा एस. सी.	: पाश्चात्य राज दर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. "यह प्रतिभावान फ्लोरेंस वासी पूरे-पूरे अर्थ में अपने युग का शिशु था।" इस कथन की सिद्ध कीजिए।

२. मैकियावेली को राजनीतिक विचारों में आधुनिक युग का प्रवर्तक कहा जाता है। क्यों? स्पष्ट कीजिए।

३. मैकियावेली के मानव स्वभाव के सम्बन्ध में क्या विचार हैं? इनका उसके राजनीतिक विचारों पर क्या प्रभाव पड़ा?

४. मैकियावेली के धर्म तथा नैतिकता सम्बन्धी विचारों का विवेचनात्मक परीक्षण कीजिये।

५. मैकियावेली के राजनीतिक विचारों में कौन-कौन सी असंगतियाँ पाई जाती हैं, बताइये।

६. मैकियावेली सबल राजतन्त्र का समर्थक था, इस कथन की पुष्टि कीजिये।

७. "मैकियावेली की राज्य सम्बन्धी कल्पना अनिवार्यतः अनैतिक थी।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

८. आधुनिक राजदर्शन को मैकियावेली का क्या अनुदान है?

अध्याय ५

थामस हॉब्स

(Thomas Hobbes)

[१५८८ से १६६९]

"Covenants without the sword, are but words, and of no strength to secure man at all"

"The bonds of words are too weak to bridle men's ambition, avarice, anger, and other passions, without the fear of some coercive power." —*Hobbes*

अनुबन्धवादी विचार शृंखला के नवीनतम स्वरूप प्रस्तुतकर्त्ताओं की कड़ी में हॉब्स का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। हॉब्स के पूर्व राज्य की उत्पत्ति को अनुबन्ध आधारित माना जाने लगा था लेकिन राज्य की उत्पत्ति के दैवीय स्वरूप का भी बोलबाला था। सर्वप्रथम हॉब्स ने ही एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। प्रो० सैबाइन ने हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की प्राथमिकता का विवेचन करते हुए कहा है कि "हॉब्स यथार्थ में महान् आधुनिक दार्शनिकों में प्रथम था जिसने राजनीतिक सिद्धान्तों को आधुनिक विचार प्रणाली के घनिष्ठ सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया, और अपनी पद्धति को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर, प्रकृति के प्रत्येक तथ्य, व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप में मानव व्यवहार को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया था।" [Hobbes was infact the first of the great modern philosophers who attempted to bring political theory into intimate relation with a thoroughly modern system of thought, and he strove to make his system broad enough to account on scientific principles, for all the facts of nature including human behaviour both in its individual and social aspect.]

जीवन परिचय
(Life Sketch)

थामस हॉब्स का जन्म सन् १५८८ में इंगलैण्ड में वेस्टपोर्ट (Westport) में हुआ था। हॉब्स अन्य बालकों के विपरीत डरपोक और शान्तिप्रिय था तथा अध्ययन में प्रारम्भ से ही रुचि लेता था। वह हिंसक प्रवृत्तियों, झगड़ों, अव्यवस्था और अशान्ति से प्रारम्भ से ही भयभीत रहता था। उसने स्वयं यह कहा था कि उसकी माता ने दो जुड़वाँ बच्चों को जन्म दिया था—एक वह स्वयं और दूसरा

भय। उसका जन्म आर्मेडा (Armada) के युद्ध के समय ही हुआ था। सम्भवतः उसे भीरु प्रकृति माँ के पेट से ही प्राप्त हुई थी। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा मेलमेसबरी (Malmesbury) से शुरू हुई। यह उसके निवास स्थान वेस्टपोर्ट के पास ही इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर एक स्थान था। बाद में उसने ऑक्सफोर्ड से अध्ययन किया। वहाँ वह अधिक दिनों तक नहीं रहा। यह समय इंगलैंड के इतिहास का वह क्रान्तिमय समय था जब "उन्मादी संसद" (Mad Parliament) शासन में उथल-पुथल कर थी। इस समय इंगलैण्ड गृहयुद्ध में संलग्न था। हॉब्स जैसे भीरु स्वभाव के व्यक्ति के लिये वहाँ रहना असम्भव था, वह मार काट, गृह युद्ध की विभीषिका और हिंसात्मक दृश्यों को देखना नहीं चाहता था, इसलिये उसने इंगलैण्ड से पलायन किया और फ्रांस चला गया। हॉब्स ने यूरोप आदि देशों में २० वर्ष तक रहकर अपना अध्ययन जारी रखा। वह तीन बार यूरोप गया और लौट आया।

फ्रांस के आवास काल में उसने यह अनुभव किया कि वहाँ इंगलैंड की अपेक्षा अधिक शान्ति और सुव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित है। उसके अध्ययन ने उसे यह भी बताया कि इसका कारण शुद्ध राजतन्त्र है। इंगलैंड में शक्तिहीन राजा सुव्यवस्था बनाने और सुख तथा शान्ति स्थापित करने में असमर्थ है, फ्रांस में निरंकुश राजतन्त्र ही इस शान्तिमय व्यवस्था को बनाये हुए है। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने शक्तिशाली शासन की स्थापना का विचार अपनाया। उसने बताया कि बिना शक्तिशाली शासन के विद्रोह, अव्यवस्था और हिंसा आदि विद्यमान रहेगी। अराजक अवस्था दूर करना केवल शक्तिशाली शासक के ही वश की बात है। यहाँ हॉब्स ने चार्ल्स द्वितीय के शिक्षक का कार्य किया, यद्यपि वह इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त था लेकिन बहुत थोड़े समय तक ही उसने अध्यापन कार्य किया। यहीं पर उसकी भेंट यूरोप की महान् विभूतियों डेकार्टे, गैलिलियो, हार्वे आदि से हुई। उसने इंगलैंड में भी बेनजानसन, बेकन कलेरेण्डन आदि विद्वानों से भेंट की। हॉब्स की मृत्यु सन् १६६९ में हो गई।

हॉब्स पर प्रभाव
(Influence on Hobbes)

हॉब्स पर प्रभाव डालने वाले तत्वों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं, प्रथम तत्कालीन परिस्थितियाँ, द्वितीय, प्रसिद्ध विद्वानों एवं उनकी रचनाओं का प्रभाव।

(१) तत्कालीन परिस्थितियाँ—हॉब्स का जन्म युद्ध के वातावरण में हुआ था, उसके अध्ययन काल में भी गृहयुद्ध की अग्नि इंगलैंड में प्रज्ज्वलित थी। सन् १६४० में इंगलैंड में गृहयुद्ध प्रारम्भ हो चुका था और राजसत्ता के समर्थकों और विरोधियों में संघर्ष चल रहा था। इस अशान्तिमय वातावरण में एक ओर राजतन्त्र का समर्थक वर्ग था यहाँ राजा के दैवीय अधिकारों का समर्थन था। इनका दैवीय सिद्धान्त में अटूट विश्वास इस बात का प्रचार कर रहा था कि राजाज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। राजा को शक्तियाँ ईश्वर प्रदत्त हैं इसीलिये वह प्रजा के प्रति उत्तरदायी होने के स्थान पर ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है।

दूसरा वर्ग सामन्तशाही के समर्थकों एवं व्यापारियों आदि का था। यह राजा

की निरंकुश शक्तियों के कटु आलोचक थे। इन्होंने राजतन्त्र की निरंकुश शक्तियों के प्रति आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये थे। ये चाहते थे कि राजा संसद की अनुमति से शासन करे और संसद के प्रति उत्तरदायी हो। जब गृहयुद्ध समाप्त हुआ तो पार्लियामेंट की सत्ता स्थापित हो गई और क्रामवेल का उदय हुआ। यह अवस्था अराजक थी, और शासन की निरंकुश शक्तियों का उपयोग क्रामवेल कर रहा था। हॉब्स उनकी निरंकुश सत्ता को उचित समझता था। क्लेरेण्डन तो यहाँ तक कहता है कि 'लेवियाथन' क्रामवेल की चापलूसी के दृष्टिकोण से लिखी गई। (Clarendon thought that the book had been written to flatter Cromwell.) हॉब्स का निरंकुश राजसत्ता का समर्थन यथार्थ में इंगलैंड की अराजक अवस्था तथा फ्रांस की व्यवस्थित शासन पद्धति में तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम था। उसका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि राजतन्त्र ही स्थाई शासन का स्रोत है। प्रो० सेबाइन ने गृहयुद्ध को उसके राजतन्त्र प्रेम का कारण बताया और कहा कि "हॉब्स की राजनीतिक रचनाएँ गृहयुद्ध के कारण प्रकट हुई और उसका विचार राजा के समर्थन की ओर झुका। यह निरंकुश शासन के समर्थन की दृष्टि से लिखी गई। हॉब्स की मनोकामनाओं का तात्पर्य राजतन्त्र की निरंकुशता से था। उसकी व्यक्तिगत रुचि ने उसे राजशाही दल में सम्मिलित कर दिया और वह लगनपूर्वक यह विश्वास करता था कि राजतन्त्र ही अत्यन्त स्थाई और व्यवस्थित शासन है।

(२) **विद्वानों एवं ग्रन्थों का प्रभाव**—हॉब्स को निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक गृहयुद्ध की परिस्थितियों ने ही नहीं बनाया वरन् कुछ विद्वानों की मान्यताओं का भी उसने अध्ययन किया और गम्भीरतापूर्वक यह निश्चय किया कि प्रचलित विचार-धाराओं के बीच राजतन्त्र की निरंकुश सत्ता ही सर्वोपयुक्त है। सर एडवर्ड कोक (Sir Edward Coake) सामान्य विधि (Common law) के समर्थक थे। उनका विचार था कि ये विधियाँ मानवीय विवेक की सर्वोत्कृष्ट निधि हैं जिनका पालन व्यक्तियों और राजाओं को समान रूप से करना चाहिये। उन्होंने कहा कि संसद भी इनकी अवहेलना करने की शक्ति नहीं रखती है। ग्रोशस (Grotius) ने प्राकृतिक विधि की मान्यता निर्धारित की और बताया कि वे उचित विवेक का आदेश होती हैं और मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के कारण बनती है। प्राकृतिक विधियाँ ही मान्य होनी चाहियें। धर्मसत्ताधिकारी पादरी वर्ग राजा और प्रजा दोनों को ही आधीन समझता था। उसका विचार था कि धर्म प्रधान है। धार्मिक अधिकारी जिन आदेशों को दें, उनका पालन प्रत्येक व्यक्ति, राजा तथा संसद सभी करें। इन्हें केलविनवादी (Calvinists) कहा जाता था। हॉब्स पर इन विचार धाराओं के प्रभाव के बाद मेकियावेली (Machiavelli) का भी प्रभाव पड़ा। वह राजसत्ता का प्रबल समर्थक था। उसने अपनी मातृभूमि की अराजक अवस्था को दूर करने का उपाय भी शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र खोज निकाला था। वह केवल अव्यवस्था और अशान्ति दूर करने वाला ही नहीं प्रगति का आधार भी मानता था। बोदाँ (Bodin) ने भी हॉब्स को प्रभावित किया। वह भी निरंकुश राजतन्त्र को विधि और शासन के लिये आवश्यक मानता था। इसके अतिरिक्त हॉब्स को प्रजातन्त्रवादी विचारकों एवं रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) की अनुबन्धवादी विचारधारा ने भी प्रभावित किया। इसके अनुसार राजा और प्रजा ने अनुबन्ध के आधार पर यह तय किया था कि राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन समझौते के अनुसार करेगा, यदि वह ऐसा नहीं करे तो प्रजा को उसे हटा देना चाहिये।

उपर्युक्त विभिन्नतामय विचारो के आधार पर हॉब्स को यह निष्कर्ष निकालना था कि शासन की सर्वोच्च सत्ता प्राकृतिक विधियो या सामान्य विधियों, संसद या राजा, पादरी वर्ग या निरंकुशतंत्र किसे सौंपी जाय। राजा प्रजा के समझौते के आधार पर क्या राजा को पदच्युत किया जाय ? उसने इनका हल एक बहुत ही वैज्ञानिक आधार पर खोज निकाला। उसने मानव प्रकृति के अध्ययन को अपने विचारो का आधार बनाया और उसके सूक्ष्मतम विवेचन द्वारा निरंकुश राजसत्ता का समर्थन किया। अपने स्पष्ट चित्रण के कारण वह इंगलैंड के राजनीतिक दर्शन के विचारों में अद्वितीय लेखक समझा जाता है। उसने समझौता सिद्धान्त को अंगीकार किया, उसको वैज्ञानिकता प्रदान कर निरंकुश राजसत्ता के समर्थन के उपयुक्त बनाया। मैकियावेली के समान वह भी अपनी मातृभूमि के हित के लिये सुदृढ राजतन्त्र की स्थापना आवश्यक समझता था। इसीलिये प्रो० डनिंग के अनुसार "उसके कार्य का उद्देश्य राजतन्त्र का समर्थन ही था।" (The support of the royal cause was a definite purpose of his work)

हॉब्स की रचनाएं
(His Works)

हॉब्स ने निम्नलिखित रचनाएं प्रस्तुत कीं—

(१) थ्यूसीडाइड्स (Thucydides)—अनुवादित रचना।

(२) डी कारपोरे पालिटिको (De Corpore Politico)—हॉब्स ने इस पुस्तक मे 'लेवियाथन' की भूमिका की भांति मानव प्रकृति का संक्षिप्त परिचय दिया। उसने मनुष्य को भयभीत रहने वाला प्राणी बताया। भय के कारण प्राकृतिक अवस्था (State of nature or stateless stage) मे युद्ध का वातावरण रहता था। मनुष्यों ने अनुबन्ध द्वारा शासन व्यवस्था की, उसके आदेशो का पालन मनुष्य को करना चाहिए।

(३) डी सिवे (De Cive)—इस पुस्तक का प्रकाशन पेरिस मे हुआ। उसमे हॉब्स ने सम्प्रभु शासक की आवश्यकता पर प्रकाश डाला और उसकी परिभाषा आदि दी।

(४) एलीमेंट्स आफ लॉ (Elements of Law)

(५) लेवियाथन (Leviathan, 1651)—यह हॉब्स के विचारों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसे ग्राहम ने 'इंगलैंड की बाइबिल' कह कर पुकारा है। यह वाहनाट के अनुसार "अंग्रेजी भाषा मे राजनीति दर्शन की एकमात्र श्रेष्ठतम कृति है।" इस पुस्तक मे राजनीतिक, नैतिक, समाज शास्त्रीय आदि विषयों का बहुत ही तार्किक विवेचन किया गया है। यह चार भागों मे विभाजित है। प्रथम भाग 'मानव' (on Man) मे प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग 'राज्य' (on Commonwealth) मे राज्य की उत्पत्ति का विवेचन मिलता है। तीसरे भाग 'ईसाई राज्य' (on Christian Commonwealth) मे तथा चौथे भाग अन्धकार के राज्य' (on Kingdom of Darkness) मे धर्म के स्थान तथा राजसत्ता के आधीन स्वरूप पर विचार किया है।

(६) ए डायलोग आन दी सिविल वार्स (A dialogue on the Civil Wars)

हॉब्स और मानव प्रकृति
(Hobbes and Human Nature)

हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना करना चाहता था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने राज्य की दैवीय उत्पत्ति आदि प्रचलित तर्कों का अध्ययन न लेकर एक सर्वथा नवीन ढंग से अपने विचार व्यक्त किये। उसने बताया कि यह विषय राजनीतिविज्ञान के अन्तर्गत आता है। राजनीतिक समाज का अध्ययन मनुष्य का ही अध्ययन है। इसलिए हमें मानव प्रकृति का अध्ययन करना चाहिए। हॉब्स ने मानव प्रकृति का विश्लेषण करने के लिए मनोविज्ञान का प्रयोग किया। मनोविज्ञान का राजनीतिक विषयों के अध्ययन के लिए प्रयोग करना आश्चर्यजनक रहा। उसने कहा कि मनुष्य का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं अपना ही अध्ययन है। हॉब्स की पुस्तक 'लेवियाथन' से पूर्व डि कारपोरे पोलिटिको' में मानव प्रकृति का वर्णन प्राप्त होता है। 'लेवियाथन' के प्रथम भाग के चार अध्यायों में विस्तार के साथ मनुष्य के स्वभाव का चित्रण किया गया है।

हॉब्स ने मानव प्रकृति के विकृत तत्व को अपने वर्णन का केन्द्रीभूत विचार बनाया। उसने कहा कि मनुष्य स्वार्थी दुष्ट, युद्धप्रिय और भयभीत रहने वाला प्राणी है। मनुष्य का यह वर्णन पूर्णतया सत्य हो या न हो लेकिन हॉब्स के तार्किक मनोवैज्ञानिक विचारों से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है। हॉब्स ने कहा कि मनुष्य का यह चित्रण किसी द्वेष के कारण नहीं किया जा रहा है, वरन् मानव प्रकृति ही ऐसी है। यदि आप स्वयं अपना ही निष्पक्ष अध्ययन करें तो आपको ऐसा ही दिखाई देगा।

गतिशील विश्व के गतिमान यन्त्र मनुष्य में गति का संचार किस प्रकार होता है, इसका वर्णन करते हुये हॉब्स ने बताया कि मनुष्य के शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। यह ज्ञानेन्द्रियाँ (Sensead) बाह्य वस्तुओं की निरन्तर गतिशीलता के दबाव में आकर विचार आदि सभी को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान का आधार बाह्य जगत के अनुभव और व्यवहार हैं। यह चेतना शक्ति स्मरण शक्ति कल्पना और ज्ञान (memory, imagination and prudence) आदि कहलाती हैं। यह सभी मनुष्य के मस्तिष्क में अपने-अपने अवसर पर गतिमान रहती हैं। यह व्यक्ति की भावनाओं (emotions) और वासनाओं की सक्रिय शक्ति है। यह सभी शक्तियाँ मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त होती हैं। जन्म लेते ही प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में स्मृति, कल्पना, ज्ञान, भावना और वासनायें आ जाती हैं। यह कृत्रिम नहीं होती।

मस्तिष्क को संचालित रखने वाली भावनायें अच्छाई-बुराई आनन्द या कष्ट कहलाती हैं। मनुष्य जिसे अच्छा (good) समझता है, उसी में उसे आनन्द (pleasure) प्राप्त होता है, और उसी की वह इच्छा करता है। इसी प्रकार मनुष्य जिसे बुरा (evil) समझता है उसमें उसे कष्ट (pain) होता है और उसे वह पसन्द नहीं करता। मनुष्य के हृदयगत विचार अच्छे, बुरे, आनन्द, कष्ट की इच्छा-अनिच्छा स्थाई तथा प्रत्येक मनुष्य के लिये एक-सी नहीं होती। संबाइन ने इन भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया कि "जो पदार्थ आकर्षित करने वाला होता है, उसे सामान्यतः सभी प्यार करते हैं, जो बुरा लगता है उसे घृणा की जाती है, एक को प्राप्त करना आनन्द तो दूसरे से पीड़ित होना कष्ट देता है। एक आशाजनक, दूसरा निराशाजनक है।" हृदयगत भावनायें (emotions) सुख-दुःख की इच्छाओं आदि पर निर्भर होती हैं।

मनुष्य की यह इच्छायें ही विश्व को गतिशील रखने में सहायक होती है। मनुष्य जिसकी आवश्यकता समझता है, उसकी इच्छा करता है, वह जिस वस्तु को प्राप्त कर लेता है उसे अपने पास बनाये रखना चाहता है, वह सदैव इसी से भयभीत रहता है कि वह अन्य वस्तुओं को यदि प्राप्त न कर सका या उन्हे अपने पास बनाये न रख सके। हँसी तथा सहानुभूति आदि भावनायें इसी से उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति अचानक कोई ऐसा कार्य करता है जो प्रसन्नता प्रदान करे, इससे हम हँसने लगते हैं। जब कि मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है उससे द्रवित होकर हमारा हृदय करुणा और सहानुभूति से भर जाता है। मनुष्य निरन्तर अपनी इच्छाओं को पूरा करता चला जाता है तो उससे असीम आनन्द (felicity) प्राप्त होता है। वेपर के उद्धरण से 'मनुष्य की समय-समय पर उठने वाली इच्छाओं को निरन्तर सफलतापूर्वक प्राप्त करना ही असीम आनन्द है'। (It is "continued success in obtaining those things which a man from time to time desireth.")

मानव प्रकृति की विशेषताएँ (Characteristics of human nature)

(i) निजी स्वार्थ (Self interest)—मनुष्य सदैव अपने व्यक्तिगत सुख की खोज में रत रहता है। उसकी इच्छायें या वासनायें 'द्रौपदी के चीर' के समान बढ़ती चली जाती हैं और कभी भी रुकने का नाम नहीं लेतीं। वह एक इच्छा को पूरा करता है, नवीन इच्छा सामने आ जाती है और इसी क्रम में मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति केवल मात्र अपने सुख की खोज में संलग्न रहता है। लेकिन व्यक्ति की अपने आप में लिप्त रहने की इच्छा उसकी बोलचाल की शक्ति के कारण दूर हो जाती है। जानने के लिये भावों को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है। अत: मनुष्यों में सम्पर्क की भावना आती है। भाषा का आविष्कार मनुष्यों को नाम, परिभाषा, तर्क तथा विवेक (Reason) प्रदान करता है। मनुष्य का विवेक कृत्रिम होता है और वासनायें स्वाभाविक होती है। मनुष्य को विवेकीय प्राणी कहने की अपेक्षा हम उसे वासनात्मक प्राणी कहें तो ज्यादा अच्छा है। विवेक सभी ज्ञान और विज्ञानों का जनक है। विवेक यद्यपि त्रुटियों से मुक्त नहीं होता; लेकिन वह मनुष्य को असीम आनन्द प्रदान करता है। मानव चरित्र तथा परिस्थितियाँ उसकी असीम प्रसन्नता के मार्ग में बाधक होती हैं। परिस्थितियों के कारण ही उसे अन्य मनुष्यों के साथ रहना पड़ता है।

(ii) अनन्त इच्छायें (Unlimited wants)—मनुष्य शक्ति, सम्मान और सम्पत्ति की वृद्धि के लिये उत्कृष्ट अभिलाषा रखता है। वह सदैव अपनी शक्ति, यश और सम्पत्ति को अधिक से अधिक करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। जब सभी अपनी सत्ता को बढ़ाने के लिये तत्पर रहते हैं तो उसका परिणाम संघर्ष होता है। व्यक्ति के हाथों में अधिक से अधिक शक्ति का केन्द्रित होना भी उन्हें सन्तुष्ट नहीं करता और वे निरन्तर अपनी शक्ति वृद्धि की चेष्टा करते हैं। इसका क्या कारण है? हॉब्स ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि "प्रत्येक मनुष्य निरन्तर कभी न रुकने वाली शक्ति की लालसा से प्रेरित रहता है जो उसकी मृत्यु में ही जाकर रुकती है। इसका कारण यह नहीं होता कि मनुष्य अधिक आनन्द प्राप्त करने के लिये ऐसा करता है, वरन् यदि वह अधिक शक्ति का संचय न करे तो उसे इस बात का क्या आश्वासन है कि जितनी शक्ति उसके पास है, वह अधिक बढ़ाये बिना, उसका उपभोग करता रह सकेगा।

(iii) **सुरक्षा की भावना** (Self preservation)—मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति मे उत्तरोत्तर वृद्धि अपनी सुरक्षा की भावना से करता है। सम्पत्ति तथा शक्ति के विस्तार की दिन-प्रति-दिन बढ़ती हुई आवश्यकता का कारण अपने अस्तित्व की असुरक्षता की आशंका ही होती है। यदि मनुष्य को यह आश्वासन प्राप्त हो जाय कि उसकी सम्पत्ति आदि ज्यो की त्यो बनी रहेगी तो वह कभी भी अधिक संग्रह की प्रवृत्ति को बढ़ावा नही देगा। संक्षेप मे, सुरक्षा की भावना ही अनन्त इच्छाओं की जननी है

(iv) **भय** (Fear)—अस्तित्व की सुरक्षा की भावना मनुष्य के हृदयतगत भावो को जन्म देती है। मनुष्य भयभीत रहने वाला प्राणी है। कमजोर तथा शक्ति सम्पन्न सभी को भय रहता है। कोई भी व्यक्ति इतना अधिक दुर्बल नही होता कि उससे किसी भी मनुष्य को भय ही न हो; और न ही कोई इतना शक्तिशाली होता है कि उसे अन्य व्यक्तियो से भय ही न हो। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे उसकी शारीरिक रचना कैसी भी हो, उसे भय अवश्य व्याप्त रहता है।

(v) **युद्ध तथा संघर्ष** (War and struggle)—भय के कारण ही मनुष्य निरन्तर शक्ति संग्रह करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। निरन्तर शक्ति की कामना प्रतियोगिता और प्रतियोगिता-संघर्ष को जन्म देती है। इसीलिए हॉब्स ने मानव प्रवृति को संघर्ष तथा युद्ध प्रिय बताया है।

(vi) **अहम् प्रवृत्ति** (Egoism)—हॉब्स ने मनुष्य की प्रकृति को 'अहम्' प्रिय बताया है। मनुष्य अपने विवेक के कारण अपने आप को अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, चतुर तथा शक्तिशाली समझता है। "मनुष्य का स्वभाव इस प्रकार का है कि वे किसी प्रकार यह स्वीकार करने को तैयार होते है कि अन्य व्यक्ति अधिक मनोरंजक, अधिक प्रिय, अधिक ज्ञानवान है, लेकिन फिर भी वे यह विश्वास करने को तैयार नही होते हैं कि उनसे भी अधिक बहुत से व्यक्ति बुद्धिमान होते हैं, क्योंकि वे अपने गुणो को निकटतम तथा अन्य के (गुणो को) बहुत दूर पाते हैं।" इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य का 'अहम्' उन्हे अपनी शक्ति मे अटूट विश्वास दिला देता है और वह स्वभावत घमण्डी हो जाता है।

हॉब्स ने मनुष्य की तुलना चीटियो और शहद की मक्खियों से की और बताया कि उनमे शक्ति, सम्मान आदि के आधार पर घृणा, भय, शत्रुता आदि की भावनाएँ नही पाई जाती, जो कि मनुष्यो मे पाई जाती हैं। मनुष्य एवं चीटी तथा शहद की मक्खियो मे निम्न अन्तर पाया जाता है—

प्रथम, मनुष्य सदैव सम्मान की प्रतियोगिता मे सलग्न रहता है, जिसके कारण उनमे शत्रुता, युद्ध आदि होते हैं, जो इन जीवों मे नही होता।

द्वितीय, मनुष्य का आनन्द, अन्य व्यक्तियो की तुलना मे, उच्चता प्राप्त करने मे निहित है, लेकिन यह जीव व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन मे अन्तर न कर सकने के कारण, उच्चता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नही करते।

तृतीय, मनुष्यो मे सभी अपने आपको सबसे अधिक बुद्धिमान समझते हैं और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छा शासन करने का दावा करते हैं। यही संघर्ष का कारण बन जाता है। अन्य जीवो मे विवेक इतना बढ़ा हुआ नही होता कि वे अन्य जीवो से अपने को योग्य समझ सकें।

चतुर्थ, यह जीव मनुष्यो के समान भाषा आदि नहीं रखते, जिससे वे किसी के सामने किसी दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकें।

पंचम, इन जीवों में मनुष्यों की भाँति परस्पर आक्रमण आदि नहीं होता। अन्त में इन जीवों का समझौता प्राकृतिक है और मनुष्य का समझौता कृत्रिम होता है।

इस प्रकार मानव प्रकृति हॉब्स के अनुसार स्वार्थी, अहंप्रिय, शक्ति लोलुप, सम्मान एवं सम्पत्ति की आकांक्षा में रत प्रसन्नता की खोज में तत्पर रहने वाली है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के ऐसे ही प्रयत्न, प्रतियोगिता और संघर्ष को जन्म देते हैं। यह संघर्ष ही हॉब्स के अनुसार मनुष्य की युद्धप्रिय प्रकृति का परिचायक है।

प्राकृतिक अवस्था
(State of Nature)

हॉब्स ने मानव प्रकृति के स्वार्थी, युद्धप्रिय आदि होने के आधार पर प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया। प्राकृतिक अवस्था समाज और राज्य की उत्पत्ति होने से पूर्व की वह अवस्था थी जिसे अराजक अवस्था कहा जा सकता है। राज्य विहीन होने के कारण सभ्य, सम्पन्न जीवन का अभाव था। यह आदिम मानव सभ्यता थी जिसको ऐतिहासिक तर्कों द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता था, लेकिन मानव प्रकृति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बाद उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में जंगलों में भटकता रहता था और उसकी प्रकृति अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अधिकाधिक शक्ति को प्राप्त करने की ओर उन्मुख होने के कारण निरन्तर संघर्ष की अवस्था थी। मनुष्य शक्ति बढ़ाने के लिए शक्ति का प्रयोग करता था लेकिन अपने से अधिक शक्ति रखने वालों को वह अपनी शक्ति से पराजित नहीं कर सकता था, और उसके लिए उसे धोखाधड़ी का प्रयोग करना पड़ता था। असुरक्षात्मक जीवन को सुरक्षा प्रदान के लिए वह हिंसक जीवन व्यतीत करता था। इसीलिए हॉब्स ने इस अवस्था को युद्ध की पाशविक अवस्था कहा। वस्तुओं आदि को प्राप्त करने के लिए सभी मनुष्य समान रूप से प्रयत्नशील रहते थे। उसका परिणाम यह होता था कि उनकी अवस्था एक शिकार के पीछे पड़े हुए दो शिकारियों जैसी होती थी। प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ युद्ध रत रहता था। प्रो० डनिंग ने हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था की तीन विशेषताएँ बताईं। वासनाओं को पूरा करने के लिए मनुष्यों में प्रतियोगिता होना, भय तथा प्रशंसा की लालसा, इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति का शत्रु होता था, और मानव जीवन एकाकी, निर्धन, तुच्छ, जंगली और अल्प था। (Human life was solitary, poor, nasty, brutish and short)

लक्षण (Characteristics,—संघर्षमय अराजक अवस्था में सभ्यता के चिन्ह प्रस्फुटित होने के अवसर नहीं थे। अशान्ति तथा असुरक्षित जीवन का भय उद्योग, सम्पन्नता, नाविक विद्या, भवन निर्माण कला, अक्षर का ज्ञान तथा समाज आदि के विकसित होने में बाधक था। हॉब्स ने इसका चित्रण इस प्रकार किया है कि "इस अवस्था में उद्योगों का कोई स्थान नहीं था, क्योंकि उनके फल अनिश्चित थे: परिणामतः पृथ्वी पर कोई सम्पन्नता नहीं थी, नाविक सुविधायें और सामुद्रिक आयात से प्राप्त वस्तुओं का उपयोग नहीं था, भवन नहीं थे····ज्ञान नहीं था, समय मापक, कला, अक्षर तथा समाज नहीं थे।"

अविवेकपूर्ण जीवन (Irrational life)—प्राकृतिक अवस्था मे न्याय-अन्याय, औचित्य-अनौचित्य तथा गलत-सही का अन्तर नही था। नैतिक बुद्धि का अभाव, सर्वोच्च विधियो की अज्ञानता तथा न्याय-अन्याय के माप यत्र के बिना क्या गलत है, क्या सही, क्या न्याय है, क्या अन्याय, इनका अन्तर करना कठिन था। सक्षेप में प्राकृतिक अवस्था मे सभी कुछ निहित था, अन्याय, अनौचित्य का ज्ञान नही था।

व्यक्ति सम्पत्ति की अनुपस्थिति (Absence of private property)—इसके अतिरिक्त प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव नही हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी वस्तु को उसी समय तक अपने पास रख सकता था जब तक वह उसे शक्ति के आधार पर अपने नियन्त्रण मे रखने की सामर्थ्य रखता था। हॉब्स के शब्दो मे "व्यक्ति के पास वही होता था, जिसे वह प्राप्त कर सकता था और जब तक वह उसे रखने की सामर्थ्य रखता था।" [Only that to be every man's that he can get, and for so long as can keep it.]

प्राकृतिक अवस्था का स्वरूप ठीक ऐसा ही रहा होगा ? इसका ऐतिहासिक प्रमाण देने के स्थान पर हॉब्स ने बताया कि यदि आपको विश्वास न हो तो अपने पडोसियो का आज (समाज और राज्य के बाद) अध्ययन कीजिए। व्यक्ति का अपने मित्रो तक से अविश्वास, भयभीत रहना आदि प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य का वास्तविक स्वरूप प्रकट करता है, जब सोने जाता है अपने दरवाजे मे ताला लगाता है, जब वह घर मे होता है तब भी अपनी तिजोरी मे ताला लगाता है, (विचार कीजिए) उसके अपने साथियो के सम्बन्ध मे क्या विचार है जब वह अस्त्र लेकर चलता है, दरवाजे मे ताला लगाता है; अपने बच्चो और नौकरो के बारे मे क्या भावना रखता है, जब वह अपनी तिजोरी मे ताला लगाता है क्या वह मानवता को अपने कार्यों से उसी प्रकार दोषी नही बनाता जिस प्रकार मैं अपने शब्दो से।" हॉब्स ने कहा कि जब सामाजिक अवस्था मे यह भावना है तो अराजक अवस्था, मे क्या इससे बुरी अवस्था नही रही होगी ? दूसरे, आज के सभ्य-संस्कृत देशो मे जब सर्वोच्च सत्ताधारी शासक नही होता तथा गृहयुद्ध के समय वैसी ही अवस्था रहती है। एक ही देश के निवासी अपने ही देशवासियो के प्रति हिंसा, क्रूरता और पशुता का प्रदर्शन करने लगते हैं। तीसरे विश्व राष्ट्रो के ऊपर सम्प्रभु शासक के अभाव मे भी यही अवस्था दिखाई देती है। प्रत्येक राज्य सदैव युद्ध की तैयारी, अस्त्र-शस्त्रो के विकास तथा षड्यन्त्रपूर्ण रचनाओ मे सलग्न रहकर इस प्रवृत्ति को ही प्रमाणित करते हैं।

प्राकृतिक अधिकार एवं विधियाँ (Natural rights and laws)—प्राकृतिक अवस्था से राजनीतिक अवस्था तक पहुँचने के बीच मे हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक विधियो की व्याख्या की और उनमे क्या अन्तर है, यह भी स्पष्ट किया। प्राकृतिक अधिकार किसे कहते हैं ? हॉब्स ने बताया कि मनुष्य अपनी रक्षा के लिए जो कार्य कर सकता था, वही प्राकृतिक अधिकार है। डनिग ने हॉब्स के विचारो को इस प्रकार व्यक्त किया कि "प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता के द्योतक हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए उचित कार्य करता हो।" ["Natural right, he declared, signifies simply the liberty possessed by every men of doing what seems best for the preservation of his existence."] यहाँ पर स्वतन्त्रता का अर्थ बाह्य बन्धनो का अभाव है। प्राकृतिक विधियाँ स्वतन्त्रता के बजाय बन्धनो का प्रतीक हैं, प्राकृतिक विधियाँ विवेक पर आधा-

रित वे नियम हैं जो किसी कार्य के करने या न करने से सम्बन्ध रखते हैं, जो अपने को बनाये रखने के लिए उपयुक्त नहीं होते।' [It designates a rule, found out by reason, forbidding any act or omission that is unfavourable to preservation] हॉब्स के अनुसार "प्राकृतिक विधियाँ विवेक के आदेश हैं मनुष्य को यह बताते हैं कि जीवन बनाए रखने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।" [Therefore the law of nature is the dictate of right reason, conversant about those things which are either to be done or omitted for the constant preservation of life and members as much as in us lies] 'डी सिवे' की प्राकृतिक विधि की इस व्याख्या को 'लूवियाथन' में हॉब्स ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया "प्राकृतिक विधियाँ वे सूक्ति या सामान्य नियम हैं जो विवेक पर आधारित होते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य को किसी कार्य करने से रोका जाता है जो उसके जीवन को नष्ट करने वाला होता है या किसी ऐसे कार्य करने का आदेश होता है जिससे उसके जीवन की रक्षा हो सके।" इस प्रकार प्राकृतिक अधिकार के द्वारा मनुष्य को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्रता है, प्राकृतिक विधि द्वारा उसे अपनी स्वतन्त्रता के दावे में से कुछ भाग छोड़ना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति के समान प्राकृतिक अधिकार युद्ध की प्रेरणा देते हैं, उसमें जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। प्राकृतिक विधियाँ इसके विपरीत जीवन को अधिक सुरक्षित रखती हैं क्योंकि वे व्यक्ति को विवेक के आदेश का पालन करने की प्रेरणा देती हैं।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य अपने जीवन को सुरक्षित रखना तथा युद्ध से निवृत्ति है। इसलिए विधि व्यक्ति को शान्ति और सुरक्षा प्रदान करने के लिए आवश्यक है। परन्तु एक अकेला व्यक्ति कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अन्य सभी मिलकर जब तक अपने प्राकृतिक अधिकारों को त्यागने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तक शान्ति नहीं लाई जा सकती। अतः व्यक्ति को सामूहिक रूप से अपने अधिकारों को त्यागना पड़ेगा। सभी एक-दूसरे के साथ मिलकर अपनी स्वतन्त्रता को त्याग कर एक समझौते द्वारा व्यक्ति विशेष को आज्ञा पालन करने का वचन देते हैं। प्राकृतिक विधि शान्ति प्राप्त करने के लिए, अधिकारों को त्याग कर समझौते का पालन करने का आश्वासन देती है।

राज्य की उत्पत्ति के कारण (Causes of state origin)—राज्य विहीन प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए मनुष्य को प्रेरणा देने वाले निम्न कारण थे—

(i) **सुरक्षा की आवश्यकता**—उस जीवन में अशान्ति, हिंसा, युद्ध, घृणा और असुरक्षा का वातावरण था। मनुष्यों ने इस अवस्था को असहाय स्थिति को त्यागने में ही अपना मार्ग समझा। प्रकृतितः प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुरक्षा चाहता है। यह सुरक्षा एक सामूहिक संस्था के बिना नहीं हो सकती थी। इसलिए मनुष्यों ने समझौते द्वारा इस असहाय अवस्था को त्याग कर शान्ति की खोज में राज्य की स्थापना की।

(ii) **विधि व्याख्याकार की आवश्यकता**—प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करती थी। लेकिन उन विधियों की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में

उल्लंघन होने के कारण उसका महत्व ही नही रहता था। अत एव ऐसी संस्था की आवश्यकता दिखाई देती थी, जो इन विधियो की व्याख्या कर सके।

(iii) *विधि पालन करने वाली शक्ति की आवश्यकता*—इन विधियो को पालन कराने वाली शक्ति का अभाव था, शक्तिशाली व्यक्ति इन विधियो का उल्लंघन कर सकते थे और उन्हे रोकने की शक्ति किसी व्यक्ति मे नही होती थी अत इनको अनिवार्य रूप से पालन कराने वाली *सस्था की आवश्यकता हुई।*

(iv) दण्ड देने वाली शक्ति की आवश्यकता—विधियो का उल्लघन करने वालो को दण्ड देने वाली सस्था की आवश्यकता थी। यही कारण थे जिनके लिए *मनुष्यो ने प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर राजनीति समाज की स्थापना करने* का प्रयत्न किया। उन्होने इस अशान्त तथा असुरक्षित जीवन को शान्त और सुरक्षित जीवन मे परिवर्तन करने के लिए परस्पर समझौते द्वारा एक राजनीति समाज की स्थापना की। उस समाज मे एक सम्प्रभु होगा जो *विधियो की व्याख्या करेगा, उनका* पालन करायेगा तथा दण्ड देगा। ऐसी सस्था राज्य ही है।

राज्य की उत्पत्ति
(*State Origin*)

मनुष्य शान्ति प्राप्त करने तथा सुरक्षित जीवन व्यतीत करने मे अपने आपको दूसरों की सहायता के बिना असमर्थ समझता है। उसने यह अनुभव किया कि उसी की तरह *अन्य सभी व्यक्ति भी शान्तिपूर्ण सुरक्षित जीवन व्यतीत करना चाहते है*, लेकिन अकेला होने के कारण अपने को असमर्थ समझते है और इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए समझौता करते हैं। अब तक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समझौता सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले शासक तथा शासित के बीच एक समझौता का वर्णन करते थे। हॉब्स ने सर्वप्रथम 'सामाजिक समझौते' का वर्णन किया। यह समझौता पूर्व के समझौतो से भिन्न था, इसमे *शासक तथा शासित ने नही वरन व्यक्ति ने अन्य* व्यक्तियो से समझौता किया।

हॉब्स ने कहा कि राज्य की स्थापना दो प्रकार से होती है—प्रथम जहां एक-सी प्रकृति के लोग एकत्रित हो, दूसरे, कोई सर्वोच्च सत्ताधारी भयभीत करके राज्य बनाये। हॉब्स के अनुसार राज्य व्यक्ति की दूरदर्शिता का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति मे सामाजिक जीवन व्यतीत करने की भावना निहित रहती है। वे परस्पर एक समझौता करते है जिससे *एक सम्प्रभु की स्थापना की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अन्य* व्यक्तियो के साथ मिलकर समझौता करते हैं कि जिस व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को अपने अधिकार और शक्तियो का समर्पण करेंगे वह उनका प्रतिनिधि होगा। इसके पक्ष मे मत देने वालो के साथ ही विपक्ष में मत देने वालो को भी उसके आदेशो का पालन उसी प्रकार करना पडेगा जैसे वह स्वय उसके ही आदेश हों। जो व्यक्ति इस समझौते का उल्लंघन करेंगे उन्हें वह *सम्प्रभु दण्ड देगा। यह दण्डभय व्यक्ति इस* समझौते का उल्लघन करने से रोकता है। यदि दण्ड कम दिया जायगा तो समझौते को तोडने के लिए व्यक्ति चेष्टा करेंगे, इसीलिए सम्प्रभु व्यक्तियों को समझौते का उल्लंघन करने पर *बहुत बड़ा दण्ड देगा*, जिससे उन्हे प्राप्त होने वाले लाभ की अपेक्षा दण्ड द्वारा हानि का भय अधिक हो। दण्डभय ही समझौते का पालन करा सकता है। बिना तलवार के समझौता मात्र रह जाता है *जिसमे रक्षा की शक्ति*

नहीं होती । "शब्दों का बन्धन, मनुष्य की महत्वकांक्षाओं, तथा अन्य कामनाओं को बिना शोषण करने वाली शक्ति के रोकने में असमर्थ है।" इस प्रकार समझौते द्वारा निरंकुश सम्प्रभु की स्थापना की जाती है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से यह समझौता करता है कि "मैं अपने आप पर शासन करने वाले अधिकार इस व्यक्ति या समूह को इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तुम भी अपने अधिकार इसे सौंप दोगे और मेरे समान इसके कार्यों को अधिकृत मानोगे।" ["I authorise and give up my right of governing myself to this man or to this assembly of men, on the condition, that thou give up thy right to him and authorise all his action in like manners"] हॉब्स ने इस समझौते द्वारा मनुष्य को अराजक अवस्था से निकाल कर सामाजिक जीवन प्रदान किया। यह नव संस्थापित संस्था राजनीतिक समाज कहलाती है। मनुष्य ने अपने समस्त प्राकृतिक अधिकार त्यागकर राजनीतिक सम्प्रभु को प्रदान कर दिये। व्यक्तियों ने उस सम्प्रभु को उसके आदेशों का पालन करने का आश्वासन भी दिया और उस सम्प्रभु ने उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ले लिया। यह सम्प्रभु सर्व सत्ताधारी, निरंकुश शासक होगा। हॉब्स ने इसे नश्वर देव (Leviathan) की संज्ञा दी है।

सम्प्रभुता की विशेषताएं
(Characteristics of Sovereignty)

यह नश्वर देव सम्पूर्ण सत्ताधारी सम्प्रभु (Soverign) होगा। उसकी सम्प्रभुता की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार होंगी :—

(१) सम्प्रभु का समझौते में कोई पक्ष नहीं है (Sovereign is not a party to the contract)—इसका परिणाम यह होता कि उसकी सत्ता बहुत व्यापक हो जाती है। समझौता वैधानिक व्याख्या के अनुसार दो पक्षों में होता है। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को परस्पर कुछ आदान-प्रदान करते हैं और जब तक दोनों ही एक-दूसरे को कुछ आदान-प्रदान नहीं करते, समझौता पूर्ण नहीं होता। अभिप्राय यह है कि समझौते में सम्प्रभु ने कोई समझौता नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति आपस में एक-दूसरे से मिल कर समझौता करता है, और अपने अधिकार तथा शक्तियाँ निर्धारित व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप देता है। व्यक्तियों ने अपने अधिकारों का समर्पण सम्प्रभु को कर दिया, सम्प्रभु ने उन्हें इसके बदले में कुछ नहीं दिया। उसने व्यक्तियों के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं बनाया वरन् जनता ही उसके आदेशों को कर्त्तव्य समझकर पालन करेगी। इस प्रकार सम्प्रभु का पहला गुण यह है कि उसके अधिकार बहुत व्यापक हैं लेकिन समझौते ने उसे कर्त्तव्य नहीं प्रदान किये। फलस्वरूप वह एक निरंकुश सर्व सत्ताधारी बन जाता है।

(२) सम्प्रभु की शक्तियाँ केवल उसके जीवन काल तक के लिए ही उसे प्रदान नहीं की गईं (Surrender of powers is not confined of the life time of the sovereign)—जनता ने समझौते द्वारा अपने समस्त अधिकार एक बार और अन्तिम रूप से उसे ही सौंप दिए। जनता के पास अब कोई अधिकार शेष नहीं रह जाते। सम्प्रभु अपने उत्तराधिकारी का चयन एकमात्र सत्ताधारी के रूप में करने के लिए स्वतन्त्र है। जनता यदि उसकी इच्छा का विरोध करती है तो वह

समझौते का खण्डन होगा। जनता ने ही उसे अधिकार सौंप दिए अतः सम्प्रभु अपने उत्तराधिकारी का चुनाव अपनी इच्छा से कर सकता है, जिसे मानना जनता का कर्त्तव्य है।

(३) सम्प्रभु की शक्तियाँ व्यापक हैं (Extensive powers of the-reign)—प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसने उसके निर्माण के पक्ष में मत दिया हो या विपक्ष में, उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। इसका परिणाम यह होता है कि सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना बहुमत का ही कर्त्तव्य नहीं होता वरन् अल्पमत को भी, जिसने सम्प्रभु के निर्वाचन के विपक्ष में मत दिया था, आदेशों का पालन करना पड़ेगा। यदि वे सम्प्रभु के आदेशों का पालन कर्त्तव्य समझकर नहीं करेंगे तो वह उनका दमन करने के लिए स्वतन्त्र है।

(४) समझौता वापस नहीं लिया जा सकता (Contract is irrevocable)—इस समझौते द्वारा निर्मित सम्प्रभु की एक विशेषता है कि व्यक्ति यदि एक बार समझौता कर लेता है तो उसे सम्पूर्ण जीवन भर उसके आदेशों का पालन करना पड़ेगा। व्यक्ति इस समझौते का पालन करने से मर कर ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। *उसे समझौते को तोड़ने का कोई अधिकार नहीं। शासन की सम्प्रभुता एक ऐसा* ढोल है जिसे न चाहते हुए भी व्यक्ति को जीवन भर गले में डाले रहना पड़ेगा।

(५) सम्प्रभु राजसत्ता सर्वोच्च एकाकी संस्था है (Sovereign is the highest single power of the state)—व्यक्ति उसका विरोध भी सामान्यतः करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। केवल उसी अवस्था में हॉब्स उन्हें उसके आदेशों का विरोध करने की अनुमति देता है जब उनकी आत्म रक्षा के लिये यह आवश्यक हो। उदाहरण के लिए, व्यक्ति राज्य की सेना में भर्ती होकर युद्ध में भाग लेने से प्राणभय के कारण मना कर सकता है।

(६) सम्प्रभु के कार्य अन्याय पर आधारित नहीं होते (Sovereign's actions are never unjust)—अन्याय किसी समझौते को तोड़ने या दिये हुये वचन को निभाने से इन्कार करने में होता है। सम्प्रभु ने कोई समझौता नहीं किया और कोई वचन भी नहीं दिया। प्रत्येक व्यक्ति ने आपस में समझौता करके बिना किसी शर्त के इस सम्प्रभुताधारी तीसरे पक्ष का निर्माण किया, और अपने अधिकार उसे सौंप दिये। अतः जब सम्प्रभु ने समझौता किया ही नहीं है तो उसके तोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता और, इस प्रकार वह कभी अन्याय भी नहीं करता।

(७) सम्प्रभु को असीमित शक्तियाँ प्राप्त हैं (Sovereign is entrusted with unlimited powers)—वह विधि, विधान आदि किसी के बन्धन में नहीं वरन् स्वयं उनका निर्माता है। वह विधियों का स्रोत है और इसलिए विधियाँ उसके लिये प्रतिबन्ध नहीं हो सकतीं, और व्यक्तियों ने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण उसके प्रति कर ही दिया है। अतः वह भी उसे रोकने में असमर्थ है। सम्प्रभु विधि तथा व्यक्ति किसी के बन्धन में नहीं है। अपना हर कार्य वह व्यक्तिगत विवेक से करता है। वह समझौते के बाद भी स्वयं प्राकृतिक अवस्था में ही है। प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य के समान वह अपने विवेक के पथ प्रदर्शन में कार्य करता है।

(८) सम्प्रभु का निर्माण प्रजा ने अपनी इच्छा से किया है (Sovereign is the result of voluntary agreement of the people)—अतः वह प्रजा को नुकसान नहीं पहुँचा सकता है। वह प्रजा की रक्षा के लिये बना है और उनके अधिकार प्राप्त रक्षक के रूप में वह उनके आचरण का नियमन करने के लिये विधियों का निर्माण करता है। वह विधियों का निर्माता ही नहीं व्याख्याकार भी है। उसकी व्याख्या पर सन्देह करना या गलत बताना नागरिकों के अधिकार क्षेत्र से बाहर है।

(९) सम्प्रभु शासक सर्वोपरि होता है। उसके त्रुटि पूर्ण कार्यों के लिये उसे दण्ड देने का अधिकार किसी को नहीं है। प्रजा भी उसे दण्ड नहीं दे सकती। यदि प्रजा ऐसा करती है तो यह अन्यायपूर्ण होगा क्योंकि प्रजा के पास इस प्रकार के कोई अधिकार नहीं है कि वह सम्प्रभु के कार्यों की समीक्षा करे और उसे दण्ड आदि दे सके।

(१०) राज्य में प्राप्त अधिकार सम्प्रभु शासक द्वारा प्रदान किये गये हैं (Rights are granted by the sovereign)—जनता ने अपने सभी अधिकार तथा स्वतन्त्रता आदि सम्प्रभु शासन को प्रदान कर दी थी। राज्य की स्थापना के बाद जनता को जो अधिकार प्राप्त हुये हैं, वे सब सम्प्रभु की कृपा पर आधारित हैं। वह अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये स्वतन्त्र है। वह जो अधिकार या स्वतन्त्रता चाहे, व्यक्ति को प्रदान कर सकता है और चाहे उसको छीन सकता है। भाषण, विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता जिस सीमा तक देना चाहे, दे सकता है और उन्हें राज्य के हित के प्रतिकूल समझने पर वापिस ले सकता है। जनता को इस सम्बन्ध में शिकायत करने का अवसर प्राप्त नहीं है।

(११) सम्प्रभु शासक का कार्यक्षेत्र भी व्यक्ति की सुरक्षा तक सीमित है (Sovereign's jurisdiction is limited by the individuals right of preservation)—उसे व्यक्ति की बाह्य आक्रमण से रक्षा करनी चाहिये तथा आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना चाहिये। राज्य के कार्यों को इस प्रकार हॉब्स सेना तथा पुलिस सम्बन्धी कार्यों तक ही सीमित कर व्यक्तिवाद का पोषक दिखाई देता है। निरंकुश सम्प्रभु शासक का अस्तित्व व्यक्ति के हित के लिये आवश्यक है जिससे उसे बाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति भयभीत न कर सके। यहाँ मिल की व्यक्तिवादिता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

(१२) सम्प्रभु शासक नागरिकों की सम्पत्ति का सर्वोच्च स्वामी है (Sovereign is the supreme master of the property of his subjects)—प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति नहीं होती थी। समझौते के बाद सम्प्रभु की स्थापना हुई और उसने शक्ति का साम्राज्य स्थापित किया। शान्ति में व्यक्ति ने उद्योग-धन्धों की स्थापना की और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ। राज्य का अस्तित्व सम्पत्ति रखने की सुरक्षा भी प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति राज्य की देन है अतः इस पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। वह कर लगाने, राज्य कार्यों आदि के लिये सम्पत्ति का अपहरण करने आदि के लिये स्वतन्त्र है।

(१३) सम्प्रभु प्राकृतिक अवस्था में ही है (Sovereign is in the state of nature)—इसलिये वह प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यों की भाँति अन्य राज्यों से युद्ध करने, सन्धि करने आदि के लिये स्वतन्त्र है।

(१४) सम्प्रभु नागरिकों के विवादों का निर्णय करने वाला सर्वोच्च पदाधिकारी है (Sovereign is the chief jurist)—न्याय आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिये उसके हाथ में रहना आवश्यक है।

(१५) सम्प्रभु पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार ही है (Sovereign is the reflection of god on earth)—यह यहाँ ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। ईश्वर से होने वाले प्रत्येक समझौते में उसका साक्ष्य होना आवश्यक है।

(१६) सम्प्रभु सर्वोच्च सत्ताधारी होने के कारण सभासदों, मन्त्रियों, मजिस्ट्रेटों आदि सभी की शक्ति का स्रोत है। वह नागरिकों को अच्छे कार्यों के लिए सम्मानित भी करता है।

(१७) सम्प्रभु की सत्ता अविभाज्य अहस्तान्तरणीय और अपरिवर्तनशील है (Sovereign's power is indivisible, unlimited and inalienable)—

हॉब्स की सम्प्रभुता की धारणा में निरंकुश शासन के दर्शन होते हैं। वह राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को अधिकार देने के पक्ष में नहीं था। सम्प्रभु आन्तरिक तथा बाह्य किसी सत्ता के आदेशों का पालन नहीं करता। इस निरंकुश भावना में व्यक्तिवाद का अनूठा पुट है। हॉब्स राज्य को भी केवल व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा प्रदान करने वाले कार्य ही सौंपता है।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य
(Individual Liberty)

हॉब्स निरंकुश राजसत्ता का समर्थक था। उसके राज दर्शन में दैत्याकार सिर विहीन देव की स्थापना की गई थी। उसकी उत्पत्ति मनुष्यों ने सामूहिक समझौते द्वारा की थी, अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता की हॉब्स द्वारा प्रतिपादित विवेचन लेवेलर्स या मिल्टन की व्याख्या से पूर्णतया भिन्न थी। उसके विचारों में व्यक्तिवादिता का आभास होता है क्योंकि व्यक्ति ही उसके राजनीतिक विचारों का आधार-स्तम्भ है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय, व्यक्ति जिन कार्यों को करने की इच्छा करता है, उस पर बाह्य प्रतिबन्धों का अभाव ही है। इस दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता भय से सम्बन्धित है क्योंकि जैसे ही व्यक्ति समुद्र मार्ग से जलयान में यात्रा करते समय जहाज डूबने के भय से ग्रस्त हो जाता है, वह अपना सामान उठाकर फेंकने के लिए स्वतन्त्र होता है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता आवश्यकता से भी सम्बन्धित है क्योंकि व्यक्ति जो चाहे वही करके ईश्वर की शाश्वत इच्छा की आवश्यकता को पूरा करता है। प्रत्येक राज्य में, उत्पत्ति के समय व्यक्ति ने अपनी इच्छाओं का उन्मूलन करके एक दूसरी इच्छा का निर्माण किया था। यह इच्छा दूसरी इच्छा को विच्छिन्न कर सकती है। इसका अभिप्राय यही होता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल राज्य के आदेशों तथा विधियों के पालन करने में ही निहित है।

हॉब्स ने स्वतन्त्रता को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—(१) वह, जो राज्य के कानूनों से अस्वीकृत नहीं किया हो, व्यक्ति की उसकी स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह नहीं कि नागरिकों की स्वतन्त्र सम्प्रभु के ऊपर किसी प्रकार से भी बन्धन है। राजा और प्रजा में कोई समझौता नहीं होने से हम उसके कार्यों को न्याय या अन्यायपूर्ण नहीं बता सकते, वह व्यक्ति को मार सकता

है। (२) स्वतन्त्रता वह होती है जो समझौते द्वारा नहीं छोडी जा सकती। समझौते मे व्यक्ति की रक्षा का भार राज्य के ऊपर है। राज्य के आदेश के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति अपनी हत्या नही करता और आक्रमण का प्रतिरोध करता है, या अपने आरोप के भय से सैनिक बनने के लिए तैयार नहीं होता (उसे अपने बदले में दूसरा सैनिक देना पड़ेगा) तो राज्य केवल उन्हें आदेशों का पालन न करने के अपराध का दोषी बनाकर कत्ल कर सकता है। राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आदि सभी मे हस्तक्षेप कर सकता है। उपर्युक्त आशय डनिंग ने इस प्रकार स्पष्ट किया "मनुष्य की प्रसन्नता समाज में सर्वोच्च शक्ति से पृथक नहीं की जा सकती। उसकी निर्विरोधी शक्ति से जो असुविधाएँ होती हैं, वह अराजकता की बड़ी असुविधाओं से बचने का मार्ग है।" (The happiness of man in society is inseperable from the recognition of a supreme power, in whose inquestioned authority, whatever its inconveniences lies the only escape from the greater inconveniences of anarchy.)

लेकिन इससे यह नहीं समझ जाना चाहिए कि हॉब्स व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे पूर्णतया मौन है। सम्प्रभु शासक के आदेशों का अनिवार्य रूप से पालन करते हुए भी व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। "राज्य के कानून व्यक्तियों के प्रत्येक ऐच्छिक कार्यों को बाँधने के लिए प्रयोगनीय नहीं होंगे वरन उन्हें ऐसी गति शीलता मे रखने के लिए निर्देशित करेंगे जिससे वे अपने आप को अपनी इच्छाओं, उत्तेजना या अविवेक के कारण चोट न पहुँचा लें, जिस प्रकार झाड़ियाँ यात्रियों को रोकने के स्थान पर पथ प्रदर्शन के लिए लगाई जाती हैं।" दूसरे व्यक्तियों को "क्रय-विक्रय तथा एक-दूसरे से समझौता करने, अपने निवास स्थान पसन्द करने, अपना आहार, जीवन का व्यवसाय चुनने, अपने बच्चों को अपनी मन पसन्द व्यवस्था प्रदान करने के लिए" स्वतन्त्रता है। (Men can expect the liberty to buy and sell and otherwise contrast with one another, to choose their own aborde, their own died, their own trade of life and institute their children as they themselves think fit and the like). तृतीय, 'ऐसे कानून होने चाहियें जो कला, नाविक यात्रा, कृषि, मत्स्य तथा अन्य सभी उत्पादन कार्य जिनमें श्रम लगता हो, प्रोत्साहन दें।' (There ought to be such laws as may encourage all manner of arts, such as agriculture fishing and all manner of manufacture which requires labour) इसके अतिरिक्त हॉब्स का विचार यह था कि बौद्धिक कार्य एवं आत्मा सम्बन्धी कार्य निरंकुश प्रभु के हस्तक्षेप से मुक्त होने चाहियें। सम्प्रभु को व्यक्ति के कार्यों तथा व्यवहार को नियन्त्रित करना चाहिए, लेकिन उनकी आन्तरिक धारणाओं में बाधक नहीं बनना चाहिए। हॉब्स ने लेवियाथन मे लिखा कि "लेवियाथन मनुष्य को विश्वास करने के लिए नहीं कह सकता।....विचार स्वतन्त्र होता है। (Leviatlan can not oblige man to belee....thought is free)

इन स्वतन्त्रताओं के होते हुए भी व्यक्ति को सम्प्रभु की दासता में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। सम्प्रभु के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति अपने को सुखी बना सकता है। सामान्यतः व्यक्ति राज्य की इच्छाओं के विपरीत कार्य नहीं

कर सकता लेकिन यदि राज्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा करने में असमर्थ हो जाये या व्यक्ति के प्राणों का अपहरण करना चाहे तो व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपने प्राणों को बचाने के लिए प्रयत्नशील हो सकता है।

शासन
(Government)

राज्य (Commonwealth) कितने प्रकार के होते हैं? हॉब्स ने इस प्रश्न के उत्तर में बताया कि सम्प्रभु सत्ता जितने व्यक्तियों के हाथ में होती है, उतने प्रकार के राज्य होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एक व्यक्ति, कुछ व्यक्ति या अधिकांश व्यक्तियों के हाथ में सम्प्रभुता निहित हो सकती है। इस आधार पर शासन तन्त्रों का वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है—(१) राजतन्त्र (Monarchy) वह शासन होता है जहाँ शासन की सर्वोच्च शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति के हाथों में निहित होती हैं। (२) कुलीन तन्त्र (Aristocratic) वह शासन होता है जहाँ शासन की शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों के हाथों में निहित होती हैं। (३) प्रजातन्त्र (Democratic) में सत्ता एक या कुछ व्यक्तियों के स्थान पर अधिकांश व्यक्तियों के हाथ में होती है। इसके अतिरिक्त हॉब्स ने 'मिश्रित शासन' (Mixed Form) को व्यर्थ बताया। इन शासन पद्धतियों के भ्रष्ट रूप पर हॉब्स ने विचार नहीं किया, उसने कहा कि इनका कोई आधार नहीं होता। वे व्यक्ति जो राजतन्त्र से असन्तुष्ट हो जाते हैं उसे निरंकुशतन्त्र कहते हैं, जो कुलीनतन्त्र से असन्तुष्ट हो जाते हैं, वे उसे भ्रष्ट कुलीनतन्त्र कहते हैं और जो प्रजातन्त्र से दुखी होते हैं वे उसे अराजकता कहते हैं। अराजकता किसी प्रकार का शासन नहीं होता। व्यक्ति जिसे चाहें वह एक प्रकार का शासन हो और जिसे पसन्द नहीं करें वह दूसरे प्रकार का शासन हो, ऐसा नहीं हो सकता है।

सर्वश्रेष्ठ शासन
(Best Government)

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र में सर्वश्रेष्ठ शासन किसे कह सकते हैं? इन पद्धतियों में से कौन सबसे अधिक निरंकुश है, यह सर्वश्रेष्ठता सिद्ध नहीं करता वरन् शान्ति और सुरक्षा का अन्तिम लक्ष्य किस शासन में सबसे अधिक अच्छी तरह पूरा हो सकता है, उसे ही सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए। इस आधार पर हॉब्स ने कुलीतन्त्र तथा प्रजातन्त्र को अपेक्षाकृत उचित नहीं माना। उसने कहा कि कुलीनतन्त्र एवं प्रजातन्त्र दोनों ही जनता की शान्ति और सुरक्षा में अधिक सहायक नहीं हो सकते। कुलीनतन्त्र में यदि एक वर्ग विशेष के हाथों में शासन होता है वे अपनी शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहते हैं तो दूसरी ओर प्रजातन्त्र में सभी व्यक्ति अपने स्वार्थों में इतने लिप्त हो जाते हैं कि उनमें परस्पर संघर्ष ही होता रहता है, वह जनता के हित के लिये कुछ भी नहीं कर सकते। राजतन्त्र ही ऐसा शासन है जिसमें एक व्यक्ति शासक होता है, उसका अन्य व्यक्तियों से कोई संघर्ष नहीं होता। वह प्रजा के हित और अपने स्वार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित करने में कुशल होता है। अतः राजतन्त्र का पहला गुण यह है कि इसमें व्यक्तिगत हित और जनहित में एकरूपता रहती है। दूसरे, इसमें नीतियों के नित्य प्रति परिवर्तित होने से सुरक्षा रहती है। तीसरे, अन्य शासनतन्त्रों की अपेक्षा शक्ति

एवं धन का असमानतापूर्ण वितरण इसमें कम होता है क्योंकि राजा के प्रिय व्यक्ति कुछ थोड़े से ही होते है, अन्य पद्धतियों मे उनकी संख्या बहुत होती है। राजतन्त्र मे एक कठिनाई शासक के चयन मे आती है। राजा का निर्वाचन किया जाय या उसे वंशक्रमानुगत स्थान दिया जाय, इस पर हॉब्स ने वंशक्रमानुगत राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ बताया। हॉब्स ने इसका वर्णन करते हुए कहा, "वह शासन पूर्ण नही होता जिसमे वर्तमान शासक को अपने उत्तराधिकारी के चयन करने का अधिकार प्राप्त न हो।" (There is no perfect form of Government where the succession is not the present sovereign.)

शासन अपने लक्ष्य की पूर्ति मे संसद निगम तथा मजिस्ट्रेटो की सहायता लेता है। यह अंग सम्प्रभु की इच्छा को क्रियान्वित करने के लिये सम्प्रभु की इच्छा पर्यन्त ही रहते है। शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के अतिरिक्त शासन उद्योग व व्यवसायों की प्रगति तथा देखभाल, शिक्षा का निर्देशन और उपासना आदि का निर्धारण भी करता है। इसके लिये उसे विधियो का निर्माण करना पड़ता है।

विधियाँ (Laws)—सम्प्रभु विधियो द्वारा शासन का संचालन करता है। विधियाँ क्या होती है? और कितने प्रकार की होती है? हॉब्स ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुये बताया कि "विधियाँ यथार्थ मे उसके शब्द होती है जिसे अन्य व्यक्तियों को आदेश देने का अधिकार होता है।" अन्तिम रूप से आदेश देने का अधिकार सम्प्रभु को प्राप्त होता है, यह अधिकार उसे समझौते द्वारा ही प्राप्त होता है। हॉब्स ने चार प्रकार की विधियो पर विचार किया। (१) दैवीय विधियाँ (Divine laws) (२) नागरिक विधियाँ (Civil laws), (३) प्राकृतिक विधियाँ (Natural laws), (४) परम्परात्मक विधियाँ (Customary laws)। दैवीय विधियाँ वह होती है जिन्हे ईश्वरीय इच्छा ने अभिव्यक्त किया है। मनुष्य उसके निर्माण मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नही होता। नागरिक विधियाँ सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं। सम्प्रभु स्वयं इन विधियो का पालन करने के लिये विवश नही किया जा सकता; जनता को इनका पालन अनिवार्यत: करना पड़ता है। यह विधियाँ नागरिकों की आत्मरक्षा की प्रवृत्ति के कारण उदित होती है। प्राकृतिक विधियाँ विवेक प्रदत्त नियम होते हैं जिन पर चलकर व्यक्ति अपना मार्ग प्रदर्शित करता है। परम्परात्मक विधियाँ यद्यपि सम्प्रभु द्वारा प्रत्यक्षत नही बनाई जाती है परन्तु फिर भी उनका महत्वनागरिक विधियों की अपेक्षा कम नही होता। सम्प्रभु उनके अस्तित्व को अस्वीकार नही करता है, इतना ही उनके अस्तित्व के लिये पर्याप्त है।

चर्च और राज्य (Church and State)—हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त ने राज्य मे सम्प्रभु से ऊपर किसी भी व्यक्ति या संस्था के अस्तित्व को नष्ट कर दिया। इस व्याख्या ने धर्म या चर्च को भी राज्य के आधीन कर दिया। मार्सीलियो आफ पडुआ से धर्म को राज्यसत्ता के आधीन करने का जो क्रम प्रारम्भ हुआ था, उसका अनुसरण करते हुये हॉब्स ने तर्कों के द्वारा लौकिक और पारलौकिक संस्थाओं को पृथक् कर दिया। वह एक भौतिकवादी विचारक था अत: उसके लिए आत्मा या दैवीय संस्था जैसी चीजें भूतों के समान अस्तित्व विहीन थी, जिन्हे हम कल्पना मे ही देख या समझ सकते है। हॉब्स के धर्म संस्थाओं के विरोधी विचारों से यह नही समझना चाहिये कि वह नास्तिक था। वह धर्म संस्था का विरोध इसलिये करता था। कि वह राज्य मे रहते हुये भी उसके आधीन नही रहना चाहता था। वह ऐसा धर्म चाहता था जो

राज्य मे सम्प्रभु से आदेशो के अनुसार चले । उसने चर्च या धर्म की परिभाषा करते हुए बताया कि "यह ईसाई धर्म का पालन करने वाली व्यक्तियो की वह सख्या है जो सम्प्रभु के अस्तित्व में मिली हुई है, जिसके आदेश पर उन्हे एकत्रित होना चाहिए और बिना उसके आदेश के उसे एकत्रित नही होना चाहिए ।" [A company of men professing the Christian religion, united in the person of one sovereign, at whose command they ought to assemble, and without whose authority they ought not to assemble.] चर्च की इस परिभाषा के आधार पर उनकी निम्न विशेषतायें स्पष्ट हुई—(१) कोई भी व्यक्ति समूह यदि सम्प्रभु की अनुमति के बिना उपासना आदि के लिए एकत्रित होता है तो वह चर्च नही, अवैधानिक समूह है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि चर्च केवल राज्य की अनुमति द्वारा ही संगठित हो सकता है । उसका अस्तित्व राज्य के आधीन है । राज्य की आज्ञा के बिना उपासना आदि करता हुआ चर्च, राज्य के आदेश द्वारा भंग भी किया जा सकता है। (२) इससे दूसरी अभिव्यक्ति यह हुई कि कोई भी विश्वव्यापी चर्च नहीं हो सकता क्योंकि कोई विश्वव्यापी सम्प्रभु नही है। जब प्रत्येक सम्प्रभु के आधीन ही चर्च या धर्म को मान्यता प्राप्त होती है तो प्रत्येक राज्य का सम्प्रभु जिस धर्म का पालन कराना चाहेगा, उसकी सीमा मे वही धर्म माना जायगा । सभी राज्यो मे एक धर्म माना जाना इस प्रकार कठिन दिखाई देता है । (३) तीसरे, चर्च तथा उसके धर्माधिकारी राजा के आधीन हैं। ईश्वर का सीधा प्रतिनिधित्व राजा करता है और वही ईश्वरीय नियमो की दृष्टि पर व्याख्या करता है । बिशप तथा पादरी अपनी सत्ता राजा से प्राप्त करते हैं। उनकी शक्ति ईश्वर प्रदत्त नही, राजा प्रदत्त है । [' He and he only, has his authority immediately from God, bishops have their dignities, not Deigratia, but Regisgratia."—Dunning] राजा धार्मिक शक्तियाँ पादरी आदि को प्रदान कर देता है और वह उनका प्रयोग उसकी अनुमति के आधार पर करते रहते हैं। (४)इस प्रकार चर्च अन्य निगमो के समान ही एक निगम है। जिस तरह प्रत्येक निगम सम्प्रभु राज्य की अधीनता मे रहती है उसी तरह चर्च को भी राज्य के आधीन ही रहना चाहिये । चर्च को शिक्षा आदि देने का अधिकार है लेकिन वह अधिकार उसी समय तक वैज्ञानिक है जब तक चर्च उसका प्रयोग राज्य की इच्छा के अनुकूल करता है । अन्त मे हॉब्स धर्म का एक रहस्य बताते हुए कहता है कि "हमारे धर्म का रहस्य है, यह ऐसी गोली के समान है जिसे पानी के साथ पूरा निगल जाने पर मरीज स्वास्थ्य लाभ करता है, परन्तु उसे चबा लेने से उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है ।"

इस तरह हॉब्स ने अपने उद्देश्य निरकुश सम्प्रभुता की स्थापना द्वारा वौद्धिक कार्यों के लिये बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा प्रदान कर धर्म को भी सम्प्रभु के आधीन स्थान प्रदान किया ।

हॉब्स के समझौता सम्बन्धी विचारों की आलोचना (Criticism of Hobbesian Theory of Contract)—हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार मानव प्रकृति और प्राकृतिक अवस्था पर आधारित हैं । इन दोनो ही विचारो मे हॉब्स के विचार अनेक त्रुटियो से युक्त हैं। उनकी आलोचना इस प्रकार की जाती है :—

(१) मानव प्रकृति का एकांगी अध्ययन (One way study of Human Nature)—हॉब्स ने राजनीति दर्शन को सामाजिक समझौता सिद्धान्त की अपूर्व भेंट दी। इसकी व्याख्या का आरम्भ वह मानव प्रकृति के विवेचन से करता है। उसने कहा कि मानव प्रकृति की बुराइयाँ ही राज्य की उत्पत्ति का आधार हैं। उसने मनुष्य को प्रकृतिः दुष्ट, स्वार्थी, युद्ध प्रिय एवं भयभीत रहने वाला प्राणी बताया। मनुष्य की प्रकृति का यह चित्रण सर्वथा एक पक्षीय है। मनुष्य में उपर्युक्त अवगुणों से अधिक सद्गुण होते हैं जिन्हें सज्जनता नि स्वार्थ सेवा, शान्ति प्रिय निर्भीकता एवं त्याग आदि कहा जाता है। मानव प्रकृति के प्रथम पक्ष की अपेक्षा यह द्वितीय पक्ष राज्य की उत्पत्ति में अधिक सहायक होता है। मनुष्य की सज्जन प्रवृत्ति उसे अन्य व्यक्तियों के समीप लाती है और घृणा के स्थान पर प्रेम उनमें सामाजिकता की भावना भरता है। स्वार्थी मनुष्य समाज का निर्माण कभी नहीं कर सकता। मनुष्य के त्याग की भावना ही उसे अन्य व्यक्तियों की सेवा करने के लिए प्रेरित करती है। माता का पुत्र के प्रति स्नेह स्वार्थ के स्थान पर त्याग से प्रेरित होता है और वह अपार दुखों को सहते हुए भी पुत्र का लालन-पालन करती है। यदि माता के हृदय की यह ममतामयी त्यागशील प्रवृत्ति न हुई होती तो मानव के सामाजिक जीवन का अस्तित्व ही नहीं होता। मनुष्य भयभीत ही नहीं रहता, उसमें निर्भीकता के दर्शन भी होते हैं। कहीं किसी के मकान में आग लग जाती है तो बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका उस मकान वाले से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी अपनी जान की बाजी लगाकर आग की लपटों में घुस कर सम्पत्ति तथा प्राणियों की रक्षा करते हैं? क्या यह उनका स्वार्थ होता है? या वे भयभीत होकर ही यह कार्य करते हैं? नहीं, कदापि नहीं। सुदूर देशों में भूकम्प, बाढ़ आदि से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए भी धन आदि भेजा जाता है। यह मनुष्य के हृदय की परमार्थ भावना का प्रतीक होता है। अत हॉब्स ने मानव प्रवृत्ति का जो चित्रण किया है, वह सर्वथा एकांगी है और विकृत पक्ष का ही चित्र है। मनुष्य के स्वभाव की अच्छाइयों को हॉब्स भूल गया था। अतः उसके विचार त्रुटिपूर्ण आधार पर स्थित हैं। उसका मानव स्वभाव का अध्ययन मिथ्या है।

(२) मानव प्रकृति का विरोधाभास (Contradictions in Human Nature)—हॉब्स की मानव प्रकृति की व्याख्या की दूसरी आलोचना यह की जाती है कि उसमें विरोधाभास लक्षित होते हैं। हॉब्स ने मनुष्य को स्वभावतः दुष्ट, स्वार्थी, युद्धप्रिय और भयातुर रहने वाला बताया है। निजी स्वार्थ और झगड़ालू स्वभाव व्यक्ति को अपने कार्यों को अपने तक ही सीमित रखने की प्रेरणा देते हैं। हॉब्स ने बताया कि व्यक्ति अपने अधिकार एवं शक्तियों को त्याग कर समझौता करता है। यहीं उसकी व्याख्या में विरोधाभास आ जाता है। व्यक्ति स्वार्थी है, उसका स्वार्थ अधिकाधिक शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित करने में होगा। यदि स्वार्थ ही उसके कार्यों का आधार है तो वह कैसे भी शक्तियों को त्यागने की बात सोच ही नहीं सकेगा। इसी प्रकार व्यक्ति युद्ध प्रिय एवं झगड़ालू स्वभाव युक्त है, एक ओर मानव स्वभाव की व्याख्या का यह पक्ष है; दूसरी ओर वही युद्ध प्रिय मनुष्य एक समझौता करने की बात सोचता है और संघर्ष के स्थान पर सहयोग करने का वचन देता है। हॉब्स के मानव स्वभाव के चित्रण में स्पष्टतः ही यह विरोधाभास है। युद्ध-प्रिय, झगड़ालू स्वभाव का मनुष्य युद्ध त्यागने के लिए तथा सहयोग पूर्ण जीवन व्यतीत

करने के लिये तैयार है। स्वार्थी व्यक्ति अपने अधिकारो को त्यागना चाहता है। यह मानव प्रकृति का बहुत ही हास्यास्पद विवेचन है।

(३) प्राकृतिक अवस्था की अनैतिहासिकता (Unhistoricity of State of Nature)—*हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है, आलोचक उसको प्रमाणीकृत नही मानते।* हॉब्स ने मानव जाति के इतिहास को दो भागो मे बाँट दिया है। प्रथम अवस्था, जब मनुष्य राज्य या समुदाय मे नही रहता था। इस अराजक अवस्था को वह प्राकृतिक अवस्था कह कर पुकारता है। दूसरी अवस्था मे, समझौते द्वारा राज्य की स्थापना हो जाती है। प्राकृतिक अवस्था का विचार हॉब्स के मस्तिष्क की एक कल्पना मालूम पडता है। प्रो० वाहन के अनुसार "प्राकृतिक अवस्था का कही भी कोई अस्तित्व रहा होगा, ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक है।" विश्व के किसी भी देश के इतिहास मे हमे यह पढने का अवसर नहीं मिलता कि एक राज्यविहीन प्राकृतिक अवस्था थी। इतिहास तो घटनाओ आदि का साक्ष्य पत्र है लेकिन वहां भी उसमे उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि अमुक दिन एव तारीख को व्यक्तियो ने मिलकर राज्य संस्था की नीव डाली। इन प्रमाणो का अभाव यह स्पष्ट करता है कि हॉब्स के विचारो मे वर्णित प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक ही है।

(४) प्राकृतिक अवस्था में राजनीतिक चेतना एक भ्रम है (Political consciousness in the State of Nature is a mere fallacy)—हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को जंगली पशुओ की सभ्यता के समान बताया है। उस समय शान्ति के अभाव मे कला, नाविक विद्या तथा किसी प्रकार के ज्ञान या विद्या आदि की जानकारी नही थी। राज्य की स्थापना नही हुई थी परन्तु फिर भी उन्हें राजनीतिक चेतना थी, यह हॉब्स का त्रुटिपूर्ण वक्तव्य है। राजनीतिक चेतना राज्य मे ही सम्भव हो सकती है। जब प्राकृतिक अवस्था मे लोगो का जीवन राज्य विहीन अवस्था मे व्यतीत हो रहा था तो उनके मस्तिष्क मे राजनीतिक चेतना भी नही हो सकती थी।

(५) राज्य हितवर्द्धक होगा : बिना प्रयोग के असम्भव—प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यो ने कष्टदायक अवस्था से मुक्ति पाने के लिये राज्य की स्थापना की अचानक ही व्यक्ति के मस्तिष्क मे—वह भी एक साथ सभी के मस्तिष्क में यह विचार किस तरह आया कि राज्य ही उनको दुखो से छुटकारा दिला सकता है। जिस व्यक्ति ने राज्य देखा न हो, उसके बारे मे सुना न हो, कभी धीरे-धीरे प्रयोग आदि न किये हो, अचानक किस तरह किसी नयी सस्था का निर्माण कर देंगे उदाहरण के लिये, आज से ५० वर्ष पूर्व, एकदम कोई व्यक्ति चाँद पर जा पहुँचा, यह समाचार सुनकर कैसा लगता ? हम देख रहे हैं कि धीरे-धीरे प्रयोग चल रहे हैं, भूल और सुधार के द्वारा विज्ञान मनुष्य को चन्द्रमा तक ले जा सका है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह कार्य मस्तिष्क म आते हो नही कर दिया जाता। उसी तरह राज्य के निर्माण से पूर्व भी प्रयोग हुये होंगे। लेकिन हॉब्स यह मानने को तैयार नहीं। उसका विचार तो यह है कि कष्ट मोचन राज्य की स्थापना समझौते मात्र से अचानक हो गई। इसके अतिरिक्त राज्य मे ही व्यक्ति का हित होगा, इसका आभास किस प्रकार हुआ, यह हॉब्स के विचारो की त्रुटि है।

(६) प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व नहीं (Rights are not possible in the State of Nature)—हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते समय यह बताया कि उस समय व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते

थे। यह राजनीति दर्शन के प्रतिपादक के विचारों की भ्रमपूर्ण धारणा है। इससे यह पता चलता है कि वह अधिकारों की परिभाषा तक से परिचित नहीं था। (अधिकार व्यक्ति की वे माँगें होती हैं, जिन्हें सभी व्यक्तियों के लिए उपयोगी समझने के कारण समाज मान्यता प्रदान करता है और राज्य अपनी स्वीकृति की छाप लगाता है।) प्राकृतिक अवस्था में समाज और राज्य नहीं थे। बिना समाज और राज्य के अधिकारों का अस्तित्व ही नहीं। अतः हॉब्स का यह कहना गलत है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को अधिकार प्राप्त थे, जिन्हें समर्पित करके व्यक्ति राज्य की स्थापना के लिए समझौता करते हैं।

(७) समझौता राज्य के अभाव में नहीं हो सकता (Contracts are not possible without State)—हॉब्स ने राज्य की स्थापना सामाजिक समझौते द्वारा सिद्ध की है। उसने बताया कि सभी व्यक्ति अपने-अपने अधिकारों का समर्पण करके समझौते द्वारा राज्य की स्थापना करते हैं। वैधानिक दृष्टि से यह गलत है। समझौते का अस्तित्व ही उस समय सम्भव होता है जब एक सर्वोच्च संस्था उसे मान्यता प्रदान करती है और उसके पालन कराने का आश्वासन देती है। हॉब्स ने राज्य की स्थापना से पूर्व, एक सर्वोच्च संस्था के अभाव में समझौते का वर्णन किया, यह गलत है। ग्रीन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि 'ऐसा अनुबन्ध जिसके द्वारा कोई राजनैतिक शक्ति स्थापित की जाय, कभी न्यायोचित तथा सप्रमाण नहीं हो सकता। ऐसी दशा में लोगों को अनुबन्ध करने का अधिकार ही नहीं होता।

(८) वैधानिक दृष्टि से समझौता आपत्तिजनक (It is Legally Wrong)—वैधानिक दृष्टि से हॉब्स प्रतिपादित समझौता आपत्तिजनक है। जब दो व्यक्ति समझौता करते हैं तो वे उसी समय तक उसका पालन करते हैं, जब तक उनकी इच्छा रहती है। समझौता स्वेच्छापूर्वक किया जाता है जिसका अभिप्राय ही होता है कि उसका पालन दोनों पक्षों के समर्थन तक ही रहता है। उसे किसी भी समय निर्दिष्ट विधि पूरी करने पर तोड़ा जा सकता है, लेकिन हॉब्स द्वारा बनाये गये समझौते में अनिवार्यता का पुट है। कोई भी व्यक्ति जो एक बार समझौते में सम्मिलित हो गया, जीवन पर्यन्त उससे अलग नहीं हो सकता और यदि वह समझौते के प्रतिकूल आचरण द्वारा सम्प्रभु के आदेशों का पालन नहीं करेगा तो उसे दण्ड भी दिया जायगा। राज्य के लिए किया गया समझौता मिर्च, मसाले, कागी, तम्बाकू तथा इसी प्रकार के अन्य व्यापार के लिए की गयी साझेदारी की तरह है, यह समझना भूल है।

(९) समझौता देशप्रेम की भावना जाग्रत करने में असमर्थ (Contract cannot encourage patriotic feelings)—जनता देश के प्रति प्रेम के कारण बड़े-बड़े बलिदान कर देती है। धन-जन सभी कुछ देश पर न्यौछावर करने वाले लोगों के हृदय एक भावना से भर कर बलिदान करते हैं। समझौता देश पर मर-मिटने की भावना कभी नहीं ला सकता।

(१०) एक त्रुटि का प्रतिकार दूसरी त्रुटि से सम्भव नहीं है (One wrong cannot be rectified by another wrong)—इसके अतिरिक्त यदि हम हॉब्स के सम्प्रभु के निरंकुश स्वरूप का अध्ययन करें तो एक शंका उत्पन्न होती है। व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार त्याग कर सम्प्रभु को सौंप देते हैं। सम्प्रभु उन पर निरंकुश और अत्याचारी शासन करने के लिए स्वतन्त्र है, उसे रोकने की शक्ति

किसी मे नही। क्या इस तरह एक मुसीबत को दूर करने के लिये किसी बड़ी मुसीबत को सिर पर उठा लेना उचित है? लॉक के अनुसार "यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या मनुष्य इतना मूर्ख है कि बिल्ली तथा लोमड़ियों की शैतानी से बचने की फिक्र मे, शेर को समर्पण कर अपने को सन्तुष्ट समझे।" [This is to think that men are so foolish that they take care to avoid what mischiefs may be done to them by pale cats and foxes but are content, nay, think it safety, to be devoured by lions "]

(११) राज्य एवं सरकार में अन्तर करने में असमर्थ (Unable to bistinguish between State and Government)—हॉब्स के राजनीति दर्शन की एक और बड़ी त्रुटि यह है कि उसने राज्य और सरकार मे अन्तर नही किया। वह राज्य के निरंकुश स्वभाव की विवेचना करता है। वह राज्य का विरोध सहन नहीं करता। व्यक्ति राज्य का कभी विरोध नही करते वरन् सरकार का करते हैं। सरकार परिवर्तनशील होती है। उसे बदलना कोई अनुचित बात नहीं। समझौते द्वारा व्यक्ति यदि सरकार का निर्माण करते होते तो प्रत्येक नवीन सरकार के साथ उन्हें पुन: नया समझौता करना पड़ता। राज्य और सरकार का अन्तर स्पष्ट न करने के कारण ही वेपर के अनुसार "यह सत्य है कि वह राज्य और सरकार मे अन्तर करने में असफल रहा, कि उसने राज्य की वैध सत्ता को सरकार की सत्ता से मिला दिया, कि वह यह नहीं देखता कि सरकार मे परिवर्तन करना राज्य को भंग नही करता"

हॉब्स ने अपने विचारो के कारण अपने समय मे ही अनेक वर्गों को आलोचक बना लिया था। धार्मिक संस्थाओ से सहानुभूति रखने वाले पादरी इत्यादि उसके आलोचक थे ही, लेकिन राजतन्त्र के समर्थक भी उसके विरोधी हो गये थे क्योंकि वह प्रजा की रक्षा करने मे असमर्थ शासन के आदेशो का पालन करने से स्वतन्त्रता प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक उसके मानव स्वभाव के विरोधाभास पर ही जोर देने के कारण असन्तुष्ट थे। व्यक्तिवादी इसलिए असन्तुष्ट थे कि उसके राज्य मे शासन की आलोचना का अधिकार नही था। यही नहीं समझौता सिद्धान्त के उत्तराधिकारी लॉक, रूसो आदि अनेक विचारक उसकी आलोचना करते रहे।

हॉब्स का अनुदाय
(Contribution of Hobbes)

हॉब्स के विचारो की आलोचना की जाती है लेकिन उसके महत्त्व को भी विस्मृत नही किया जा सकता। हॉब्स के महत्त्व का दिग्दर्शन करते हुये डनिंग ने कहा है, "हॉब्स प्रथम अंग्रेज था जिसके राजनीतिक दर्शन को इतिहास में अपूर्व स्थान प्राप्त है। उसकी रचनाओ ने उसे राजनीतिक विचारकों की प्रथम पंक्ति मे रख दिया। उसके राजनीतिक विचार उसी क्षण से सजीव आलोचनाओं का केन्द्र और अत्यधिक प्रभावोत्पादक रहे।" [Hobbes is the first Englishman to present a system of political philosophy that can stand among the great system of history. His work placed him at once in the front rank of political thinkers and his theory became from the moment of its appearance the centre of animated controversy and enormous influence throughout western Europe."]

हॉब्स के अनुदायो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन उसकी सम्प्रभुता की व्याख्या है। 'राजनीतिक विचारों के इतिहास मे पूर्ण सम्प्रभुता का विचार सर्वप्रथम हॉब्स की रचनाओ मे प्राप्त होता है।' ["His work is the first statement of complete sovereignty in the history of political thought"] मध्ययुग मे सम्प्रभुता की निरपेक्षता का विचार अप्राप्य था। कभी दैवीय कानून, कभी प्राकृतिक कानून, कभी परम्परात्मक कानून राजा की शक्ति से ऊपर माने जाते थे। राजा उनका विरोध करने की सामर्थ्य नही रखता था। हॉब्स सर्वप्रथम राजसत्ता की निरपेक्ष सम्प्रभुता का प्रतिपादक था। उससे पूर्व बोदाँ ने सम्प्रभुता की व्याख्या की लेकिन उसने राजा को धार्मिक, प्राकृतिक एवं परम्परात्मक विधियो के अनुसरण करने के लिए कहा। हॉब्स ने असीमित सम्प्रभुता का समर्थन करते हुए राज्यसत्ता के निरंकुश स्वरूप का समर्थन किया। यह विचार मध्ययुग से सम्बन्ध विच्छेद का चिन्ह बन गया।

हॉब्स ने नश्वरदेव को सर्वसत्ताधारी बना दिया लेकिन फिर भी यह विस्मृत नही किया कि यह एक कृत्रिम संस्था है। उसने कहा कि राज्य एक मशीन है जिसका निर्माता मनुष्य है। जब मनुष्य नश्वरदेव का निर्माण कर सकता है। तो वह निश्चय ही उससे अधिक अच्छी किसी संस्था का निर्माण कर सकता है। व्यक्ति राज्य की इच्छा का पालन क्यों करते है ? इसका सीधा सरल सा उत्तर यही है कि वह उनकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। उन्होंने ही आपस मे मिलकर उसका निर्माण किया और स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकार उसे अर्पित कर दिये। मानव इच्छा उसके स्वरूप को निरंकुश बना सकती है और लोक-कल्याणकारी भी। इससे आधुनिक युग के लोक कल्याणकारी राज्य की प्रेरणा प्राप्त हुई।

व्यक्तिवादी (Individualist)—हॉब्स निरंकुश राजसत्ता का समर्थक होने के साथ ही व्यक्तिवाद का प्रतिपादक भी था। उसने राज्य की स्थापना का कारण ही मनुष्य की रक्षा करने की आवश्यकता को बताया था। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करने के लिये हुई है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य का कार्य-क्षेत्र सुरक्षा प्रदान करने से अधिक नही है। यह पुलिस और सेना द्वारा बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति को दूर करने के अतिरिक्त व्यक्ति के जीवन मे हस्तक्षेप नही कर सकता। राज्य सदैव मनुष्यो से बनता है और मनुष्यो के हित के लिये बनता है। यह विचार राज्य को साधन और व्यक्ति को साध्य बना देता है। यह विचार-व्यक्तिवाद की आधारशिला है।

हॉब्स ऊपर से देखने मे निःसन्देह निरंकुशतावादी जान पड़ता है किन्तु वह वास्तव मे पूर्णरूप से व्यक्तिवादी है। व्यक्तिगत आत्म सुरक्षा एवं सम्पत्ति सुरक्षा के अधिकारों को राज्य से ऊपर बताकर उसने राज्य के निरंकुश स्वरूप को नगण्य बना दिया है। आत्म संरक्षण के लिये व्यक्ति को राज्य के प्रति प्रतिरोध करने का अधिकार देकर हॉब्स ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सबल बनाया। राज्य की निरंकुश शक्ति से बचने के लिये व्यक्ति को ब्रह्मास्त्र मिल गया। हॉब्स राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता यही मानता है कि अराजकता का अन्त करके राज्य व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करे। राज्य को हॉब्स निरंकुश अधिकारों का समर्थन केवल इसी कारण करता है कि राज्य व्यक्तियों के अधिकार एवं उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा कर सके। इसी कारण सेबाइन (Sabine) ने हॉब्स द्वारा प्रदत्त सम्प्रभु की शक्ति को व्यक्तिवाद का आवश्यक पूरक कहा है। इसी कारण हॉब्स का सम्पूर्ण दर्शन व्यष्टिवादी और यह व्यष्टिवाद का

अप्रदूत । प्रो० डनिंग (Dunning) ने हॉब्स के व्यक्तिवादी दर्शन पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "उसके सिद्धान्त मे राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी उसका मूलाधार पूर्ण रूपेण व्यष्टिवादी है। यह सब मनुष्यो की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है जितना मिल्टन अथवा किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने बल दिया है। हॉब्स ने सर्वशक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियो के समुदाय मे तर्क संगतिरीति से निकालने के लिये अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल व्यक्ति के साथ व्यक्ति का समझौते से जन्म ग्रहण करता है।"

उपयोगितावादी (Utilitarianism)—हॉब्स के विचारो मे बैंथम को उपयोगितावाद की झलक दिखाई दी। बैंथम ने कहा कि हॉब्स ने मानव को प्राकृतित एक स्वार्थी प्राणी बताया है। वह स्वार्थी होने के कारण निश्चय ही वही कार्य करता होगा जिससे उसे लाभ प्राप्त होने की आशा हो। इस प्रकार हॉब्स द्वारा प्रतिपादित मनुष्य-स्वभाव से उपयोगितावादी है। *यह उन्ही कार्यों को करना पसन्द करता है जो* उसे लाभप्रद दिखाई देते हैं। वेपर के शब्दो मे 'हाब्स प्रथम आधुनिक विचारक है *जिसने राज्य के हितकारी स्वरूप का दर्शन किया। इसमे वह उपयोगितावादियो के* आगे चलने वाला है।" "[Hobbes is the first modern thinker to view *the State as conciliator of interest In this he is the forerunner of the* utilitarians."—Wayper.]

सहायक पुस्तकें

Dunning . A History of Political Theories (From Luther to Montesque)

Foster . Masters of Political Theory

Gooch Political Thought in England (From Bacon to Halifax)

Sabine A History of Political Theory

Suda A History of Political Thought

Vaughan Hobbes, Locke & Rousseau

Wayper A History of Political Thought

Hobbes . Leviathan

Gupta & Chaturvedi पाश्चात्य राज दर्शन का इतिहास

-Varma S C पाश्चात्य राज दर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. 'हॉब्स ने मानव प्रकृति का सर्वथा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। समालोचना कीजिए।

२. 'प्राकृतिक अवस्था मे मानव जीवन एकाकी, निर्धन, तुच्छ, जंगली और अल्प था।' इस कथन के आधार पर हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था की भयानकता का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।

३. हॉब्स के समझौता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

४ हॉब्स मैकियावेली के समान अपनी मातृभूमि के हित के लिए सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना आवश्यक समझता था। व्याख्या कीजिए।

५. हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए।

६. व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हॉब्स की धारणा स्पष्ट कीजिए।

७. 'हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार रूसो की सामान्य इच्छा का आधार है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

८. हॉब्स, लॉक, रूसो के अनुबन्धवादी विचारों की तुलना कीजिए।

६ हॉब्स का सर्वश्रेष्ठ शासन से क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट कीजिए।

१०. हॉब्स तथा लॉक के राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में क्या विचार हैं ?

अध्याय ६

जान लॉक

(John Locke)

[१६३२ से १७०४]

"Happiness and misery are the two great springs of human action." —*Locke*

जान लॉक आधुनिक स्वतन्त्रता की धारणा, सम्पत्ति की सीमाओ की व्याख्या और राज्य की सम्प्रभुता नागरिको मे निहित होने, सीमित एव वैधानिक राजतन्त्र तथा वर्तमान युग के प्रजातन्त्र का प्रथम समर्थक था। उसने राजनीतिक विचार जगत मे उस समय प्रवेश किया था जब समझौता सिद्धान्त राज्य की दैवीय शक्ति का खडन करने का माध्यम बना हुआ था। लॉक ने हॉब्स की भाँति इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अपना मन्तव्य स्पष्ट करने की चेष्टा की और मूलत वह हॉब्स से भिन्न हो गया। हॉब्स का लक्ष्य यदि निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करना था, तो लॉक राजतन्त्र की निरंकुश शक्तियो का विरोधी, और इंगलिश चरित्र का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करते हुए जनता की सहमति को शासन का आधार मानता था।

जीवन परिचय

(Life Sketch)

जान लॉक का जन्म समरसेट के रिंगटन नामक स्थान पर इंगलैण्ड मे २९ अगस्त १६३२ को हुआ था। उसके पिता मध्यवर्गीय परिवार के एक क्लर्क थे जो काउण्टी आफ जस्टिसेज मे कार्य करते थे। उन्होने गृहयुद्ध के घुडसवार सेना मे कैप्टेन पद पर कार्य किया था। यद्यपि इस युद्ध मे उन्हे भारी क्षति हुई थी, लेकिन फिर भी पुत्र को उन्होने उच्च शिक्षा दिलाने मे कसर नही छोडी। लॉक ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। अध्ययन काल मे डेस-कार्टेज (Descartes) की रचनाओ ने दर्शन और आध्यात्म की ओर तथा राबर्ट बौयल (Robert Boyle) की मित्रता ने प्राकृतिक विज्ञान की ओर आकर्षित किया। सन् १६५९ मे लॉक की प्रतिभा सम्पन्नता के कारण उसे आक्सफोर्ड मे ही अध्यापन कार्य मिल गया और वह १६८४ तक इस पद पर रहा। उसकी रुचि औषधि एव चिकित्सा विज्ञान की ओर थी, परन्तु उसे दौतिक कार्य करना पडा और विशेष राजदूत के कार्यालय मे वह सचिव बन गया। इस अल्प अनुभव के बाद पुन वह इंगलैंड लौट आया और एन्थौनी आसले (बाद मे अर्ल आफ शाफ्टसबरी) के परिवार

का चिकित्सक हो गया। १६७२ में शाफ्ट्सबरी के लार्ड चान्सलर हो जाने पर सेक्रेटरी आफ प्रेजेन्टेशन और बाद में सेक्रेट्री टू दी काउन्सिल आफ ट्रेड एण्ड फौरेन प्लाण्टेशन के पद पर कार्य करता रहा। सन् १६६८ में वह रॉयल सोसाइटी के लिये चुना गया।

प्रशासकीय उत्तरदायित्व से मुक्त होने पर १६७५ में फ्रान्स गया और वहाँ ४ वर्ष तक भ्रमण करता रहा। वापिस आने पर वह क्रान्ति तक इंगलैंड में ही रहा। चार्ल्स के अपदस्थ हो जाने पर वह हालैंड चला गया और वहाँ विलियम आफ औरेन्ज की योजनाओं में सहायता देता रहा। यहीं उसकी बौद्धिक प्रतिभा विभिन्न रचनाओं के रूप में प्रकट हुई।

सन् १६९५ में उसने प्रेस की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण योग दिया और १६९६ में मुद्रा स्थिर कराने में सहायता दी तथा रिकोइनेज ऐक्ट पास कराया। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसका सम्पर्क सर आइजक न्यूटन से हुआ। लॉक क्षय रोग से पीड़ित था। उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। अत. वह एसेक्स के ओट्स नामक स्थान पर चला गया। वहीं २८ अक्टूबर, १७०४ को उसकी मृत्यु हो गई। उसके जीवन के सम्बन्ध में उसकी घनिष्ठतम मित्र लेडी मेशम ने अपने उद्गार प्रकट करते हुये कहा कि 'उसकी उच्चता से अधिक कल्पना भी मनुष्यों के लिये असम्भव है।'

लॉक की रचनाएँ
(Works of Locke)

लॉक ने अपने विचारों को निम्न रचनाओं में प्रस्तुत किया—

(१) लेटर कन्सर्निंग टॉलरेशन (Letter Concerning Toleration, 1689)

(२) ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग (Essay Concerning Human Understanding, 1690)

(३) टू ट्रीटाइज आन सिविल गवर्नमेंट (Tow Treatises on Civil Government, 1690)

(४) सैकिण्ड लेटर आन टॉलरेशन, १६९०)

(५) थर्ड लेटर आन टॉलरेशन, १६९१

(६) सम थॉट कन्सर्निंग एजूकेशन (Some Thoughts Concerning Education, 1693)

लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि
(Groundwork of his Thoughts)

लॉक के विचार उदारतावादी वातावरण में पनपित हुये थे। परिवार में उसके पिता का व्यवहार मित्र जैसा था। बाहर मित्र उदार, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे। उसके स्वामी शाफ्ट्सबरी तक का व्यवहार बहुत ही प्रेम पूर्ण था। उस समय इंगलैंड में प्यूरिटन तथा ह्विग विचार धाराओं का प्रचलन था। धार्मिक उदा-

सना आदि की स्वतन्त्रता को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी और राज्य की शक्ति के दैवीय आधार का लोप हो चुका था। एंग्लीकन चर्च के प्राधान्य में उदार मस्तिष्क अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता और धार्मिक स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहे थे। सन् १६८८ के ऐक्ट आफ सेटिलमेंट में उसका विश्वास जनता की सहमति के शासन में हो गया। उसने देखा कि अन्तिम दो स्टुअर्ट राजाओं की नीति से असन्तुष्ट विशिष्ट जनों ने उसकी शक्ति को सीमित कर दिया। राजा और संसद दोनों ही जनता के प्रति उत्तरदायी हैं और उनकी शक्तियाँ नैतिक तथा वैधानिक उपबन्धों से सीमित हैं। रक्तहीन राज्य क्रान्ति द्वारा संसद ने विलियम और मेरी को सिंहासनारूढ़ किया इससे लॉक को यह आभास हुआ कि शासन जनता की सहमति पर बनता है। शासक की शक्ति मानवीय समझौते में निहित है और उसे जनता के सुख और हित के लिये प्रयोग करना शासक का कर्त्तव्य है। हूकर तथा सिडनी के इस जनप्रिय सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार लॉक को प्रेरणा दे रहे थे अतः लॉक क्रान्ति के समर्थक के रूप में राजतन्त्र की निरंकुश शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने का पक्ष प्रतिपादित कर व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अनुयायी बन गया।

राज्य की उत्पत्ति
(Origin of State)

समझौता सिद्धान्त के अन्य समर्थकों की तरह लॉक ने राज्य की उत्पत्ति पर दो भागों में विचार किया, समझौता होने और राज्य की उत्पत्ति से पूर्व निश्चय ही एक अवस्था ऐसी रही होगी, जब राज्य नहीं था। (यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो समझौते द्वारा राज्य का उद्भव असम्भव होगा) यह राज्य विहीन या अराजक अवस्था 'प्राकृतिक अवस्था' के नाम से जानी जाती है। यह इस बात का प्रतिनिधित्व करती है कि एक अवस्था में मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। दूसरा भाग वह है जिसमें मनुष्य समझौते द्वारा इस प्राकृतिक अवस्था का परित्याग कर राज्य की स्थापना कर लेता है। लॉक ने हॉब्स के समान अपने विचार प्राकृतिक अवस्था और मानव स्वभाव से प्रारम्भ किये।

मानव स्वभाव (Human Nature) लॉक ने अपने विचारों का आरम्भ मानव स्वभाव की विवेचना से किया। हॉब्स ने कहा था कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट, युद्ध लोलुप, स्वार्थी एवं जंगली है। लॉक ने इसके विपरीत मानव स्वभाव का दूसरा पक्ष चित्रित किया और मनुष्य को श्रेष्ठ शान्तिप्रिय, स्नेही, दयालु सहयोगी एवं सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी बताया। उसने कहा कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य का आधार इच्छा (desire) है। मनुष्य की सदैव यही इच्छा रहती है कि वह उन कार्यों को करे, जिनसे उसकी पीड़ा दूर हो और आनन्द प्राप्त हो। मानव स्वभाव को दुःखों का निवारण और सुख की खोज करने की इच्छा 'सुखवाद' और बेंथम के उपयोगितावाद का आधार है लॉक के शब्दों में, "वह इच्छा जो हमें आनन्द प्रदान करती है, उसे हम अच्छा कहते हैं जो इच्छा पीड़ा पहुँचाती है, उसे हम बुरा कहते हैं।" (What has an apotress to produce pleasu.e in us is what we call good anJ what is apt to produce pain in us we call evie.")

मनुष्य के इस स्वभाव में लॉक ने नैतिकता का पुट दिया। उसने कहा कि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, विभिन्न समुदायों की नैतिकता पृथक्-पृथक् होती है। एक

स्थान पर किसी समुदाय की नैतिकता दूसरे स्थान पर अनैतिकता समझी जाती है। मनुष्य केवल आनन्द प्राप्त करने की इच्छा करता है उन्हें वही कार्य करने चाहिये जो अधिकतम सामूहिक प्रसन्नता प्रदान करें। कार्यों की अच्छाई-बुराई का मापदंड जनता की सामूहिक प्रसन्नता में परिलक्षित होता है। इस प्रकार लॉक मानव-स्वभाव के नैतिक पहलू पर विचार करता है। हॉब्स ने नैतिक-अनैतिक का भेद नहीं माना था। लॉक ने मनुष्य स्वभाव में परस्पर प्रेम की भावना का दर्शन किया और बताया कि मनुष्य अपने आपको जितना प्यार करता है उतना ही वह अन्य व्यक्तियों को भी प्यार करता है। प्रेम की यह भावना उन्हें एक परिवार के सदस्यों के समान सहयोग की इच्छा उत्पन्न करती है। प्रेम उनमें समानता की भावना जगाता है। प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा होती है कि अन्य व्यक्ति उससे प्रेम करें, यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब वह अन्य मनुष्यों के प्रति यही प्रेम प्रदर्शित करे। यह मनुष्यों को परस्पर समान बना देता है। प्रकृतित उनमें स्वामी और सेवक का भेद न होना भी समानता का लक्षण है।

प्राकृतिक अवस्था
(State of Nature)

लॉक ने समझौता सिद्धान्त का उद्भव प्राकृतिक अवस्था से प्रारम्भ किया। लॉक से पूर्व हॉब्स प्राकृतिक अवस्था को अराजक, पाशविक, अव्यवस्थित, असामाजिक बता चुका था, लेकिन लॉक ने हॉब्स की इस विचारधारा को अस्वीकार किया और बताया कि प्राकृतिक अवस्था राज्यविहीन अवश्य थी, समाज विहीन नहीं। प्राकृतिक अवस्था में राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी लेकिन सामाजिकता की भावना विद्यमान थी। डनिंग के अनुसार, "लॉक द्वारा कल्पित प्राकृतिक अवस्था राज्य से पूर्व की थी, समाज से पूर्व की नहीं। यह अवस्था परस्पर संघर्ष की पाशविक अवस्था नहीं थी, इसमें शान्ति एवं विवेक का आधिपत्य था।" ('The state of nature as corceived by Locke is prepulitical rather than a pre-social condition. It is not a state in which peace men live in brutish reciprocal hostility but one in which and reason prevail.")

यह अवस्था शान्ति पूर्ण थी और उसे हम हॉब्स की युद्धरत अवस्था नहीं कह सकते। युद्ध एवं मारकाट में मनुष्य उसी समय भाग लेता है जब वह विवेक संचालित मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। युद्ध की अवस्था प्राकृतिक और सामाजिक अवस्था सभी हो सकती है क्योंकि जब भी विवेक के पथ से भ्रष्ट होकर कोई व्यक्ति किसी के जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति पर हस्तक्षेप करेगा, युद्ध अनिवार्य हो जाता है। प्रो० लास्की ने युद्ध का कारण मनुष्य का विवेकच्युत होना बताया और कहा कि "उस अवस्था में युद्ध या हिंसा हो सकती थी; लेकिन यह तभी होता था जब मनुष्य अपने चरित्र के लिए अनिवार्य विवेक को त्याग देता था।"

लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था "शान्ति सद्भावना, परस्पर सहयोग और सुरक्षा की अवस्था" थी। ("The State of Nature is one of 'peace' good will, mutual assistance and preservation.") यह अवस्था शान्ति पूर्ण थी क्योंकि व्यक्ति अपने विवेक द्वारा जहाँ तक हो सकता था, झगड़ा आदि नहीं करता था। मनुष्य अपने स्वभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति के साथ उतना ही प्रेम करता था जितना वह अपने प्रति रखता था। इसका परिणाम यह

होता था कि मनुष्यों मे परस्पर सद्भाव रहता था और वे परस्पर सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे "प्राकृतिक अवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुरक्षा के प्रति पूर्णसचेष्ट रहता था, लेकिन अपने प्रति अधिकार तथा अन्य व्यक्तियो के प्रति उसके कर्त्तव्य इतने पूर्ण थे जितने शासन मे। (In the state of nature every man must protect his own as best he can but his right to his own and his duty to respect what is another's are as complete as ever they can become under government ")

इस अवस्था मे स्वतन्त्रता का साम्राज्य था। मनुष्यो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त था, उन्हे मर्यादित स्वतन्त्रता नही थी, प्रत्येक व्यक्ति वहाँ कार्य करने के लिये स्वतन्त्र था जिसे वह उपयुक्त समझता था। परन्तु यह स्वेच्छाचारिता भी नही थी क्योंकि प्राकृतिक विधियाँ और विवेक अनुचित कार्यों पर प्रतिबन्ध का कार्य करते थे। कोई अन्य प्राणी उनकी स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने की सर्वोच्च शक्तियाँ भी नही रखता था। मनुष्यो को अपने तथा अपनी वस्तुओ के सम्बन्ध मे निरपेक्ष स्वतन्त्रता थी, लेकिन वह अपने आपको नष्ट करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था।

इस अवस्था मे प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करती थी। मनुष्य की सबसे बड़ी इच्छा अपने जीवन को बनाये रखने की होती है, जो विवेक के आदेशो का पालन करने से पूरी होती है। यही प्राकृतिक विधि है। व्यक्ति प्राकृतिक विधियो के आदेशो का पालन करता चला जाय तो वह स्वतन्त्र रह सकता है। यह प्राकृतिक विधियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नही होती। इस प्रकार दासता भी प्राकृतिक विधियो का उल्लघन करने मे ही होती है। प्राकृतिक विधि या विवेक प्रत्येक मनुष्य को समान बना देती है और उन्हे यह बताता है कि किसी भी मनुष्य के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता और सम्पत्ति को हानि नही पहुँचानी चाहिये। प्राकृतिक विधियाँ अनेको अधिकारो को जन्म देती है इनमे से प्रमुख है जीवन स्वतन्त्रता और संपत्ति का अधिकार। लॉक के अनुसार, 'प्राकृति ने मनुष्य को एक शक्ति प्रदान की है कि वह अपनी सम्पत्ति—जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को सुरक्षित रखे। इसमे कभी-कभी स्वास्थ्य भी सम्मिलित कर लिया जाता है।" ("Man hath by nature a power to preserve his property-that is his life, liberty and estate""on the other hand the phrase is some times expanded to include 'health." Locke, Quoted by Dunning, Footnote, p. 346) प्राकृतिक अधिकार समानता, स्वतन्त्रता सम्पत्ति आदि के अधिकार थे। प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप मे सम्पत्ति रखने का अधिकार था। प्राकृति की प्रत्येक वस्तु पर व्यक्तियो का समान अधिकार होता था। जैसे ही कोई व्यक्ति अपना श्रम किसी वस्तु मे लगा देता, वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती थी। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य के कर्त्तव्य भी थे। उन्हे व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि रखने की प्रेरणा विवेक द्वारा ही प्राप्त नही होती थी वरन् उन्हे अन्य व्यक्तियो की सम्पत्ति आदि को सुरक्षित रखने के कर्त्तव्य भाव से भी प्रदान करती थी। यह प्राकृतिक अवस्था अधिकारो और कर्त्तव्ययुक्त होने के कारण नैतिक और सामाजिक थी। यह शान्तिपूर्ण, सहयोग पर आधारित, अवस्था थी जिसमे मनुष्य अपने विवेक के अनुसार उचित-अनुचित आदि पर विचारपूर्वक कार्य करते थे।

समझौते के कारण
(Causes of the Contract)

प्राकृतिक अवस्था शान्तिप्रद और सुख सम्पन्न थी, फिर मनुष्यों ने उसे त्यागने के लिये क्यों प्रयत्न किये। लॉक ने इस सम्बन्ध में तीन कारण बताये हैं जो समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर राज्य की स्थापना में सहायक हुये—

(१) सुव्यवस्थित विधि की आवश्यकता (Need for established settled Law)—प्राकृतिक अवस्था युद्ध की अवस्था नहीं थी फिर भी उसमें पूर्ण सुरक्षा का अभाव था। मनुष्य के कर्त्तव्यों का संचालन विवेक एवं प्राकृतिक विधियाँ करती थीं, लेकिन प्रत्येक का विवेक एवं बुद्धि समान नहीं होती थी और परस्पर विरोधी हित संघर्ष का कारण बन जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं प्राकृतिक विधियों की व्याख्या करता था, उनके विभिन्नता पूर्वक न्याय को क्रियान्वित करने के ढंग जीवन को अनिश्चित बनाते थे और भ्रामक होते थे। अत: एक ऐसी विधि की आवश्यकता होती थी, जो निश्चित हो और व्यक्तियों की रक्षा करने में समर्थ हो। अतः एक लिखित, सुस्पष्ट और सर्वमान्य विधि की आवश्यकता ने व्यक्तियों को प्राकृतिक अवस्था त्याग कर नागरिक समाज की स्थापना के लिये विवश किया।

(२) निष्पक्ष एवं निश्चित न्यायाधीश की आवश्यकता (Want of a known and indifferent Judge)—प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति विधियों की अपने अनुसार व्याख्या करने के लिये स्वतन्त्र था। जिसे निर्णय करना होता था, वह अपने सम्बन्धियों और परिचितों के हित में फैसला देते थे। अतः एक निष्पक्ष एवं निश्चित न्यायाधीश की आवश्यकता प्रतीत होती थी जो सभी व्यक्तियों के लिये पूर्णतया निष्पक्ष होकर विधियों के अनुसार न्याय किया करे। अपराधी को अपना सम्बन्धी होने पर भी दण्ड देने वाली शक्ति की आवश्यकता थी।

(३) निर्णय क्रियान्वित करने के लिये कार्यपालिका की आवश्यकता (Want of executive power to enforce just decision)—प्राकृतिक अवस्था में न्याय को क्रियान्वित करने वाली शक्ति का अभाव था। अक्सर यह परेशानी होती थी कि घोषित अपराधी को दण्ड नहीं दिया जा सकता था। दण्ड देने के लिये व्यक्ति को अपनी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता था। अपराधी से निर्बल होने पर दण्ड को क्रियान्वित करना कठिन था, अत. एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो निश्चित विधियों के अनुसार किये गये न्याय को अपनी शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों पर समान रूप से क्रियान्वित कर सके।

इस प्रकार लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था उपर्युक्त असुविधाओं के कारण असह्य हो गई और मनुष्यों ने उससे छुटकारा पाने के लिये एक समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की जो व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कर्त्तव्य सम्पादित कर सके।

राज्य की स्थापना
(Establishment of the State)

प्राकृतिक अवस्था से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य समझौता करता है। इस समझौते का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। सर्वप्रथम व्यक्ति परस्पर

आपस मे समझौता करते हैं और नागरिक समाज (Civil Society) की स्थापना करते हैं। इस समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ समझौता करता है और अपनी सम्पत्ति—व्यापक अर्थ मे जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पति को बाह्य तथा आन्तरिक खतरो से सुरक्षित रखने का आश्वासन देता है। इस नागरिक समाज की स्थापना के समझौते द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकारो को क्रियान्वित करने का अधिकार छोड देता है और शेष अधिकार अपने पास मौलिक अधिकार के रूप मे रखता है। इन अधिकारो का समर्पण भी किसी एक व्यक्ति को नही किया जाता वरन् यह सम्पूर्ण व्यक्तियो को सामूहिक रूप मे सौंपे जाते हैं। समझौते का दूसरा भाग वह है जहाँ समाज शासन की स्थापना करता है। यद्यपि लॉक ने इस प्रकार दो समझौतो का स्पष्ट वर्णन नही किया है लेकिन उसके विचारो मे समाज एव शासन दो भिन्न वस्तुएं हैं। इसका दर्शन उस समय होता है जब शासन के प्रति विद्रोह करके सरकार परिवर्तित कर दी जाती है और समाज फिर भी बना रहता है। यह समझौते का सामाजिक स्वरूप ही है जो सर्वप्रथम व्यक्तियों के परस्पर समझौते द्वारा एक समाज का निर्माण करता है और समाज एक राजनीतिक शक्ति—शासन से समझौता करता है और उसे सार्वजनिक हित के लिये शासन करने को अनुबन्धित करता है। सामूहिक हित के विपरीत शासन करने पर सरकार के हाथो मे सत्ता वापिस ले ली जाती है और उसे नव सस्थापित सरकार को सौंपा जा सकता है।

लॉक के समझौता सिद्धान्त की विशेषतायें

(१) दो समझौतों का आभास (Reflection of two contracts)—लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते मे दो समझौतो का आभास होता है। हॉब्स ने केवल एक ही समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बताई थी। लॉक ने स्पष्ट रूप मे दो समझौतो पर प्रकाश नही डाला, परन्तु उसके विचारो से यह आभास होता है कि सर्वप्रथम व्यक्तियो ने आपस मे मिल कर एक समझौते द्वारा समाज की स्थापना की। इस समाज ने राज्य या शासन की स्थापना के लिये दूसरा समझौता किया।

(२) समझौता सर्वंव मान्य है (Contract is always enforceable)—समझौता एक बार हो जाने पर भग नही किया जा सकता, मनुष्य समझौता भग कर पुन: प्राकृतिक अवस्था मे नही लौट सकते। इस समझौते को हस्ताक्षरकर्त्ताओं की प्रत्येक पीढ़ी को स्वत ही मानना पड़ेगा। बच्चा इस ससार मे प्रवेश करते समय पूर्ण स्वतन्त्र होता है लेकिन शीघ्र ही उसे किसी न किसी समाज की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती है।

(३) समझौते द्वारा पूर्ण अधिकारों का निलम्बन नहीं (No abandonment of full rights)—लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते की तीसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था के सभी अधिकारो को नही त्यागते हैं, कुछ अधिकार मौलिक अधिकार के रूप मे वे अपने पास रखते हैं। वेपर के अनुसार 'यह समझौता कुछ अधिकार एव शक्तियो के समर्पण से अधिक नहीं है। इसके द्वारा मनुष्यों के शेष अधिकार सुरक्षित किये जाते हैं। यह हॉब्स की भांति सम्पूर्ण नही विशेष और सीमित है।" [Hence the contract is no more than a surrender of certain rights powers whereby man's remaining rights will be

protected and preserved. It is, then not general as with Hobbes, but limited and specific.]

समझौते के बाद भी प्राकृतिक विधियों का लोप नहीं होता। मनुष्य राज्य में भी पूर्व की भाँति उन विधियों का पालन करता है।

(४) राज्य जन कल्याण का साधन है (State is an end to welfare state)—राज्य का निर्माण जनता ने अपने हित की भावना से किया है। राज्य का कार्य "कानूनों का निर्माण करना, मृत्यु-दण्ड तथा अन्य छोटे दण्ड देने का प्रावधान करना, सम्पत्ति की रक्षा एवं व्यवस्था करना और समाज की शक्ति को इन विधियों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग करना, बाह्य संकटों से रक्षा करना और, यह सब जनता के हित के लिए करना है।" ["Political power, I take to be right of making Laws with penalties of deaths and consequently all less penalties, for the regularing and preserving of property, and of employing the force of community in the execution of such laws, and in the defence of common wealth from foreign injury, and all this only for the public good."]

इस प्रकार लॉक राज्य को जन-कल्याण करने वाली एक मशीन या साधन बना देता है।

(५) राज्य सहमति पर आधारित है (State based on consent)—राज्य का निर्माण मनुष्यों की सहमति द्वारा होता है। राज्य दबाव या शक्ति पर आधारित रचना नहीं है वरन् सभी व्यक्तियों ने मिलकर अपनी सहमति से उसका निर्माण किया है। इस सहमति में यदि कुछ व्यक्ति योग नहीं देते हैं या अल्पमत में रह कर उसका विरोध करते हैं, उन्हें भी बहुमत की इच्छा का पालन करना पड़ता है। प्रो० डनिंग के अनुसार "बहुमत की इच्छा अल्पमत को भी विवश करता है, यह अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना निगमात्मक आदेश देना असम्भव होगा, दूसरे, समझौते में बहुमत के प्रति समर्पण करना निहित है।" ["That the will of the majority must bind the minority he regards as demonstrable both on ground of sheer necessity, since without such rule corporate action will be impossible, and on the ground of contract, the agreement to submit to the will of the majority being an element in the social pact."]

(६) राज्य संवैधानिक रचना है (State is contributional structure)—राज्य में मनुष्य नियमों द्वारा शासित होते हैं। समझौते द्वारा किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के आदेशों का पालन करने के लिए मनुष्य बाध्य नहीं होते, क्योंकि व्यक्ति की इच्छा अनिश्चित, स्वच्छन्द अज्ञात होती है जो राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं कर सकती। अतः शासन "निर्धारित नियमों द्वारा, जो जनता के लिये बनाये गये एवं ज्ञात हों, होना चाहिए।" लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि शासक संकट काल में अपनी विवेकीय शक्तियों के प्रयोग से वंचित रहे।

(७) राज्य निरंकुश नहीं होता (State is not absolute)—लॉक के राज्य की एक विशेषता यह है कि राज्यसत्ता निरंकुश होने के स्थान पर सीमित होती है। राज्य की शक्तियों का स्रोत जनता है, जो न्यास के रूप में अपनी शक्तियाँ

शासन को सौंप देती है। शासन जनता के कल्याण के लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं हो सकता। समाज प्रन्यास (Trust) कर्त्ता और उससे लाभ उठाने वाला दोनों ही है। समाज ने प्रन्यास से लाभ उठाने के कारण शासन से कोई समझौता नहीं किया, शासन के इस प्रकार जनता के प्रति एकमात्र कर्त्तव्य हैं। शासन द्वारा उनकी मान्यता यह स्पष्ट करती है कि उसने निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन न करने का आश्वासन दिया है।

(८) राज्य के प्रति विद्रोह का अधिकार (*Right to resist the state*)— लॉक के पूर्ववर्ती विचारकों —बोदाँ, हॉब्स और फिल्मर आदि ने निश्चित मानव सम्प्रभु के अनुदान द्वारा शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नागरिकों को नहीं दिया था। लॉक ने अपने समझौते की विशिष्टता एवं तत्कालीन जनविद्रोह के समर्थन द्वारा राज्यशक्ति का विरोध करने का अधिकार नागरिकों को प्रदान किया। *उसने समझौते द्वारा एक ऐसे राज्य की स्थापना की, जो जनता के हित के लिये,* जनता की सहमति से, विधियों के अनुकूल सीमित शासन करे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि शासक जनता के हित को विस्मृत करे या उसकी अनुमति के विपरीत कार्य करे या विधियों का उल्लंघन करते हुए स्वेच्छाचारी शासन करे तो जनता उस शासक को पदच्युत कर नवीन शासक नियुक्त कर सकती है। लॉक ने स्पष्टतया *सम्प्रभुता पर विचार नहीं किया परन्तु फिर भी शासन के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका* को सर्वोच्च स्वीकार किया और कहा कि वह निरंकुश नहीं हो सकता और उसकी शक्तियाँ व्यक्तियों द्वारा किये गये समझौते तक ही सीमित हैं। व्यवस्थापिका की शक्तियाँ जनता प्रदत्त हैं, वह उन्हें प्रन्यास के रूप में समझौते की शर्तों के अनुसार प्रयोग कर सकती है। प्रन्यास की मान्यताओं के विरुद्ध जाते ही सम्प्रभु जनता उसे अस्वीकार कर सकती है। लॉक के अनुसार 'समाज अपने पास सदैव सम्प्रभु शक्तियाँ रखता है जिसके द्वारा वह अपनी सुरक्षा किसी व्यक्ति या व्यवस्थापिका के जनता की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता के अपहरण के मूर्त और दुष्ट प्रयत्नों से करता है।" ["The community perpetually retains a supreme power of saving themselves from the attempts and desires of anybody even of their legislators whenever they shall be so foolish or so wicked as to lay and carry on desires against the liberties and properties of the subjects" — *Locke*]

लॉक के शब्दों में पुनः यह स्पष्ट होता है कि "व्यवस्थापिका को हटाने या बदलने की सर्वोच्च शक्तियाँ जनता के पास निहित होती है, जब वह उसे प्रन्यास के विरुद्ध कार्य करते देखती है।" यह परिवर्तन किस प्रकार किया जाय, इस प्रश्न पर लॉक ने बहुमत की इच्छा को ही निर्णायक बताया। शासन शक्तियों के अपहरण की चेष्टा विशेष राज्य के प्रति जनता के विद्रोह का व्यावहारिक रूप है। इसे लॉक ने 'अपील टु हैवेन' (Appeal to Heaven) कहा है। उसने बताया कि जनता को शासन के प्रति विद्रोह के अधिकार को उसी समय प्रयोग करना चाहिये जब शोषण एवं दबाव असह्य हो जाय और जनता के *अधिकांश भाग को विद्रोह करना ही पड़े।*

(९) राज्य की सुधारक और सहनशील प्रकृति (State's reformative *nature*)—*समझौते द्वारा उत्पन्न राज्य सहनशील और सुधारक प्रकृति का होता है।* वह जहाँ तक हो सकता है विभिन्नता युक्त प्राणियों के अनेकानेक विचारों को सहन करता है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति के स्वार्थी स्वरूप को परिवर्तित कर उसे जन-

हितार्थ कार्यों की ओर प्रोत्साहित करता है। राज्य मनुष्य के चरित्र को परिवर्तित नहीं करता वरन् उन्हें स्वार्थों से विमुख कर सर्व कल्याणकारी और सबकी प्रसन्नता बढाने वाले कार्यों की ओर उन्मुख करता है।

व्यक्ति को सार्वजनिक प्रसन्नता बढाने वाले कार्य करने का प्रोत्साहन, राज्य अपरोक्ष रूप मे, दण्ड द्वारा देता है। यदि व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करता है जिससे समाज की प्रसन्नता मे बाधा पडती है तो राज्य दण्ड के दबाव से उसे अपना इरादा बदलने के लिए विवश करता है।

(१०) शक्ति का पृथक्करण (Separation of Power)—लॉक प्रथम इंगलिश दार्शनिक है जिसने मॉण्टेस्क्यू के शासन शक्ति के पृथक्करण का मार्ग प्रशस्त किया। प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए तीन ऐसे कारण थे, जिनसे त्रस्त होकर व्यक्तियो ने समझौता किया और राजनीतिक समाज की स्थापना की। प्राकृतिक अवस्था मे स्पष्ट, निश्चित विधियो और उनकी व्याख्या करने वाली संस्था का अभाव था। साथ ही कोई ऐसी सस्था भी नही थी जो इन विधियो के उल्लंघनकर्त्ताओ को दण्ड दे सके, और इनके अतिरिक्त इस दण्ड को क्रियान्वित करने वाली शक्ति भी नही थी। समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की गई जो इन कमियो को पूरा करती थी। प्रथम, व्यवस्थापिका के रूप मे एक ऐसी संस्था का निर्माण किया गया जो व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित करने के लिए विधियों का निर्माण करे। यह अग सम्प्रभु सत्तावेष्ठित था जो यदा-कदा सम्पूर्ण सदस्यो सहित सामूहिक रूप मे विधियो का निर्माण करता था। जनता इन प्रतिनिधियो का निर्वाचन करती थी और यह लोग जनता के हित को ध्यान मे रखते हुए विधियाँ बनाते थे। दूसरा अंग कार्यपालिका है, जो व्यवस्थापिका निर्मित विधियो का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियो को दिये गये दण्ड को क्रियान्वित करती थी। इन दोनों अंगो के कार्यों की प्रकृति अलग-अलग होती है और उनके प्रयोगकर्त्ताओं की योग्यतायें भी अलग-अलग होती हैं। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका को निरन्तर अपने कर्त्तव्य पालन मे संलग्न रहना पड़ता है। अतः दोनो शक्तियाँ अलग अंगों को सौंपी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि विधि निर्माता ही, उन्हें क्रियान्वित भी करेंगे तो वे अपने आप को विधियो से ऊपर समझकर उनका पालन नही करेंगे, अपने को सम्पूर्ण समाज से पृथक समझ कर, विधियों का निर्माण एवं संचालन अपनी इच्छाओ के अनुसार करेंगे। इसलिए दोनो शक्तियाँ पृथक् व्यक्तियो को प्राप्त होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लॉक ने शासन का तीसरा, अग 'संघात्मक' (Federation) बताया है। इसका कार्य अन्य राज्यों या समाज के मुकाबले अपने समाज के और व्यक्तियों के हित की रक्षा करना है। यह युद्ध, शान्ति, एवं सन्धियाँ आदि करता है। लॉक की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अनुपम महत्त्व था। वह कार्यपालिका को ही विदेशी राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने का कार्य नहीं सौंपना चाहता था, क्योंकि उनकी प्रकृति भी भिन्न है। लॉक का विचार था कि वैदेशिक नीति के निर्माण, क्रियान्वयन और नियन्त्रण की विशेष समस्यायें होती हैं। इनको कार्यपालिका के निर्धारित नियमों द्वारा प्रयोगान्वित नही किया जा सकता। साथ ही उसे यह भी अनुभव था कि व्यवहार मे इस विभाग का पृथक्करण उचित नहीं होगा।

व्यवस्थापिका के सर्वोच्च सत्ताधारी स्वरूप के आधार पर शासनतन्त्रों का विभाजन लॉक ने इस प्रकार किया। जब सम्पूर्ण जनता विधि निर्माण की शक्तियाँ

अपने हाथों मे रखती है, उस शासन को प्रजातन्त्र कहते हैं। यही शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों के हाथों में होने से शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है, और एक व्यक्ति जब *विधि निर्माण की सर्वोच्च सत्ता रखता है, उसे राजतन्त्र कहते हैं।*

लॉक का मूल्यांकन
(Locke's Estimates)

लॉक के राजनीतिक विचारो की आलोचना एवं सराहना दोनो ही की जाती है। आलोचक उसके समझौता सिद्धान्त की निन्दा करते हैं और प्रशसक उसके *अनुयायो की मुक्तकंठ से प्रशसा करते हैं।*

(१) **प्राकृतिक अवस्था एव मानव स्वभाव का त्रुटिपूर्ण चित्रण** (Wrong view of State of Nature and Human Nature)—लॉक ने मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का त्रुटिपूर्ण चित्रण किया है। मनुष्य न तो हॉब्स के विचारो *के अनुसार दुष्ट, स्वार्थी और हिंसक ही होता है और न ही लॉक के विचारो के अनु*कूल शान्तिप्रिय, सहयोगी ही होता है। यह दैत्य और देव प्रवृत्तियाँ मनुष्य मे मिली-जुली रहती हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था का लॉक द्वारा प्रस्तुत किया गया चित्र भी हॉब्स के समान मिथ्या और अनैतिहासिक है। अराजक अवस्था मे मनुष्य कभी शान्तिपूर्ण, सहयोग तथा नैतिक जीवन, लॉक की मान्यता के अनुसार, व्यतीत नहीं करता था। अत: लॉक ने जिस आधार पर अपने विचारो का भवन खड़ा किया है, वह त्रुटिपूर्ण है।

यदि हम यह स्वीकार भी करलें कि प्राकृतिक अवस्था लॉक के विचारो के अनुकूल ही रही होगी, तो मनुष्य वर्तमान राजनीतिक समाज मे प्रवेश करने के लिए उसे क्यों त्याग बैठा, यह समझ मे नही आता। उस समय शान्ति का साम्राज्य था, *सहयोग मनुष्यो के जीवन का आधार था, फिर उस अवस्था को त्यागना मनुष्य की* भूल ही कही जा सकती है।

(२) **सुखवाद का सार्वजनिक प्रसन्नता से प्रतिरोध** (Contradiction in individual and collective happiness)—लॉक ने मानव स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये बताया था कि व्यक्ति अपनी प्रसन्नता की इच्छा द्वारा *कार्यों का संचालन करता है। वह उन्ही कार्यों की इच्छा करता है जिससे उसे प्रस*न्नता प्राप्त होती है फिर किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के अपनी प्रसन्नता के लिए कार्य करने से सार्वजनिक प्रसन्नता बढ सकती है, पुन एक जटिल समस्या है।

(३) *सहमति की असंगति* (*Contradiction in consent*)—लॉक ने राज्य की उत्पत्ति व्यक्तियो की सहमति पर स्वीकार की है। प्रजातन्त्र और निरकुश अधिनायकतन्त्र दोनों ही सहमति पर आधारित होंगे। *अधिनायक अपने राज्य में असन्तुष्ट* व्यक्तियों के दमन और प्रचार द्वारा स्वीकृति प्राप्त करते रहे हैं। वर्तमान रूस में विरोध नहीं दिखाई देता है और प्रत्येक व्यक्ति शासन मे अपनी सहमति रखता है। इसके विपरीत भारत, अमरीका, इगलैण्ड आदि में असहमति अधिक दिखाई देती है, इन दोनों मे से कौन-सा शासन उपयुक्त होगा?

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विधियां और सहमति मे भी *विरोधाभास है।* प्राकृतिक विधि न्याय-अन्याय सभी को सहन करने की इच्छा अभिव्यक्त करती है

जबकि मनुष्य कभी भी दण्ड या अन्याय को अपनी सहमति से स्वीकार नही करता।

(४) सम्पत्ति का विरोधाभास (Contradiction of property)—सम्पत्ति के सम्बन्ध मे लॉक के विचार आधुनिक युग के लिये अनुपयुक्त दिखाई देते हैं। लॉक ने बताया था कि मनुष्य अपने श्रम द्वारा जिस वस्तु को प्राप्त करता है वह उसकी सम्पत्ति हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति अपने सेवक द्वारा कोई कार्य कराता है तो उसमे अर्जित सम्पत्ति पर स्वामी का ही अधिकार होता है। रिचि (Ritchie) ने इस सम्बन्ध मे बताया कि "मेरा घोडा और नौकर मेरे सम्पत्ति प्राप्त करने मे मेरे साथ ही श्रम करते हैं उसी तरह पूंजीपति मजदूर को नौकर रखकर जो कुछ उत्पन्न कराता है उस पर उसका पूरा अधिकार होगा। यह न्याय-संगत होगा।"

इसके अलावा लॉक के अनुसार राज्य की उत्पत्ति आवश्यकताओं की पूर्ति या नैतिक कारणों से नही होती है। लॉक के अनुसार राज्य की उत्पत्ति जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिये हुई है। यह राज्य की नैतिकता को स्वीकार नही करता।

(५) व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन (Chief exponent of Individualism)—लॉक के विचारों मे व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन पाया जाता है। उसने इंगलैण्ड के गृहयुद्ध मे पालियामेंट का पक्ष ग्रहण किया था। उसने सम्पत्तिशाली वर्ग के आर्थिक हितो को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। उसने प्राकृतिक अधिकारो की कल्पना द्वारा व्यक्तिवादी विचार प्रकट किये। उसने व्यक्ति की सम्पत्ति को सुरक्षित करने के लिये राजनीतिक समाज के निर्माण की व्यवस्था की। राज्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का साधन मात्र है और व्यक्ति साध्य। राज्य के निर्माण के लिए व्यक्ति अपने अधिकार और शक्तियो का समर्पण करते हैं लेकिन फिर भी व्यक्तिगत अधिकार शेष रह जाते हैं। व्यक्ति केवल कुछ अधिकार ही समाज को प्रदान करता है और शेष अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में अपने पास रखता है। राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता में बिना सहमति के हस्तक्षेप नही कर सकता। यदि राज्य व्यक्ति के इन मौलिक अधिकारो का अपहरण करेगा, तो वह व्यक्ति को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार देता है। लॉक के विचार इस तरह व्यक्ति के चारो ओर ही चक्कर लगाते हैं। उसके धर्म सहिष्णुता और शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त भी व्यक्तिवादिता का समर्थन करते है।

(६) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of separation of power)—लॉक ने शक्ति पृथक्करण के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये वे त्रुटिपूर्ण है। उसने बताया कि राज्य की उत्पत्ति तीन आवश्यकताओ के कारण हुई। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का अभाव ही प्राकृतिक अवस्था के त्यागने का कारण था। लॉक ने शक्ति पृथक्करण पर प्रकाश डालते हुए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका विभाग को पृथक् व्यक्तियों को सौंपने के लिये कहा, लेकिन न्यायपालिका के सम्बन्ध मे मौन रहा। कार्यपालिका विभाग के आवश्यक अंग विदेश विभाग को अलग कर एक पृथक विभाग बना दिया। जब कार्यपालिका

और विदेश विभाग अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा सचालित किये जायेंगे तो गृह और वैदेशिक अन्तर्निर्भर समस्याओ का भली भांति सम्पादन हो सकेगा।

(७) सम्प्रभुता की अस्पष्ट धारणा (Concept of sovereignty is not clear)—लॉक ने स्पष्टत सम्प्रभुता पर विचार नही किया है। उसने सर्वोच्च शक्तियाँ जनता और शासक को सौंपी है। एक ओर वह यह कहता है कि व्यवस्थापिका के पास सर्वोच्च शक्तियाँ होगी दूसरी ओर वह जनता को उसके प्रति विद्रोह करने का अधिकार देता है, यह किस प्रकार सम्भव है।

लॉक के समझौता सिद्धान्त एव विचारधाराओ की आलोचनाओ से उसका महत्व कम नही हो जाता। आधुनिक युग को उसके राजनीतिक विचारो के पर्याप्त अनुदाय हैं।

लॉक ने बैंथम को उपयोगितावाद का मार्ग प्रशस्त किया। उसने मनुष्य की इच्छाओ को उन कार्यो के करने के लिये जिनसे पीडा का निवारण या सुखों की प्राप्ति होती है, आधार बताया। बैंथम को आगे चलकर इसी विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त हुई और उपयोगितावाद का निर्माण किया।

लॉक व्यक्तिवाद का भी प्रबल अनुयायी था। उसने राज्य के साधन स्वरूप को पुष्ट किया और बताया कि वह व्यक्ति के हित के लिये बना है। यदि राज्य व्यक्ति के हित के विपरीत कार्य करे तो उसे (शासन को) बदला जा सकता है। यह विचार व्यक्तिवाद के आधार बने।

लॉक आधुनिक प्रजातन्त्र का अग्रदूत था। उसने शासन का आधार प्रजा की सहमति बताया। शासन को प्रजा पर कर लगाने, विधियाँ बनाने आदि के लिये उनकी अनुमति लेनी चाहिये। आधुनिक प्रजातन्त्र का निर्माण प्रजा की सहमति के शासन पर आधारित है। लॉक ने प्राकृतिक विधियो के सिद्धान्त द्वारा उसे सुविकसित किया। उसने कहा कि प्राकृतिक विधियाँ जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को सुरक्षित रखती हैं। प्रजातन्त्र उसी समय तक सफलतापूर्वक चलता है जब तक वह जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता को प्रतिफलित होने देता है।

मॉण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के बीज लॉक के विचारो मे निहित है। उसने इस विचारधारा का प्रतिपादन आधुनिक युग मे प्रथम बार किया मॉण्टेस्क्यू ने उसे विकसित किया और अमेरिका के सविधान निर्माताओ ने उसे प्रयोगान्वित किया।

लॉक ने धर्म सहिष्णुता का प्रतिपादन किया। उसने चर्च की परिभाषा करते हुये कहा कि "यह मनुष्यो का ऐच्छिक समुदाय जो उन्हें ईश्वरोपासना के लिये सगठित करता है जिससे उनकी आत्मा उसके सानिध्य मे मोक्ष प्राप्त करती है।" इस व्याख्या द्वारा राजनीतिक समाज और धर्म दो पृथक् समुदाय बन गये। दोनो का कार्य क्षेत्र अलग अलग है। राज्य को धर्म पर, धर्म को राज्य पर नियन्त्रण नही रखना चाहिये। प्रत्येक राज्य मे जिस विचारधारा के मानने वाले हों, उन्हें अपने विचारो के अनुसार धार्मिक कृत्य करने की अनुमति रहनी चाहिए। लॉक के इन विचारों को स्पिनोजा मिल्टन ने विकसित किया और आज लगभग विश्व के प्रत्येक राज्य मे धार्मिक सहिष्णुता दिखाई देती है।

सहायक पुस्तकें

Dunning	:	A History of Political Theories.
Gettle	:	History of Political Thought.
Sabine G. H	:	History of Political Theory.
Wayper	:	Political/Thought.
Suda J P	:	A History of Political Thought.
Laski	:	Political Thought in England. (From Locke to Bentham)
S Comnius and R Linscatt	:	The Political Philosophers.
गुप्ता और चतुर्वेदी		पाश्चात्य दर्शन का इतिहास
गणेश प्रसाद		राजनीतिक विचारधाराएँ
वर्मा एम० सी०	:	पाश्चात्य राज दर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. 'प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना, परस्पर सहयोग और सुरक्षा की अवस्था थी।' इस वक्तव्य के आधार पर लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था की व्याख्या कीजिए।

२. लॉक का अनुबन्धवाद स्पष्ट कीजिए।

३. '..क पूर्णतः सीमित राजतन्त्र का पोषक था।' यह कथन कहाँ तक सत्य है ?

४. 'लॉक पूर्णतः एक व्यक्तिवादी विचारक था।' सप्रमाण पुष्टि कीजिए।

५. लॉक का क्रान्ति के सम्बन्ध मे क्या दृष्टिकोण था ? हॉब्स और लॉक के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की तुलना करते हुए स्पष्ट करें।

६. हॉब्स और लॉक के मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौता सम्बन्धी विचारों की तुलना कीजिए।

७. हॉब्स और लॉक के सम्प्रभुता एवं प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारों की तुलना कीजिए।

८. लॉक व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद और प्रजातन्त्र का सफल अनुयायी है।' स्पष्ट करें।

९. लॉक के विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

अध्याय ७

रूसो

(Rousseau)

[१७१२ से १७७८]

"Rousseau was one of the leading figures in the so called romantic reaction which followed the age of enlightenment." —*Murray.*

जोन जैक्स रूसो राजनीति शास्त्र के उन महारथियों मे से एक है, जो अपने विचारों से युग को प्रभावित करते हैं तथा उनका प्रभाव देशकाल की सीमाओ को लांघकर समस्त विश्व को सदैव के लिए प्रभावित करता है। रूसो राजनीति शास्त्र का अद्वितीय प्रतिभाशाली विचारक था। उसके विचारो मे एक ओर व्यक्तिवादिता का तो दूसरी ओर अति निरकुशता का मिश्रण पाया जाता है। वोगन (Vaughan) उसे "राज्य का परम समर्थक और दूसरी ओर व्यक्ति का परम भक्त जो एक आदर्श को दूसरे पर न्योछावर करने मे सफल न हो सका" कहकर सम्मानित करता है। ("A stern assestor of the state on the one hand, a fiery champion of the individual on the other he could never bring himself wholly to sacrifice one ideal to the other.") रूसो न तो राजनीतिज्ञ था, न ही राजनीति का विद्यार्थी और न ही दार्शनिक, लेकिन उसकी अप्रतिम प्रतिभा ने उसे राजनीति शास्त्र के सम्माननीय विचारक का महत्व प्रदान किया। वह मनुष्य होने का दावा करने वाला विचारक था, वह बिगडे हुए बच्चे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रो० डनिंग उसे "बुद्धि का वरद पुत्र" कह कर पुकारते हैं। ("He was however a child of genius") उसे इस विशेषण से सम्मानित करना उचित ही है। उसने स्वतन्त्रता, सामान्य इच्छा, राज्य की सावयवी कल्पना को अपनी बौद्धिक प्रतिभा एवं लेखन शक्ति से सहज-बोधगम्य बना दिया।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

रूसो का जन्म स्विट्जरलैण्ड के जिनेवा नामक शहर मे २८ जून, सन् १७१२ को हुआ था। वह उन दुर्भाग्यशाली शिशुओ मे से था, जिन्हें पालने मे माता का दुलार नसीब नही होता। रूसो का पिता एक घडीसाज था। माता की मृत्यु के बाद पिता ने रूसो का लालन-पालन किया। पिता कठिन परिश्रम करते थे और उनकी आय भी कम थी। फलस्वरूप वह रूसो को पढाने लिखाने मे उचित ध्यान न दे सके। इस प्रकार बालक रूसो दो अभावो से ग्रस्त था—माता की सतर्क

देखभाल उसे प्राप्त न हो सकी और अधिक शिक्षा का अभाव रहा। वह अच्छा जीवन व्यतीत करने से वंचित रहा। पिता दिन भर के अथक परिश्रम से थकान मन को कहानियों से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। रूसो अपने पिता को सस्ती परन्तु रोमांचकारी कहानियाँ सुनाया करता था। कभी-कभी उनके इस शौक के कारण अबोध बालक को सारी रात जाग कर कहानियाँ सुनानी पड़ती थीं। उसके परिणाम स्वरूप उसके मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ा। उसका बचपन आवारा और लफंगे व्यक्तियों की संगति के कारण उन्हीं दिशाओं में ढल गया। दस वर्ष की अल्पायु में ही उसने नौकरी करना प्रारम्भ किया लेकिन कुसंगति के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया। रूसो ने चरित्रहीन जीवन बिताना शुरू किया, उसके चरित्र का अधःपतन हो गया। वह पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नौकरी की खोज में वेनिस गया। वहाँ उसे फ्रांस के दूतावास में नौकरी मिल गई। उसकी बुरी आदतों की वजह से यह नौकरी भी स्थाई न हो सकी और दो वर्ष की अल्पसेवा के बाद ही पृथक कर दिया गया। अब उसकी आर्थिक परेशानियों ने उसे आ घेरा और वह १७४८ में फ्रांस गया। इस समय तक वह दुश्चरित्र, मिथ्याभाषी, लम्पट और व्यभिचारी जीवन में पारंगत हो चुका था। फ्रांस के आवास काल में वह पेरिस की गन्दी और बदनाम गलियों में रहा और चरित्रहीन जीवन व्यतीत करता रहा। उसने अनेक स्त्रियों से अपना अनुचित सम्बन्ध स्थापित किया। उनमें से किसी से भी विवाह नहीं किया। एक असुन्दर स्त्री से उसका सम्बन्ध इतना बढ़ गया था कि उससे पाँच सन्तानें हुईं और रूसो ने उनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया।

रूसो के लम्पट, आवारा, बदचलन जीवन के विपरीत उसका प्रतिभाशील और दार्शनिक पक्ष भी है। उसका प्रतिभा सम्पन्न मस्तिष्क उसे साहित्यिक जगत की ओर ले गया। उसकी बुद्धि कुशाग्र थी, वह वातावरण का अध्ययन कर उसे लेखनी से प्रकट करने की क्षमता रखता था। १७४९ में उसने डिजान एकाडेमी की एक निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया उसे राजनीतिक और सामाजिक जीवन की कतिपय समस्याओं के निबन्ध पर सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त हुए। इस निबन्ध और पुरस्कार ने/उसकी ख्याति फैला कर, जनसामान्य के लिए एक प्रतिभाशाली साहित्यकार और दार्शनिक प्रकट किया। उसका दार्शनिक के रूप में प्रथम परिचय जीवन में परिवर्तनकारी घटना बन गया और वह समस्त यूरोप में एक विचारक, दार्शनिक और राजनीतिशास्त्री के रूप में विख्यात हो गया।

अब रूसो की लेखनी अबाध गति से सामाजिक परिस्थितियों पर निबन्ध रचना करने में संलग्न हो गई। उसके निबन्ध क्रान्ति के विचारों से परिपूर्ण होते थे। उसके विचारों के प्रतिनिधि ग्रन्थ एमील (Emile) और सोशल कान्ट्रैक्ट (Social Contract) हैं। १७६२ में इन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ और उसकी विचार शृंखला ने जनजीवन को नवीन क्रान्ति का सन्देश दिया। यह ग्रन्थ सामन्तीय शासन के विरुद्ध जनतन्त्रीय क्रान्ति के समर्थक थे। उसके इन विचारों के कारण उसका घोर विरोध हुआ। उसकी पुस्तकें जला दी गईं। उनके प्रकाशन पर रोक लगा दी गई। वह इतना अधिक अपमानित हुआ कि फ्रांस में उसका रहना असम्भव हो गया। फ्रांस छोड़ कर वह अपनी जन्मभूमि जेनेवा गया, लेकिन उसके क्रान्तिकारी विचारों के कारण स्विट्जरलैण्ड भी उसको शरण देने में असमर्थ रहा और

उसे जेनेवा छोड़कर जाना पड़ा। वह अपनी जीवन रक्षा के लिए इटली और जर्मनी में भागता रहा। उसके आलोचक और शत्रु उसे कहीं भी चैन से नहीं रहन देते थे और वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागता रहा। उसने अपने जीवन की त्रुटियों के सम्बन्ध में अन्तिम अवस्था में 'कन्फेसन्स एण्ड डायलोग' पुस्तक लिखी लेकिन उन्हें भी जब्त कर लिया गया। एक महान दार्शनिक साहित्यकार, राजनीतिशास्त्री, जनतंत्र का प्रणेता असहाय रूप में २ जुलाई १७७८ को प्रजातन्त्र का वरदान देकर चला गया।

तात्कालिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

रूसो के विचारों को भलीभाँति समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का ज्ञान होना जरूरी है। उस समय यूरोप की राजनीति में दो विरोधी विचारधाराओं ने आधिपत्य कर रखा था। सत्रहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण और अठारहवीं शती के प्रारम्भिक चरण में यूरोप विशेषतः फ्रांस में दो विचारधाराएँ थी। प्रथम वर्ग में वे विद्वान थे जो राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त और राजा के दैवीय स्वरूप का समर्थन करते थे। वह बुद्धि का प्रयोग किये बिना ही राजा की निरंकुश शक्तियों का अन्ध-विश्वास के आधार पर समर्थन करते थे। यह कहा जाता था कि राजा की शक्तियाँ ईश्वर प्रदत्त हैं, वह ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता है, उन शक्तियों का प्रयोग करने के लिए वह पूरी तरह से स्वतन्त्र है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके आदेशों का पालन करना चाहिये। सामंत अब भी बने हुए थे और वे सम्राट की कृपाकांक्षा के कारण विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। धनी और व्यापारी वर्ग इस शासन व्यवस्था से असन्तुष्ट था। मध्य और निम्न वर्ग की स्थिति ठीक नहीं थी। धर्म के ठेकेदार पोप तथा पादरी आदि ने राज-दरबार में अपना महत्त्व बढ़ा लिया था। निम्न वर्ग की हालत चिंता-जनक थी, उसका बहुत ही निर्दयता के साथ शोषण किया जाता था। रूसो ने राजा के इस अनुत्तरदायी और अत्याचारी शासन का कारण दैवीय सिद्धान्त को समझा। फलस्वरूप उसने दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया। उसने बताया कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर ने नहीं की वरन मनुष्यों ने ही समझौते के आधार पर राज्य का निर्माण किया। राजा मनुष्यों पर अत्याचार नहीं कर सकता क्योंकि उसका निर्माण मनुष्यों ने किया, वह उनके प्रति उत्तरदायी है। ये जनतन्त्रीय विचार आगामी युग के परिचायक थे। दूसरी विचारधारा बुद्धिवादी थी। वाल्टयर और डिडरो इसके प्रथम प्रवर्तक थे। इस विचारधारा के अनुसार बुद्धि का विकास इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन। यह व्यक्तिवादी विचारधारा है। यह इस बात में विश्वास रखते थे कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की है। अतः राज्य का कर्त्तव्य मनुष्य का हित करना है। राज्य को व्यक्ति के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति अपना हित स्वयं समझता है। रूसो ने इस विचारधारा का विरोध करते हुए राज्य को उच्च स्तर पर पहुँचा दिया। उसने सावयव और मशीन सिद्धान्तों के आधार पर यह बताया कि समाज और राज्य का जीवन सावयव रूप व्यक्ति से श्रेष्ठ है। संक्षेप में रूसो ने तत्कालीन प्रचलित राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त के विरोध में समझौता सिद्धान्त और व्यक्तिवाद के विरोध में सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन कर नये युग का संदेश दिया।

रूसो की रचनाएँ
(His Works)

रूसो ने जीवन के दार्शनिक पक्ष में अनेकों महत्वपूर्ण लेख एवं ग्रन्थों की रचना की। सर्वप्रथम उसने डिजान एकाडेमी निबन्ध प्रतियोगिता में, 'क्या विज्ञान एवं कला की उन्नति ने मानवता की उन्नति की है या पतन?' (Has the progress of science and arts contributed to corrupt or purify the morals?) नामक निबंध लिखकर भेजा। इस निबंध पर उसे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इसमें रूसो ने यह सिद्ध किया था कि कला और विज्ञान मनुष्य की उन्नति के मार्ग में बाधक होती है। वह जीवन में कृत्रिमता लाती है और उसे प्राकृतिक रूप में विकसित नहीं होने देती। (२) डिसकोर्सेज ऑन आर्ट्स एण्ड साइन्स Discourses on Arts and Science) (३) डिसकोर्सेज ऑन दी ओरिजिन एण्ड दी फाउन्डेशन ऑफ दी इनइक्वालिटी ऑफ मैन (The Discourses on the origin and the foundation of inequality of man 1754). इस निबन्ध में रूसो ने यह प्रकट किया कि असमानता की उत्पत्ति कैसे हुई और इसको आधार किस प्रकार मिला है। इन प्रभावशाली निबन्धों के अतिरिक्त उसने अन्य ग्रन्थों की रचना भी की। (४) १७५८ में रूसो ने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल इकोनोमी (Introduction to Political Economy) है (५) १७६२ में सोशल कान्ट्रेक्ट (Social Contract) ग्रन्थ की रचना हुई जिसमें सामाजिक समझौते के सम्बन्ध में विचार किया गया। (६) १७६२ में ही उसका शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ एमाईल (The Emile) प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक ने रूसो को फ्रांस छोड़ने के लिए भटकने को बाध्य किया। इस प्रवास काल में भी उसकी लेखनी शान्त न रह सकी। उसने अपनी जीवनी कान्फेशन्स (Confessions) की रचना की। उसने कार्सिका और पोलैण्ड के विधान भी लिखे। न्यूहिलोइस (The New Heloise) की रचना भी उसका अवदान है।

कला, विज्ञान एवं संस्कृति उसे पथभ्रष्ट कर उसकी अच्छाइयों का लोप कर देती है और वह अव्यवस्थित, बुराई पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगता है। उसकी पतनोन्मुख प्रवृत्ति अपरिवर्तित नहीं होती। पतन की राह पर चलने वाले मनुष्य की बुराइयों का लोप कर उसे सुधारा जा सकता है और उसे पुन जीवन की स्वर्णिम श्रेष्ठता से आच्छादित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह प्रकृतित ही अपने सहयोगियों से प्रेम करता है और उनकी सेवा करने की भावना रखता है। उसकी नम्रता एवं परोपकारी प्रकृति उसके स्वाभाविक गुण है।

मानव स्वभाव दो प्रवृत्तियों का परिणाम है। यह प्रकृति से ही मनुष्य मे पाई जाती हैं—

(१) आत्मप्रेम या आत्मरक्षा की भावना (Self love or instinct of self preservation)—सर्वप्रथम मनुष्य अपने आप से प्रेम करता है। वह सबसे पहले अपना हित चाहता है। वह अपना हित या आत्मरक्षा की भावना कभी भी विस्मृत नही करता। वह जीवन मे जो कार्य करता है वह इसी निजी हित की प्रेरणा से प्रेरित होकर करता है।

(२) सहानुभूति अथवा सामाजिकता (Sympathy or the gregarious instinct)—व्यक्तिगत हित के अलावा मनुष्य के हृदय मे सहानुभूति या सामाजिकता की भावना होती है। वह स्वभाव से ही एक दूसरे से मिलकर रहना चाहते हैं और परस्पर सहयोग पर निर्भर रहकर जीवन को उन्नत करना चाहते हैं। यह भावना प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। मनुष्य मिलकर रहना चाहते हैं यह विचार अरस्तू के इस कथन की ओर इंगित करता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और जो मनुष्य समाज मे नहीं रहता वह देवता है या पशु।

प्रत्येक मनुष्य मे इस प्रकार दो प्रवृत्तियों से युक्त होता हैं। इन दोनो का प्रत्येक मनुष्य मे व्याप्त होना इस बात का यथेष्ठ प्रमाण है कि उनसे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होगा। जब मनुष्य की प्रवृत्तियों से लाभ अधिक होगा तो इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य स्वभाव से एक अच्छा प्राणी है। यह दोनो प्रवृत्तियाँ मनुष्य को अच्छा प्राणी बना देती हैं लेकिन उनकी प्रतिस्पर्धा उनमे संघर्ष करा देती है। एक ओर आत्मप्रेम व्यक्ति को अपने निजी हित के लिए प्रेरणा देता है, दूसरी ओर उसे समाज के अन्य साथियों के हित के लिए कार्य करने की प्रवृत्ति प्रेरित करती है। दोनो के परस्पर एक दूसरे के विपरीत होने पर मनुष्य किस प्रकार यह निश्चय करे कौन सा कार्य करना चाहिए? मनुष्य जब कभी अपनी प्रवृत्तियों के इस संघर्ष मे फँस जाता है, वह दोनों ही प्रवृत्तियों को पूरा करना चाहता है। आत्मरक्षा और सहानुभूति का संघर्ष एक समन्वयकारी हल खोज निकालने मे सफल होता है। यह समन्वयकारी खोज बुद्धि या विवेक से पूर्व और मनुष्य के लिए प्राकृतिक है। रूसो ने इसे अन्त प्रेरणा या अन्तरात्मा (Conscience) कहा है। यह अन्त प्रेरणा एक ऐसी भावना है जो मनुष्य को अपने तथा अन्य व्यक्तियों के लिए उचित कार्य करने की इच्छा जाग्रत करती है। यह सद्कार्य करने की प्रेरणा देती है। लेकिन यह अन्त प्ररणा स्वयं एक पथ प्रदर्शक चाहती है। विवेक या बुद्धि (Reason) उसका मार्गदर्शन करती है, विवेक ही वह मार्गदर्शक है जो अन्त करण को यह बताता है कि उसे क्या करना चाहिए? यह दोनों ही मनुष्य की वह भावनाएँ हैं जो निकट रहती हैं और उनकी इच्छाओ पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रकार मनुष्य की आत्मप्रेम और सहानुभूति

की भावनाओं पर अन्तःकरण और विवेक मधुर सामंजस्य बनाये रखते हैं। वेपर (Wayper) के कथनानुसार "प्राकृतिक मनुष्य एक ऐसा मनुष्य होगा जिसमें शक्तिशाली और गतिमान विवेक सफलतापूर्वक आत्मप्रेम और सहानुभूति अन्तःकरण में सामंजस्य स्थापित कर देंगे। अप्राकृतिक मनुष्य में यह प्रवृत्तियाँ विकृत एवं दलित होती हैं, और अन्तःकरण सुप्त तथा विवेक पथ भ्रष्ट होता है।" ["Hence the 'Natural' man will be one in whom strong conscience and steadfast reason have successfully harmonised selflove and sympathy, the "Unnatural" man one in whom these elemental instincts have been wrapped or suppressed while conscience sleeps and reason errs."]

विवेक मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों में समन्वय ही नहीं करता वरन् वह उन प्रवृत्तियों का विकास करता है। प्रवृत्तियों का यह विकास व्यक्तित्व की पूर्णाभिव्यक्ति तक चलता रहता है। समाज और संस्कृति के बिना यह पूर्णाभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। समाज में रहकर मनुष्य कार्य करने की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि समाज द्वारा निर्मित कानूनों के बन्धन में लिपटी हुई स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सम्मुख हीन है क्योंकि प्राकृतिक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता होता है जहाँ पर मानव निर्मित कानूनों के बन्धन का अभाव और उन्मुक्त स्वतन्त्रता उपलब्ध रहती है। लेकिन इस अवस्था में मनुष्य अपनी इच्छा की दासता में रहते हैं। वास्तव में, स्वतन्त्रता का सच्चा रूप मनुष्य समाज में ही देख सकता है। समाज में कानूनों के बन्धन आदि होते हैं, और मनुष्य को बहुत से ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है जो सामान्य प्राकृतिक अवस्था में नहीं होते। लेकिन उसे यहाँ अधिकार भी प्राप्त होते हैं, जो प्राकृतिक अवस्था से अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक अवस्था में अधिकार शक्ति तक ही सीमित थे (Might is Right) लेकिन समाज में उसे शक्ति से अधिक अधिकार उपलब्ध होते हैं और वह प्रकृति की स्वेच्छाचारी उन्मुक्त स्वतन्त्रता एवं अधिकार के स्थान पर अधिक महत्त्वशील, व्यापक एवं वास्तविक स्वतन्त्रता एवं अधिकार प्राप्त करते हैं। समाज में व्यक्ति को अपने वास्तविक विकास के लिए प्राकृतिक सहिष्णुता प्राप्त हो गई है। समाज के कानूनों की स्वाभाविक मान्यता उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। समाज में मनुष्य, अपने विवेक द्वारा प्रकृति को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव प्रकृति का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है, यह पूर्णता समाज में रह कर अपनी प्रवृत्तियों और अन्तःकरण तथा विवेक द्वारा प्राप्त की जाती है।

यदि मनुष्य विवेक के पथ-प्रदर्शन द्वारा समाज में रहकर ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है, तो आज तक उसने समाज में रहते हुए भी पूर्णता क्यों प्राप्त नहीं की? मनुष्य एक अच्छा प्राणी है। जिसकी मौलिक प्रवृत्तियाँ, आत्मप्रेम, सहानुभूति, आत्म है प्रेरणा और विवेक द्वारा मार्ग प्रशस्त किया जाता है, फिर भी मनुष्य इसलिये पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह अपने स्वभाव के प्रति सच्चा नहीं हो पाता। हमें कहना है कि स्वभाव के प्रति सच्चा होना अत्यन्त कठिन है, आज तक ऐसा (स्वभाव के प्रति सच्चा) मनुष्य कभी हुआ होगा या हो सकेगा, कहना सन्देहास्पद है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का आत्मप्रेम उसे कभी-कभी अन्धा बना देता है। समझ आने

से मनुष्य अनेकों काल्पनिक अतृप्त आवश्यकताओं का सृजन करता है, यह मनुष्य की दूसरों की सहायता करने की भावना या सहानुभूति का विरोध करती है घमंड के आधार पर ही अन्य बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण विश्व में मानव इसके चंगुल से मुक्त नहीं हो पाता। वह मनुष्य के विवेक को भी भड़काता है और मनुष्य की वास्तविक प्रकृति विस्मृत करा देता है। वेपर के शब्दों में 'घमण्ड से सभी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य इसके जाल में फँस जाते हैं घमंड मनुष्य के विवेक को उस समय तक भड़काता है जब तक वह अपनी वास्तविक प्रकृति नहीं छोड़ देता। वह एक सर्वाधिक अनुत्तरदायी और अचेत सहायक है।" ["From pride all evil has grown and gone ranging round the world devouring men Pride reduces reason herself until, forgetting man's true, nature, she proves the most reckless and irresponsible of guides."] घमण्ड तथा गर्वीली प्रवृत्तियों के त्याग करने से ही मनुष्य अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य कर सकेगा। मनुष्य को प्रकृति की ओर लौट कर अपना जीवन बिताना चाहिए। उसे गर्व त्याग कर अपने आत्मप्रेम तथा सहानुभूति को विकसित करना चाहिए। वह उन्मुक्त विवेक अन्त-करण को सत्य मार्ग पर चलने और असत्य को त्यागने के लिये प्रेरित करता है। यह गुणों का मार्ग प्रशस्त कर प्रकृति को पूर्ण करता हुआ स्पष्ट करता है कि अत्यधिक प्राकृतिक मनुष्य ही सर्वाधिक गुण सम्पन्न होता है। विकृत कला प्रकृति को भ्रष्ट कर मनुष्यों को हानि पहुँचाती है। अतः मनुष्य अपने विकास में सद् कला, सद् विज्ञान एवं संस्कृति का विकास करेगा।

साराश में रूसो मनुष्य को स्वभावतः एक श्रेष्ठ प्राणी स्वीकार करता है। उसमें यदि स्वार्थ भावना है तो परमार्थ भी उसकी प्रवृत्ति है। वह स्वयं स्वतन्त्र रहना चाहता है और अन्य सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का पोषक है। वह निर्भय, शान्तिपूर्ण और सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करता है। साधारणतः दुर्भावनाओं का अभाव रहता है लेकिन प्रकृति की सत्यता से भली भाँति परिचय न होने के कारण उसमें अहंकार आ जाता है, जो पूर्णता प्राप्त करने में बाधक होता है। मनुष्य का विवेक प्रकृति को पूर्ण करने में सहायक होता है।

प्राकृतिक अवस्था
(State of Nature)

रूसो हॉब्स और लॉक की भाँति एक अनुबन्धवादी विचारक था। उसने राज्य के दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया और बताया कि मनुष्यों ने परस्पर एक समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य की स्थापना से पूर्व एक ऐसी अवस्था थी जब राज्य नहीं था। हॉब्स और लॉक के समान उसके विचारों का स्रोत भी प्राकृतिक अवस्था है। प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में रूसो के विचार स्पष्ट नहीं थे, लेकिन वह मान्यता बना कर चलता है कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक या वर्तमान नागरिक अवस्था से श्रेष्ठ थी। प्राकृतिक अवस्था के माध्यम से ही वर्तमान समाज तथा राज्य व्यवस्था का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

राज्य की उत्पत्ति का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है। प्रथम, राज्यविहीन अवस्था जिसे प्राकृतिक अवस्था कहा जाता है, द्वितीय प्राकृतिक अवस्था

नदियों के किनारे रहने वाले मनुष्यों ने भोजन के लिये मछली पकड़ने की विधि खोज निकाली। जंगल में पशुओं के शिकार के लिए उन्होंने धनुष बाण खोज लिए। किसी आकस्मिक संयोग से अग्नि का अविष्कार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना रही। पत्थरों एवं धातुओं के हथियारों एवं औजारों का निर्माण शुरू हुआ। मनुष्य ने कन्दराओं का जीवन त्यागकर, झोपड़ों का निर्माण किया और एकाकी, घुम्मकड़ जीवन का अन्त कर, घर बनाकर व्यवस्थित जीवन प्रारम्भ किया। उनका परिवार बना और सम्पत्ति के उदित होते ही उन्हे प्रकृति की समानता त्याग देनी पड़ी। एक परिवार का दूसरे परिवारों से सम्पर्क बढ़ा फलस्वरूप उनमें प्रतियोगिता आदि के साथ समाज की स्थापना हुई। इस प्रकार समाज अपने साथ ही असमानता और भेदभाव ले आया। यह अवस्था असहाय अवस्था नहीं थी। इस अवस्था को सर्वश्रेष्ठ कह सकते हैं क्योंकि इसमें पाशविक युग के दोष नहीं थे और साथ ही साथ यह आगामी समाज व्यवस्था के दोषों से भी मुक्त थी। प्रो० डनिंग ने कहा है कि "यह उसे मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था दिखाई दी—इसमें शान्ति की सम्भावना नहीं थी, मनुष्य के लिए श्रेष्ठतम थी। उसने प्रथम आदि प्राकृतिक अवस्था को बर्बर वनचारी सर्वश्रेष्ठ, सुखकारी बताया। जैसे ही वह मध्य अवस्था पर विचार करता है, उसे सर्वश्रेष्ठ और पहले तथा आगामी जीवन से श्रेष्ठ बताता है।

(३) भू-स्वामित्व के बाद प्राकृतिक अवस्था (State of Nature after Land Acquisition)—तृतीय अवस्था में भूमि का स्वामित्व प्रारम्भ हुआ। भूमि पर स्वामित्व द्वारा इस अवस्था का प्रारम्भ और पूर्व की अवस्था का अन्त किसी अनायास घटित होने वाली घटना द्वारा हुआ। कृषि की खोज ने मनुष्यों को परस्पर सहयोग करने के लिए प्रेरित किया। शक्तिशाली मनुष्य सबसे अधिक कार्य करता था और चतुर मनुष्य सबसे अधिक लाभ लेता था इसके फलस्वरूप धनाढ्य और निर्धन में भेद प्रारम्भ हुआ। असमानता वृद्धि का यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। सम्पत्ति अपना कुटिल खेल खेलने लगी थी, लेकिन जैसे ही भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व द्वारा किसी मनुष्य ने भूमि विशेष पर अपना अधिकार कर लिया, मध्ययुग का अन्त हो गया। सर्वप्रथम जिस मनुष्य ने किसी भूमि के टुकड़े को घेर कर कहा था कि यह मेरा है, और लोगों की मूर्खता के कारण उसने मान्यता प्राप्त करली, सभ्य समाज का संस्थापक था।' जैसे ही भूमि में व्यक्तिगत स्वामित्व शुरू हुआ संघर्ष और तीव्र हो गया। प्राचीन अवस्था में जिन बुराइयों का नाम भी नहीं था, मध्य अवस्था में जिन्होंने धीरे-धीरे प्रवेश करना शुरू किया था, अब व्यापक हो गई। शक्ति सम्पन्न दूरदर्शी मनुष्यों ने अपनी शक्ति के आधार पर अच्छी एवं अधिक भूमि पर आधिपत्य जमा लिया। कमजोर तथा अल्प बुद्धि के मनुष्यों को या तो भूमि मिली ही नहीं, और यदि मिली भी तो वह निकृष्ट कोटि की। सम्पत्तिशाली निर्धनों का शोषण करने लगे और अमीरों के अत्याचारों से दुखी होकर गरीब उनके विरोध के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। लूट-खसोट, हत्या-युद्ध आदि अपराध व्यापक हो गये। मानव जीवन निराशा और भय ग्रस्त होने के कारण अत्यन्त रूप से कष्टमय कठिन हो गया। इस अवस्था में स्वार्थ, दासता बुराई बढ़ती जा रही थी, उससे मुक्ति प्राप्त करने की ओर मनुष्यों का ध्यान आकर्षित हुआ। मनुष्यों ने बुराइयों को सहन कर सकने योग्य बनाने के लिये सामाजिक अनुबन्ध द्वारा राज्य की स्थापना की। यह मानव प्रकृति के प्रतिकूल था। यह असमानता का दूसरा तरीका था। धनिक वर्ग ने अपनी धन सम्पत्ति की रक्षा के लिये, राज्य की शक्ति की स्थापना कर अपने हितों

की रक्षा की। इसीलिये यह राज्य संस्था अधिक असमानता का प्रतीक और स्वामी एवं दास का सम्बन्ध स्थापित करने वाली है।

रूसो प्राकृतिक अवस्था की उपर्युक्त व्याख्या करने के उपरान्त यह स्वीकार करता है कि यह अवस्था कभी नहीं रही, लेकिन फिर भी वर्तमान समाज को भली-भाँति समझने के लिये इस प्रकार समझा जाना ठीक ही रहेगा।

सामाजिक समझौता
(Social Contract)

रूसो अनुबन्धवादी दार्शनिक है। उसने हॉब्स और लॉक की परम्परा का अनुसरण किया और राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का खण्डन किया, उसने इस विचार का विरोध किया कि ईश्वर ने राज्य का निर्माण किया और किसी मनुष्य को राजा बनाया। उसने राज्य के कृत्रिम निर्माण का समर्थन किया और बताया कि सर्वप्रथम प्राकृतिक समाज परिवार के रूप में लक्षित हुआ। जब मनुष्य अपने तथाकथित विकास की ओर बढ़ रहा था, मानव हृदय की सर्वप्रथम अनुभूति के रूप में परिवार, और अनेकों परिवारों ने मिल कर समाज का निर्माण किया। इस प्रकार समाज मनुष्यों के व्यक्तिगत इकाई का समूह नहीं है, वरन् वह छोटे-छोटे परिवार रूपी इकाइयों का विस्तृत रूप है। इस समाज का संगठन शक्ति के आधार पर नहीं होता है वरन् मनुष्यों के परस्पर अनुबन्ध के आधार पर उसका निर्माण होता है।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था, आदिम अवस्था, मध्यवर्ती अवस्था से अच्छी थी। मध्यम अवस्था तृतीय अवस्था से श्रेष्ठ थी। प्रथम अवस्था इस प्रकार अन्य अवस्थाओं से अच्छी थी। मनुष्य वनचारी होते हुये भी सभ्य (Noble Savage) था। उसका सरल-जीवन समानता के सिद्धान्त पर आधारित था। द्वितीय तथा तृतीय अवस्था में शनैः शनैः व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ उसके जीवन में असमानता ने प्रवेश किया। अब उसका जीवन दैवी प्रसन्नता से वंचित होकर संघर्ष की व्याकुलता और व्यग्रता का शिकार हो गया। यह अवस्था हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था के समरूप दिखाई देती है जहाँ व्याकुलता से उन्मत्त मानव अपने साथियों के प्रति अविश्वसनीय, घृणित और पाशविक जीवन से मुक्ति प्राप्त करने का स्वप्न देखने लगा। लेकिन यह स्वप्न समाज को भंग किये बिना पूरा नहीं किया जा सकता था। समाज एक अनिवार्य संस्था है। सामाजिक और राजनीतिक असमानता का चित्रण इस प्रकार किया जा सकता है कि "एक बच्चा वृद्ध व्यक्ति को आदेश दे, एक बुद्धिहीन किसी साधु को उपदेश दे, और कुछ गिने चुने व्यक्ति सुख और ऐश्वर्य में डूबे हों जबकि असंख्य जनसमुदाय भूख से तड़पता हो, और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ हो।' इस अवस्था से उन्नत एवं विवेकीय समाज व्यवस्था निर्मित करने के लिए एक समझौते द्वारा सभ्यता का उद्गम होता है।

राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों के परस्पर समझौते के आधार पर होती है। एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों पर सत्ता का कोई विवेकीय स्वरूप नहीं हो सकता। मनुष्य जिस राज्यसत्ता के आदेशों का पालन करते हैं, वह परस्पर समझौते द्वारा ही निर्मित हो सकती है। प्रो० डनिंग ने कहा है कि "मनुष्य की मनुष्य के ऊपर सत्ता का, स्वीकृति और समझौते के अतिरिक्त, अन्य कोई विवेकीय आधार नहीं होता।"

[Authority of man over man can have no rational basis, he holds save agreement and consent.] राज्य की उत्पत्ति के समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स और लॉक पहले ही कर चुके थे। रूसो ने हॉब्स के राजतन्त्र की निरंकुशता के समर्थन के स्थान पर लॉक का अनुकरण किया। रूसो ने लॉक के समझौते की विचारधारा को हॉब्स के तरीके से स्पष्ट किया। ["But the Hobbesian precision in defining the terms of the pact obviously appealed to him, and his own treatment of the subject is but the substance of Locke developed by the method of Hobbes "—Dunning] रूसो ने कहा कि मनुष्यों ने समझौते द्वारा समाज का निर्माण किया। वेपर ने रूसो के समाज के निर्माण के सम्बन्ध में बताते हुए कहा है कि "समाज के रूप में सगठित होने के लिये मनुष्यों ने सामाजिक समझौता किया। इस समझौते द्वारा एक आदर्श राजनीति समाज की स्थापना की गई, जिससे यह आशा की जाती है कि वह हर प्रकार से हितकारी होगा। इस नव स्थापित समाज में भावनाओं का स्थान न्याय ले लेगा मनुष्य के क्रिया कलाप इस नये समाज में नैतिक आवरण, जिससे पहले शून्य थे, आ जायेंगे। समाज में मनुष्य मूर्ख वनचारी पशु के स्थान पर बुद्धिमान बन जायेंगे। इस समाज के प्रत्येक मनुष्य समानता के आधार पर रहेंगे। शासन को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जायगा वरन् वह एजेण्ट जैसा ही होगा। शासक के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जायगा क्योंकि ऐसा करने का अभिप्राय अपने ऊपर दासता लादना ही होगा। मनुष्य समाज के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी चाहता है, उसका सर्वांगीण विकास समाज में स्वतन्त्रता के द्वारा ही होता है। अतः रूसो ने एक ऐसे समाज की कल्पना को प्रस्तुत किया, जिसमें समाज अपने धन और जन की, सम्पूर्ण शक्ति के साथ रक्षा करे। सभी जब तक अपने साथियों के साथ मिल कर रहे, स्वयं अपनी इच्छा के आदेशों का पालन करते हुए पूर्व की भाँति ही स्वतन्त्र रहे। प्रो० वेपर ने इन शब्दों में रूसो के समाज निर्माण की कल्पना को प्रस्तुत किया है, "इसलिये उसकी समस्या एक समाज के निर्माण की थी, जिसमें प्रत्येक, अपने साथियों के साथ एक होने पर, स्वयं अपनी ही इच्छा का पालन करता है और पूर्व की भाँति स्वतन्त्र रहता है। रूसो एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता था जिसमें मनुष्यों की स्वतन्त्रता बनी रहे और साथ ही साथ सत्ता भी स्थापित हो जाय। अतः राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रूसो का समझौता सिद्धान्त स्वतन्त्रता और सत्ता के उचित सामंजस्य का सिद्धान्त है।"

रूसो ने समझौते के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला। उसने कहा कि राज्य की स्थापना के लिये प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों से समझौता करते हुये कहता है कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति, अपने आप को अपनी सम्पूर्ण शक्तियों सहित सामान्य इच्छा की एक राशि में एकत्रित कर देते हैं और हम सब एक अविभाज्य अंग के रूप में एक दूसरे को इस सामूहिक सगठन का सदस्य स्वीकार करते हैं।" ["Each of us puts into a single mass his person and all his powers under the supreme direction of the general will,—and we receive as a body each member as an indivisible part of the whole "—Rousseau] इस समझौते में नागरिकों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण कर एक नैतिक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का अपना अस्तित्व, जीवन, इच्छा आदि पृथक थी, जो उनके निर्माताओं (व्यक्तियों) के अस्तित्व से अलग थी। इस संस्था को विभिन्न नामों से पुकारा जाने

लगा । इसे राज्य तक, सम्प्रभु कहा गया और इसके निर्माताओं को व्यक्ति आदि कहा गया । यह इस अनुबन्ध का ही फल था कि विभिन्न व्यक्तियों ने अपने आपको एक राशि में समर्पित कर दिया और स्वयं एक अविभाज्य अंग के रूप में उस राशि का अंग बन गया ।

समझौते की विशेषतायें (Characteristics of the Contract)

(१) **यह प्राकृतिक अवस्था की पुनरावृत्ति है** (It is the revival of the equality of the state of nature)—राज्य सत्ता की स्थापना के लिये किये गये इस समझौते की प्रथम उपसिद्धि यह है कि यह समाज में पुनः प्रकृति की आदि व्यवस्था जैसी समानता स्थापित करता है । प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तियाँ एवं अधिकार (जिनके कारण असमानता उत्पन्न हुई थी) एक समुदाय को सौंप देते हैं । यह समुदाय सम्पूर्ण समाज ही है । यह समर्पण सम्पूर्ण समाज के सामने किया जाता है किसी व्यक्ति विशेष के नहीं. फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी-अपनी शक्तियों को त्याग कर अपना अस्तित्व शून्य कर दिया । प्रत्येक व्यक्ति के शून्य हो जाने पर उन सब में कोई अन्तर नहीं रहता । अतः इस समझौते द्वारा मनुष्य समान हो जाते हैं । प्रो० डनिंग के शब्दों में "समानता, उनकी घोषणा के अनुसार सुरक्षित हो जाती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना और अधिकार का समाज के सम्मुख पूर्ण समर्पण कर देता है । हम कह सकते हैं, व्यक्ति अपने आपको शून्य बना लेते हैं और इस प्रकार समान हैं ।" ['Equality, he declares, is insured, because each individual makes complete alienation of himself and all his right to the community. That is to say, the individuals, reducing themselves to zero, are as such equal."]

(२) **समझौते की दूसरी उपसिद्धि यह है कि इसके द्वारा पूर्ण एकता की स्थापना होती है**—प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माँग सकता । इस पूर्ण एकता में अपने आपको सामान्य इच्छा के अधीन करता है और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करता है । विकास के लिये स्वतन्त्रता एक अनिवार्य आवश्यकता है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा शक्ति त्याग कर अपने आपको सबको सौंप देता है और इस प्रकार अपने आपको किसी अन्य को नहीं सौंपता । [Since each gives him upto all, he gives himself upto none.]

(३) **इस समझौते की तीसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा किसी भी सदस्य को कोई हानि नहीं** (It is not acrimonious to any of its members)—समझौते में मनुष्य जो कुछ देता है उसके बदले में मय ब्याज के बहुत कुछ प्राप्त कर लेता है । सामान्यतः समझौते में दो व्यक्ति यदि नुकसान में नहीं रहते तो लाभ में भी नहीं रहते । राज्य की स्थापना के समझौते में व्यक्ति को लाभ होता है । देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपनी शक्ति एवं अधिकारों को त्याग करके दुर्बल हो जाता है । वास्तविकता इसके विपरीत कुछ और ही है । अब तक व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व की रक्षा करता था और सम्पूर्ण समाज से उसे भय रहता था । लेकिन समझौते के बाद अपनी शक्तियाँ एवं अधिकार सम्पूर्ण समाज को प्रदान कर देने से उसका यह भय दूर हो जाता है । सामान्य इच्छा, जिसे सम्पूर्ण समाज की सामूहिक शक्ति कह सकते हैं, उसकी रक्षा के लिये तत्पर हो जाती है । अब तक अकेला व्यक्ति अपनी रक्षा करता था लेकिन समझौते के बाद सम्पूर्ण समाज उसकी रक्षा करेगा ।

यहां व्यक्ति के मूल त्याग देने से मूल मय ब्याज के प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मनुष्य एक हाथ से जो कुछ देता है उसे दूसरे हाथ से वापिस ले लेता है। " जिस अधिकार को मनुष्य त्याग देता है वही अन्य व्यक्तियों के ऊपर उसे प्राप्त हो जाता है। जो कुछ खो जाता है उसके समकक्ष ही प्राप्त होता है, लेकिन उसे बनाये रखने की शक्ति पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती है। ["There is acquired over every associate the same right that given up by himself, there is gained the equivalent of what is lost with greater power to preserve what is left."—Rousseau] इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक-एक गिलास दूध एक सामूहिक बर्तन में गरम करने के लिये डाल देता है। उनका यह दूध व्यर्थ नहीं जाता वरन् वह गरम होने पर प्रत्येक व्यक्ति को पुन: प्रदान किया जाता है और दूध के साथ ही उन्हें मलाई भी प्राप्त हो जाती है। यदि दूध को गरम नहीं किया जाता तो वह रखे हुए ही बिगड़ सकता था, गरम हो जाने पर उससे प्रत्येक व्यक्ति को दूध ही नहीं वरन् मलाई भी प्राप्त हो गई। ठीक यही अवस्था मनुष्य की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की है। निरंकुश स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता होती है जो शक्तिशाली मनुष्य के लिये भी मूल्यहीन होती है, वह अपनी रक्षा अकेले करने में असमर्थ दिखाई देता है। सम्पूर्ण समाज को ही उन शक्तियों के सौंपने से समाज उसकी शक्तियाँ तो वापिस दे ही देता है, साथ ही साथ समाज उसकी रक्षा करता है। व्यक्ति पुन: वापिसी में सुरक्षा का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

(४) शासक एवं शासित के भेद की अनुपस्थिति (Absence of the difference between the governor and the governed)—इस समझौते की एक विशेषता यह है कि इसमें *शासक और शासित का भेद नहीं रहता वरन् शासक* और शासित का एकीकरण हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति शासित होने के साथ-साथ शासक भी बन जाता है। समझौते द्वारा सामान्य इच्छा का सृजन होता है, यह सामान्य इच्छा ही शासक होती है और प्रत्येक व्यक्ति इसके आदेशों का पालन करता है। *लेकिन इस सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करता हुआ किसी अन्य व्यक्ति* के आदेशों का पालन नहीं करता, वरन् अपने ही आदेशों का पालन करता है। अतः वह शासक भी है और शासित भी। रूसो इस संस्था को विभिन्न नामों से पुकारता है। वह कहता है कि अकर्मक होने पर इसे राज्य, सकर्मक होने पर सम्प्रभु और अन्य संस्थाओं की तुलना में शक्ति, इसके निर्माण तत्वों को संगठित होने पर जनता सम्प्रभु शक्ति में भाग लेने पर नागरिक, राज्य के कानूनों का पालन करने पर उन्हें प्रजा कहते हैं।

(५) मनुष्य नैतिकता के जीवन में प्रवेश करता है (Man acquires a life of morality)—इस समझौते की पाँचवीं विशेषता यह है कि इसके द्वारा प्राकृतिक जीवन की उच्छृंखलता और अनैतिकता से मुक्ति प्राप्त कर, मनुष्य नैतिक जीवन बिताने का संकल्प करता है। समझौते से पूर्व मनुष्य को जिस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उसके आधार पर वह अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करता था। समझौते द्वारा प्राकृतिक जीवन की समाप्ति के साथ, न्याय और नैतिकता उत्पन्न होते हैं और व्यक्ति के क्रिया-कलाप नैतिकता के आधार पर होते हैं। प्राकृतिक जीवन में अनियन्त्रित स्वतन्त्रता और किसी भी वस्तु को प्राप्त करने का असीमित अधिकार था।

बन्धनहीन स्वतन्त्रता के कारण, मनुष्य अपनी शक्ति पर्यन्त जो चाहता था कर लेता था, साथ ही जिस वस्तु को अपने आधिपत्य में रखना चाहता था, उसे रख सकता था। "सामाजिक समझौते द्वारा मनुष्य ने प्राकृतिक स्वतन्त्रता और किसी वस्तु को प्राप्त करने एवं उस पर आधिपत्य रखने के असीमित अधिकार को खो दिया। उसे नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता तथा उपलब्ध वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त हो गया।"

(६) इस समझौते द्वारा किसी शासन व्यवस्था की स्थापना नहीं की गई अपितु एक समाज की रचना हुई (Through this contract instead of administrative organization, a society is founded)—समझौते का एक पक्ष व्यक्ति एवं दूसरा पक्ष समझौते द्वारा ही निर्मित होने वाला समाज है। प्रो० डनिंग के शब्दों में "समझौते के पक्षों में एक ओर व्यक्ति तथा दूसरी तरफ समाज है, और यह तब है जबकि समाज की रचना समझौते द्वारा ही होती है।" अतः समझौता सामाजिक है। व्यक्तियों ने सामान्य इच्छा युक्त समाज का निर्माण किया। यह सामान्य इच्छा युक्त समाज कार्यवाहक यन्त्र के रूप में सरकार की स्थापना करता है। यह सरकार सामान्य इच्छा के विपरीत नहीं चल सकती। यदि वह निरंकुश होने का प्रयत्न करती है तो उसे हटाया जा सकता है। इस प्रकार रूसो की राज्यसत्ता, समाज की सत्ता है, जो किसी व्यक्ति, वर्ग, संस्था या समूह में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज में निहित है। यह सम्पूर्ण समाज ही सर्वोच्च सत्ताधारी सम्प्रभु होता है।

समझौता सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Social Contract)—समझौता सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की जाती हैं—

(१) मानव प्रकृति का मिथ्या अध्ययन (Wrong study of human nature)—रूसो ने मानव प्रकृति का अध्ययन ठीक प्रकार से नहीं किया। उसने कल्पना की तूलिका से मानव को पूर्णतया श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी बनाया जो कभी भी अपने साथियों का बुरा नहीं चाहता। वस्तुतः मनुष्य न तो हॉब्स की भाँति दुष्ट और न ही रूसो के अनुसार श्रेष्ठता की मूर्ति है। वह विचित्र ढंग से दोनों विशेषताओं का समन्वय होता है।

(२) प्राकृतिक अवस्था का त्रुटिपूर्ण चित्रण (Unreal picture of state of nature)—रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था सर्वश्रेष्ठ, शान्त एवं आदर्श थी। क्या नैतिक नियम विहीन, शक्ति पूज्य, मत्स्य न्याय पर आधारित अवस्था को उपर्युक्त गुणों से युक्त माना जा सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि ऐसी अवस्था में निर्बलों का जीवन शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों की कृपा पर ही आश्रित था।

यदि हम यह मान भी लें कि प्राकृतिक अवस्था शान्तिपूर्ण और आदर्श थी परन्तु जैसे ही हम उसकी प्रामाणिकता पर विचार करते हैं, तो यह हमें कल्पना-लोकीय विचार मालूम पड़ते हैं। विश्व के इतिहास में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि एक प्राकृतिक अवस्था थी और मनुष्यों ने परस्पर समझौते द्वारा उसको त्याग कर राज्य संस्था का निर्माण किया। अतः हम कह सकते हैं कि यह विचार ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य है।

(३) आदिम एवं मध्यम, दोनों अवस्थायें सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकतीं (Primitive and Mediaeval—both the states cannot be equally best)—रूसो की प्राकृतिक अवस्था की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि पहले उसने आदिम अवस्था को सर्वश्रेष्ठ बताया, फिर जैसे ही मध्य अवस्था का वर्णन करता है उसे भी सर्वश्रेष्ठ बताता है। दोनों सर्वश्रेष्ठ हैं यह कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि आदर्श प्राकृतिक अवस्था को सर्वश्रेष्ठ मान भी ले तो भी हमें उसकी विचारधारा हास्यास्पद लगती है क्योंकि इस अवस्था में कन्द मूल पर जीवन निर्वाह करने वाला व्यक्ति, अशिक्षित, भाषाविहीन था। सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान नहीं था। हम कह सकते हैं उसका प्रारम्भिक रूप पशु-पक्षियों जैसा था। एक दार्शनिक आज के विकसित मानव को प्राचीनता के अविकसित मानव से तुलना करने पर हीन बताता है। यह त्रुटिपूर्ण नहीं तो और क्या है।

(४) रूसो के समझौते में अवैज्ञानिकता भी दिखाई देती है (Rousseau's social contract seems to be unscientific)—रूसो कहता है कि समझौता व्यक्ति और समाज के मध्य होता है और वह यह भी स्वीकार करता है कि समझौता समाज का निर्माण करता है। यह किस प्रकार हो सकता है कि जिस संस्था का जन्म भी न हुआ हो और वह पहले से ही समझौता आदि करने लगे। रूसो के विचारों की यह असंगति उसके सम्पूर्ण समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी विचारधारा पर तुषारापात कर देती है।

(५) रूसो ने व्यक्ति को सामान्य इच्छा के अधीन कर उसके मौलिक विकास पर प्रतिबन्ध लगा दिए (By putting man in subordinate position to General Will, he imposes premium on his moral developments)—उसने कहा कि समझौता होने से पूर्व मनुष्य को जो अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है वह अनियन्त्रित होने के कारण अवास्तविक भी है। अतः समझौता होने के उपरान्त अनियन्त्रित और असीमित स्वतन्त्रता को सीमित और परिमार्जित कर पुनः व्यक्ति को वापिस प्रदान कर दिया जाता है। लेकिन हम देखते हैं कि इस समझौते के उपरान्त सामान्य इच्छा का महत्व इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह निरंकुश हो जाती है और व्यक्ति उसकी दासता में आ जाता है।

(६) राज्य की उत्पत्ति समझौते के आधार पर होती है, यह अवैधानिक भी है (State originates out of contract, is legally wrong)—प्रत्येक समझौते को मान्यता प्रदान करने और उसका पालन करने के लिये एक सर्वोच्च सत्ताधारी की आवश्यकता होती है। रूसो के समझौते में व्यक्ति समाज से समझौता करता है। लेकिन उस समझौते को मान्यता देने वाली कोई संस्था उसने पूर्व नहीं दी। राज्य अथवा समाज स्वयं समझौते की उपज है। वह किस प्रकार इस समझौते को मान्यता प्रदान कर सकते हैं।

सामान्य इच्छा
(General Will)

रूसो अनुबन्धवादी विचारक है लेकिन उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त उसे आदर्शवादी विचारकों की श्रेणी में ला देता है। उसके सिद्धान्तों का मनन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें अधिक अनुबन्धवादी है और आत्मा से दर्शनवादी है। यह विरोधाभास सर्वत्र उसके विचारों में निहित होता है। रूसो सामान्य इच्छा

की कल्पना द्वारा, निरंकुश राज्य का विरोध करते हुये, जनतन्त्र की आधारशिला रखता है। उसके यह विचार उसे अमरता प्रदान करने के लिये पर्याप्त हैं। उसके इन विचारों को आदर्शवादी विचारक काट, ग्रीन, बोसांके ने अपने दर्शन का आधार बनाया।

रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा राज्य की उत्पत्ति के समझौता सिद्धान्त के विचारों में निहित है। राज्य की उत्पत्ति समझौते द्वारा होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छाओं को राज्य के निर्माण के लिये सामूहिक राशि में मिला देता है। यह सामूहिक राशि ही सामान्य इच्छा होती है। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य इच्छा समाज का निर्माण करने वाले सभी व्यक्तियों की इच्छा का योग है। यह सामान्य इच्छा ही राज्य की सर्वोच्च सत्ताधारी अभिव्यक्ति है, जिसे संप्रभुता कहते हैं। सामान्य इच्छा क्या है, इसकी व्याख्या करना जटिल कार्य है। रूसो ने इसे स्पष्ट करते हुये बताया कि यदि व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों पर ही केन्द्रित होकर विचार करे, निरन्तर निजी स्वार्थों को ही क्रियान्वित करे तो समाज नष्ट हो जायगा; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के उसी भाग में कार्य करने में उनके निजी स्वार्थों में संघर्ष होगा और जीवन व्यतीत करना भी कठिन हो जायगा। लेकिन जब व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों के स्थान पर सभी के हित के लिये सोचना प्रारम्भ कर दे, तो समाज का विनाश होने के स्थान पर उसके विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। सामान्य इच्छा इस प्रकार सर्वहितकारी भावना है। सबके हित के लिये सोचना ही रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा है। सामान्य इच्छा की परिभाषा देते हुये हम कह सकते हैं कि 'सामान्य हित की सामान्य चेतना ही सामान्य इच्छा है।'

सामान्य इच्छा का अधिक स्पष्ट अध्ययन करने के लिये रूसो द्वारा प्रतिपादित मानव इच्छा का विश्लेषण समझना जरूरी है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसके हृदय में किसी न किसी प्रकार के विचार या इच्छायें सदैव उठती रहती हैं। मनुष्य की इन इच्छाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) यथार्थ इच्छा (Actual Will)—यह इच्छा मानव प्रधान व्यक्तिपरक होती है। यह मनुष्य की अविवेकीय संकीर्ण प्रकृति के कारण सदैव निजी स्वार्थों को पूरा करने तक ही सीमित रहती है। इसमें केवल अपने निकटतम, क्षणिक और सीमित हित की भावना निहित रहती है। इसमें दूरदर्शिता का अभाव होता है और प्रत्येक मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य बनाकर कार्य नहीं करता। निरन्तर यह इच्छा परिवर्तित होती रहती है। इस व्याख्या के आधार पर यथार्थ इच्छा में निम्न तत्व दिखाई देते हैं—

(१) संकुचित दृष्टिकोण
(२) दूरदर्शिता का अभाव
(३) क्षणिक अथवा अस्थाई
(४) निकटतम हित
(५) व्यक्ति का पूर्णतम हित नहीं
(६) सम्पूर्ण समाज के हित की कल्पना भी नहीं।

(२) आदर्श इच्छा (Real Will)—यह इच्छा यथार्थ इच्छा के बिल्कुल विपरीत होती है। यह व्यक्तिगत संकीर्ण हित के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के हित का ध्यान रखती है। व्यक्ति अपने निकट हित के स्थान पर अन्य सभी मनुष्यों के कल्याण हित पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह इच्छा शुभेच्छा होती है। इसमें अ

कल्याण के साथ-साथ समाज के सभी व्यक्तियों के कल्याण की भावना निहित होती है। यह विवेकजनित वह इच्छा है जो व्यक्ति और समाज के हित में सामंजस्य करती है। आदर्श इच्छा की विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(१) दूरदर्शितापूर्ण इच्छा
(२) स्थाई इच्छा
(३) व्यक्ति के हित के साथ सम्पूर्ण समाज का हित
(४) केवल कल्याणकारी भावना
(५) पूर्ण और निरन्तर सत्य
(६) विवेकजनित

उपर्युक्त इच्छा (आदर्श इच्छा) ही सामान्य इच्छा होती है। सामान्य इच्छा यथार्थ इच्छा का प्रतिनिधित्व बिलकुल नहीं करती वरन् वह व्यक्ति की आदर्श-इच्छा का प्रतीक है। यह व्यक्ति की आदर्श इच्छा का योग है। यह सामूहिक हित की सामूहिक चेतना का सग्रह है। 'सम्पूर्ण समाज की ऐसी इच्छा अथवा व्यक्तियों की इच्छाएँ जहाँ तक उनका उद्देश्य सामान्य हित हो" सामान्य इच्छा कहलाती हैं। ["The general will is 'the will of the whole society as such or the will of all the citizens when they aim at the common good.'] वेपर के अनुसार "सामान्य इच्छा, इस प्रकार, सभी नागरिकों की वह इच्छा है जो अपने व्यक्तिगत हित नहीं वरन् सामान्य हित को लक्ष्य बनाती है, यह सब की, सब के हित की इच्छा है।" ["General will is thus the will of the citizens when they are willing not their interest but the general good it is the voice of all for the good of all ']

सामान्य इच्छा की विशेषतायें (Characteristics of General Will)

(१) एकता (Unity)—सामान्य इच्छा की प्रथम विशेषता उसकी एकता है। मनुष्य की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं में एकता स्थापित करके यह सामान्य इच्छा कहलाती है। यह कभी भी आत्मविरोधिनी नहीं होती। सामान्य इच्छा सदैव एक होती है। मनुष्य की इच्छाओं के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो विवेक-जन्य, दूरदर्शी एवं हितकारी होती है। विवेक सदैव विभिन्नता में एकता की ध्वनि प्रतिपादित करता है, उसका अन्तिम निर्णय कभी भी द्वैध नहीं होता।

(२) स्थायित्व (Permanence)—सामान्य इच्छा की दूसरी विशेषता उसका स्थायित्व है। वह मनुष्य के विवेक और दूरदर्शिता के द्वारा उत्पन्न होती है। भावनाएँ अथवा आकांक्षाएँ उसको दूषित नहीं करतीं। उसे राजनीतिज्ञों की कूटनीति, धूर्तता और स्वार्थी मनोवृत्ति भी नुकसान नहीं पहुँचाती। वह तो मानव प्रकृति की उच्चतम अभिव्यक्ति है जो स्थाई होती है। उसे सामयिक प्रभाव विचलित नहीं करते।

(३) अहस्तान्तरणीय (Inalienable)—सामान्य इच्छा सम्प्रभु का प्रतीक है। अतः उसमें सम्प्रभुता की विशेषतायें भी पाई जाती हैं। यह अहस्तान्तरणीय (Inalienable) होती है। कोई भी राष्ट्र अपना प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं को सामान्य इच्छा हस्तान्तरित नहीं कर सकता। वह सदैव उसके पास रहती है। "क्योंकि जैसे ही कोई राष्ट्र अपना प्रतिनिधि नियुक्त करता है, वह स्वतन्त्र नहीं रहता और उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है।" सामान्य इच्छा का हस्तान्तरण नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे ही उसका हस्तान्तरण होता है, हस्तान्तरण करने वाली संस्था स्वामी बन जाती है, किन्तु "जैसे ही किसी का स्वामी

दिखाई देता है, हम उसे सम्प्रभु नहीं कह सकते।" [The moment there is a master, there is no longer a sovereign.]

(४) त्रुटिपूर्ण नहीं होती (Infallible)—सम्प्रभुता से सम्बद्ध होने के कारण सामान्य इच्छा कभी भी त्रुटिपूर्ण नहीं होती। सामान्य इच्छा सदैव सही होती है और सदैव जन कल्याण का लक्ष्य लेकर चलती है। सामूहिक रूप में सबका हित और उसके लिये किया गया विवेकीय विचार त्रुटिपूर्ण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये, अ सही सोचता है, ब, स, द, आदि सभी सबके कल्याण के लिये सोचते हैं, उनकी यह इच्छा ही सामान्य इच्छा है। वह किस प्रकार गलत हो सकती है। सभी के सही और कल्याणकारी विचारों का योग भी सत्य होगा।

(५) अविभाज्यता (Indivisibility)—सामान्य इच्छा अविभाज्य होती है। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण समाज की इच्छा के अर्थ में होता है। यह विधि-निर्माण और उसके क्रियान्वित करने में लक्षित होती है। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य इच्छा विधायिनी एवं कार्यपालिका सम्बन्धी होती है, प्रशासन के विभिन्न कार्य जैसे कर लगाना और वसूल करना, न्याय करना आदि विभिन्न व्यक्ति एवं संस्थायें करती हैं, लेकिन यह विभाजन नहीं होता। सम्प्रभु की इच्छा एक ही है। सभी व्यक्तियों के लिए कार्य सामान्य इच्छा की सम्प्रभुता के अविभाज्य होने का प्रतीक है।

(६) सामान्य हित का प्रतिनिधि (Representative of the common good)—सामान्य इच्छा प्रत्येक अर्थ में सामान्य होनी चाहिये। वह किसी वर्ग या व्यक्ति की विशिष्ट इच्छा नहीं होती है। यह इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का संग्रहीत रूप है जो समझौता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को एक वर्ग का अभिन्न अंग स्वीकार करती है। यह प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य रखती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने इसके निर्माण के लिये अपना सर्वस्व लगा दिया था। वह व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामान्य हित के लिये कानूनों का निर्माण करती है। यह सामान्य रूप में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा है लेकिन हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छायें कभी भी एक नहीं होतीं और प्रायः सार्वजनिक प्रश्न पर उनमें विभिन्न मत दिखाई देते हैं और मत-मतान्तरों का संघर्ष सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में बाधक होता है। लेकिन उन सब मतों में वह इच्छा जो सभी व्यक्तियों के हित का लक्ष्य लेकर उदित होती है, सामान्य इच्छा कहलाती है।

(७) सामान्य इच्छा 'न्यायिक' होती है (General Will is always just)—प्रत्येक मनुष्य जो कार्य करता है किसी न किसी इच्छा का परिणाम होते हैं। सम्पूर्ण समाज के हित की कल्पना लेकर उदित होने वाली इच्छा नैतिक दृष्टि से सर्वोत्तम होती है। वह कभी भी अन्याय पर आधारित नहीं हो सकती। इसलिए रूसो ने कहा कि 'सामान्य इच्छा न्यायिक होती है।' ["The most general will.....is always the most just also."]

(८) समाज व्यक्तियों का योग मात्र नहीं है (Society is not only a sum total of individuals)—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एवं राज्य की सावयविक (organic) रचना मानता है। समाज या राज्य व्यक्तियों का योग मात्र नहीं है वरन् यह एक सावयविक सत्ता है। सावयविक रचना से यह अभिप्राय है कि उसके व्यक्तित्व एवं इच्छा के पृथक् महत्वपूर्ण होने पर भी विभिन्न अंगों का पृथक्

महत्त्व होता है। प्रत्येक अंग अपना अलग कार्य करते हुए भी सावयव से पृथक् नही हो सकता। सामान्य इच्छा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियो की इच्छा का अलग-अलग योग नहीं है वरन् वह सभी व्यक्तियो की इच्छाओ की सामूहिक अनुभूति है। सामान्य इच्छा के निर्देशन मे ही व्यक्ति अपना चरम विकास कर सकता है जो सम्पूर्ण समाज के विकास से पृथक् नही हो सकता।

सामान्य इच्छा की उपर्युक्त *विशेषताओ का अध्ययन करने के बाद यह* आवश्यक हो जाता है कि हम जनमत, सर्वसम्मति और बहुमत से उसका अन्तर स्पष्ट कर लें।

सामान्य इच्छा और बहुमत (General Will and Majority)—सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा नही होती है। उसे बहुमत की इच्छा का पर्यायवाची नही समझना चाहिए। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मे सख्या का कोई मूल्य नही है। वह एक या कुछ व्यक्तियो की इच्छा भी हो सकती है। बहुमत कभी-कभी भावना प्रधान इच्छा का शिकार हो जाता है। बहुसख्यक व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। उनके प्रयत्न सार्वजनिक हित के विरोधी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये किसी कारखाने के १००० मजदूर अपने मिल मालिक को अपनी अनुचित मांगो को मनमाने के लिये विवश करें तो उनकी यह मांग सामान्य इच्छा का प्रतीक न होकर बहुसख्यक की हुई। दूसरा उदाहरण हम देशभक्त का दे सकते है, जिसे तत्कालीन बहुसख्यक देशवासी विद्रोही समझते है लेकिन अकेला होने पर भी उसकी इच्छा स्थाई सार्वजनिक हित की स्वतन्त्रता भावना का अनुमोदन करने के कारण सामान्य इच्छा है।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति (General Will and Will of All)—सामान्य इच्छा सर्वसम्मति भी नही होती। सभी व्यक्ति एकमत होने पर भी सभी व्यक्तियो के हित के लिये नही हो सकती। वह समाज के स्थाई होने के स्थान पर हानिकारक भी हो सकती है। सामान्य इच्छा व्यक्तियो की वह इच्छा होती है जो कल्याण की सत्य अनुभूति के सर्वमान्य हित की धारणा के अनुकूल होती है। सर्व सम्मति आदि उपर्युक्त गुणो से युक्त होती है तो वह सामान्य इच्छा है अथवा नहीं? उदाहरण के लिये, सती प्रथा भारतवर्ष मे जिस समय प्रचलित थी उसे सर्वसम्मति से न्यायिक ठहराया जाता था। उसके विरोध मे राजा राममोहनराय ने विलियम बैण्टिक द्वारा कानून निर्माण कराया। जनता इस विधेयक को अपने धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप समझती थी और उस विधेयक को मानने से विमुख हो रही थी। उस कलकपूर्ण प्रथा के पक्ष मे सर्वसम्मति सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नही कर रही थी।

सामान्य इच्छा और जनमत (General Will and Public Opinion)—सामान्य इच्छा और जनमत भी एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। जनमत जनता का वह मत होता है जो जनसाधारण का मत होता है। उसमे लोक कल्याण की स्थायी भावना होती है। वह किसी वर्ग का मत नहीं होता। यह व्यक्तियो की इच्छाओ का योग होता है। सामान्य इच्छा व्यक्तियों की इच्छा का योग नही होती। जनमत को समाचार पत्र, रेडियो आदि प्रभावित करके भ्रष्ट कर सकते हैं लेकिन सामान्य इच्छा को भ्रष्ट नही किया जा सकता।

सामान्य इच्छा की नाप-तौल करने वाली कोई ऐसी तुलना नहीं है जो यह स्पष्ट कर सके कि कौन-सा मत सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रहा है। बहुमत, जनमत और सर्वसम्मति इनमें से कोई भी सामान्य इच्छा नहीं हो सकती। कभी-कभी केवल एक गुणी व्यक्ति ही सामान्य इच्छा व्यक्त कर सकता है। अधिकांशतः बहुमत सामान्य इच्छा हो जाती है। कभी अपवाद स्वरूप एक या कुछ व्यक्तियों का मत सामान्य इच्छा का द्योतक हो सकता है।

सामान्य इच्छा की आलोचना
(Criticism of General Will)

सामान्य इच्छा, रूसो की कल्पना की मौलिकता एवं विवेकपरता की देन है। उसमें निम्न त्रुटियाँ हैं—

(१) **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट है** (The doctrine of general will is ambiguous and incomprehensible)—रूसो की सामान्य इच्छा पूर्ण रूप में एक अस्पष्ट अभिव्यक्ति है। सामान्य इच्छा क्या है? कहाँ प्राप्त होती है? इसका सही-सही अध्ययन नहीं किया जा सकता। एक, कुछ या अधिकांश, कितने व्यक्तियों की इच्छा सामान्य इच्छा हो सकती है? यह अंकगणित के मान्य सिद्धान्त पर आधारित नहीं है कि किन व्यक्तियों की इच्छा सामान्य इच्छा होगी। कौन-सी राशि या योग सामान्य इच्छा बन जाती है, रूसो इस कल्पना में अस्पष्ट है। वह इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ दिखाई देता है। कभी यह बहुमत की इच्छा को ही सामान्य इच्छा बनाता है क्योंकि व्यावहारिक रूप में बहुमत ही एक मान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, कभी यह बहुमत की इच्छा मानने से इन्कार करता है।

(२) **मानव इच्छा को दो भागों में विभाजित करना उचित नहीं है** (It is not proper to divide the human will into two parts)—सामान्य इच्छा की विवेचना करते समय रूसो मनुष्य की इच्छाओं को दो भागों में बाँट देता है और बताता है कि एक, यथार्थ इच्छा होती है दूसरी आदर्श। मनुष्य की इच्छाओं को इस प्रकार दो भागों में बाँटना ठीक नहीं है। रूसो यह त्रुटि करता है कि वह मानव की अविभाज्य इच्छा को खण्डित कर दो भागों में विभाजित करता है। वह कहता है कि आदर्श इच्छा स्थायी, कल्याणकारी और शान्तिकारी होती है। वही सामान्य इच्छा है। लेकिन कौन-सी इच्छा स्थायी होगी और सर्वकल्याणकारी होगी, यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं होगा और साथ ही साथ पहले से इसका ज्ञान भी नहीं किया जा सकता कि यह हितकारी होगी। कभी-कभी एक या कुछ विद्वान नागरिकों को छोड़कर अन्य व्यक्ति जिस मार्ग का अनुगमन करने पर अपना कल्याण समझते हैं वह मृगतृष्णा ही होती है। गुणवान व्यक्तियों की इच्छा का महत्त्व समय व्यतीत हो जाने पर ही स्पष्ट होता है। स्वयं रूसो के साथ भी यही घटित हुआ। उसके विचारों के जीवन काल में क्रान्ति फैलाने वाला समझा गया और उसकी निन्दा की गई। उसका जीवित रहना भी मुश्किल हो गया। लेकिन बाद में उसे जनतन्त्र के अग्रदूत के सम्मान से विभूषित किया गया। अतः आलोचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि उपयुक्त समय पर सामान्य इच्छा क्या है, इसका पता लगाना अव्यावहारिक है।

(३) सामान्य कल्याण की व्याख्या करना कठिन है (It is difficult to define general good)—सामान्य इच्छा सामान्य कल्याण की अनुभूति होती है। सामान्य कल्याण क्या है? यह एक जटिल प्रश्न है। बैंथम ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' जैसा मापक प्रदान किया था और बताया था कि दुखों का निवारण और सुख प्राप्ति के साधन ही मनुष्य के लिए हितकारी होते हैं। लेकिन रूसो ने, इस प्रकार की कोई कसौटी नहीं प्रदान की और केवल मात्र कल्याणकारी इच्छा को सामान्य इच्छा बताया। कल्याण क्या होगा? यह बताना बहुत कठिन है।

(४) सामान्य इच्छा राज्य के निरंकुश स्वरूप का समर्थन करती है (General will indicates the absolute nature of the state)—रूसो ने व्यक्तियों को सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करने की शिक्षा दी। उसने कहा कि व्यक्ति को आँख बन्द कर सामान्य इच्छा का पालन करना चाहिए। यह विचार निरंकुशतावादी प्रकृति का पोषक है। इस प्रकार व्यक्ति राज्य के अत्याचार के विरोध में भी मुँह नहीं खोल सकता।

इसके अतिरिक्त सामान्य कल्याण की जटिल व्याख्या होने के कारण निरंकुश *तानाशाही को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त है। तानाशाह अपने पक्ष को पुष्ट* करने के लिए यह तर्क दे सकता है कि उसके अत्याचार उसके निजी स्वार्थों के स्थान पर सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं। उसके आदेश सामान्य इच्छा के आदेश हैं अतः उसका पालन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। [आधुनिक युग में प्रजातन्त्र का विनाश कर तानाशाह यही तर्क देते हैं कि यह कार्य सामान्य इच्छा से प्रेरित होकर किया गया है। प्रजा का हित उनके शासन में ही हो सकता है। हिटलर मुसोलिनी के अतिरिक्त पाकिस्तान के तानाशाह प्रेसीडेण्ट अयूब खाँ का शासन पूर्व प्रजातन्त्र के दोषों का निवारण कर जनता के सामान्य हित से प्रेरित होकर किया गया लेकिन सामान्य इच्छा की भ्रमपूर्ण हितकारी धारणा तानाशाहों का समर्थन करती है और शीघ्र ही उनका विनाश भी, क्योंकि वास्तविकता उसके विपरीत होती है।]

(५) सामान्य इच्छा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए पर्याप्त है (General Will is sufficient to make the liberty of individual disappear)—रूसो ने बताया था कि सामान्य इच्छा का उल्लंघन असहनीय है, व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करते हुए अधिक स्वतन्त्र रह सकता है। यहाँ हमें हीगल तथा रूसो के व्यक्ति स्वातन्त्र्य में कोई भेद नहीं दिखाई देता। सामान्य इच्छा व आदर्श व्यक्ति को अधीन बनाकर उसके व्यक्तित्व को विकसित होने से रोकने में सहायक होती है। इस प्रकार सामान्य इच्छा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल कर प्रतिबन्ध लगा देती है। लेकिन हम रूसो के इस विचार के महत्त्व को भी समझ लेना चाहिए। उसका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध होने के स्थान पर उसके विकास में एक सहायक पद है।

(६) आधुनिक युग के विस्तृत आकार के राष्ट्र राज्यों के लिए सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अनुपयुक्त है (The theory of General Will is incongenial to the vast size of the modern nation state)—रूसो ने कहा था कि

सामान्य इच्छा प्रतिनिधि मूलक नहीं होती है। प्रतिनिधि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। वह सम्प्रभु होती है और जैसे ही वह अन्य व्यक्तियों को, चाहे वे प्रतिनिधि क्यों न हों, प्रदान की जायगी, उसका अस्तित्व नष्ट हो जायगा। प्रतिनिधि से ऊपर सामान्य इच्छा हस्तान्तरित करने वाले होंगे जिन्हें सर्वोच्च नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में प्रजातन्त्र राज्यों में विस्तृत होकर भारत, अमेरिका और रूस जैसे बड़े-बड़े राज्यों का रूप ले चुका है, सभी व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेने के स्थान पर अपने प्रतिनिधियों को चुन देते हैं और प्रतिनिधि ही शासन करते हैं। प्रतिनिधि इच्छा-कर्ता या बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करते, ऐसी अवस्था में सामान्य इच्छा उन्हें प्राप्त नहीं होती।

(७) सामान्य इच्छा का महत्त्व (Importance of General Will)—रूसो की सामान्य इच्छा की आलोचनाओं का अध्ययन करने में यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उसका महत्त्व कम है। रूसो का यह सिद्धान्त उसे दार्शनिकों के उच्च शिखर पर बैठा देता है। सामान्य इच्छा राज्य की उत्पत्ति का सही रूप प्रस्तुत करती है। राज्य दैवीय या शक्ति पर आधारित इच्छा नहीं वरन् मानव इच्छा पर आधारित है। ग्रीन ने भी इसी रूसो-दर्शन पर इच्छा, शक्ति नहीं, राज्य का आधार है (Will, not force, is the basis of state) प्रतिपादित किया। राज्य का सुधार इच्छा द्वारा ही किया जाता है। राज्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड भी सामान्य इच्छा द्वारा दिया जाता है जिसमें स्वयं व्यक्ति की इच्छा भी निहित होती है।

सामान्य इच्छा ने वर्तमान प्रजातन्त्र के विकास में काफी योग प्रदान किया है। सामान्य इच्छा प्रजातन्त्र का आधार है। राज्य की स्थापना समझौते के आधार पर होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का योगदान रहता है। इसके अतिरिक्त सामान्य इच्छा राज्य के लोकहितकारी स्वरूप को निरूपित करती है। राज्य का कार्यक्षेत्र समाज का सर्वांगीण हित करना है, किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष का हित नहीं। आधुनिक युग की 'लोक कल्याणकारी राज्य' (Welfare Sate) की अभिव्यक्ति सामान्य इच्छा की देन है। 'सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के विचारों का केन्द्र नहीं, वरन् सबसे मौलिक, सबसे दिलचस्प और ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।"

और अपनी स्वेच्छा से अपने अधिकार एवं शक्तियों को सम्पूर्ण समाज को समर्पित कर देता है। इच्छाओं का यह समन्वय सामान्य इच्छा कहलाता है। रूसो के अनुसार सम्प्रभुता इसी राजनीतिक समाज की सामान्य इच्छा में निहित बताई जाती है। रूसो सर्वप्रथम ऐसा दार्शनिक था जो सम्प्रभुता की निरंकुशता पर विचार करते हुए उसे प्रजातन्त्रीय बना देता है जो उसे जनतन्त्र का अग्रदूत बना देती है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्तिगत हित के विपरीत सार्वजनिक हित का लक्ष्य लेकर चलती है और साथ ही सम्प्रभुता के आदेशों का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। इस प्रकार उसमें लोकतन्त्र और निरंकुशतन्त्र का अद्भुत मिश्रण रहता है।

रूसो की निरंकुश लोकप्रिय सम्प्रभुता की विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) सम्प्रभुता अविभाज्य (Indivisible) होती है। सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। वह समाज के विभिन्न वर्गों में पृथक्-पृथक् नहीं बाँटी जा सकती। सम्पूर्ण जनता ही सम्पूर्ण रूप में सम्प्रभु होती है। वह एक इकाई के रूप में रहती है। सम्प्रभुता का कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के विभिन्न पदाधिकारियों में वितरण उसका विभाजन नहीं करता। वह सम्पूर्ण जनहित के लिए जन समाज का ही कार्य है।

(२) सम्प्रभुता अहस्तान्तरणीय (Inalienable) होती है। जनशक्ति सम्प्रभुता को अपनी सामान्य इच्छा में निहित मानती है। कभी भी प्रभुता सम्पन्न जनता अपनी इच्छाशक्ति अपने प्रतिनिधियों को नहीं सौंप सकती, क्योंकि जैसे ही उसको हस्तान्तरित किया जायगा, उसका अस्तित्व नष्ट हो जायगा। सम्प्रभुता को प्राप्त करने वाला स्वयं सम्प्रभु नहीं हो सकता। इस आधार पर रूसो ने राजतन्त्र का खंडन किया। उसने कहा कि जनता अपनी सम्प्रभुता कभी नरेश को नहीं सौंप सकती क्योंकि ऐसा करने का अभिप्राय यह होगा कि नरेश सम्प्रभु नहीं हो सकेगा।

(३) सम्प्रभुता कभी भी गलत या त्रुटिपूर्ण नहीं (Infallible) होती। वह सदैव सत्य होती है। सम्प्रभु जनहित को अपना लक्ष्य बनाकर कार्य करता है। उसमें वर्गीय हित को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। सभी के हित के लिये कार्य करने के कारण वह त्रुटिपूर्ण नहीं हो सकती है।

(४) सम्प्रभुता असीमित (Unlimited) होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहमति द्वारा समाज का निर्माण करता है, यह समाज अपनी असीमित शक्तियों द्वारा सामान्य हित के लिये कार्य करता है। सम्प्रभु सदैव वही कार्य करता है जो लोकहित में वृद्धि करते हों। रूसो की सम्प्रभुता की यह व्याख्या उसे हॉब्स की श्रेणी में ले आती है। "सभी आवश्यक तत्त्वों की दृष्टि से रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त हॉब्स से मिलता-जुलता है। यह कहा जाता है कि रूसो भी उतना ही निरंकुशतावादी था जितना हॉब्स। उसकी सामान्य इच्छा हॉब्स का सिरविहीन दैत्याकार है।" [Thus in all essentials, Rousseau's theory of sovereignty is akin to that of Hobbes. Rousseau, it is said, was as absolutist as Hobbes and his general will is Hobbes' Leviathan with its head chopped off.]

सम्प्रभुता की सीमाएँ (Limits of Sovereignty)—रूसो के जीवन एवं दर्शन की भाँति उसका सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विरोधाभासों से भरा हुआ है। सम्प्रभुता की सीमा क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में रूसो दो विरोधी विचारधाराएँ प्रस्तुत

करता है। सर्वप्रथम वह यह कहता है कि सम्प्रभुता पर कुछ सीमा लगाई जा सकती है। सम्प्रभु कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो सामान्य हित के विरोध में हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सम्प्रभु का कार्य-क्षेत्र उन्हीं कार्यों तक विस्तृत है जो एक व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के सामान्य कल्याण के लिये किया जायें। इस प्रकार रूसो सम्प्रभुता पर सीमा लगाते हुये उसे हॉब्स की निरंकुशता से मुक्त करता है, वह व्यक्ति को सम्प्रभु के नियन्त्रण से मुक्त रखना चाहता है, वह सामान्य हित के विपरीत कोई कार्य नहीं कर सकता है। यहाँ रूसो व्यक्ति को उस सीमा तक स्वतन्त्र रखता है जब तक राज्य के कार्य सार्वजनिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर न किये गये हों।

सम्प्रभुता के एक दूसरे पक्ष में रूसो इस विचारधारा का पूर्ण विरोधी विचार व्यक्त करता है कि क्या कोई ऐसा वैयक्तिक क्षेत्र होगा या हो सकता है, जहाँ व्यक्ति के अधिकार राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त रह सकें? इस प्रश्न के उत्तर में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के स्थान पर सम्प्रभुता की निरंकुशतावादी व्याख्या करते हुये रूसो कहता है कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ पर सम्प्रभुता का क्षेत्र न फैला हो। सम्प्रभु को निरंकुश अधिकार प्राप्त होते हैं और वह उनका प्रयोग भी उसी प्रकार मनमाने रूप में कर सकता है, "जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्यों को उसके शरीर के विभिन्न अवयवों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त किया है। ठीक उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने राजनीतिक सावयव को उसके शरीर के विभिन्न अवयवों (व्यक्ति) के ऊपर पूर्ण निरंकुश अधिकार प्रदान किये हैं।" ["He declares: as nature gives to every man an absolute power over all its members, the social pacts gives to the body politic absolute over all its members."—Rousseau.]

यहाँ रूसो के राज्य के आंगिक सिद्धान्त (Organic Theory of State) की झाया स्पष्ट दिखाई देती है। इस सिद्धान्त द्वारा रूसो राज्य की निरंकुशता का पोषक बन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि व्यक्ति राज्य की निरंकुश छाया में रहकर ही स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकता है राज्य का निरंकुश हो जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि व्यक्ति ने जिस अनुबन्ध द्वारा राज्य का निर्माण किया 'उसने उन्होंने अपनी शक्तियों, अपनी सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता को समाज-द्वारा लाभ के प्रयोग के लिये प्रदान कर दिया' इस समझौते का प्रथम भाग व्यक्ति को सुरक्षित अधिकारों का आभास देता है लेकिन वाक्य का अगला भाग राज्य की निरंकुशता का समर्थन करते हुये यह स्पष्ट करता है कि उस लाभ का निर्णायक सम्प्रभु मात्र ही है।

इस प्रकार रूसो सम्प्रभुता को असीमित (निरंकुश) बना देता है और हॉब्स का अनुगमन करता है। सम्प्रभुता के ऊपर रूसो जिस प्रकार की सीमा लगाना चाहता था, वह कोई बाह्य सीमा नहीं थी वरन् वह स्वतः अपने ऊपर लगाई गई है। यह सीमा वैयक्तिक इच्छा के सामान्य इच्छा में समन्वय का परिणाम है। सम्प्रभु की सामान्य इच्छा सीमाओं के बन्धन को स्वीकार करती है जो वैयक्तिक न होकर सामान्य हित को ही आगे रखता है।

विधि (Laws)

रूसो ने विधि की बहुत ही रोचक व्याख्या की है। रूसो एक या कुछ व्यक्तियों के हाथ में सम्पूर्ण शक्तियाँ सौंपने के लिये तैयार नहीं था। वह राजतन्त्र

या कुलीनन्तत्र के स्थान पर प्रजातन्त्र का पोषक था। अतः उसने सामान्य इच्छा के सृजन द्वारा, अनुबन्धन के आधार पर एक व्यक्ति की निरंकुशता के स्थान पर सम्पूर्ण शक्तियों को ऐसी संस्था के हाथों मे सौंपना चाहा, जो स्वयं सभी व्यक्तियों की इच्छा के अतिरिक्त कुछ न हो, सभी उसकी आज्ञाओं का पालन करें और उनसे ऊपर न हो, बिना किसी स्वामी के सभी आज्ञा पालन करते रहें। सभी उतने ही स्वतन्त्र रहें, जितने स्वतन्त्र रह कर वे अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का हनन न कर सकें। ऐसी संस्था या सत्ता विधि के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकती थी। अतः रूसो ने विधियों को ही एकमात्र मनुष्यों को न्याय और स्वतन्त्रता का उपयोग करने की प्रेरणा देने की शक्ति बताया। यही वह प्रशंसनीय शक्ति होती है जिसने प्रत्येक की इच्छा को निर्माण कर मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्थापित की। यह वह स्वर्गीय ध्वनि है जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को तर्क द्वारा निर्देशित करती है और उसे यह दिखाती कि है कि वह अपने निर्णयों के आधार पर कार्य करते रहें और स्वयं आत्मविरोधी कार्य न करें। विधियाँ क्या हैं? विधि की परिभाषा करते हुये रूसो ने संक्षेप मे बताया कि विधि विश्व की आवाज (Universal Voice) है जो सामान्य इच्छा मे सुनाई देती है। डनिंग ने रूसो द्वारा प्रतिपादित विधि की व्याख्या इस प्रकार की। 'विधियाँ समस्त व्यक्तियों का प्रस्ताव है जो सभी व्यक्तियों के लिये किसी सामान्य विषय पर प्रभाव डालते हो।' [A law is a resolution of the whole people, touching a matter that concerns all.] रूसो ने इस सामान्य इच्छा को ही विधि का आधार माना है। सामान्य इच्छा समझौते के बाद ही बनती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समझौते से पूर्व की अवस्था प्राकृतिक अवस्था मे किसी प्रकार की विधियाँ नहीं थी। वह हॉब्स और लॉक के प्राकृतिक विधि सिद्धान्त का खण्डन करते हुये यह कहता है कि प्राकृतिक अवस्था मे किसी प्रकार की विधि नही थी। प्राकृतिक अवस्था विधि विहीन थी, यह बहुत ही वैज्ञानिक कथन है। राजनीति शास्त्र मे इनका पर्याप्त महत्त्व है। विधि केवल सुसंगठित समाज में ही हो सकती है, वहाँ उनकी रक्षा का भार प्रभुतावान संस्था के ऊपर होता है। अतएव प्राकृतिक अवस्था मे प्रभुसत्ता होने का प्रश्न ही नही था, फिर प्राकृतिक विधियाँ कैसे हो सकती थी। इसीलिये विधियाँ सामाजिक समझौते के उपरान्त सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हैं।

विधि की विशेषता (Characteristics of Laws)—विधि की विशेषता बताते हुये रूसो ने कहा कि विधियाँ व्यापकत्व की भावना लिये होती है। इसका निर्माण सामान्य इच्छा द्वारा किया जाता है। सामान्य इच्छा की रचना होने के कारण वे सभी व्यक्तियों पर, उनके कार्यों आदि पर नियन्त्रण रखती हैं। विधियाँ व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करती है, सामूहिक रूप मे नागरिकों की सुविधाओं आदि का प्रबन्ध करती है। लेकिन वे कभी भी किसी व्यक्ति विशेष के लिये सुविधाओं की व्यवस्था नही करती। जैसे ही कोई विधि किसी व्यक्ति विशेष के लिये सुविधाओं की व्याख्या करती है वह विधि न रह कर आदेश बन जाती है। उदाहरण के लिये हम भारतीय संविधान मे विधि प्रवचन का अध्ययन करते समय मौलिक अधिकारों का अध्ययन करते हैं, यह अधिकार भारतवर्ष में निवास करने वाले उस प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है जो नागरिक हो। हरिजन और महिलाओं के लिए कुछ विशेष सुविधायों की व्यवस्था की गई है, यह उनके पिछड़े हुये स्तर को ऊंचा उठाने के लिये आवश्यक था। यह सुविधा समस्त हरिजन वर्ग के लिये है किसी अ, ब, स, हरिजन के

लिये नहीं। लेकिन जैसे ही अ, ब, स, हरिजन व्यक्तिगत आवश्यकताओं के औचित्य को न्यायालय के सामने प्रस्तुत करता है और न्यायालय कार्यकारिणी को उन्हें पूरा करने के लिये जो निर्णय देता है, वह विधि नहीं वरन् आदेश होते हैं। ठीक इसी विधि द्वारा यह व्यवस्था की जा सकती है कि अमुक राज्य में वंश क्रमानुसार राजतन्त्र होगा या प्रतिनिधि मूलक प्रजातन्त्र होगा, लेकिन विधि किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेकर गद्दी पर नहीं बैठा सकती, यह कार्य विधि का नहीं, आदेश का है।

विधि निर्माता कौन हो? (Who should be Lawgiver)—विधि निर्माण कोई एक व्यक्ति-समूह कर सकता है। यह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह उसी अवस्था में विधि निर्माण कर सकता है जब वह सामान्य हित को भली भाँति पहिचानता हो। कभी-कभी ऐसे उदाहरण देखने में आते हैं कि जन सामान्य अपनी सामान्य इच्छा को नहीं पहिचान पाता है, और एक व्यक्ति ही उसको पहिचान लेता है। उदाहरण के लिये, भारत में मनु या एथेंस में सोलन आदि ने सामान्य इच्छा को ठीक प्रकार समझ लिया था, उस अध्ययन पर आधारित विधि आज भी मान्य समझी जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विधि निर्माण कर सकता है बशर्ते उसमें निम्न गुण हों—

(१) वह सामान्य इच्छा के स्थाई हित को पहिचानने की बुद्धि रखता हो।

(२) उसके हृदय में पूर्ण शुद्ध भाव हो, अर्थात् वह अपने स्वार्थों की पूर्ति में रत न हो।

(३) वह सच्चरित्र हो, जिससे शक्ति लोलुपता उसे पतनोन्मुख न कर सके।

(४) विधियाँ सर्वमान्य हों, विरोध न हो सके, इसके लिये पूर्व ही जनता से स्वीकृति ले ले।

लेकिन रूसो कहता है कि वास्तव में विधि निर्माता सामान्य इच्छा ही होती है कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह अथवा दैवीय इच्छा नहीं। सम्पूर्ण जनता ही अपनी सामान्य इच्छा द्वारा जिन कानूनों का निर्माण करती है वे चिरस्थाई होते हैं और उनके विरोध की सम्भावना नहीं होती। शासक नरेश भी विधि से ऊपर नहीं होता। वह राज्य का सदस्य होता है, सामान्य इच्छा राज्य का निर्माण करती है इस सामान्य इच्छा में शासक की इच्छा भी सम्मिलित रहती है और तदनुसार शासक भी उससे अनुशासित रहता है। इस विचार की उपसिद्धि यह है कि विधि अन्यायी भी नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी स्वयं अपने आप अपने ऊपर अन्याय नहीं कर सकता।

इस प्रकार रूसो यह स्पष्ट करता है कि विधि निर्माण का कार्य सामान्य इच्छा ही कर सकती है। और सामान्य इच्छा सम्पूर्ण जनता की इच्छा हो सकती है, प्रतिनिधियों की इच्छा नहीं। प्रत्यक्ष रूप में जनता जो स्वयं विधि निर्माण कर सकती है, उन्हें ही सामान्य इच्छा निर्मित विधि कह सकते हैं। यह विचारधारा रूसो पर यूनान के नगर राज्यों का प्रभाव इंगित करती है। इस प्रकार रूसो नगर राज्यों जैसे छोटे-छोटे प्रजातन्त्र का समर्थक है। आधुनिक युग के बड़े बड़े राष्ट्र राज्यों में विधि निर्माण प्रतिनिधि व्यवस्थापक करते हैं, रूसो इन्हें विधि निर्माण के लिये अनुपयुक्त बताता है।

शासनतन्त्र का वर्गीकरण
(Classification of Government)

शासनतन्त्र (सरकार) का वर्गीकरण करने से पूर्व रूसो ने राज्य एवं सरकार मे अन्तर स्पष्ट किया। रूसो ने राज्य की परिभाषा करते हुए यह बताया था कि राज्य सम्पूर्ण समाज का ही नाम है जो सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ और स्वय सामान्य इच्छा की सुर्वोच्च अभिव्यक्ति है सरकार, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च आदेशो को क्रियान्वित करने के लिये, सम्पूर्ण समाज द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को कहते हैं। सरकार किसी समझौते के आधार पर उत्पन्न नही होती वरन् वह तो सामान्य इच्छा के सर्वोच्च सम्प्रभु के आदेशो द्वारा उत्पन्न होती है। सरकार की शक्तियाँ प्रदत्त या अनुदित हैं, वह स्वय अपनी इच्छा पर कोई कार्य नही करती और न ही स्वय विधि निर्माण कर सकती है, वरन् वह सामान्य इच्छा की विधियो को क्रियान्वित करती है वह अपनी समस्त शक्तियो के लिये सम्प्रभु के प्रति उत्तरदायी होती है। सम्प्रभु को सामान्य इच्छा जब चाहे परिवर्तित कर सकती है। इस परिवर्तन काल में सरकार बदल जाती है और राज्य बना रहता है। शासन से रूसो का अभिप्राय केवल कार्यकारिणी विभाग से ही है। जिन व्यक्तियो को यह शक्तियाँ सौंपी जाती हैं उन्हे चाहे नरेश कहा जाय या मजिस्ट्रेट, चाहे राज्यपाल या सिनेटर कहा जाय, वे सभी सम्प्रभु के प्रति समान उत्तरदायित्व रखते हैं। उनकी शक्तियाँ सम्प्रभु प्रदत्त होती हैं। उनमें परिवर्तन किया जा सकता हैं। सम्प्रभु अपनी इच्छा पर उनमे कमी कर सकता है या उन्हे पूरी तरह से वापिस ले सकता है। सम्प्रभुता की यह व्याख्या नरेश को प्रजा के अधीन रखने के स्थान पर, सामान्य इच्छा (जनता) को सम्प्रभुता प्रदान करती है। इस कारण नरेश प्रभुता सम्पन्न जनता के अधीन हो जाता है। व्यक्ति त्रिपक्षीय इच्छा का प्रतीक है—(१) पूर्ण व्यक्तिगत इच्छा (२) सरकार यन्त्र के रूप मे इच्छा, और (३) सम्पूर्ण समाज की सामान्य इच्छा।

रूसो पर यूनान के राज्य दर्शन का यथेष्ट प्रभाव पडा। इसलिये शासन तन्त्र का वर्गीकरण वह अरस्तू से प्रभावित होकर करता है। अरस्तू के समान रूसो ने भी शासनतन्त्र का विभाजन व्यक्तियो की सख्या पर आधारित किया। शासन की शक्तियो का प्रयोग एक व्यक्ति, कुछ व्यक्ति या अधिकाश व्यक्तियो द्वारा किया जा सकता है। शासन की शक्तियाँ जब एक व्यक्ति के हाथो मे होती हैं, उसे राज-तन्त्र (Monarchy) कहते हैं, जब शासन की शक्तियो का उपभोग कुछ व्यक्तियो के समूह द्वारा किया जाता है तो उसे कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहते हैं, और जब अधिकाश जनता इन शक्तियो का प्रयोग करती है, उसे प्रजातन्त्र (Democracy) कहते हैं। यह प्रजातन्त्र उसी अवस्था मे अच्छी तरह कार्य कर सकता है जब वह सम्पूर्ण जनता की सामान्य इच्छा द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे, बिना प्रतिनिधि नियुक्त किये स्वय कार्य करे। लेकिन रूसो यह भी जानता था कि इस प्रकार का प्रजातन्त्र आज के युग के बडे-बडे राष्ट्र राज्यो के लिये सम्भव नही। अत व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसने कहा कि प्रजातन्त्र छोटे-छोटे सरल समाज मे ही सम्भव हो सकता है। सम्प्रभुता सदैव प्रजातन्त्रीय होती है- लेकिन "प्रजातन्त्रीय शासन मानव जाति के लिये अनुपयुक्त है।" [............but democratic government is not suited to mankind.] आधुनिक युग को राज्यों में विस्तृत प्रदेश एव जनसख्या

होने के कारण प्रतिनिधि प्रजातन्त्र ही प्रयोगान्वित किये जा सकते है और प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र असम्भव है। ऐसी अवस्था के लिये रूसो का परामर्श यह है कि जनता समय-समय पर अपनी आम सभा मे शासन के बारे मे स्वयं निर्णय कर सके। रूसो का यह विचार आज अव्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त रूसो ने मिश्रित शासन का विचार भी दिया।

सर्वश्रेष्ठ शासन कौनसा है ?

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र मे सर्वश्रेष्ठ शासन कौनसा है ? रूसो ने इस प्रश्न पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त नही किया और इस जटिल समस्या की भूल भुलैया में भटकने के स्थान पर उसने अनुभव के आधार पर यह बताया कि प्रत्येक प्रकार की शासन प्रणाली किसी परिस्थिति एव वातावरण विशेष के लिये उपयुक्त होती है। एक शासन एक परिस्थिति मे सफल हो सकता है लेकिन दूसरी परिस्थितियो मे वह अनुपयुक्त रहता है। इसलिये कौनसा शासन सर्वश्रेष्ठ है ? इस पर स्पष्ट मत अभिव्यक्त करने के बजाय यह कहा कि कौन देश अच्छे शासन मे है या बुरे मे, इसका पता लगाने के लिये एक ही आधार तुला है। उस पर तोल कर ही हम यह बता सकते है कि कौनसा शासन श्रेष्ठ है। "अन्य सभी परिस्थितियो के समान होने पर वही शासन श्रेष्ठ है जहाँ नागरिक बिना बाह्य विदेशी आधार के, बिना नागरिकता परिवर्तन किये, बिना उपनिवेश स्थापित किये, नागरिक संख्या मे अधिकतर बढते चले जायें। निकृष्ट शासन मे जनता घटती जाती है और मृत्यु को प्राप्त होती है। गणकों के हाथ मे तुला है, गिनो, नापो, और तुलना करो।

रूसो का शासन सम्बन्धी विचार भी विरोधाभास युक्त है। शासन का रूप चाहे राजतन्त्र हो, कुलीनतन्त्र हो या प्रजातन्त्र, सम्प्रभुता सदैव सम्पूर्ण राजनैतिक समाज मे रहती है। सदैव सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु होती है, लेकिन यह कभी भी कार्यपालिका या कार्यकारिणी नही हो सकती। सम्प्रभु सामान्य इच्छा यह अभिव्यक्त कर सकती है कि किस प्रकार की सरकार हो, लेकिन वह किसी व्यक्ति का नामकरण नही कर सकती कि कौन-कौन सरकार के पदाधिकारी होंगे। यह कार्य विशेष कार्य है जो सामान्य इच्छा की शक्ति से परे है। कार्यकारिणी के पदाधिकारी नियुक्त करना सरकार का कार्य है, सम्प्रभु का नही। यहाँ एक कठिनाई आ जाती है कि सरकार के निर्माण से पूर्व ही सरकार किस प्रकार कार्य कर सकती है। इस विरोधाभास का विशेष महत्त्व नही है। समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना होती है और राज्य भी समझौते का ही एक पक्ष हो जाता है। इसलिये हम देख सकते है कि सामान्य इच्छा सम्प्रभु होती है, उसका निर्माण होते ही वह शासन मे परिवर्तित हो जाती है। यह परिवर्तन किसी नये रूप मे प्रत्येक का प्रत्येक से सम्बन्ध प्रकट करता है और नागरिक कार्यकारिणी के अंग होकर सामान्य विधि निर्माण मे विशेष विधि क्रियान्वित करने की ओर अग्रसर होते है। सर्वप्रथम नागरिक सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा विधि निर्माण करते है। और यह निश्चय करते हैं कि किसी प्रकार शासन प्रणाली स्थापित की जानी चाहिये, तथा दूसरे भाग में वे शासकीय आदेश के रूप में यह निर्धारित करते है कि अमुक-अमुक व्यक्ति शासकीय पदों को ग्रहण करेंगे। अतः रूसो के अनुसार

शासन का आरम्भिक रूप अवश्य ही जनतन्त्रीय है और बाद मे उनका अन्य रूपो में विकास होता है।

श्रेष्ठ शासन की व्याख्या करते समय रूसो यह बताता है कि राजतन्त्र कदापि श्रेष्ठ शासन नही हो सकता, क्योकि राजा अधिकतर निरकुश बनने की चेष्टा किया करते हैं। वश परम्परागत कुलीनतन्त्र निकृष्टतम शासन और निर्वाचित कुलीनतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन है। प्रजातन्त्र मनुष्यो के लिये एक अतिपूर्ण शासन है।

राष्ट्रीयता
(Nationality)

रूसो के राजदर्शन मे राष्ट्रीयता के विचार अस्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। *उसने कही भी राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता शीर्षक के विचार प्रस्तुत नही किये*, लेकिन जिस प्रकार उसने राज्य मे एकता का वणन किया है वह राष्ट्रीयता की भावना के अतिरिक्त कुछ नही है। वह स्वतन्त्रता और सामान्य इच्छा के जिस सिद्धान्त का वर्णन करता है वह देशभक्ति की राष्ट्रीय भावना ही है। उसका प्रत्येक विचार राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत है। वह पोलैण्ड के विकेन्द्रीयकरण पर निबन्ध रचना कर पोलैण्ड निवासियो की राष्ट्रीय भावना उभाडता ही है। दूसरी ओर जब वह मानवता एव विश्व व्यापी जाग्रति के आदर्शों आदि पर विचार करता है, उन्हे नैतिकता के सिद्धान्तो से विहीन बताता है। वर्तमान राष्ट्र राज्यो मे नागरिकता की चर्चा वह भूतकालीन नगर राज्यो के रूप मे करता है। रूसो स्वयं राष्ट्रीयता-वादी न होते हुये भी, प्राचीन नागरिकता की इस प्रकार व्याख्या करता है कि उसमे राष्ट्रीयता की भावना उमड आती है।". ["Thus, without being himself a nationalist, Rousseau helped to recast the ancient idea of citizenship in a form that national sentiments could appropriate it" —G. H. Sabine]

व्यक्ति अधिकार
(Rights)

सामाजिक अनुबन्ध द्वारा व्यक्ति ने अपने अधिकार समाज को प्रदान कर दिये और यह अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को नही दिये गये वरन् राजनीतिक समाज को प्राप्त हुये। राजनीतिक समाज प्रभुत्व सम्पन्न सामान्य इच्छा ही है, उसमे *अधिकार समर्पण करने वाले व्यक्तियो की इच्छायें सम्मिलित हैं।* इस प्रकार सामाजिक संस्था एक सामूहिक रचना है जिसमे अपने ही अधिकार जिन्हे पहले व्यक्ति उपभोग करता था, पूरी तरह से व्यक्तिगत एव प्राकृतिक थे, समाज को अर्पित कर, उस समाज का सदस्य होने के कारण त्याग कर, नागरिक अधिकार के रूप मे पुन. प्राप्त कर लेता है।

राज्य क्रान्ति
(Revolution)

क्या व्यक्ति राज्य के प्रति क्रान्ति कर सकते हैं ? इस पर रूसो ने अपने एक पत्र मे, जो उसने अपनी मातृभूमि जिनेवा के निवासियो को १७५२ मे लिखा था

विचार प्रकट किया है। उसने लिखा था कि राज्यक्रान्ति करना व्यक्ति के अधिकार की बात नहीं है और अनुचित भी है, क्योंकि क्रान्ति में हत्या की जाती है और हत्या करना अनैतिक है। फलस्वरूप राज्य की जिस अनैतिकता को मिटाने के लिए क्रान्ति की जाती है, वह हत्या करने के कारण और अधिक दोष उत्पन्न करती है। दूसरे, रूसो के राजदर्शन के अनुसार क्रान्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। रूसो के अनुसार राज्य सामान्य इच्छा द्वारा उत्पन्न होता है और शासन सामान्य इच्छा के इशारे से किया जाता है। जब सामान्य इच्छा ही शासन करती है तो व्यक्तियों को कभी भी विद्रोह करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। शासन स्वयं व्यक्ति की इच्छा का ही अंग है, तो अपनी ही इच्छा का विरोध कैसा ? यह आश्चर्य का विषय है कि जो रूसो क्रान्ति को अनैतिक और राजदर्शन में असम्भव बताता है, जिसके विचार क्रान्ति विरोधी हैं वही फ्रांस की राज्यक्रान्ति का अग्रदूत कहा जाता है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के नेता राबेस्पीयर आदि अपने व्याख्यानों को उसके कथनों से अलंकृत कर, उसे क्रान्ति के सम्माननीय देवता के रूप में पूजते हैं।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य
(Individual Liberty)

रूसो के राजनीतिक दर्शन में अनेक असंगतियाँ पाई जाती हैं लेकिन उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण एवं उलझी हुई विचारधारा उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में लक्षित होती है। उसके विचारों का अध्ययन करने पर ऐसा दिखाई देता है कि वह मनुष्य को हॉब्स के समान ही राज्य की दासता में रख कर, निरंकुश शासन की स्थापना कर रहा है। वह सामान्य इच्छा का महत्त्व इतना बढ़ा देता है कि व्यक्ति उसके सम्मुख अस्तित्वहीन हो जाता है। दूसरी ओर वह स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक दिखाई देता है और स्वतन्त्रता का मसीहा मालूम पड़ता है। वह इन दोनों विचारधाराओं के मध्य में मार्ग खोजता प्रतीत होता है।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर विचार करते समय रूसो ने एक ऐसा वाक्य प्रयोग किया, जिसकी व्याख्या अनेक रूपों में की जाती है और फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह अब भी अस्पष्ट है। रूसो ने कहा, "मनुष्य स्वतन्त्र होने पर भी सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है। वह व्यक्ति जो अपने को अन्य व्यक्तियों का स्वामी समझता है, उन अन्यों से भी अधिक दास दिखाई देता है। यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ, मुझे नहीं मालूम। इसे किस प्रकार वैध ठहराया जा सकता है, मेरा विश्वास है कि मैं इस प्रश्न का उत्तर दे सकता हूँ।" ("Man is born free and every where he is in chains One who believes himself the master of the rest is only more of a slave than they. How does that change came about ? I do not know, what can render it legitimate. That question ? I thing I can answer."—Rousseau] इस कथन के प्रथम भाग की विवेचना उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों पर यथेष्ट प्रकाश डालती है। 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है' वाक्य के प्रथमांश की व्याख्या आवश्यक है। इसका क्या आशय है ?

'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है' यह मानव की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का चित्रण करता है। मनुष्य जिस समय इस विश्व में प्रवेश करता है, वह पूर्णतया

स्वतन्त्र होता है। उसके हाथ-पैर चलाने की क्रिया स्वाभाविक होती है। वह कभी रोता है, कभी हँसता है वह सब कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता ही उसके विकास मे पूर्ण योगदान करती है अत हम कह सकते हैं कि बालक जन्म लेता है, *उस पर कोई बन्धन नही होते। दूसरे, प्राकृतिक अवस्था की प्रथम कल्पना मे* मनुष्य स्वतन्त्र रहता है। उसकी यह स्वतन्त्रता भी दो प्रकार की होती है। एक तो वह इच्छा के बन्धन से मुक्त होता है। आरम्भ मे मनुष्य इच्छाओ का दास नही था। मनुष्य की विवेक बुद्धि का विकास न होने के कारण वह इच्छालु नही था, भूख लगती थी तो कन्दमूल खा लेता था, प्यास लगती थी तो पानी पी लेता था, इसके अतिरिक्त उसकी आवश्यकतायें नही थी। ऐसी अवस्था मे उसका जीवन स्वतन्त्र था। तीसरे, सामाजिक जीवन का विकास नही हुआ था। समाज, सस्थाएँ, समुदाय या राज्य आदि नही थे। *यह सस्थाएँ मनुष्य के जीवन मे अनेको प्रतिबन्ध लगा देती* हैं। लेकिन इनके अभाव की प्राथमिक अवस्था मे मनुष्य पर प्रतिबन्ध नही थे और वह स्वतन्त्र था। अन्त मे, व्यक्ति इस अवस्था मे पूर्ण स्वतन्त्र था, न कोई परम्पराएँ थी, और न कोई कानून थे। कानून और परम्पराओ के बन्धन से स्वतन्त्र मनुष्य कार्य करने के लिए स्वतन्त्र था। अत रूसो के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र ही उत्पन्न होता है। *प्राकृतिक अवस्था मे तथा जन्म लेते ही शिशु इच्छाओ के, परम्पराओं एव* कानूनो के, सस्थाओ आदि के बन्धन से मुक्त रहता है।

लेकिन जब हम आज के राजनीतिक मनुष्य का अध्ययन करते हैं तो हम उसे सर्वत्र बन्धनो मे जकडा हुआ पाते हैं। आज उसकी इच्छाशक्ति का विकास हो चुका है। वह क्षुधा तृप्त करने तक ही अपने कार्यों को सीमित रखने के स्थान पर अनेकों आवश्यकताओ को पूरा करना चाहता है। उसकी एक इच्छा पूरी होती है, अन्य कई इच्छाओ द्वारा उसे पुन घेर लिया जाता है। अत सर्व-*प्रथम मनुष्य हमे इच्छाओ के जाल मे जकडा हुआ दिखाई देता है। हम आज* मनुष्य को स्वतन्त्र कहने की भूल नहीं कर सकते क्योकि जैसा रूसो ने बताया, वह इच्छाओ का दास है। दूसरे, आज सामाजिक जीवन इतना जटिल होता जा रहा है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को प्राकृतिक मनुष्य के समान स्वत पूरा नही कर सकता वरन् उसे अनेक समुदाओ और सस्थाओ की सहायता लेनी पडती है। इस प्रकार मनुष्य इच्छाओ के साथ-साथ सामाजिक सस्थाओ का भी दास हो जाता है। तृतीय, समाज की व्यवस्था आदि के लिए अनेको नियम, परम्पराएँ, कानून आदि बन जाते हैं, मनुष्य को उनका भी पालन करना पडता है। अत परम्पराएँ एव कानून आदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग मे बाधक बन जाते हैं। चतुर्थ, सामाजिक समझौते द्वारा सामान्य इच्छा को सर्वशक्तिशाली बना दिया जाता है और व्यक्ति को उनके आदेशो का पालन करना पडता है। इस प्रकार समाज के उदय के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप होता है। और व्यक्ति सामान्य-इच्छा द्वारा पूरी तरह से दास बना लिया है। *व्यक्ति अपना विकास समाज मे ही* कर सकता है। यह कहकर रूसो समाज को एक ऐसे स्थान पर बैठा देता है जहाँ वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को नष्ट कर पराधीन बना देता है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष पाते हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु फिर भी बन्धनो मे जकडा हुआ है।'

क्या रूसो व्यक्ति की सामान्य इच्छा को निरकुश सत्ता के पराधीन करता है? रूसो की सामान्य इच्छा की व्याख्या के दो पक्ष हैं। प्रथम, व्यक्ति को पराधीनतापाश

में बाँधना—यह कहा जाता है कि सामान्य इच्छा रूसो के निरंकुशता प्रेम का प्रतीक है। रूसो व्यक्ति को सामान्य इच्छा के आदेशों का अनुसरण करने के लिये आदेश देता है। वह कहता है कि व्यक्ति को सामान्य इच्छा का अन्धानुकरण करना चाहिए। व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट नैतिक जीवन सामान्य इच्छा के आज्ञा पालन में ही है, व्यक्ति के जीवन का विकास और अस्तित्व उसी के द्वारा सम्भव है। सामाजिक समझौते ने राजनीतिक समाज के निरंकुश स्वरूप का निर्माण किया। ("The Social contract gives the body politic absolute power over all its members." Sabine : A History of Political Theories, p 497)

रूसो मनुष्य को सामाजिक समझौते द्वारा सामान्य इच्छा के पराधीन नहीं बनाता। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक है। सामाजिक समझौते में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बन्धन नहीं लगाये वरन् उसको परिमार्जित ही किया है। यह हम निम्न रूपों में स्पष्ट कर सकते हैं

(१) सामान्य इच्छा कानून का निर्माण करती है। राज्य के कानूनों का पालन करना व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाने के स्थान पर उसमें सहायक होता है वह व्यक्ति के विकास के लिये परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। कानून व्यक्ति की इच्छा के प्रतीक हैं अत. वह कभी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बन्धन नहीं लगा सकते।

(२) व्यक्ति को सामान्य इच्छा द्वारा दिया गया दण्ड भी सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। सामान्य इच्छा में अपराधी व्यक्ति की इच्छा भी सम्मिलित है। अत दण्ड बाहर से लादी हुई आज्ञा नहीं वरन् व्यक्ति की नैतिक इच्छा का आदेश ही है।

(३) व्यक्ति सर्वत्र बन्धनों में बँधा दिखाई देता है लेकिन यह बन्धन दिखावटी है, वास्तविक नहीं। "व्यक्ति ने समाज को सामाजिक समझौते द्वारा अपनी शक्तियाँ, सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता का केवल उतना ही भाग प्रदान किया, जितना सामाजिक नियन्त्रण में रखना उचित है।" यहाँ रूसो का स्वतन्त्रता प्रेम दिखाई देता है और वह यह स्पष्ट करता है कि व्यक्तियों ने अपनी समस्त शक्तियों का समर्पण करने के बजाय, केवल उतना ही समर्पण किया जो सामान्य नियन्त्रण में सौंपना उचित है। इस प्रकार रूसो व्यक्ति की कुछ शक्तियों को सामान्य इच्छा के नियन्त्रण से मुक्त रखता है। यह उसकी स्वतन्त्रता की उपासना का परिणाम ही है।

(४) समाज और सामान्य इच्छा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर बाधक नहीं है। व्यक्ति समाज में रहकर अधिक स्वतन्त्र रहता है और यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता में व्यक्ति को असीमित अधिकार और अनियन्त्रित स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसमें व्यक्ति को सदैव शक्तिशाली मनुष्यों का भय बना रहता था। लेकिन समझौता होने के उपरान्त वह अनियन्त्रित स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता में परिवर्तित हो गई। यह पूर्व की स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ थी। क्योंकि इसमें मनुष्य को यह भय नहीं रहता कि कोई शक्तिशाली व्यक्ति उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकेगा। अब स्वतन्त्रता का रक्षक एक व्यक्ति के स्थान पर सम्पूर्ण समाज हो गया। अब समाज की रक्षा द्वारा मनुष्यों को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, जो प्राकृतिक अवस्था में नहीं थी। अब वह इच्छा के दासत्व से भी मुक्त हो जाता है क्योंकि अब वह नियमित नैतिक जीवन व्यतीत करने लगता है। यह स्वतन्त्रता उन्मुक्त या उच्छृंखलता नहीं होती वरन् यह

अनियमित स्वतन्त्रता होती है। निर्बाध स्वतन्त्रता मे सघर्ष की सम्भावना होती है। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता मे बाधक बन जाती है। इसीलिये वास्तविक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता है जो नियमो के सीमित क्षेत्र मे रहकर कार्य करने के अवसर प्रदान करती है। स्वतन्त्रता बन्धनो का अभाव नही वरन् अविवेकी और अनुचित कार्यों पर विवेकीय और उचित कार्य करने का उपबन्ध है।

(५) इसके अतिरिक्त सामान्य इच्छा का सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता को व्यक्ति के हित के लिये ही सीमित करता है। समाज व्यक्तियों का सग्रह है। सामान्य इच्छा मे प्रत्येक व्यक्ति की वह इच्छा सन्निहित है जो व्यक्ति के हित के साथ सामाजिक हित का लक्ष्य लेकर कार्य करती है। यही कारण है कि सामान्य इच्छा पर सीमा लगाती है। सामान्य उन्नति मे ही व्यक्ति की उन्नति सम्भव है।

(६) सामान्य इच्छा के आदेश पालन करने मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो उठती है। सामान्य इच्छा व्यक्ति की स्वय की इच्छा का सुविकसित, विवेकीय, नैतिक स्वरूप है। "व्यक्ति जब अपने साथियो से सगठित होता है, वह अपनी ही इच्छा के आदेश का पालन कर पूव की भाँति ही स्वतन्त्र बना रहता है। (............each, when united to his fellows renders obedience to his own will, and remains as free as he was before.)

अत हम कह सकते हैं कि व्यक्ति समाज से अधिक स्वतन्त्र रहता है। कानून भी उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक होने के स्थान पर सहायक ही होते हैं स्वतन्त्रता का अस्तित्व कानून की ही देन है। प्रो० सेबाइन के अनुसार 'हम कानून का पालन ही इसलिये करते है कि वह हमे स्वतन्त्रता प्रदान करता है। (Obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty) सामान्य इच्छा कानून की जननी है। कानून स्वतन्त्रता का जनक है। कानून व्यक्ति की उसी स्वतन्त्रता का हनन करते हैं जो दूसरो को हानि पहुँचाने के लिये प्रेरित करती है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामान्य इच्छा की निरकुशता आदि के सम्बन्ध मे रूसो तरह-तरह के विचार प्रस्तुत करता है और उसका दर्शन शास्त्र इस क्षेत्र मे भटकने के लिये और अनुसधान करने के लिये काफी क्षेत्र छोड देना चाहता है। रूसो के विचारो मे एक ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राज्य और सम्प्रभु सामान्य इच्छा के सम्मुख धूमिल दिखाई देता है। समाज मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नही होता। समाज और स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरोधी होने के बजाय यदि पर्यायवाची समझे जायें तो अधिक उपयुक्त होगा। स्वतन्त्रता सामान्य इच्छा के आदेशो का पालन करने मे ही है और सामान्य हित के लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को न्यौछावर किया जा सकता है। क्या निरकुश सामान्य इच्छा मनुष्य की स्वतन्त्रता को सामान्य हित की दुहाई देकर अपहरण नही कर सकती। 'समाज का हित', 'सामान्य हित' आदि दार्शनिक शब्दावली द्वारा रूसो व्यक्ति के साथ खिलवाड करता है। क्या व्यक्ति को समाज के सम्मुख सम्पूर्ण समर्पण कर देना चाहिये? अथवा व्यक्ति के विकास के लिये समाज को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिये? यह प्रश्न रूसो को ऐसे विचार व्यक्त करने के लिये विवश कर देता है जिसका प्रयोग दोनो ही अर्थों मे किया जा सकता है। वास्तव मे रूसो का विचार स्वतन्त्रता की नैतिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक व्याख्या करना था, जहाँ जटिल शब्दावली द्वारा वह अधूरे विचार प्रकट कर उन्हे जहाँ-तहाँ छोडकर आगे बढता चला जाता है।

रूसो का राजनीतिशास्त्र के विचारकों में स्थान
(Place of Rousseau)

रूसो राजनीति शास्त्र के प्रथम कोटि के विचारकों मे गिना जाता है। अनेकों सिद्धान्तों के जन्म के लिये हम उसके ऋणी हैं। उसके विचारों का अध्ययन करने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि जिस सिद्धान्त पर उसने अपनी लेखनी उठाई, उस पूर्ण निर्णयात्मक विचार नहीं प्रस्तुत किये वरन् उसको प्रेरणा प्रदान कर, युग से आगे के विचारों की झलक दिखाकर आगे बढ़ गया। वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञों को अपने प्रेरक विचारों से प्रोत्साहित करता चलता है। उसके विचारों मे अनेकों असंगतियाँ, शब्दजाल तथा भ्रामक तर्क हैं। उनके विचारों में इन असंगतियों, अस्पष्टताओं और विरोधाभासों का होना स्वाभाविक भी था, वह दो परस्पर अलग-अलग धारणाओं को अलग अपना आधार बनाकर चलता है। उसके विचारों की आत्मा आदर्शवादी है, और आदर्शवादी कल्पना एवं तर्कों को तत्कालीन अनुबन्धवादी विचारधारा के प्रवाह मे प्रवाहित करता है। अतः वह न तो पूरी तरह से अनुबन्धवाद का ही हाथ थाम कर चल पाता है, और न ही वह आदर्शवादी ही रह पाता है। उसकी विवेकीय तूलिका एक ओर आदर्शवादी विचारधाराओं को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न करती है, दूसरी ओर वह जगत की वास्तविकताओं का भी चित्रण करती है। इस द्विविधाजनक दर्शनों को मूर्तरूप देने मे वह जटिलताओं और असम्बद्धताओं मे फँस जाता है। इसलिये हम देखते है कि उसके विचार कोई भी एक पक्ष लेकर अन्त तक नहीं चल पाते और उन्हें बीच मे ही झूलता हुआ छोड़कर वह अन्य विचारों को ले बैठता है।

रूसो के विचारों मे विरोधाभासों को लक्ष्य कर वेपर ने कहा कि "कोई भी प्रमुख विचारक विरोधाभासों से इतना अधिक युक्त नहीं है। वह हमको यह भी बताता है कि सम्पत्ति समस्त बुराइयों की जड़ है और साथ ही वह एक पवित्र संस्था है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करता है और राज्य के प्रति पूर्ण समर्पण पर दृढ़ है।" ["No eminent writer has ever been so full of contradiction. He tells us both that property is the root of all evils and that it is a sacred institution. He pleads for individual liberty and insists on absolute submission to the state."—C. L. Wayper, Political Thought, p. 137.] रूसो के विचारों के विरोधाभासों का संक्षेप मे यहाँ अवलोकन करना असंगत नहीं होगा। सर्वप्रथम रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रबल अनुयायी है और वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करता है, लेकिन जैसे ही उसका यह विचार परिपक्वता की ओर आगे बढ़ता है, हम देखते हैं कि वह व्यक्ति को सामान्य इच्छा के पराधीन रखने का विचार व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे कहीं किसी स्थान विशेष के लोग जलवायु को महत्त्व देकर यह बताया है कि स्थान विशेष के लोग जलवायु आदि के कारण परा-धीन नहीं हो सकते, तो दूसरी ओर वह भी बताता है कि अमुक जलवायु के निवासियों का पराधीन रहना स्वाभाविक ही है। रूसो एक ओर सम्पत्ति को समस्त बुराइयों की जड़ बताता है और उसे आधुनिक सभ्यता का अभिशाप कहता है लेकिन दूसरी ओर वह उसे व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक बताता है।

रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त भी आलोचना का पात्र है। सामान्य इच्छा उसके राजनीति दर्शन के कलेवर की आत्मा है, जिसे उसके विचारों से पृथक् करते ही उसका दर्शन प्राणहीन हो जाता है। सामान्य इच्छा सदैव ही सरल, स्थाई, हितकारी आदर्श इच्छा है लेकिन वह एक व्यक्ति या बहुमत की इच्छा है, इस पर रूसो जटिलताओं मे उलझ जाता है और हमें विवश होकर आलोचकों के स्वर मे स्वर मिलाकर यह कहना पड़ता है कि सामान्य इच्छा न तो सामान्य ही है और न इच्छा ही [It is neither general nor will]। उसकी सामान्य इच्छा का मापदंडहीन होना उसे अव्यावहारिक बना देता है। सामान्य इच्छा राजनीति दर्शन की मृगमरीचिका कह कर पुकारी जाती है।

निरंकुशतावादी विचार भी रूसो को आलोचना का विषय बना देते है। यह कहा जाता है कि रूसो निरंकुशता का समर्थक था। उसने सामान्य इच्छा द्वारा निरंकुश राज्यसत्ता की स्थापना का स्वप्न देखा। हॉब्स निरंकुश राजतन्त्रीय अधिनायकतन्त्र का पोषक था लेकिन रूसो ने सामान्य इच्छारूपी बहुमत की इच्छा को निरंकुशता के शिखर पर आरूढ कर दिया और बताया कि सामान्य इच्छा ही सर्वमान्य उचित सत्ता है उसका विरोध असह्य है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए तभी वह जीवन मे पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सामान्य इच्छा के आदेशों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सामान्य इच्छा के उचित और अनुचित सभी आदेशों का पालन व्यक्ति को करना पड़ेगा। रूसो का यह विचार ठीक हॉब्स की अनुकृति मात्र है।' [Rousseau's system is invented Hobbesism]

रूसो के कानून विषयक विचार भी स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन का ही एक दूसरा रूप है। रूसो ने कानून निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करते समय यह बताया कि कानून केवल सामान्य, सर्वव्यापक विषयों पर ही बनाये जाने चाहिए। सर्वव्यापक होने के कारण कानून का निर्माण सामान्य इच्छा ही कर सकती है। यह कानून का क्षेत्र सीमित कर उसे एकांगी बना देता है। शासन को स्वेच्छाचारी बनाकर अपने प्रत्यादेश मनवाने का अवसर उपलब्ध होगा।

रूसो प्रजातन्त्र को बड़े-बड़े राष्ट्रों के लिए अनुपयुक्त बताता है। वह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम समर्थक था। सामान्य इच्छा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र मे ही शासन कर सकती है। रूसो को आधुनिक परिस्थितियों मे अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के क्रियान्वित करने वाले तत्त्वों—स्थानीय स्वशासन विकेन्द्रीयकरण, समाचार पत्र, यातायात-व्यवस्था आदि का ज्ञान नहीं था। उसकी दूरदर्शिता यदि प्रजातन्त्र के वर्तमान स्वरूप पर विचार कर सकी होती, तो वह यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों के प्रजातन्त्र को ही सफल बनाने की बात नहीं सोचता। वह आधुनिक प्रजातन्त्र का प्रणेता है लेकिन संकीर्ण दृष्टि के कारण उसे विकसित करने के स्थान पर पीछे लौटने की योजना बताता है।

रूसो का समझौता सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अनुपयुक्त है। ऐसी कोई अवस्था इतिहास की कसौटी पर सत्य नहीं। साथ ही समझौता व्यक्ति और समाज मे होता है जबकि रूसो ने यह बताया कि समझौते द्वारा समाज उत्पन्न होता है।

अन्त में रूसो के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार भी अपूर्ण हैं। रूसो कहता है कि व्यक्ति अपने अधिकार और शक्ति समाज को सौंपकर पुनः अधिक व्यापक रूप में उन्हें प्राप्त कर लेता है। यह कैसे हो सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास ५) रु० हैं वह उन रुपयों को किसी संस्था को दे देता है। देने के बाद वह ५) रु० किस प्रकार उसे प्राप्त होंगे, यह स्पष्ट नहीं।

रूसो का अनुदाय
(Rousseau's Contribution)

राजनीति शास्त्र को रूसो के विचारों से बहुत कुछ प्राप्त हुआ। उसके सिद्धान्तों से सर्वप्रथम लोकप्रिय सम्प्रभुता प्राप्त हुई। रूसो के पूर्व राजनीतिशास्त्र में हॉब्स, बोदाँ आदि ने सम्प्रभुता पर निरंकुश विचार व्यक्त किए। यह माना जाता था कि राजा ईश्वर से शक्ति प्राप्त करता है और उन शक्तियों के प्रयोग के लिये वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ईश्वर या शक्ति के आधार पर सत्ता प्राप्त करने के कारण वह प्रजा के प्रति कतई उत्तरदायी नहीं। रूसो ने सम्प्रभुता की इस धारणा का विरोध किया और बताया कि ईश्वर और शक्ति सम्प्रभुता का स्रोत नहीं वरन् लोकप्रिय जनसत्ता सम्प्रभु होती है। सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है—इस कथन के द्वारा रूसो प्रत्येक व्यक्ति को ही सम्प्रभु बना देता है। रूसो ने बताया कि सम्प्रभु कोई एक व्यक्ति नहीं हो सकता वरन् राज्य शक्ति सम्पूर्ण जन-समूह को प्राप्त होती है। रूसो के बाद ग्रीन, बोसांके आदि ने भी यह व्यक्त किया कि राज्य शक्ति का नहीं इच्छा का प्रतीक है। अतः हम कह सकते हैं कि रूसो की सर्वप्रथम भेंट लोकप्रिय सम्प्रभुता है जो आगे चल कर आदर्शवाद का आधार बन जाती है।

लोक हितकारी राज्य (Welfare State) रूसो का दूसरा अनुदाय है। सर्वप्रथम रूसो ने ही यह विचार प्रतिपादित किया। सामान्य इच्छा का प्रमुख आधार उसका कल्याणकारी स्वरूप है। सामान्य इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की हितकारी इच्छा है। राज्य सामान्य इच्छा की अनुभूति है। राज्य का कार्य प्रत्येक व्यक्ति के हित के लिये प्रयत्न करना है। यह लोक कल्याणकारी राज्य की आधारशिला है।

रूसो को आधुनिक जनतन्त्र का पिता कहा जाता है। उसने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति जो राज्य के आदेशों का पालन करता है, वह इसलिये नहीं कि उसकी प्रकृति ही ऐसी है अथवा उसके लिये हितकारी है, वरन् इसलिये कि राज्य कोई आकाश से टपकी हुई उल्का नहीं, एक मानवीय सहमति पर आधारित संस्था है। इस प्रकार रूसो ने यह बताया कि राज्य का निर्माण मनुष्यों ने अपनी सहमति से किया है, आज भी राज्य के स्थायित्व का यही कारण है। उसके जीवनकाल में इन विचारों की घृणा और अतीव निन्दा की गई। उसे लांछित किया गया और भर्त्सना हुई और वह अपनी प्राणरक्षा के लिये इधर-उधर भागता रहा। बाद में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय उसके कथनों ने जनता को उत्तेजित कर प्रजातन्त्र की नींव रखी।

रूसो व्यक्ति स्वतन्त्रता का मसीहा कहा जाता है। उसने बताया कि राजनीतिक, आर्थिक और आत्मिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को विकास की ओर उन्मुख करती है। उसके स्वतन्त्रता के दुन्दुभिनाद से राजनीतिक वायुमण्डल गूँज उठा। यही नहीं, व्यक्ति स्वातन्त्र्य ही उसके विचारों की आधारशिला दिखाई देती है।

रूसो ने राज्य और सरकार में बहुत ही व्यापक अन्तर स्पष्ट किया। उसने बताया कि राज्य सामान्य इच्छा का, जो व्यक्ति के अनुबन्धन द्वारा बनती है, मूर्त रूप है। सरकार सामान्य इच्छा के आदेश द्वारा निर्मित की जाती है। अतः सरकार राज्य के अधीन है। राज्य स्थाई है। सरकार अस्थाई है। सामान्य इच्छा उसे कभी भी परिवर्तित कर सकती है।

रूसो का अनुदाय राज्य की सावयव व्याख्या में स्पष्ट लक्षित होता है। उसने बताया कि राज्य एक सावयवी रचना है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य के विभिन्न अंग हैं, वह शरीर के विभिन्न अंगों के समान है। शरीर उसके अंगों की मिली-जुली रचना है, प्रत्येक अंग अलग-अलग रह कर निर्दिष्ट कार्य करता है, अन्य अंगों के कार्यों में बाधक नहीं प्रत्युत सहायक होता है। शरीर के साथ रहकर ही उनका अस्तित्व है। राज्य में व्यक्ति भी विभिन्न अंग के समान हैं, अपना निर्दिष्ट कार्य करते हैं तथा अन्य अंगों के कार्यों में बाधक बनने के बजाय सहायक होते हैं और राज्य से पृथक् होते ही उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राज्य मानव शरीर के समान ही अंगीय रचना है। राज्य में कार्यपालिका मानव मस्तिष्क के समान है और व्यवस्थापिका हृदय के समान।

रूसो का महत्त्व
(Importance of Rousseau)

रूसो के विचारों का प्रभाव इतना अधिक हुआ कि उसे फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का अग्रदूत कहा गया। क्रान्ति के प्रमुख नेतानों 'रोबस्पियर' को बाइबिल मानते थे एवं उसके कथनों से अपने भाषण को ओजस्वी बनाते थे। उसके राजनीति दर्शन से अमेरिका और समस्त यूरोप प्रभावित हुआ। आदर्शवाद तो उसके विचारों पर ही आधारित किया गया। हीगल ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त पर राष्ट्रीयता की धारणा का निर्माण किया। काट ने अभ्युपगत आदेश का विचार अनुकृत किया। उसके विचारों से आधुनिक जनतन्त्र अनुप्राणित हुआ और हिटलर तथा मुसोलिनी ने अपने निरंकुश विचार भी उसके दर्शन से प्राप्त किये।

रूसो का राजनीतिशास्त्र में क्या महत्त्व होना चाहिये, इस पर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। कुछ विचारक उसकी आलोचना करते हैं तो प्रशंसक उसे सम्मान प्रदान करते हैं। उसकी आलोचना करते हुए 'सभ्यता विहीन, उजड्ड वाणी और स्विस छैला, ('charlatan savage', a 'hoot owl' a 'swiss valot') कह कर पुकारा। वाल्टेयर ने उसके प्रकृति की ओर वापिस लौटने के विचार की निन्दा करते हुए कहा कि रूसो आचारहीन मानव का प्रतिनिधि है जो जंगलों में भटकने के लिए शान्ति सम्पन्न, अभ्रष्ट, स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देता है। वह हम चारों पैरों से चलने के लिये कहता है। 'पशु बनाने की चेष्टा में आपका प्रयास हमारा परिहास करता है।' कौवन उसे 'प्रगतिवादी विचारों का निश्चय ही श्रेय नहीं देना चाहता। [The idea of progress is one which we certainly cannot attribute to him.] मेमेनियस के अनुसार उसकी रचनायें समाज तथा ईश्वर के प्रति धर्म युद्ध की घोषणा है' [His work was 'a sacrilegious declaration of war against society and against God] ड्यूगी के अनुसार 'जे० जे० रूसो जेकोबियन अत्याचार के पिता, सीजर की निरंकुशता तथा काण्ट

और हीगल की अधिनायकवादिता का प्रेरक है।' [J. J. Rousseau is the father of Jacobin despotism, of Caesarian dictatorship and inpirer of the absolutist doctrines of Kant and Hegel.] लेकिन रूसो की प्रशंसा भी की जाती है और उसे "धाराप्रवाह लेखक, सर्वोत्कृष्ट गद्य का स्वामी कहा जाता है। वास्तव में प्लेटो के बाद से राजनीतिक विचारों में इतना श्रेष्ठ लेखक और नहीं हुआ।" ["... is a brilliant and lucid writer, a master of the finest prose Indeed there is none finer since Plato in the whole history of Political Thought] 'राजनीति, धर्म, शिक्षा एवं साहित्य पर उसकी मौलिक प्रतिभा की दृढ़ छाप है। लन्सन के शब्दों में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वह आधुनिक युग के प्रत्येक द्वार पर खड़ा दिखाई देता है।' ["He left the stamp of his strong and original genius on politics, education, religion, literature and it is hardly an exaggeration to say with Lanson that he is to be found at the entrance to all the paths leading to the present."] यदि आलोचक उसके विचारों का अनुवाद न करना उपयुक्त समझते हैं, तो प्रशंसक आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के सम्मानित स्रष्टा आदि कह कर पुकारते हैं।

सहायक पुस्तकें

Dunning	. A History of Political Theory.
Gettell	· History of Political Thought.
Sabine	History of Political Theory.
Suda	. A History of Political Thought.
Wayper	. Political Thought.
Vaughan	. Hobbes, Locke & Roulseau.
गुप्ता और चतुर्वेदी	पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास
गणेश प्रसाद	. राजनीतिक विचारधारायें
वर्मा एस० सी०	पाश्चात्य राजदर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१ रूसो की सामान्य इच्छा की स्पष्ट विवेचना कीजिये।

२ 'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होने पर भी सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।' व्याख्या कीजिये।

३. रूसो के अनुबन्ध सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये तथा उसका मूल्यांकन कीजिये।

४ 'रूसो का प्रभु सत्ताधारी हॉब्स का सिर-विहीन लेवियाथन है।' आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

५. 'रूसो का दर्शन सत्तावाद, निरंकुशतावाद तथा जनतन्त्रवाद का बीज-

६. 'रूसो के शब्द अनुबन्धवादी हैं तथा उसकी आत्मा आदर्शवादी है।' इस कथन की विवेचना कीजिये।

७. रूसो की 'सामान्य इच्छा' न तो 'सामान्य' ही है और न 'इच्छा' ही। इस कथन के आधार पर सामान्य इच्छा का स्पष्टीकरण कीजिये तथा सामान्य इच्छा, बहुमत और लोकमत में अन्तर बताइये।

८ 'रूसो का राजदर्शन हॉब्स के विचारों का लॉक के विचारों से समन्वय है। स्पष्ट कीजिये।'

९. 'रूसो असंगतियों और विरोधाभासों से परिपूर्ण है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

१०. रूसो का राजनीति शास्त्र को क्या अनुदाय है ?

अध्याय ८

जेरेमी बेन्थम

(Jeremy Bentham)

[१७४८ से १८३२]

"This wicked world can be improved by covering it over with Republics" —*Bentham.*

"It would be hard to find any corner of our public life where the spirit of Bentham is not working today."
—*G. M. Young* quoted by *Wayper.*

इंगलैंड के राजनीति दर्शन में १८ वीं शताब्दी के मध्य से लगाकर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक उपयोगितावादी विचारधारा का आधिपत्य रहा है। जेरेमी बेन्थम को उपयोगितावाद का जनक माना जाता है। बेन्थम से पूर्व डेविड ह्यूम, प्रिस्टले, हाचिसन व पेली द्वारा उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया जा चुका था और हेल्वेटियस तथा बेकारिया द्वारा उसे विकसित किया गया था। फिर भी बेन्थम को इस विचारधारा को सुसंगठित, सुव्यवस्थित और समृद्ध करने का श्रेय प्राप्त है। बेन्थम के समय में इंगलैंड की दशा बहुत खराब थी। औद्योगिक क्रान्ति के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन असह्य हो गया था। शासन के तीनों ही अंग-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह जन-हित में नहीं कर पा रहे थे। कष्टों से कराहती जनता, सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र में सुधार चाहती थी। बेन्थम तत्कालीन अव्यवस्थित, असन्तोषजनक और कष्टदायक परिस्थितियों में सुधारवाद का मसीहा बनकर सामने आया। उसने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में; प्रशासन, विधि, दण्ड, कारागृह तथा न्यायालयों में 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' को आधार मान कर सुधार करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। सुधारवादी आन्दोलन का पथ प्रदर्शन करते हुए वह अनायास ही राजनीति दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर गया। बेन्थम ने पूर्व प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों को उपयोगिता की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण अमान्य ठहराया। उसके विचारों की दार्शनिकता वैज्ञानिकता और सुधारों के क्षेत्र में व्याव-हारिक क्रान्ति के फलस्वरूप उसकी चिन्तन धारा को बेन्थमवाद, उपयोगितावाद, उदारवाद, व्यक्तिवाद तथा दार्शनिक उग्रवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

जीवन परिचय

(Life Sketch)

जेरेमी बेन्थम का जन्म १५ फरवरी १७४८ को लन्दन के एक सम्पन्न वकील

परिवार में हुआ था। वकालत इस परिवार का पैतृक व्यवसाय था। बेन्थम के पिता की हार्दिक अभिलाषा यह थी कि उनका पुत्र भी पैतृक व्यवसाय को ग्रहण करे, ख्याति अर्जित करे तथा अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा एक दिन इंगलैंड के सर्वोच्च न्यायाधीश के गौरवमय पद (Woolsack) पर प्रतिष्ठित हो।

बेन्थम मेधावी, कुशाग्र बुद्धि तथा असामान्य प्रतिभा सम्पन्न बालक था। अल्पायु में ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। ३ वर्ष की आयु से उसे लेटिन और ४ वर्ष की आयु में फ्रेंच का अध्ययन कराया गया। १७५५ में उसने वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में प्रवेश लिया और १६ वर्ष की आयु में क्वीन्स कालेज ऑक्सफोर्ड से बी० ए० पास किया। बेन्थम को अपनी योग्यता पर इतना गर्व था कि वह अपने शिक्षकों को अयोग्य और सहपाठियों को मूर्ख मानता था। अपने पैतृक व्यवसाय का ज्ञानार्जन करने के लिये १७६३ में उसने 'लिंकन्स इन' में प्रवेश लिया। १७७२ में वकालत पास करने के बाद वकालत प्रारम्भ करने के लिये वह बार (BAR) का सदस्य बना। इस व्यवसाय में स्वेच्छा से प्रवेश लेने के बाद भी वह रुचि न ले सका। उसे विधि (Law) में अनेकों दोष दिखाई दिये। विधि की अपरिपक्वता, अनिश्चितता, अपूर्णता, अभावों और अनावश्यक जटिलता ने इस व्यवसाय के प्रति घृणा पैदा की। दूसरी ओर दण्ड व्यवस्था की अमानवीयता, अनुपयुक्तता और निर्दयता ने उसके हृदय को ठेस पहुँचाई। इसके अतिरिक्त न्याय व्यवस्था की त्रुटियों के कारण न्यायालयों और न्यायाधीशों के प्रति भी उसकी आस्था डगमगा गई। फलस्वरूप उसने बहुत थोड़े समय तक वकालत की। वह विधि, न्याय और दण्ड के अभावों की खोज में लग गया। उसने इनकी त्रुटियों की खोज के साथ ही इनमें सुधार करने के उपायों पर भी विस्तृत प्रकाश डाला। इस प्रकार वह एक व्यावसायिक वकील बनने के स्थान पर विधि-वेत्ता, विधि का वैज्ञानिक पद्धति से अन्वेषणकर्त्ता संकलनकर्त्ता और सुधारक दार्शनिक बन गया।

बेन्थम एक उत्साही लेखक भी था। नित्य प्रति वह ६ से लेकर ८ घंटे तक विधि व्यवस्थापन, दीवानी तथा फौजदारी कानून तर्क शास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति शास्त्र आदि पर लिखता रहता था। शेष समय वह अध्ययन और स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक व्यायाम करता था। वह नियमित रूप से १५ पृष्ठ प्रतिदिन जीवन भर लिखता रहा। उसने १ लाख से अधिक पृष्ठ लिखे। उसकी हस्तलिखित सामग्री आज भी १४८० बक्सों में ब्रिटिश म्यूजियम तथा लन्दन विश्व-विद्यालय में सुरक्षित है। उसकी रचनाओं को फ्रेंच भाषा में प्रकाशकों द्वारा अनुवाद करके प्रकाशित कराया गया। बाउरिंग ने बेन्थम की कुछ रचनाओं को ११ ग्रन्थों में प्रकाशित किया। उसकी अधिकांश रचनायें अप्रकाशित हैं। वह सदैव अच्छी से अच्छी पुस्तक लिखने, श्रेष्ठतम योजना देने और समस्याओं का हल खोज निकालने के लिये उत्सुक रहता था। यही कारण है कि उसकी कोई भी कृति पूर्ण नहीं है।

बेन्थम की सर्वप्रथम रचना 'शासन पर कुछ विचार' (Fragments on Government) २८ वर्ष की आयु में १७७६ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में ब्रिटेन के ख्याति प्राप्त विधिवेत्ता ब्लेक स्टोन की 'आंग्ल विधि की टीका' की तीव्र आलोचना की गई थी। ब्लेक स्टोन ने आंग्ल विधि की सराहना की और राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में लॉक के अनुबन्ध का समर्थन किया। बेन्थम ने इसका खण्डन किया। उसने तर्क के आधार पर राज्य की उत्पत्ति, राजाज्ञा पालन का औचित्य उपयोगिता

को बताया। इस कृति के प्रकाशन से बेन्थम को अपूर्व ख्याति मिली। उसकी गणना विधि विशेषज्ञ के रूप में की जाने लगी। बेन्थम की दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'नैतिकता और विधि निर्माण के सिद्धान्त' (Principles of Morals and Legislation) १७८९ में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई थी। इस पुस्तक ने उसकी प्रशंसा में चार चाँद लगा दिये। विदेशों में भी उसका सम्मान होने लगा। उसकी एक अन्य कृति 'दीवानी तथा फौजदारी विधि पर निबन्ध' (Traviles de Legislation Civile et Penale) ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्रदान किया।

बेन्थम की इन अप्रतिम रचनाओं ने उसकी प्रतिभा बुद्धि और पांडित्य की धाक जमा दी। विदेशों में उसकी ख्याति बढ़ी। वह महान् विधि निर्माता के रूप में पूजा जाने लगा। अनेकों राष्ट्रों में उसके सम्मान में आयोजन हुए; उसे विधान निर्माण करने के लिये निमन्त्रण प्राप्त हुए। रूस के सम्राट अलेक्जेण्डर ने उसे अपने देश के विधि संहिताकरण में सहयोग देने के लिये आमन्त्रित किया। जनरल मिराण्डो ने उसे अपने नये राज्य का विधान निर्माता बनाने का प्रस्ताव रखा। स्पेन और पुर्तगाल की संसदों ने उसकी रचनाओं को राजकीय व्यय से प्रकाशित करने का निर्णय लिया। फ्रांस में उसका अद्वितीय सम्मान हुआ। २६ अगस्त १७९२ में फ्रांस की राष्ट्रीय असेम्बली ने 'फ्रांस का नागरिक' बना कर उसका गौरव बढ़ाया। १८२५ में फ्रांस की यात्रा के अवसर पर उसका भव्य स्वागत किया गया। परन्तु स्वदेश में उसका महत्व बहुत बाद में पता लगा। १७८८ में उसने संसद का निर्वाचन लड़ा और असफल रहा। उसकी योजनाओं को उचित महत्व नहीं दिया गया। युवावस्था के बेन्थम को यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि सत्ताधारी सुधारों के विरोधी होते हैं। उसने कारागृह-सुधार की योजना रखी। यह योजना सम्राट के विरोध के कारण क्रियान्वित न हो सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि बेन्थम की चिन्तनधारा में परिवर्तन हुआ और वह उग्र सुधारवादी हो गया।

बेन्थम के व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण, तत्कालीन अनेकों प्रसिद्ध व्यक्तियों का सानिध्य उसे सुलभ था। लार्ड लैंसडन उससे प्रभावित थे, वह उनका आतिथ्य स्वीकार करता था। उनके यहाँ उसका परिचय विलियम पिट, केमडेन, सर सेमुअल रोमिली, बारे, डनिंग से हुआ था। जेनेवा वासी कुमारी ऐतिन्ने डयूमोन्ट से भी उसका परिचय यहीं हुआ था। कुमारी ड्यूमोन्ट बेन्थम की कृतियों को फ्रेंच में अनुवाद करने, उनका सम्पादन करने और प्रकाशित कराने में भक्ति-भाव से योग देती थी। जान बाउरिंग बेन्थम के विश्वस्त मित्र और जीवन लेखक थे। इन्होंने बेन्थम के ग्रन्थों का प्रकाशन ११ ग्रन्थों में कराया था। लार्ड ब्रोगॉ को—जो अपने समय के प्रतिष्ठित संसद सदस्य थे—बेन्थम 'मेरे प्रिय पुत्र' और लार्ड ब्रोगॉ उन्हें 'मेरे प्रिय बाबा' कहकर पुकारते थे। सर फ्रेन्सिस बरडेट ने संसद में मताधिकार विधेयक प्रस्तुत करने के लिये ड्राफ्ट बेन्थम से ही तैयार कराया था। लार्ड लेन्सडाउन, जो सेफ ह्यूम जेम्स मिल, जान स्टुअर्ट मिल, रिकार्डो उसके अन्तरंग मित्रों में से थे। वह कहा करता था कि "मैं मिल का आध्यात्मिक पिता हूँ, मिल रिकार्डो का आध्यात्मिक पिता है, इस प्रकार रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र है।"

बेन्थम को छोटे जीव जन्तुओं, पुष्पों, वृक्षों और मैदानों से अगाध स्नेह था। उसने बिल्लियाँ पाल रखी थी चुहियाँ भी उससे हिल गई थी। वह जीवन भर

अविवाहित रहा। पैतृक सम्पत्ति ही जीवनयापन का एकमात्र साधन थी। वह विनोदी स्वभाव वाला उदार हृदय व्यक्ति था। सुख-दुख के अपने सिद्धान्त में उसका दृढ़ विश्वास था। इसीलिये मृत्यु के समय सेवकों को पास रहने की अनुमति नहीं दी थी। अपने अनन्य भक्त, जीवन लेखक और मित्र जान बाउरिंग को ही उसने मृत्यु के समय पास रहने का अवसर दिया था। उपयोगिता सिद्धान्त के महान् दार्शनिक ने अपनी वसीयत में यह उल्लेख किया था कि मेरा शव दफनाया न जाय, उसकी उपयोगिता यही है कि उसे शरीर विज्ञान के शोधकर्त्ताओं को ज्ञानार्जन के लिये अर्पित कर दिया जाय। उसका अस्थिपंजर आज भी यूनिवर्सिटी कालेज लन्दन में, एक शीशे की अल्मारी में मोम से बनाई गई आकृति पर उसके प्रिय हैट, वस्त्र और टाई पहिने हुए रखा है। पैरों के नीचे उसकी खोपड़ी एक तश्तरी में रखी है। ६ जून १८३२ को क्वीन्स स्क्वेयर पैलेस वेस्ट मिनिस्टर में उसकी मृत्यु हुई। ब्रिटेन की संसद ने बेन्थम की मृत्यु के वर्ष में महान सुधार बिल (Great Reform Bill 1832) पास कर सुधार की महत्वाकांक्षा लिये चिर निद्रा मग्न दार्शनिक को सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित की।

बेन्थम की रचनाएँ (His Writings)

बेन्थम की ख्याति का आधार उसकी रचनायें थी। जीवन भर वह नियम पूर्वक लिखता रहा। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में स्पष्टता सूक्ष्मता और रोचकता पाई जाती है। बाद की रचनाओं में तर्कों का अनावश्यक विस्तार, नये शब्दों को गढ़ने की प्रवृत्ति मिलती है। उसने अनगिनत नये शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग किया। उपयोगिता (Utilitarian), अन्तर्राष्ट्रीय (International), संहिताकरण (Codification)।

बेन्थम की सभी कृतियाँ पढ़ने योग्य हैं। उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं :

१. शासन पर कुछ विचार (Fragment on Government 1776)
२. डिफेन्स ऑफ यूजरी (Defence of Usury 1787)
३. विधि तथा नैतिकता के सिद्धान्त (Introduction to the Principles of Morals and Legislation)
४ डिस्कोर्सेज ऑन सिविल एण्ड पेनल लेजिसलेशन (Discourses on Civil and Penal Legislation 1802)
५. ए थ्योरी ऑफ पनिशमेंट एण्ड रिवार्ड (A Theory of Punishment and Rewards 1811)
६ ए ट्रिटाइज ऑन ज्यूडिशियल एवीडेन्स (A Treatize on Judicial Evidence 1813)
७. पेपर अपोन कोडीफिकेशन एण्ड पब्लिक इन्स्ट्रक्शन (Paper upon Codification and Public Instruction 1817)
८. द बुक ऑफ फैलेसीज (The Book of Fallacies 1824)

९. रेशनेल ऑफ एवीडेन्स (Rational of Evidence 1827)
१०. कॉन्स्टीट्यूशनल कोड (Constitutional Code)
११. ट्रिटाइज डि लेजिसलेसन (Traites De Legislation)
१२. रेशनल ऑफ एवार्ड (Rational of Award)
१३. इमेनिशिपेट योर कोलोनीज (Emanicipate your Colonies)

इसके अतिरिक्त १८२४ में 'दि वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू' स्थापित किया और वित्तीय सहायता द्वारा प्रकाशित कराया। उसका पत्राचार भी उपलब्ध है।

उपयोगितावाद (Utilitarianism)

बेन्थम का सम्पूर्ण राजदर्शन उपयोगितावाद पर आधारित है। उपयोगितावाद सुखवाद पर अवलम्बित विचारधारा है। उपयोगितावाद अथवा सुखवाद का दर्शन बेन्थम की अपनी मौलिक देन नहीं है। शताब्दियों पूर्व पाश्चात्य तथा पूर्वी दर्शन में यह विचारधारा प्रचलित थी। पाश्चात्य दर्शन में इसका प्रतिनिधित्व एपीक्यूरियन (Epicureans) विचारक करते थे। उपयोगितावाद के लिये उन्होंने 'यूटिलिटास' (Utilitas) शब्द प्रयोग किया था यह आधुनिक 'यूटिलिटेरियनिज्म' शब्द की उत्पत्ति का स्रोत है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज में तत्पर रहता है। सुख यथार्थ में कष्ट अथवा चिन्ताओं से मुक्त रहकर मिलता है। इच्छायें मनुष्य के दुख का कारण बन जाती हैं। इच्छाओं की पूर्ति न होने पर मनुष्य को दुख होता है। अतः सुख प्राप्ति के लिये इच्छाओं को न्यूनतम कर देना चाहिए। भारत में चार्वाक दर्शन भी सुखवाद का समर्थन करता था। इसके अनुसार मनुष्य जब तक जीवित रहता है उसे सुखी जीवन व्यतीत करना चाहिए। उधार लेकर घी पीना चाहिए क्योंकि इस शरीर के भस्म हो जाने पर पुनर्जन्म कहाँ होना है। आधुनिक युग में भी इस विचारधारा को अनेक विद्वानों ने प्रतिपादित तथा विकसित किया। 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (The greatest happiness of the greatest number) वाक्यांश फ्रांसिस हचेसन (१६९४ से १७४७) ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम ऑफ मोरल फिलॉसफी' में सर्वप्रथम प्रयोग किया और प्रिस्टले ने (१७३३ से १८०४) इसे 'शासन पर निबन्ध' नामक कृति में उद्धृत किया था। बेन्थम ने इसे प्रिस्टले की पुस्तक में पढ़ा था। कहीं-कहीं उसने भी स्वीकार किया है कि यह वाक्य इटली के विचारक बेकारिया (१७३८ से १७९४) की रचना 'अपराध और दण्ड' में पढ़ा था। कुछ भी हो, उपयोगितावाद बेन्थम की मौलिक देन भले ही न हो परन्तु इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने इसे व्यवस्थित किया और व्यापक क्षेत्र में इसका प्रयोग किया।

'उपयोगितावाद' सुखवाद (Hedonism) पर आधारित नैतिक और राजनैतिक दर्शन है। बेन्थम ने इसे सर्वव्यापी और वैज्ञानिक बनाने के लिए मानव स्वभाव की व्याख्या की। मनुष्य स्वभावतः एक ऐसा प्राणी जो सदैव उन्हीं कार्यों को करना चाहता है, जिनसे उसे सुख प्राप्त होता है, जो उसके आनन्द में वृद्धि करता है। अथवा हम यह सकते हैं कि उन कार्यों को नहीं करना चाहता है जिनसे उसे दुख पहुँचता है, जो उसको कष्ट देते हैं। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उपयोगिता की तुला पर सुख और दुख, आनन्द और कष्ट के बोध तौलने के बाद किया जाता है। मानव

जीवन का प्रत्येक क्षण नित्य प्रति इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यह सार्वजनिक सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति सुख या आनन्द चाहता है कोई भी व्यक्ति दुःख या कष्ट नहीं चाहता। बेन्थम ने अपनी पुस्तक 'नैतिकता और विधि निर्माण के सिद्धान्त' में इस चिरन्तन सत्य की व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रकृति ने मनुष्य को, सुख और दुःख दो सर्वोच्च सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है। यह इनका ही कार्य है कि मार्ग दर्शन करें कि हमें क्या करना चाहिए और यह निश्चय करें कि हम क्या कर सकते हैं। एक ओर उचित और अनुचित, दूसरी ओर कार्य-कारण की कड़ियाँ इनके सिंहासन से जुड़ी हैं। हम जो कुछ कहते हैं, सोचते हैं, वह सभी इनके नियन्त्रण में है। *इनकी दासता से मुक्ति पाने के प्रयत्न, दासता को प्रदर्शित और पुष्ट करना होगा।*" ("Nature has placed man under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure, it is for them alone to point out what we ought to do, as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the *chain of causes and effects, are fastened to their throne* They govern us in all we say, in all we think; every effort we make two throw of *our subjection will serve but to demonstrate and confirm it*"

उपयोगिता की व्याख्या

'उपयोगिता' से क्या आशय है? यह क्या होती है, इसे स्पष्ट करने के लिए बेन्थम ने उपयोगिता की व्याख्या की। उसने बताया कि व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक कार्यों का करने या न करने का निर्णय कार्य की उपयोगिता पर निर्भर करता है। कार्य की उपयोगिता का निश्चय करना बहुत ही सरल है। यह सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार से किया जा सकता है। (१) कोई भी कार्य अथवा सिद्धान्त की उपयोगिता इस बात पर आधारित होती है कि वह कहाँ तक प्रसन्नता बढ़ाता है, लाभान्वित करता है, हित, अच्छाई या सुख पहुँचाता है। (२) कार्य अथवा सिद्धान्त उस अवस्था में भी उपयोगी होता है जब वह दुर्घटना, पीड़ा, बुराई, अप्रसन्नता रोकने या उनका निवारण करने में सहायक रहता है।

उपयोगिता आनन्द प्रसन्नता या सुख की खोज है, वह पीड़ा अप्रसन्नता या दुख का निवारण है। सुख और दुख की तुला पर तौलने में दुख की अपेक्षा अतिरिक्त सुख है। बेन्थम के शब्दों में "यह वह सिद्धान्त है जो प्रत्येक कार्य को इस आधार पर अनुमोदित या अस्वीकृत करता है कि वह कहाँ तक सम्बन्धित पक्ष की प्रसन्नता बढ़ाता या कम करता है, दूसरे शब्दों में विरोध करता है।" 'उपयोगिता' का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उसने बताया—"*यह उस तत्व को प्रकट करती है जो लाभ प्रदान करता है,* हित आनन्द, अच्छाई या प्रसन्नता (इस सन्दर्भ में यह पर्यायवाची है) *या (पुन जिसका आशय यही है) किसी दुर्घटना,* पीड़ा, बुराई, दुख रोकने के लिए जिसे समाज या व्यक्ति (जैसी भी स्थिति हो) के हित या प्रसन्नता के लिए प्रयोग *किया जाता है।*"

सुख और दुःख के प्रकार

सुख और दुख उपयोगितावाद की आधारशिला है। प्रत्येक सिद्धान्त या कार्य का निश्चय इन सम्प्रभु स्वामियों के निर्देशन में होता है। सुख और दुःख में प्रकार

का अन्तर होता है। सर्वप्रथम, सुख और दुःख दो प्रकार के होते हैं—(१) सरल (Simple), (२) मिश्रित (Complex)। सरल सुख १४ प्रकार के होते हैं :

(१) इन्द्रिय सुख	(२) सम्पत्ति या धन का सुख
(३) निपुणता या दक्षता का सुख	(४) मित्रता
(५) यश	(६) शक्ति
(७) पवित्रता	(८) सद्भावना
(९) असद्भावना	(१०) स्मरण शक्ति
(११) कल्पना शक्ति	(१२) आशा
(१३) सामुदायिकता	(१४) कष्ट निवारण

इसी प्रकार सरल दुःख १२ प्रकार के होते हैं

(१) पृथकता का दुःख	(२) इन्द्रियों का दुःख
(३) फूहड़पन या गवारपन	(४) शत्रुता
(५) अपयश	(६) पवित्रता
(७) सद्भावना	(८) असद्भावना
(९) स्मरण शक्ति	(१०) कल्पना शक्ति
(११) आशा	(१२) सामुदायिकता

सरल सुख और दुःख की इस तालिका के ही आधार पर मिश्रित सुख और दुःख भी होते हैं। सुख की तालिका में से कुछ सुखों को मिला देने से जो सुख प्राप्त होता है, वह मिश्रित सुख बन जाता है। ठीक इसी प्रकार दुःख की सूची में बताये गये दुःखों में से कुछ दुःखों को मिलाने से मिश्रित दुःख बन जाता है। डेविडसन के शब्दों में "सुख दुःख का यह विभाजन वैज्ञानिक या तात्विक योजना पर निर्मित नहीं है, यह पूर्ण भी नहीं है और न ही एक दूसरे से अलग है। शायद व्यावहारिक दृष्टि से यह पूर्ण है।"

सम्वेदनशीलता की भिन्नता :

सुख-दुःख की सम्वेदनशीलता प्रत्येक व्यक्ति में समान होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और परिस्थितियों के आधार पर एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न राशि में सुख-दुःख का अनुभव करता है। शक्ति और परिस्थितियों की भिन्नता व्यक्ति की सम्वेदनशीलता को प्रभावित करती है। यह परिस्थितियाँ ३१ प्रकार की हैं जिनके द्वारा व्यक्ति या समुदाय अन्य के अपेक्षा कम या अधिक सुख-दुःख अनुभव करते हैं। जिनमें कुछ परिस्थितियाँ इस प्रकार के हैं :

शारीरिक अपूर्णता, ज्ञान की मात्रा, बौद्धिक शक्तियों की क्षमता, मनोवृत्ति, नैतिक तथा धार्मिक अनुभव, नैतिक पक्षपात, आर्थिक अवस्था, पद, शिक्षा, कठोरता, लिंग, आयु, जलवायु शासन आदि।

सुख-दुःख के स्रोत :

बेन्थम ने सुख-दुःख के प्रकार, अनुभव क्षमता की भिन्नता के साथ ही उनके उद्गम पर भी विचार किया। सुख-दुःख के यह स्रोत चार हैं—भौतिक, राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक।

(१) भौतिक (Physical)—सुख-दुःख प्रकृति प्रदत्त हों, मनुष्य के प्रयास का उन्हें प्राप्त करने में कोई योग न हो, उसे भौतिक स्रोत से उपलब्ध मानते हैं। उदाहरण

के लिए—वर्षा का अभाव या अतिवृष्टि प्रकृति की देन है। मनुष्य की इच्छा या प्रयास उसे नियन्त्रित नहीं करता। अतः इनसे उत्पन्न दुख भौतिक होगा।

(२) राजनीतिक (Political)—सुख दुख राज्य सत्ता द्वारा, राज्य कर्मचारियों की कार्यों द्वारा, उनके आदेशों द्वारा विधि द्वारा प्राप्त होता है, तो उसे राजनैतिक स्रोत से प्राप्त सुख या दुख कहते हैं। उदाहरण के लिए ससद के विशेषाधिकारों का उल्लंघन करने के अपराध में दिया गया दण्ड जिस दुख का सृजन करता है, उसका श्रोत राजनीतिक है।

(३) नैतिक (Moral)—नैतिकता जनमत पर आधारित होती है। जनमत या नैतिकता के माध्यम से जब सुख-दुख प्राप्त होते हैं तो उनका स्रोत नैतिक होता है। उदाहरण के लिए सार्वजनिक हित के अनुकूल निर्णय से उत्पन्न सुख का स्रोत नैतिक होता है।

(४) धार्मिक (Religious)—ईश्वर और धर्म ग्रन्थों में हमारा विश्वास सुख और दुख का आधार बन जाता। जन साधारण ऐसे सुख को दैवीय वरदान या दुख को दैवीय प्रकोप मानते हैं।

सुख-दुख में मात्रात्मक अन्तर होता है, गुणात्मक नहीं

बेन्थम ने सुख-दुख मे 'गुण' (Quality) का नहीं, 'मात्रा' (Quantity) का अन्तर बताया। उसके अनुसार सभी सुख गुण की दृष्टि से समान होते हैं। एक सुख गुण की दृष्टि से अन्य सुख से भिन्न नहीं होता। 'काव्य पाठ का सुख पुश्पिन के सुख के समान होता है।" देश के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने का सुख स्नातक परीक्षा मे पास होने के सुख के समान होता है। अन्तरिक्ष यात्रा का सुख और सिनेमा मे अन्तरिक्ष यात्रा चित्र देखने का सुख गुण की दृष्टि से समान होता है। कालीदास और शेक्सपीयर की रचना पाठ का सुख कबड्डी का खेल देखने के सुख के समान होता है। समस्त सुख गुण की दृष्टि से एक जैसे होते हैं। सुख मे यदि कोई अन्तर पाया जाता है तो वह मात्रा का अन्तर होता है। 'अ' सुख 'ब' सुख के गुण मे भिन्न नहीं होता उनमे मात्रा का भेद होता है। 'अ' सुख मात्रा मे ८० अंक तक हो सकता है, 'ब' सुख ५० अंक तक हो सकता है। इन दोनों के बीच मात्रा का ही भेद पाया जाता है। संसार में सभी सुख इस प्रकार मात्रा मे ही भिन्न होते हैं। उनमे उच्च या निम्न का भेद नहीं पाया जाता, वे कम या अधिक होते हैं।

सुख-दुख की नाप-तोल

बेन्थम ने सुख-दुख मे गुणात्मक अन्तर को स्वीकार किया क्योंकि वह यह भली-भाँति जानता था कि गुण की नाप तौल करना असम्भव है। मात्रा का अन्तर होने पर सुख की नाप-तौल की जा सकती है। नाप-तौल के उपरान्त यह निश्चय करना सरल होता है कि क्या अच्छा है या क्या बुरा है, सुख देने वाला है, या दुख देने वाला है, उपयोगी है, या अनुपयोगी है। नाप-तौल के लिए उसने एक पद्धति प्रस्तावित की। यह पद्धति सुख-दुख की नाप तौल के कारण आनन्दात्मक गणना पद्धति (Felicific Calculus) कहलाती है। इसका प्रयोग प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य के लिए किया जा सकता है यह एक ओर व्यक्तिगत जीवन समस्याओं और दूसरी ओर सार्वजनिक जीवन मे प्रशासन, विधि निर्माण आदि की उपयोगिता का पता लगाने के लिए किया जा सकता है।

सुख-दुःख नापने के ६ आधार हैं

(१) प्रगाढ़ता (Intensity), (२) अवधि (Duration), (३) निश्चितता (Certainty), (४) सामीप्यता (Propinquity), (५) उर्वरता (Fecundity), (६) शुद्धता (Purity)। प्रत्येक कार्य करने से पूर्व इस आनन्ददायक गणना पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। इस पद्धति के प्रयोग करने का तरीका यह है कि एक तालिका में एक ओर सुख और दुःख के खण्ड कर लिए जायें तथा दूसरी ओर प्रगाढ़ता, अवधि, निश्चितता, सामीप्यता, उर्वरता, शुद्धता के आधार पर, सम्भावित मिलने वाले सुख-दुःख को अंक दिये जायें। यदि सुख को प्राप्त अंकों का योग दुःख के अंकों के योग से अधिक हो, तो वह कार्य सुख देने वाला है, उपयोगी है। बेन्थम के अनुसार "एक ओर समस्त सुखों का योग, दूसरी ओर समस्त दुःखों का योग करें। सुख का पलड़ा भारी होने का अर्थ कार्य की उपादेयता प्रकट करता है, दुःख की ओर अधिक योग होना अनुपयोगिता का प्रमाण है।"

सार्वजनिक क्षेत्र में—सार्वजनिक या सामुदायिक दृष्टि से सुख-दुःख मापक तुला के उपरोक्त आधारों में एक और जुड़ जाता है। यह सातवाँ आधार विस्तार (Extent) है। व्यक्ति समूह समाज या राज्य के क्षेत्र में जब उपयोगिता या सुख-दुःख की खोज करनी पड़ती है तो ऊपर बताये गये ६ आधारों पर अंक देने के बाद विस्तार के आधार पर भी अंक दिए जाते हैं। सुख प्राप्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या दुःख प्राप्त होने वाले व्यक्तियों से अधिक होने पर ही सार्वजनिक नीतियों, समस्याओं, कार्यों के पक्ष में निर्णय किया जाना चाहिए।

'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' (Greatest good of the greatest number) – बेन्थम द्वारा प्रस्तुत इस मापक पद्धति ने ह्यूसन, प्रिस्टले और बेकारिया द्वारा प्रयुक्त सूत्र को स्पष्टता प्रदान की। राज्य की व्यवस्थापक विधि का निर्माण करने में पूर्व इस युक्ति के आधार पर उस विधि की उपादेयता का निश्चय कर सकते हैं। विधि की उपादेयता (या सार्वजनिक समस्याओं) का निश्चय करने के लिए उन्हें दो प्रश्नों पर विचार करना होगा—(१) अधिकतम सुख-प्रस्तावित विधि अधिकतम सुख प्रदान करेगी अथवा नहीं ? यह निर्णय नाप-तौल के प्रथम ६ आधारों पर किया जायगा। जब प्राप्त अंक सुख के पक्ष में हों, तभी विधि बनाना सुखदायक रहेगा। (२) अधिकतम संख्या—अधिकतम सुख का निश्चय हो जाने के बाद यह देखना आवश्यक है कि विधि सम्बन्धित क्षेत्र के कितने व्यक्तियों को सुख पहुँचायेगी। यह दो, कुछ या थोड़े से व्यक्तियों के हित में न होकर अधिकतम व्यक्तियों के हित में होनी चाहिए। व्यवस्थापक को 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के लिए विधि निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार नाप-तौल के यह आधार एक ओर व्यक्ति के लिए लाभदायक है, दूसरी ओर शासन भी इसका प्रयोग सरलता से सार्वजनिक सुख की खोज कर अपना कार्य पूरा कर सकता है।

उपयोगितावाद व्यक्तिगत सुख तक ही सीमित नहीं रह जाता। यह सम्पूर्ण मानवता के सुख का दर्शन है। सर्वप्रथम, प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है, दूसरे वह सामान्यतः सभी व्यक्तियों का सुख चाहता है, तीसरे, वह अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख चाहता है और अन्त में वह अधिकतम सम्भव सुख चाहता है। इस प्रकार सुखवाद का यह सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज, राज्य और मानव के सुख को लक्ष्य बनाता है। यह मानव मात्र के सुख तक व्यापक है, जिसमें एक ओर व्यक्ति का सुख

निहित होता है और दूसरी ओर सामान्य रूप में सभी का सुख होता है। समाज के व्यापक भाग मे सुख की गणना करते समय 'प्रत्येक व्यक्ति को एक गिना जाय और किसी को एक से अधिक न गिना जाय।' ('Everybody is to count for one and nobody for more than one') इस प्रकार बेन्थम ने उपयोगितावाद को सार्वभौमिक बना दिया।

उपयोगितावाद सुनिश्चित और स्वत सिद्ध विचारधारा है। सुख-दुःख सर्वाधिक शक्तिशाली होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सुख देने वाली वस्तु को अच्छा समझता है उसे प्राप्त करना चाहता है, दुख देने वाली वस्तु को बुरा समझता है और उससे बचना चाहता है। यह चरम सत्य है। इसकी अवहेलना नही की जा सकती। इसके आलोचक हो सकते हैं, परन्तु उन्हें भी इसका अनुकरण करना पड़ता है। 'ईश्वर इच्छा', 'प्राकृतिक विधि' या 'अन्त करण' निमूल है। यह व्यक्ति का मार्ग दर्शन करने में असमर्थ है। 'ईश्वर की इच्छा' हमारे कार्यों का सचालन सूत्र नही हो सकती क्योंकि ईश्वर की इच्छा का ज्ञान धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त नही होता। धर्म ग्रन्थ प्रमाणित नही है। ईश्वर स्वय किसी कार्य करने का या न करने का परामर्श नही देता। 'प्राकृतिक विधि' भी व्यक्ति को उचित अनुचित का निर्णय करने में सहायक नही होती। 'प्राकृतिक' शब्द अपने आप मे अस्पष्ट है। अन्त करण सुख-दुःख का पर्यायवाची है। वह सुख देने वाले कार्यों को स्वीकार करता है। इस प्रकार सुख-दुःख ही सर्वोत्तम स्वामी होते हैं। उनका निर्णय उचित, प्रामाणिक और सत्य होता है।

राज्य विषयक विचार (Ideas on State)

बेन्थम राजनीति शास्त्र के क्षेत्र मे सुधार के मार्ग से प्रविष्ट हुआ था। उसका ध्येय 'राज्य' सस्था विषयक किसी नये सिद्धान्त का निर्माण करना नहीं वरन् प्रचलित संस्थाओं के दोषों का सुधार करना था। इन सुधारों के लिये उसका उपयोगितावादी दर्शन उसे पथप्रदर्शन करता रहा।

राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)

बेन्थम के समय मे राज्य की उत्पत्ति का अनुबन्ध सिद्धान्त (Contract theory) प्रचलित था। हाब्स, लॉक और रूसो ने इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की और यह सिद्ध किया था कि राज्य की उत्पत्ति का आधार अनुबन्ध या समझौता ही हो सकता है। बेन्थम ने अनुबन्ध सिद्धान्त का खण्डन किया। उसने ह्यूम के समान इस सिद्धान्त को अनैतिहासिक बताया। इतिहास में कहीं भी अनुबन्ध का वर्णन नहीं है। समझौता अथवा सहमति राज्य की उत्पत्ति का आधार नही हो सकता। राज्य की उत्पत्ति राज्य की उपयोगिता के कारण हुई। राज्य मनुष्यों का ऐसा सगठन है जो सुख और आनन्द में वृद्धि करने के लिए स्थापित होता है। मनुष्यों ने राज्य, शासन और विधि का बन्धन इसलिये स्वीकार किया है कि वे उनके लिये उपयोगी हैं। इनकी आज्ञा का पालन न करने की अपेक्षा कम अहित होता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि हमारे पूर्वजों ने कभी किसी समझौते पर हस्ताक्षर किये तो भी वह समझौता वर्तमान पीढ़ी के ऊपर लागू नही होता। राजनैतिक अधिकार और कर्तव्यों का आधार स्रोत नहीं हो सकता, वर्तमान विधि और विधान को नियन्त्रित नहीं रख सकता। नागरिकों को आज्ञा का पालन तथा शासन की सत्ता का आधार विशुद्ध अपने हित की खोज मे निहित है। इस प्रकार उसने राज्य की उत्पत्ति के अनु-

बन्ध सिद्धान्त अस्वीकार कर, उपयोगिता का महत्व प्रतिपादित किया परन्तु न तो उसकी विस्तृत व्याख्या की और न ही किसी सिद्धान्त की रचना का प्रयास किया।

प्राकृतिक अधिकार का खण्डन .

बेन्थम के समय मे व्यक्ति के अधिकारो में 'प्राकृतिक अधिकार' का सिद्धान्त प्रचलित था। यह सिद्धान्त व्यक्ति को प्रकृति के समान मान कर उनके लिये स्वतन्त्रता और समानता की माँग करते थे। बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का खंडन किया। उसने इस सिद्धान्त को व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ, अर्थहीन और मूर्खतापूर्ण बताया। उसने कहा कि 'प्राकृतिक अधिकार' आदर्शवादी शब्द जाल है। 'प्राकृतिक' शब्द अपने आप मे अस्पष्ट अनेक अर्थों वाला और अनिश्चित है। यदि इसका अभिप्राय यह लगाया जाय की प्राकृतिक अवस्था मे (State of nature) व्यक्ति के अधिकार होते थे, तो यह स्वत खंडित हो जाता है। असंगठित प्राकृतिक समाज मे अधिकारो की कल्पना करना व्यर्थ है। अधिकार केवल संगठित मानव समाज मे राज्य के संरक्षण मे ही होते हैं। दूसरे, समानता का अधिकार भी प्राकृतिक नही है। बेन्थम ने बताया कि प्रकृति मनुष्य को समान नही अपितु असमान बनाती है। वह स्वीकार करने के साथ ही वह अत्यधिक असमानता को अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख मे बाधक मानता है। इसलिये उसने राज्य द्वारा दिये गये अधिकारों में सम्पत्ति की समानता विधि के सम्मुख समानता आदि को स्वीकार किया। तीसरे, कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो प्राकृतिक अधिकार की अनुपयुक्तता प्रमाणित करते हैं। उदाहरण के लिये मताधिकार के प्रयोग अवस्था आदि पर लगाये गये प्रतिबन्ध यह स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति ने उस अधिकार को प्रदान नही किया है। विधान ने उन अधिकारो को प्रदान किया है। विधि और विधान उपयोगिता पर निर्मित होते हैं। उनका लक्ष्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान करना होता है। अन्त में, प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त कही भी कर्त्तव्यो का उल्लेख नही करता। अधिकार और कर्त्तव्य घनिष्टतः सम्बन्धित होते हैं। कर्त्तव्य 'हित' का दूसरा नाम है। हमारा कर्त्तव्यपालन ही अन्य व्यक्तियों को हमारे अधिकारो के प्रति सजग रखता है। इस प्रकार बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त खंडन किया और उसके स्थान पर उपयोगिता को स्थापित किया।

सम्प्रभुता (Sovereignty) :

बेन्थम शासक की सर्वोच्च, असीमित और नियन्त्रण रहित शक्तियों का समर्थक था। वह शासक को विधि निर्माण के व्यापक अधिकार प्रदान कर उन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष मे नहीं था। उसके कार्यों को कोई भी शक्ति अवैधानिक घोषित नहीं कर सकती थी। उसकी अनन्त शक्तियो पर स्वेच्छा के अतिरिक्त जनता के विरोध की सम्भावना ही प्रतिबन्ध होती थी। जनता को शासक का विरोध करने का वैधानिक अधिकार नहीं होता था। परन्तु उपयोगिता और अधिकतम सुख के आधार पर विरोध करने का निर्णय किया जा सकता था। विरोध करने और आज्ञा पालन दोनों मे से कौन अधिक बुरा है, इसका निर्णय यदि विरोध करने के पक्ष मे होता हो, तो जनता को राजाज्ञा का विरोध करना चाहिये। नागरिकों के प्रति शासक के वैधानिक अधिकार और वैधानिक कर्त्तव्य नहीं होते, केवल नैतिक होते हैं। बेन्थम सम्प्रभु की असीमित शक्तियों का इतना समर्थन करता था कि वह संविधान में लिखित अधिकारों को भी सर्वोच्च सत्ता पर प्रतिबन्ध होने के कारण

स्वीकार करने के लिये तैयार नही था। वह विधान मे लिखित अधिकारो को सिद्धान्त में खोखला, व्यवहार मे व्यर्थ और सम्प्रभु शासक की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल मानता था।

शासन (Government).

बेन्थम ब्रिटिश शासन पद्धति मे सुधार का पक्षपाती था। वह ब्लेकस्टोन के इस वक्तव्य से सहमत नही था कि ब्रिटिश शासन व्यवस्थापूर्ण है। उसने शासन सस्थाओं की अपूर्णता और दोषो का अध्ययन किया और उनमे सुधार के लिये उग्र परन्तु व्यावहारिक सुझाव दिये। तत्कालीन ब्रिटिश संस्थाओ—राजपद, लॉर्ड सभा, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका सभा को वह अनावश्यक और अनुपयोगी मानता था।

गणतन्त्र का समर्थन तथा राजतन्त्र का विरोध—बेन्थम राजतन्त्र का विरोधी था। सम्राट जार्ज तृतीय की हेनमार्क नीति का विरोध करने के कारण यह वैमनस्य यहाँ तक बढ गया था कि ससद के अनुमोदन के उपरान्त भी बेन्थम के कारागृह-सुधार को अनुत्साहित किया गया। उसने राजतन्त्र का विरोध दोषो की तर्कपूर्ण विवेचना द्वारा किया और इसी प्रकार गणतन्त्र समर्थन उसकी उपयोगिता द्वारा सिद्ध किया। राजतन्त्र मे निम्न दोष होते हैं—(क) इसमे शासक शासितो से भिन्न एक अकेला व्यक्ति होता है, जिसके हित शासितो के हित के समान नही होते। दोनो के हितो की भिन्नता कुशल शासन मे बाधक होती है, (ख) राजतन्त्र का अन्य दोष व्ययशीलता है। राजकीय आडम्बर आदि पर जनता का अपार धन व्यय किया है। (ग) राजतन्त्र मे जनता की आकाक्षाओ और हित से कानून निर्माण मे बाधा डाली जाती है। (घ) यह शासन जनता के हित, न्याय तथा सामान्य बुद्धि के विपरीत होता है। (ङ) यह शक्तिशाली शासन होता है और शासक द्वारा शक्ति का दुरुपयोग होने की सम्भावना बढ जाती है।

अतएव वह राजतन्त्रीय शासन प्रणालियों से आच्छादित कुटिल ससार का कल्याण करने के लिए गणतन्त्र स्थापित करना चाहता था। उसने गणतन्त्र का समर्थन उसकी उपयोगिता के कारण किया। (क) गणतन्त्र मे शासक सम्पूर्ण जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है। शासक और शासित मे भेद नही होता। दोनो के हित समान होते हैं। फलस्वरूप शासक अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम-हित की दृष्टि से शासन करता है। डेविडसन के अनुसार "जब लोकतन्त्रात्मक शासन होता है तभी शासक और शान्ति के हित एक हो जाते है क्योकि तब अधिकतम लोगो का अधिकतम हित ही चरम लक्ष्य होता है।" (ख) गणतन्त्र मे सर्वोच्च सत्ता जनप्रिय हाथो मे रहती है। अत सर्वोच्च पदाधिकारी सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग जन हित मे करता है। (ग) यह कुशल और मितव्ययी होता है।

सार्वजनिक वयस्क पुरुष मताधिकार—गणतन्त्र की सफलता और अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम हित के लिए वह सभी शिक्षित वयस्क पुरुषो को मताधिकार देने के पक्ष मे था। उसने महिला मताधिकार के सम्बन्ध मे बताया कि उन्हें यह अधिकार उसी समय दिया जाय जब इसकी माँग अधिकतर महिलाओं द्वारा की जाय। कुछ महिलाओ की माँग मानने का अर्थ बहुतो के प्रति अन्याय होगा।

वार्षिक संसद—वह संसद के कार्यकाल को एक वर्ष तक सीमित रख कर ससद सदस्यो की शिथिलता व्यक्तिगत स्वार्थ, अकर्मण्यता को दूर करना चाहता था। ससद के सदस्यों का एकवर्षीय अल्प कार्यकाल उन्हें स्वार्थ पूरा करने के लिए समय न दे सकेगा। व्यवस्थापक प्रत्येक वर्ष जनता मे से आने के कारण जनता से सम्पर्क

बनाये रखेंगे। मतदाताओं को प्रतिनिधियों के वार्षिक परीक्षण का अवसर मिल सकेगा।

गुप्त मतदान—बेन्थम ने निष्पक्ष निर्वाचन की दृष्टि से गुप्त मतदान का समर्थन किया। इसमें यह सम्भावना नहीं रहती कि मतदाताओं को डरा-धमका कर रिश्वत आदि के प्रलोभन द्वारा अपना मत डालने के लिए विवश किया जा सके।

एकल व्यवस्थापिका का समर्थन—बेन्थम लार्ड सभा का विरोधी था। लार्ड सभा के वंशक्रमानुगत स्वभाव, प्रतिक्रियावादी तत्वों का गढ़ होने के कारण वह उच्च सदन को अनुपयुक्त मानता था। वह केवल जनता द्वारा निर्वाचित निम्न सदन को ही पर्याप्त समझता था। बेन्थम के इन सुझावों को आज विश्व के अनेक भागों में क्रियान्वित किया जा चुका है। वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान लगभग सभी देशों में प्रचलित हैं। वार्षिक संसद का विचार अव्यावहारिक लगता है।

आर्थिक विचार (Economic Concept) :

आर्थिक विचारों में बेन्थम पर अर्थशास्त्री एडम स्मिथ की छाप है। वह एडम स्मिथ के समान आर्थिक मामलों में शासन के हस्तक्षेप का विरोधी था और नागरिकों की अधिकतम स्वतन्त्रता का पोषक था। उसने अपनी पुस्तक 'दि डिफेंस यूजरी' में स्मिथ के विचारों का विरोध किया और यह बताया कि विधि-निर्माता को सूद खोरी के विरोध में विधि निर्माण नहीं करना चाहिए। वह मुक्त व्यापार नीति और प्रतियोगिता की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का समर्थक था। यह नीति निम्नतम मूल्य, श्रेष्ठतम कार्य और कुशलता की दृष्टि से उपयुक्त होती है। वह उपनिवेशों को उचित नहीं समझता था और नये उपनिवेश बनाने का कट्टर विरोधी था। उन्हें वह व्यापार की दृष्टि से अनुपयुक्त मानता था। उसमें धन लगाना भी उचित नहीं समझता क्योंकि उस धन को अधिक उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता था। वह एकाधिपत्य और राज्य द्वारा सहायता आदि का विरोधी था।

व्यक्तिवाद (Individualism) :

बेन्थम उपयोगितावादी विचारक था। उसके विचारों में व्यक्तिवाद की भलक स्पष्ट दिखाई देती है। वह व्यक्ति में हित को प्राथमिकता देता है, व्यक्ति के कल्याण के लिये स्वतन्त्रता को अनिवार्य मानता है, राज्य को व्यक्ति के लिए ट्रस्टी परन्तु आवश्यक बुराई बताता है और उसे न्यूनतम हस्तक्षेप का अधिकार देना चाहता है। उसका व्यक्तिवाद उपयोगितावाद की नींव पर आधारित है।

बेन्थम के व्यक्तिवाद का केन्द्र व्यक्ति है। व्यक्ति राज्य और समाज दोनों से पूर्व है। समाज एक कल्पना है जिसकी इकाई 'व्यक्ति' होता है। समाज का कल्याण उसी अवस्था में सम्भव है जब व्यक्तियों का कल्याण हो जाता है।

व्यक्ति अपना हित भली-भांति समझता है। सुखों की अनुभूति और उन्हें प्राप्त करने की क्षमता व्यक्ति में स्वतः होता है। अतः उसे अपनी शक्ति के अनुसार अपना कल्याण करने के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता के स्थान पर नागरिक स्वतन्त्रता होती है और अनियन्त्रित नहीं होती। स्वतन्त्रता के ऊपर नियन्त्रण सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से आवश्यक होते हैं।

राज्य साधन है और व्यक्तिगत हित के लिए एक ट्रस्टी के समान है। वह व्यक्ति के अधिकतम हित और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए स्थापित है। राज्य की सम्प्रभुता पर भी व्यक्ति के अधिकारों का नियन्त्रण रहता है। इन विचारों मे व्यक्तिवाद की छाप पाई जाती है।

इसी प्रकार, बेन्थम राज्य को एक आवश्यक बुराई (आवश्यक+बुराई) मानता था। राज्य का अस्तित्व शक्ति प्रयोग पर निर्भर है। शक्ति स्वयं अपने आप मे बुराई होती है। दूसरे, राज्य की विधियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे बाधा डालती हैं और राज्य व्यक्ति के विकास मे बाधक बन जाता है। राज्य इन बुराइयो के साथ ही आवश्यक संस्था भी है। राज्य की विधियाँ सामाजिक जीवन में व्यवस्था लाती हैं; उनका अभाव सुखो की खोज मे उत्पन्न संघर्ष को जन्म देता है। अतः राज्य आवश्यक भी है, और बुराई भी है। इस विचार मे बेन्थम व्यक्तिवादी विचारकों से प्रभावित लगता है।

व्यक्तिवाद व्यक्तिगत जीवन मे राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप का सिद्धान्त है। बेन्थम भी यह स्वीकार करता है कि राज्य को जहाँ तक सम्भव हो न्यूनतम विधि निर्माण करना चाहिए। वह औषधि से तुलना करते हुए बताता है कि चिकित्सक आवश्यकता के अनुसार ही औषधि देता है। राज्य को भी व्यक्ति की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक विधि बनानी चाहिए।

बेन्थम और सुधार
(Bentham and Reforms)

बेन्थम अंग्रेजी राजनीति दर्शन मे उपयोगितावाद का मूल प्रणेता होने के अतिरिक्त सुधारक के रूप मे अधिक विख्यात है। वह आदि से अन्त तक सदैव एक सुधारक है। उसकी सूक्ष्म तत्वदर्शिनी बुद्धि प्रतिमा, सशक्त आलोचना शैली, दृढ़ता और लगन के कारण उसकी सहानुभूति सहज ही समाज के पीड़ित और शोषित मानव के प्रति आकर्षित हो जाती थी, जिसका कारण वह तत्कालीन प्रशासनिक संस्थाओ के दोषो को मानता था। अतः मानव के सुख तथा प्रसन्नता के लिए संस्थाओं के दोषो का निवारण करना वह आवश्यक समझता था। उपयोगितावादी सिद्धान्तो के आधार पर शासन संस्थाओं के दोषो और उनकी कुरीतियो को सुधारने का बेन्थम ने प्रयास किया। विधि न्याय, दण्ड कारागार और शिक्षा के क्षेत्रों मे उसने एक सुधारक के रूप मे महान कार्य किया। बेन्थम के द्वारा प्रस्तावित सुधार उसके जीवन काल मे क्रियान्वित नही किये जा सके और उनकी आलोचना ही अधिक हुई; परन्तु यदि हम देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक शासन संस्था आधुनिक युग तक आते-आते बेन्थम के प्रति सुधारों के लिए ऋणी है।

विधि सुधार (Law Reforms) :

विधि के क्षेत्र मे बेन्थम के सुधारो का महत्व प्रतिपादित करते हुए सर हेनरी मेन ने कहा है, "मैं बेन्थम के समय से विधि के किसी भी ऐसे विधि सुधार को नहीं जानता, जिस पर उसका प्रभाव न हो।" (I do not know a single law reform effected since Bentham's day which can not be traced to his influence.)

बेन्थम ने तत्कालीन ब्रिटिश व्यवस्था के दोषों का प्रत्यक्षतः स्वयं अवलोकन किया था। वह वकालत के अल्प समय में ही विधि का कटु आलोचक बन गया और उसके दोषों को सुधारने की तीव्र अभिलाषा के कारण वकालत का व्यवसाय छोड़कर विधिवेत्ता बन गया। उसने ब्रिटेन की सामान्य विधि, संसदीय विधि तथा प्रचलित विधियों का निरीक्षण किया, उसकी आलोचना की और "एक विधि सुधारक का लक्ष्य लेकर चला। उसने अपनी विस्तृत योजनायें रखी, जिनमें दोषों और बुराइयों को सुधारने और पूर्ण होने योग्य आदर्श प्रस्तुत किया।"

बेन्थम के अनुसार तत्कालीन इंगलैंड की विधियों में निम्न दोष थे—(१) विधि भ्रामक थी। (२) विधि की शब्दावली जटिल और उलझी हुई थी। (३) अनावश्यक तकनीकीपन था। (४) भाषा अस्पष्ट, समझ में आने योग्य नहीं थी। (५) पिछड़ी हुई परम्परावादी वाक्यावली थी। (६) शुष्क पुनरावृत्तियाँ भरी हुई थी। (७) व्यर्थ तथा अनुपयोगी कानूनों की भरमार थी। (८) सर्व साधारण की पहुँच से बाहर थी। इन दोषों को ध्यान में रखकर विधि को उपयोगी बनाने के लिये उसने बहुमूल्य सुझाव दिये

सर्व प्रथम, विधि का संहिताकरण (Codification) आवश्यक है। प्रचलित, परम्परावादी, असन्तोषजनक विधि में काँट-छाँट कर अनावश्यक और पिछड़ी हुई विधि को छोड़ देना उचित है। शेष उपयोगी विधियाँ वर्गीकृत की जानी चाहियें और उनकी व्याख्या कर उन्हें संहिताबद्ध करना चाहिये। विधि संहिताकरण के लिये वह अपनी सेवायें देने को तैयार था। परन्तु उसे प्रोत्साहन नहीं मिला। बेन्थम ने विधि संहिताकरण स्वतः प्रारम्भ कर दिया। उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि, दीवानी और फौजदारी कानून, फ्रांस और रूस के लिये विधि निर्माण को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। द्वितीय, विधि का ज्ञान समस्त नागरिकों को होना चाहिये। विधियों का पालन कराने और उनका उल्लंघन रोकने की दृष्टि से यह आवश्यक है। विधि का ज्ञान उसकी उपयोगिता को जन सामान्य तक पहुँचाता है और उसके पालन करने का प्रोत्साहन देता है, 'विधि का अज्ञान' (Ignorance of law is no excuse) क्षम्य नहीं होता। अतः शासन को विधि का ज्ञान सामान्य जन समूह तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिये।

तृतीय, समस्त नागरिकों को विधि का ज्ञान कराने की दृष्टि से उसकी भाषा सरल, सुबोध और स्पष्ट होनी आवश्यक है। विधि की सरलता, छोटे-छोटे वाक्य आसानी से समझ में आ जाते हैं और उन्हें समझने के लिये व्यावसायिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती।

चतुर्थ, विधि की पुस्तकों के सस्ते संस्करण प्रकाशित कर जन सामान्य में वितरित किये जायें।

पाँचवें, विधि समय की आवश्यकता के अनुकूल होनी चाहिये। उसका निर्माण वर्तमान समय के विधि निर्माताओं द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर होना चाहिये।

अच्छी विधि के लक्षणों को ध्यान में रख विधि निर्माण होना चाहिये। बेन्थम के अनुसार अच्छी विधि के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है—(१) विधि जनता की औचित्य धारणा के विरुद्ध नहीं होनी चाहिये। जनता की इच्छा के विपरीत होने

पर उसका पालन स्वेच्छा से करना सम्भव न होगा, उसका विरोध बढ़ेगा। (२) विधि समस्त जन-जन को विदित होनी चाहिये। सरल भाषा मे, सस्ते प्रकाशन द्वारा उसे समाज में सर्वव्यापी हो जाना चाहिये तभी नागरिक उसकी उपयोगिता से परिचित होकर स्वभावत उसका पालन करेंगे। (३) विधि में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए। जब दो विधियों में विरोध होता है तो वे वकीलों को अर्थ के अनर्थ करने का अवसर प्रदान करती हैं। नागरिक भी अपने हित की दृष्टि से उनका मनमाना अर्थ निकालते हैं। (४) विधि अव्यावहारिक नहीं अपितु मनुष्योचित होनी चाहिये। उनमें जनता के स्तर से ऊपर आदर्शवादिता नहीं होनी चाहिये। यदि विधि कोरे आदर्शों पर आधारित होगी तो उनका पालन करना कठिन और असम्भव होगा। (५) विधि का अक्षरश पालन होना आवश्यक है। विधि का उल्लघन 'दडनीय अपराध' होना चाहिये। (६) विधि सुनिश्चित सहितावद्ध, सुस्पष्ट होनी चाहिये।

न्याय व्यवस्था में सुधार (Reform in Administration of Justice) ·

बेन्थम अपने समय की ब्रिटेन की न्याय पद्धति से भी असन्तुष्ट था। न्याय व्यवस्था के दोषों की गम्भीरता उपयोगितावादी दर्शन के लिये एक चुनौती थी। जन साधारण को न्याय भली-भाँति उपलब्ध नहीं होता था। न्याय की आकाक्षा रखने वाले वादी और प्रतिवादी दोनों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था—(i) न्याय मँहगा था। अनावश्यक धन व्यय होता था। वकीलों को लम्बी धन-राशि फीस के रूप में दी जाती थी। बेन्थम के शब्दों में "इस देश में *न्याय बिकता है*—बहुत मँहगा बिकता और वह व्यक्ति न्याय से वचित रह जाता है जिसमें उसका मूल्य देने की सामर्थ्य नहीं होती।' (In this Country, justice is sold, and dearly sold—and it is denied to him who can not disburse the price at which it is purchased.) इसका फल यह होता था कि निर्धन न्याय से वचित रह जाते थे और न्याय धनिकों के हित साधन का एक माध्यम बन गया था। (ii) न्याय प्राप्त करने में बहुत विलम्ब होता था। न्यायालयों का क्षेत्राधिकार अस्पष्ट होने के कारण अक्सर फाइलें एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में ही चक्कर लगाती रहती थी, फलस्वरूप कई वर्षों तक न्याय नहीं मिल पाता था। (iii) न्याय में अनिश्चितता और अव्यवस्था का साम्राज्य था। (iv) वादी और प्रतिवादी को स्वय न्यायाधीशों तक पहुँचने का अवसर नहीं मिलता था। वकील ही न्यायाधीशों तक पहुँचने का एक मात्र *माध्यम होते थे। बेन्थम ने न्यायाधीशों को 'न्यायाधीश और कम्पनी' (Judge & Co.)* कहकर पुकारा है। वह कहा करता था कि हमारे देश में विधि का निर्माण न्यायाधीशों द्वारा अपने ही हित के लिये किया जाता है।'

बेन्थम ने न्याय व्यवस्था के दोषों का उपचार करने के लिए *कतिपय मूल्यवान* सुझाव दिये—(१) सर्व प्रथम, न्याय सस्ता और सुलभ होना चाहिये। इससे न्याय के उद्देश्य की पूर्ति होगी और सामान्य नागरिकों को धनाभाव के कारण न्याय से वचित नहीं रहना होगा। (२) न्याय मिलने में विलम्ब नहीं होना चाहिए। जब भी निर्णय मिलने में देर होती है न्याय मिलने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। (३) एक न्यायाधीश द्वारा निर्णय, न्यायाधीशों की बैंच के निर्णय की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। जब एक से अधिक न्यायाधीश निर्णय करने के लिए बैठते हैं तो उनमें से सभी अनुत्तरदायी हो जाते हैं। बेन्थम "न्यायिक पदाधिकारियों पर व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व डालने का प्रबल समर्थक था और यही कारण है कि वह यह मानता था कि

अनेक न्यायाधीशों द्वारा मुकद्दमे की सुनवाई का अर्थ प्रत्येक न्यायाधीश के उत्तरदायित्व की शिथिलता होती है।" यदि उनका निर्णय एकमत नहीं होता तो जनमत पर उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता है। विधि की अनिश्चितता प्रमाणित होती है और पूर्ण न्याय नहीं हुआ, सिद्ध होता है। (४) न्यायाधीशों पर नियन्त्रण रखने के लिए वह 'जूरी प्रथा' (Jury System) का समर्थन करता था। इसमें न्यायाधीशों की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। (५) न्यायाधीशों को निष्पक्ष रखने की दृष्टि से उनकी नियुक्ति गुणों के आधार पर होनी चाहिए।

दण्ड व्यवस्था सुधार (Punishment Reform) :

बेन्थम के समय की दण्ड व्यवस्था भी त्रुटियों से मुक्त नहीं थी। उसमें भी सुधार करना आवश्यक था। बेन्थम ने दण्ड व्यवस्था सुधारने के लिए भी उपयोगितावादी पद्धति का प्रयोग किया। दण्ड अपराध का प्रतिफल है जिसका उद्देश्य अपराध प्रवृत्ति को रोकना है। एक ओर यह अपराध करने की इच्छा पर प्रतिबन्ध का कार्य करता है दूसरी ओर विधि पालन की शिक्षा देता है। दण्ड निर्धारण सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। बेन्थम ने दण्ड के प्रतिशोध सिद्धान्त, सुधार सिद्धान्त आदि की आलोचना की और अपने विचारों के अनुकूल दण्ड सिद्धान्त की व्याख्या की। उसने बताया कि दण्ड का प्रतिशोध सिद्धान्त सभ्य समाज के प्रतिकूल है। आज आँख के बदले आँख लेने का सिद्धान्त पूर्णतः अस्वीकृत है। इसी प्रकार अपराधी को अत्यधिक दण्ड देकर अन्य व्यक्तियों के लिए उदाहरण बनाना भी निर्दयता है।

बेन्थम के समकालीन ब्रिटेन में दण्ड का निर्धारण औचित्य को ध्यान में रख कर नहीं किया जाता था। छोटे-छोटे अपराध—चम्मच चुराने, भेड़ चुराने, जाली सिक्के बनाने—पर भी मृत्यु दण्ड दिया जाता था। बेन्थम ने मृत्यु दण्ड के औचित्य पर उपयोगितावादी दृष्टिकोण से विचार किया। मृत्यु दण्ड देने से पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि क्या सामान्य हित की दृष्टि से अपराधी को मृत्यु दण्ड देना आवश्यक है, या उसके न देने का परिणाम देने की अपेक्षा अधिक समाज विरोधी होगी और अन्य व्यक्तियों को भीषण अपराधों के लिए प्रोत्साहन देगा। मृत्यु दण्ड केवल हत्या जैसे गम्भीर अपराध पर ही दिया जाना चाहिए। बेन्थम ने दण्ड के सुधार सिद्धान्त पर भी विचार किया। उसने बताया कि यदि अपराधी सुधार के लिये दिये गये अवसरों का दुरुपयोग करें, तो उन्हें सुधारने का प्रयास करना उचित नहीं है। बेन्थम ने अपनी योजना में अपराधियों के सुधारने, उन्हें परिश्रमी, अच्छे व्यवहार वाला श्रेष्ठ नागरिक बनाने का प्रयास किया।

(क) दण्ड अपराध के अनुरूप होना चाहिए। अपराध कैसा है ? छोटा या बड़ा, उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या कम है या अधिक ? क्या इसे करने का प्रोत्साहन अन्य व्यक्तियों को प्राप्त हुआ ? इन प्रश्नों पर अपराध की गुरुता निर्धारित होती है। दण्ड का निर्णय करते समय इन पर विचार करना जरूरी है। (ख) अपराधी किन परिस्थितियों में हुआ ? अपराधी के उत्तेजित होने पर, स्वेच्छा से या योजनाबद्ध ढंग से ? अपराधी का पूर्व व्यवहार कैसा है ? पैतृक स्थिति क्या है ? वातावरण कैसा है ? (ग) अपराध का उद्देश्य क्या था ? क्या वह अपराध अपनी स्वार्थ

पूर्ति के लिए किया गया किसी असहाय को सहायता पहुँचाने की दृष्टि से किया गया ? (५) अपराध द्वारा कैसे व्यक्ति को हानि पहुँची है ? वह असहाय बालक, रोगी, वृद्ध, नारी था या स्वस्थ शरीर का व्यक्ति था।

इसके अतिरिक्त निम्न सिद्धान्तो पर भी विचार करना आवश्यक है— (१) दण्ड सदैव अपराध की गुरुता के अनुपात मे होना चाहिए। बडा अपराध करने पर बडा और छोटा अपराध करने पर छोटा दण्ड देना उचित होता है। अन्यथा छोटे अपराधो पर भी बडा दण्ड देने का परिणाम यह होगा कि प्रत्येक अपराधी छोटे अपराधो के स्थान पर बडे अपराधो की ओर प्रोत्साहित होंगे। चम्मच चुराने पर भी मृत्यु दण्ड इस बात का प्रोत्साहन देगा कि जघन्य अपराध करना ही उचित है। (२) दण्ड सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से दिया जाता है। अत. दण्ड अपराधी के लाभ और पीडित की हानि के अनुपात मे होना चाहिए। (३) दण्ड अन्य व्यक्तियो के लिए शिक्षाप्रद होना चाहिए जिससे उन्हे अपराध करने का प्रोत्साहन न मिल सके। (४) दण्ड का प्रदर्शन जनता के सामने करना चाहिए। जिससे यदि किसी के मन मे अपराध करने के भाव आयें तो वे दण्ड देखकर निरुत्साहित हो जायँ। (५) दण्ड निष्पक्ष और निश्चित होना चाहिए। एक व्यक्ति का अमुक अपराध करने पर दण्ड व दूसरे को छोड देने से, व्यक्तियो के मन मे दण्ड से बच निकलने की सम्भावना जाग्रत करेगी। (६) समान अपराध पर समान दण्ड मिलना चाहिए। (७) दण्ड द्वारा अपराधी भविष्य मे अपराध न करने की शिक्षा ग्रहण करें। (८) उन्हे भविष्य मे अपराध करने योग्य न रखा जाय। (९) अपराधी से पीडित व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कराई जाय। (१०) कानून द्वारा निर्धारित दण्ड से कम दण्ड नही दिया जाना चाहिए। क्षमा नही करना चाहिये। (११) दण्ड द्वारा जनता मे अपराधो के प्रति सहानुभूति न जगने दें। घृणात्मक दण्ड से जनता मे अपराधी के प्रति सहानुभूति हो जाती है। (१२) दण्ड को क्रियान्वित करना क्रियान्वित करने वाले अधिकारी के हाथ मे नही छोडना चाहिए। (१३) दण्ड देते समय त्रुटि की सम्भावना पर विचार कर लेना चाहिए जिससे आवश्यकतानुसार उसे घटाया-बढ़ाया जा सके। (१४) यदि दण्ड दीर्घकाल तक चलने वाला हो तो अपराधी के सुधारने का प्रयास करना चाहिए। यदि अवधि समाप्त होने से पूर्व ही दण्ड का उद्देश्य पूरा हो जाय तो अपराधी को सभ्य नागरिक बन कर रहने के लिए मुक्त कर देना चाहिए। (१५) पहली बार अपराध और अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति द्वारा किये गये कृत्यों मे दण्ड का अन्तर होना चाहिए। (१६) देश से निष्कासित करने की सत्ता उचित प्रभाव नही डालती। अत ऐसे दण्ड नहीं दिये जायें।

कारागृह सुधार (Prison Reform)

बेन्थम के समय मे अधिकतर अपराधो मे कारागृह का दण्ड दिया जाता था। कारागृह की दशा दयनीय होती थी। बंदियो के साथ असभ्य, अमानवीय और पशुवत व्यवहार होता था। उन्हे अँधेरे गन्दे, तंग तहखाना मे रखा जाता था। अनुपयुक्त भोजन मिलता था। अपराध और दण्ड की विभिन्नता के आधार पर, अपराधियो की आयु के आधार पर भयंकर और नये अपराधियों के बीच श्रेणी विभाजन नही पाया जाता था। फलस्वरूप अपराध छुआछूत की बीमारी की तरह फैलने थे और भयंकर अपराधी अपने लम्बे कारागृह प्रवास काल मे पहली बार आये अपराधियों को प्रशिक्षित करते थे। जेल बुराई और अपराधो के विद्यालय बन गये थे।

बेन्थम के पूर्व ही कारागृहो मे सुधार के प्रयास शुरू हो चुके थे। बेन्थम ने 'पेनोपटिकन' (Panoptican) का सुझाव दिया। इस कारागृह का नक्शा उसके बड़े भाई सेमुअल बेन्थम ने, जो रूस मे ख्याति प्राप्त इन्जीनियर थे, तैयार किया। यह एक गोल आकार का बन्दीगृह होता था। बीच मे अधीक्षक का कमरा होता था जिसमे चारो ओर काँच की खिड़कियाँ लगी रहती थी। इस कक्ष के चारो ओर बन्दियो के कमरे बने होते थे जिसमे स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रकाश, हवा, सफाई का प्रबन्ध रहता था। अधीक्षक अपने कमरे मे बैठा हुआ कैदियो के दैनिक व्यवहार, मनोदशा और रुचियों का अध्ययन करता रहता था और उन्हे सुधारने का उपाय सोचता था।

यह 'पेनोपटिकन' आदर्श कारागृह का कल्पना चित्र था। इसमे अपराधी के सुधारने, सच्चरित्र, सदाचारी नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता था। उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण मानवीय व्यवहार किया जाता था। उन्हें परिश्रम करना सिखाया जाता था। यह परिश्रम पहले के दण्ड के समान न होकर श्रम के प्रति प्रेम जाग्रत करता था। उन्हें उपयोगी शिल्प सिखाकर छूट कर जाने के बाद सम्मानपूर्वक जीविका-उपार्जन की शिक्षा दी जाती थी। उसके शिल्पो से उपलब्ध लाभ मे उन्हें हिस्सा प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त अवकाश के क्षणो मे उन्हे धार्मिक और नैतिक शिक्षा द्वारा उच्च आदर्शों पर चलने की प्रेरणा दी जाती थी। बेन्थम अपराधियो को एकाकी कोठरी मे रखने का विरोधी था। उसने यह भी प्रस्तावित किया कि स्थाई रोजगार मिलने तक, कारागृह से छूट कर जाने वाले अपराधियो को नौकरी दी जाय।

बेन्थम की इस योजना का समर्थन प्रारम्भ मे ब्रिटेन की संसद ने किया। उसने इसे क्रियान्वित करने के लिये परिश्रम किया और जमीन खरीद कर इस योजना को मूर्तमान करने का संकल्प किया। परन्तु सम्राट जार्ज तृतीय के विरोध के कारण यह योजना क्रियान्वित न हो सकी। संसद ने उसकी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करदी। आज ब्रिटेन मे और अन्यत्र भी जेल सुधार, शिल्प प्रशिक्षण, सुधारगृहो का निर्माण बेन्थम की योजनाओ का सफल प्रयोग है।

शिक्षा सुधार (Education Reform):

बेन्थम शिक्षा जगत मे उपयोगिता के आधार पर सुधार का समर्थक था। उसने शिक्षा मे सुधार की जो योजनायें रखी उन्हें देख कर डेविडसन ने कहा है कि "वह इसमें अपने समय से बहुत आगे है।" उसने बताया कि शिक्षा व्यक्तिगत गुण, कार्यकुशलता और जाति के उत्थान मे सहायक होती है। शिक्षा मे उसकी रुचि इस बात से प्रकट होती है कि एक ओर वह प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित होने पर ही मताधिकार देना चाहता था, दूसरी ओर कारागृह मे भी अपराधी को शिक्षित करने पर जोर देता था। बेन्थम ने शिक्षा योजना को 'क्रिस्टोमेटिया' (Chrestomatia) मे स्पष्ट किया है। उसने शिक्षा को दो भागो मे बाँटा :

सर्वप्रथम, निर्धन निम्नवर्गीय विद्यार्थियो के लिये शिक्षा।

दूसरे, उच्च श्रेणी के बालको के लिये शिक्षा।

निर्धन, निम्नवर्गीय अनाथ बच्चो को राज्य के नियन्त्रण मे शिक्षा दी जानी चाहिये। उन्हें अपना स्तर उपर उठाने के लिए अच्छी आदतें और चरित्र निर्माण

की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके बाद उन्हें आजीविका उपार्जन की दृष्टि से उद्योगों में प्रशिक्षित करना चाहिये। अन्त में, उनके बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाया जाय।

मध्य तथा उच्च वर्ग से बच्चों की शिक्षा का पाठ्यक्रम भिन्न होगा। उन्हें प्रारम्भ से ही बौद्धिक शिक्षा दी जाय। उन विषयों से शिक्षा प्रारम्भ हो जो आगामी जीवन में सहायक हों। फिर उन विषयों की शिक्षा दी जाय जो सरलता से सीखे जा सकें। विद्यार्थी की क्षमता को ध्यान में रख कर उसके प्राकृतिक झुकाव के अनुकूल ही उन्हें पढ़ाया जाय। ऊँची कक्षा के छात्र नीचे की कक्षा के छात्रों पर नियन्त्रण रखें, उन्हें शिक्षा दिया करें। अन्य सुधारों की भाँति बेन्थम के शिक्षा सुधार भी उसके जीवन में लोकप्रिय नहीं हो सके। उसमें विद्रोह की गंध आती थी और अधिक खर्चीले लगते थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि समस्त सभ्य संसार ने मृत्योपरान्त उसके सुधारों को अपनाया।

बेन्थम के विचारों की आलोचना.

(१) बेन्थम के विचारों की पहली आलोचना यह की जाती है कि उसके सिद्धान्तों में मौलिकता का अभाव पाया जाता है। अतीत के एपीक्यूरियन, चार्वाक और सुखवादी विचारकों के अतिरिक्त उसकी विषय सामग्री लॉक, ह्यूम प्रिस्टले, हचेसन और बेकारिया से प्रभावित है। सुखवाद मानव जीवन का लक्ष्य सुख की खोज दुःखों का निवारण पूर्व प्रतिपादित कर चुका था। प्रिस्टले ने उसे सार्वजनिक कार्यों के लिये प्रयोग कर व्यापक बना दिया। बेन्थम ने इन सिद्धान्तों का राजनीतिक संस्थाओं आदि में सुधार करने के लिये प्रयोग किया। उसने किसी नवीन सिद्धान्त पर विचार नहीं किया वरन् पूर्व प्रतिपादित विचारों को नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

(२) बेन्थम का दर्शन मानव मनोविज्ञान की त्रुटिपूर्ण धारणा पर आधारित है। उसका यह मत था कि प्रत्येक कार्य सुख की खोज के लिये किया जाता है। मनुष्य को भौतिकता की कठपुतली मान लेना न्यायोचित नहीं क्योंकि मानव क्रिया-कलापों के पीछे सुख की खोज ही एक मात्र तत्व नहीं होती। उन्हें समाज सेवा, *परोपकार, त्याग, बलिदान तथा अन्य अनेक भावनायें कार्य करने का प्रोत्साहन देती* हैं। क्रान्तिकारी बम, गोली, और फाँसी के फन्दे में कौन सा सुख देखते हैं? सैनिक युद्ध में मृत्यु की विभीषिका में अपने को झोंक कर जिस कर्तव्य पालन का परिचय देता है, उसमें कौन सा सुख मिलता है? क्या बलिदान और कर्तव्य पालन के इन उदाहरणों को सुख देने वाला मानना उचित होगा? आत्मिक रूप में इन्हें भले ही सुख देने वाला समझा जाय परन्तु यथार्थ में वह मस्तिष्क और हृदय के इन उज्जवल भावों के प्रति अन्याय होगा।

(३) बेन्थम का एक दोष यह है कि वह सुखों में केवल मात्रा का अन्तर *स्वीकार करता है, विभिन्न कार्यों में उपलब्ध* सुख मात्रा की दृष्टि से भिन्न होते हैं, उनमें कम या अधिक का भेद हो सकता है उच्च और निम्न का नहीं। गुण की दृष्टि से सभी सुख समान होते हैं। उसकी इस व्याख्या के अनुसार मातृभूमि की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग और देशद्रोह दोनों का सुख गुण की दृष्टि से समान है, उनमें मात्रात्मक भेद हो सकता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। मात्रात्मक अन्तर के स्थान पर गुणात्मक अन्तर का अधिक महत्व होता है। काम्य, क्रीडा, भोजन,

पर्वतारोहण, अन्तरिक्ष यात्रा और चन्द्रतल पर पहली बार पहुँचने का सुख गुण की दृष्टि से कभी समान नहीं हो सकता। गुड़ या शक्कर खाने का सुख रसगुल्ला खाने के सुख से मात्रा में ही भिन्न नहीं होता है, उसके गुणात्मक अन्तर को स्वीकार करना ही पड़ेगा। बेन्थम के इस दोष को जान स्टुअर्ट-मिल ने दूर करने का प्रयास किया। उसने गुणात्मक अन्तर को स्वीकार करते हुए असन्तुष्ट सुकरात होना सन्तुष्ट मानव की अपेक्षा श्रेयस्कर बताया।

(४) सुखों की नापतौल करने वाली पद्धति त्रुटिपूर्ण और अवैज्ञानिक है। सुखों की नापतौल करने के आधार प्रगाढ़ता और अवधि में सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता। कितनी प्रगाढ़ता कितनी अवधि के बराबर होती है, तय नहीं किया जा सकता। सुख की प्रगाढ़ता का अधिक और अवधि का कम होना अथवा प्रगाढ़ता का कम और अवधि का अधिक होना अनिश्चय की ओर ले जाते हैं। फलस्वरूप नापतौल का यन्त्र असफल हो जाता है।

(५) सुखों की नापतौल के मार्ग में बेन्थम ने एक और जटिलता पैदा कर दी। सुख की प्रगाढ़ता व्यक्तिगत क्षमता, रुचि, गुण, परिस्थितियाँ आदि द्वारा प्रभावित होती है, साहित्यिक रुचि रखने वाले व्यक्ति को काव्य गोष्ठी में प्राप्त होने वाले सुख की प्रगाढ़ता वहीं पर नियुक्त द्वारपाल के सुख की प्रगाढ़ता से गुण, रुचि और क्षमता के आधार पर भिन्न होती है। यह सुखों को आत्मगत (Subjective) बना देता है। अतः आनन्ददायक गणना पद्धति की तुला पर उसे तौलना कठिन और असम्भव हो जाता है।

(६) बेन्थम की आनन्ददायक गणना पद्धति सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक नहीं। आधुनिक विज्ञान और अन्तरिक्ष की खोज के युग में मानव जीवन के क्रिया-कलापों को सुख-दुःख की तुला पर तौलना हास्यास्पद लगता है। चन्द्रमा पर मनुष्य के कदम सुख की खोज का प्रयास नहीं कहे जा सकते। उनका लक्ष्य वैज्ञानिक ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करना है।

(७) यह सत्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित या सुख भली-भाँति समझता है, तथा उसी के अनुसार कार्य करता है। नित्य प्रति दोनों समय का भोजन सुख की दृष्टि से कम भूख मिटाने की दृष्टि से अधिक किया जाता है। परीक्षा भवन में नकल करने का प्रयास करने वाला विद्यार्थी अपना हित पहचानता है, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(८) व्यक्तिगत सुख, सामाजिक सुख कैसे बन जाता है, यह अस्पष्ट है। प्रकृति ने सम्पूर्ण मानव जाति को दो सम्प्रभु स्वामियों के नियन्त्रण में रखा है। सुख-दुःख व्यक्ति के क्रिया-कलापों के मार्गदर्शक हैं। सभी व्यक्ति अपने सुख के अनुसार वैयक्तिक हित में लिप्त रह कर कार्य करते हैं। वह किस प्रकार सामाजिक हित का निश्चय कर सकेंगे, बेन्थम ने स्पष्ट नहीं किया।

(९) अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख का सिद्धान्त अस्पष्ट और अव्यावहारिक है। विधि निर्माता को इसका प्रयोग करने में उलझन बढ़ेगी और निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन हो जायगा। जे मेकन्न के अनुसार "राजनीति में अंकगणित उसी प्रकार सहायक नहीं हो सकती, जिस प्रकार अंकगणित में राजनीति।" उदाहरण

के लिये—'अ' कार्य १५ व्यक्तियों को १० मात्रा प्रति व्यक्ति का लाभ प्रदान करता है जिसका योग १५० मात्रा होता है। 'ब' कार्य १० व्यक्तियों को १५ मात्रा सुख प्रदान करता है। मात्रा का योग यहाँ भी १५० होता है। एक स्थान पर अधिकतम व्यक्ति हैं, दूसरे पर अधिकतम सुख। यहाँ गणित उलझन बढ़ा देता है। यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि व्यक्ति की सख्या और सुख की मात्रा मे से किसे महत्व दिया जाय।

एक और उदाहरण 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' के अन्तर्विरोध को प्रकट करता है। एक विधेयक पास हो जाने पर २० मिल मालिको को २,००० रु० प्रत्येक का लाभ होता है। लाभ का योग ४०,००० रु० है। दूसरी ओर उस विधि के पास हो जाने से दस हजार मजदूरो को २ रु० प्रति व्यक्ति की हानि होती है जिसका योग २०,००० रु० है। अधिकतम व्यक्ति दस हजार मजदूर हैं और अधिकतम सुख ४,००० रुपये का है। यहाँ भी यह निश्चिय करना कठिन है कि अधिकतम व्यक्ति और अधिकतम सुख मे कैसे मेल बैठाया जाय।

इसके अतिरिक्त 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' नैतिकता की कसौटी पर भी खरा नही उतरता। यदि १५ डाकुओ का एक गिरोह एक व्यक्ति की सम्पत्ति को लूटता है तो सख्या की दृष्टि से, अधिकतम लोगो को सुख पहुँचाने के कारण, एक व्यक्ति को लूट लेने मे कोई हानि नही। परन्तु क्या लूटने देना उचित है? हमारी औचित्य धारणा, नैतिकता इसे कभी भी मान्यता प्रदान नही कर सकती।

(१०) बेन्थम का सुखवाद नैतिकता की धारणा को सन्तुष्ट नही कर सका। सुख की लालसा मात्रात्मक अन्तर के कारण घृणित और निम्न समझे जाने वाले कार्यों को भी करने के लिये आकर्षण पैदा कर देगी।

(११) यह बात मान लेने पर कि व्यक्ति के कार्य सुख की इच्छा से प्रेरित होते हैं, उपयोगितावाद यह स्पष्ट नही कर सका कि सुख के लिये ही कार्य करना उचित भी है। *'अमुक बात है,' और 'अमुक बात होनी चाहिए' दोनो मे अन्तर है। 'होना चाहिए'* उचित अनुचित और नीति शास्त्र के विचार की वस्तु है। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। उसका विवेक सत् असत् के विचार मे भेद करना जानता है। उसे पशुओं जैसा सुखी जीवन पसन्द नहीं है क्योकि वह उस ऊँचाई पर पहुँचने का प्रयास करता है जहाँ तक उसे पहुँचना चाहिए बेन्थम ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

(१२) बेन्थम का यह विचार भ्रम पर आधारित है कि सुख की खोज मनुष्य को सुखी बनाती है। सर्वप्रथम, *सुख कभी भी सुख के पीछे दौडते रहने से नहीं* मिलता। बेपर के शब्दो मे, *"अन्य पदार्थों को प्राप्त करने के प्रयास में मनुष्य को अन्य पदार्थ और सुख दोनों ही मिल जाते हैं, सुखो को प्राप्त करने के प्रयास द्वारा अन्य वस्तुयें तो मिल जाती हैं परन्तु सुख नहीं मिलता।"* दूसरे, सुख की खोज कभी पूरी नहीं होती। सुखो का क्षेत्र अनन्त है। जैसे-जैसे हम एक सुख के बाद दूसरा सुख प्राप्त करते जाते हैं हमारी लालसा भी बढ़ती जाती है और हम वास्तव मे सुखी नही हो पाते।

मूल्यांकन—

बेन्थम के विचारो पर आलोचकों का तीव्र प्रहार रहा, कॉर्नायल ने उसे

सूअरो का दर्शन बताया। वेपर उसे महान दार्शनिक मानने के लिए तैयार नहीं है। उसके विचारों को मौलिकता विहीन, अस्पष्ट, भ्रामक की संज्ञा दी जाती है। उसकी प्रशंसा से अधिक आलोचनाएँ हुई हैं।

परन्तु यह सब उसके विचारों की महत्ता को धूमिल नहीं करते। उसके दर्शन के सराहनीय तत्व विस्मृत नहीं किए जा सकते। वह फ्रांस की राज्य क्रांति को प्रभावित करता है। क्रांति की विचारधारा का अंग्रेजीकरण कर उसे ब्रिटेन के अनुकूल बना देता है। क्रांति की तीव्र भावनाओं को सुधारों का पाठ पढ़ाता है। वह विधि सुधारक था। ब्रिटेन में उसे विधि सुधारने का अवसर नहीं मिला, फिर भी बेन्थम ने संसद को जागृत किया, स्थिर स्थिति से बाहर निकाला और व्यवस्थापन को बढ़ावा दिया। बेन्थम की मृत्यु के वर्ष में संसद द्वारा १८३२ का महत्वपूर्ण सुधार विधयक पारित किया गया। गरीब कानून (Poor law) स्वास्थ्य और सफाई कानून पास हुए नागरिक समानता में वृद्धि हुई।

बेन्थम ने राजनीति शास्त्र की प्रचलित मान्यताओं और सिद्धान्तों को अस्वीकार किया। राज्य की उत्पत्ति व अनुबन्ध सिद्धान्त, प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के स्थान पर उपयोगिता के महत्व को प्रतिष्ठित किया। राज्य के लक्ष्य, कार्य और उद्देश्य की नई व्याख्या प्रदान कर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित का मापदण्ड दिया। प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए प्रतिनिधियों पर निर्वाचकों के दृढ़ नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर दिया। उसके सुधारों को विश्व के सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया। वर्तमान विधि, दण्ड, शिक्षा, न्याय, कारागृह, शासन सम्बन्धी सभी क्षेत्रों में उसका सुधारक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। उसके विचारों को 'बेन्थमवाद' का नाम देकर प्रतिष्ठा दी जाती है।

सहायक पुस्तकें

Davidson : Political Thought in England.

Dunning W. A. A History of Political Theories (From Rousseau to Spencer)

Laski : Political Thought in England (From Locke to Bentham)

Maxey : Political Philosophies.

Sabine G. H. . A History of Political Theory.

Suda J. P. . A History of Political Theory.

Wayper . Political Thought.

William Jones : Masters of Political Thought.

गुप्ता एवं चतुर्वेदी . पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

वर्मा एम० पी० : पाश्चात्य राज दर्शन.

शर्मा एम० पी० : राजनीति के विभिन्न वाद.

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१ 'बेन्थम उपयोगितावाद का जनक है।' इस कथन पर विचार करते हुए उसके उपयोगितावादी विचारों पर प्रकाश डालो।

२ 'प्रकृति ने मानव जाति को दो सम्प्रभुताधारी स्वामियों सुख-दुःख के अधीन सौंप दिया है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

३ 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त राज्य और शासन का उचित मापदण्ड है। व्याख्या करो।

४ 'प्रत्येक व्यक्ति की गिनती एक के लिए होनी चाहिए। किसी को भी एक से अधिक नहीं समझा जाना चाहिए।' वक्तव्य के आधार पर बेन्थम के विचारों की समीक्षा कीजिये।

५ 'बेन्थम एक सुधारक था। उसका उद्देश्य राज्य दर्शन के सिद्धान्त की खोज करना नहीं वरन् प्रत्येक क्षेत्र में सुधार करना था।' स्पष्ट कीजिये।

६ बेन्थम के सुधारों की व्याख्या कीजिये।

७. बेन्थम का मुख्य ध्येय विधि के दोषों को दूर करना था। विधि के सम्बन्ध मे उसके सुधारों का मूल्याङ्कन कीजिये।

८. 'पुष्पिन और काव्य पाठ दोनों ही सुख की दृष्टि से समान हैं।' इस कथन के आधार पर बेन्थम के मात्रा तथा गुण के अन्तर पर विचार कीजिए।

९. कॉर्लायल के अनुसार बेन्थम का दर्शन सूअरों का दर्शन है, स्पष्ट कीजिए।

१०. बेन्थम के उपयोगितावाद का मूल्याङ्कन कीजिए।

अध्याय ६

जान स्टुअर्ट मिल
(J. S. Mill)
(१८०६ से १८७३)

"Truth has many aspects and they are not contradictory but complimentary and supplementary to each other."

—*Mill*

"No Society in which eccentricity is a matter of reproach can be a wholesome State."

—*Mill*

जान स्टुअर्ट मिल जेरेमी बेन्थम के उपयोगितावादी ज्ञान परम्परा की अद्वितीय कड़ी है। उपयोगितावाद के प्रारम्भिक विचारकों ने औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों को दूर करने के लिये सुधारवादी आन्दोलन में सहयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। उद्योगपतियों ने सामाजिक जीवन को विध्वंस कर दिया, छोटे-छोटे घरेलू उद्योग धन्धे नष्ट हो चुके थे, उनसे अपना जीवन निर्वाह करने वाले तो बेकार हो गये थे या उद्योगपति उनका शोषण कर रहे थे। अधिक काम के घंटे, कम वेतन, व्यक्तिवाद का आर्थिक जगत में प्रयोग आदि श्रमिकों को शोषित करने में सहायक हो रहे थे। इनके परिणामस्वरूप त्रस्त मानव के सहायतार्थ उदारवाद और उपयोगितावाद जैसी विचारधाराएँ सामने आईं। इन विचारधाराओं ने सभी संस्थाओं, संसद, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन में सुधारों की माँग की। यह असमानवीय स्थिति के निवारण की मानवीय माँग थी। जान स्टुअर्ट मिल ने उदारवाद और उपयोगितावाद को विचार परिपक्वता प्रदान की, तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य, महिला मताधिकार, प्रतिनिधि शासन आदि के लिये अपनी लेखनी उठाई एवं सक्रिय राजनीति में भाग लेकर ठोस प्रयत्न किए।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

जान स्टुअर्ट मिल, जेरेमी बेन्थम के प्रमुख मित्र जेम्स मिल का ज्येष्ठ पुत्र था। उसका जन्म २० मई १८०६ को लन्दन में हुआ। जान स्टुअर्ट मिल की शिक्षा-दीक्षा बहुत ही नियोजित और नियन्त्रित थी। उसके पिता जेम्स मिल ने उसकी शिक्षा के लिए पहले से ही अपने मस्तिष्क में योजना बना रखी थी, वह उसे बेन्थम के उपयोगितावाद का अनुयायी बनाना चाहता था। जान स्टुअर्ट मिल की शिक्षा पिता के कठोर नियन्त्रण में प्रारम्भ हुई। उसे कभी भी विद्यालय जाने का अवसर नहीं मिल सका। उसके पिता ही अध्ययन का पाठ्य-क्रम बनाते थे और क्रमशः एक के बाद दूसरी शिक्षा देते थे। उन्होंने, किस आयु में क्या पढ़ाया जाय, अपने आप निर्धारित किया था। जेम्स मिल ने ३ वर्ष की अल्पायु में ही पुत्र की शिक्षा

प्रारम्भ कर दी और उसे ग्रीक पढ़ना सिखाया। कड़ी निगरानी में यह क्रम ८ वर्ष की आयु तक चलता रहा। आठ वर्ष की आयु में उसके पाठ्यक्रम में लैटिन का अध्ययन भी सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार शिशु मिल इतनी थोड़ी-सी ही उम्र में उन विषयों का ज्ञाता हो चुका था जो उसकी आयु के लिए अनुकूल नहीं थे। ग्रीक और उसके सहायक विषयों के रूप में गणित तथा अंग्रेजी, लैटिन तथा प्लेटो व ग्रन्थ आदि का ज्ञान प्राप्त करने पर किशोरावस्था के आगमन के साथ ही तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्र की शिक्षा दी गई। सामान्यतः यह विषय अध्ययन की दृष्टि से कठिन समझे जाते हैं और परिपक्व बुद्धि के लोगों को ही पढ़ाए जाते हैं। जेम्स मिल अपने पुत्र को अध्ययन काल के अतिरिक्त भी एक मित्र के समान अपने साथ रखते थे और बातचीत तथा भ्रमण आदि सभी समयों पर उसे शिक्षा देते रहते थे। उन्होंने अपने पुत्र पर कठोर नियन्त्रण ही नहीं रखा वरन् सुकरात के समान प्रश्न उपप्रश्न के द्वारा पुत्र के मस्तिष्क को विकसित करने का थोड़े समय और छोटी आयु में ही जो महान् प्रयास किया, वह अभूतपूर्व था। प्रो० सेबाइन के अनुसार इतना कठोर परिश्रम आज तक शायद ही किसी ने किया हो। ज्ञानवर्द्धन के लिए उसके पिता ने उसे परिवार के अन्य छोटे सदस्यों का मानीटर भी बना दिया था। मिल की प्रतिभा को नये मोड़ देने के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य पाने के लिये पिता ने जेरेमी बेन्थम के बन्धु सर सेमुअल बेन्थम के पास फ्रांस भेज दिया। फ्रांस में उसे यह अवसर प्रदान किया गया कि वह अच्छी तरह भ्रमण का आनन्द उठाये। यहाँ उसने फ्रेंच भाषा को सीखा और फ्रांसीसी साहित्य और राजनीति का अध्ययन किया। उसने प्रकृति क्रम, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, आदि का अध्ययन किया।

फ्रांस से वापिस आने पर जान मिल ने बेन्थम के नैतिक तथा राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया। उसने फ्रांस के प्रतिभावान विचारक ड्यूमण्ट के 'ट्रेटेज ऑन लेजिसलेशन' का अध्ययन किया। इस पुस्तक का उसके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। मिल ने स्वयं लिखा है कि 'इस पुस्तक के पठन से जीवन में महत्त्वपूर्ण घटना हुई जो मेरे बौद्धिक इतिहास को बदलने वाला बिन्दु है।' उसके साथ ही उसे न्याय शास्त्री जान ऑस्टिन के शिष्य के रूप में रोमन लॉ का अध्ययन करने का अवसर मिला। १६ वर्ष की अल्पायु में ही मिल ने उपयोगितावादी विचारधारा, बेन्थम की नीति एवं राजनीति पर विचार विमर्श करने के लिए समवयस्कों की एक संस्था स्थापित की जिसका नाम 'दि यूटिलिटेरियन सोसायटी' (The Utilitarian Society) रखा। यह संस्था साढ़े तीन वर्ष तक कार्य करती रही। कुछ समय उपरान्त उसने 'दि स्पेक्यू-लेटिंग डिबेटिंग सोसायटी' (The Speculating Debating So iety) की सदस्यता ग्रहण की और उसका सक्रिय कार्यकर्ता रहा। इस सभा में तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र पर वाद-विवाद होते रहते थे। बाद में उसने 'दि पोलि-टिकल इकोनॉमी क्लब' की घनिष्ठ सदस्यता स्वीकार की जहाँ वह प्रतिभावान अर्थ-शास्त्रियों के सम्पर्क में आया।

सन् १८२३ में १७ वर्ष की आयु में पिता के प्रयत्नों के कारण वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इण्डिया आफिस में पत्र व्यवहार निरीक्षक कार्यालय में नौकरी करने लगा। वह वहाँ पर अभिलेख तैयार करता था। इस कठिन परिश्रम ने कर्मठ बनने का मार्ग प्रशस्त किया।' ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति से दो वर्ष पूर्व वह

'चीफ ऑफ द आफिस' (Chief of the office) पद तक उन्नति कर गया। लॉर्ड पामर्स्टन ने कम्पनी को भंग करने के लिए पार्लियामेंट में एक विधेयक प्रस्तुत किया। कम्पनी के डायरेक्टरों ने उस विधेयक के विरोध में एक प्रतिवेदन पत्र भेजने का निश्चय किया। मिल ने उस प्रार्थना पत्र का आवेदन लिखा। इसमें यह प्रार्थना की गई थी कि कम्पनी का शासन ही भारत वर्ष के लिए आवश्यक है। अतः उसे ही वहाँ पर राज्य करने दिया जाय। यह प्रतिवेदन पत्र इतना प्रभावशाली, तार्किक और बौद्धिक योग्यता का प्रतीक था कि ग्रेने ने उसकी प्रशंसा करते हुए उसे अब तक संसद में पठित सभी प्रलेखों में सर्वोत्कृष्ट पत्र कह पुकारा।

जान स्टुअर्ट मिल बेन्थम के दर्शन का उत्साही प्रचारक था। सन् १८२६ में अत्यधिक परिश्रम और अथक कार्य करने के कारण बीमार पड़ गया। युवावस्था में उसे भावना में बहने का अवसर नहीं मिला था। अतः रुग्णावस्था में उसने अपनी भावनाओं को वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज के काव्य से सन्तुष्ट किया। स्वस्थ होने पर मिल डेविडसन के अनुसार 'एक नवीन मानव के समान प्रस्तुत हुआ जो गहन सहानुभूति, विस्तृत बौद्धिक दृष्टिकोण, मानव आवश्यकताओं का उत्साही ज्ञान तथा विवेक और भावनाओं का महत्त्व प्राप्त कर चुका था।" उसके जीवन को प्रभावित करने में एक और महत्त्वपूर्ण योग आया। मिल मिसेज हैरियट टेलर नामक सम्भ्रान्त, व्यापक दृष्टिकोण एवं बुद्धि तथा चरित्र वाली महिला के सम्पर्क में आया। सन् १८५१ में, मिसेज टेलर के पति की मृत्यु के बाद मिल ने उससे विवाह कर लिया। मिसेज टेलर के सम्पर्क में आने के बाद जो पुस्तकें लिखी, उन पर उसका प्रभाव स्पष्ट करती हैं। बेन्थम के उपयोगितावाद के अमानवीय तत्वों को दूर करने में श्रीमती मिल का बौद्धिक प्रभाव एवं योग रहा।

मिल सन् १८३४ से १८४० तक लन्दन रिव्यू का सम्पादक रहा और बाद में वह उसका स्वामी हो गया। इसमें छपे हुए बहुत से महत्त्वपूर्ण लेख मिल के उदारतावादी विचार का दिग्दर्शन कराते हैं। मिल १८५८-५९ में सपत्नीक दक्षिणी यूरोप के भ्रमण पर गया हुआ था, अविग्नान में उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। मिल सन् १८६६ से ६८ तक इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट का सदस्य रहा। वह वेस्ट मिनस्टर क्षेत्र का रेडीकल प्रतिनिधि था। संसद में वह बहुत ही कम भाषण देता था लेकिन उसका प्रभाव बहुत था और उसके भाषण बहुत ही धैर्यपूर्वक तथा सम्मान के साथ सुने जाते थे। उसके विरोधी भी उससे आतंकित हो जाते थे। श्री ग्लैडस्टन ने इसके भाषणों की प्रशंसा करते हुए कहा कि "जब जान स्टुअर्ट मिल भाषण देते थे, मैं हमेशा यह अनुभव करता था कि किसी सन्त का भाषण सुन रहा हूँ।" मिल ने अपनी पार्लियामेंट की सदस्यता के दौरान मजदूरों के हित, स्त्रियों के मताधिकार, आयरलैण्ड में भूमि सुधार का समर्थन किया। उसकी पत्नी का प्रेम उसे अविग्नान ले गया, वहाँ उसने अपनी प्रिय पत्नी की कब्र के पास ही एक मकान बनवा लिया और अधिकांश समय वहीं व्यतीत किया। ८ मई, सन् १८७३ को मिल की मृत्यु हो गई और वह अपनी पत्नी के बराबर ही दफना दिया गया।

मिल की रचनाएँ
(His Works)

मिल ने 'दि लंदन रिव्यू' और 'दि वेस्ट मिनस्टर रिव्यू' के सम्पादक के रूप में उनमें अनेकों लेख एवं रचनाएँ दीं। उसने अनेकों पुस्तकों की रचना भी की।

इन्ही पुस्तकों मे उसके राजनीतिक विचार पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। उसने निम्न ग्रन्थों की रचना की—

१. दि सिस्टम ऑफ लॉजिक (The System of Logic, 1843)—इस पुस्तक मे मिल की मौलिक तर्कशक्ति तथा दृष्टिकोण की दृढ़ता उसके अगाध ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है।

२. ऐसे आन सम अनसैटेल्ड क्वेश्चन इन पोलिटिकल एकानोमी (Essays on Some Unsettled Question in Political Economy, 1844)—इस रचना मे मिल ने आगामी सत्ता का आभास कराया और रिकार्डो के सिद्धान्तो को अपनी पद्धति से प्रस्तुत किया।

३ दि प्रिन्सीपल्स ऑफ पोलिटिकल एकानामी (The Principles of Political Economy' 1848)

४. ए ट्रिटाइज ऑन लिबर्टी (A Treatise on Liberty, 1859)—यह पुस्तक पाँच वर्ष मे तैयार हुई। इसके रचना काल मे पत्नी की दुखदाई मृत्यु हुई। उसके प्रभावो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मिल ने इसका समर्पण ही अपनी पत्नी को कर दिया था। 'मेरी मित्र और पत्नी जो सत्य, उच्चकोटि की भावना आदि के लिए मेरी सबल प्रेरणा रही।'

५. थॉट आन पार्लियामेंट्री रिफार्म्स (Thought on Parliamentary Reforms, 1859)

६. कन्सीडरेशन ऑन रिप्रेजेण्टेटिव गवर्नमेंट (Consideration on Representative Government 1860)

७. उपयोगितावाद (Utilitarianism, 1863)—यह १८६१ मे फ्रेसर पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी।

८ एक्जामिनेशन ऑफ सर विलियम हैमिल्टन्स फिलोसफी (Examination of Sir William Hamilton's *Philosophy, 1865*)

९ इनअगरल एड्रस ऑन दि वेल्यू ऑफ कल्चर (Inaugral Address on the Value of Culture, 1867)

१०. दि सब्जेक्शन ऑफ विमेन (The Subjection of Women, 1869)

११. दि ऑटोबायोग्राफी (The Autobiography, 1873)

१२. दि ऐसेज ऑन रेलीजन (The Essays on Religion, 1874)

१३. लेटर्स (Letters, 1910)

अध्ययन पद्धति

मिल ने 'सिस्टम ऑफ लॉजिक' पुस्तक मे इस प्रश्न पर विचार किया कि राजनीति शास्त्र, समाज और शासन का अध्ययन किस प्रकार किया जाना चाहिए। कौन-सी अध्ययन पद्धति सर्वश्रेष्ठ ढग से प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान करा सकती है। मिल ने निम्न प्रमुख अध्ययन पद्धति बताई—

(१) रासायनिक या प्रयोगात्मक पद्धति (The Chemical or Experimental Method—जान स्टुअर्ट मिल ने रासायनिक और प्रयोगात्मक अध्ययन

पद्धति पर विचार करते हुए बताया कि सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र रसायन आदि विज्ञान से भिन्न होता है। राजनीति शास्त्री को किसी प्रयोगशाला में बैठकर कार्य नहीं करना पडता। वह सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अपने तर्क तथा पद्धति का प्रयोग करते हुये दो गलतियों के कारण असफल हो जाता है। रसायन शास्त्री विभिन्न पदार्थों आदि को एक-दूसरे से मिलाकर उनके परिणामों की खोज करता है। राजनीति में इस प्रणाली में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। राजनीति शास्त्री को समाज की व्यापक प्रयोगशाला में प्रयोग करने पड़ते हैं। उनके तत्त्व एवं पदार्थ शरीर और आत्माधारी मनुष्य होते हैं। मनुष्य ही मनुष्य का प्रयोगकर्त्ता होता है। मनुष्य के हृदय की आत्मगत विशेषतायें उसके इस प्रयोग को असफल कर देती हैं। मनुष्य स्वयं किस प्रकार अपने हृदय पर प्रयोग कर सकता है, यह मानवीय शक्ति से परे है। मनुष्य की आत्मगत प्रकृति (Subjective nature) उसे एक भिन्न दृष्टिकोण से वस्तु का निरीक्षण करने देती है। उदाहरण के लिये, कवि की कविताओं के संग्रह में प्रकृति का रूप यदि कहीं उग्रता का, तो कहीं कोमलता का प्रतीक है, ऐसा क्यों ? प्रकृति एक ही है। फिर उसके दो रूप क्यों ? इसका कारण होता है कवि के हृदय की अवस्थायें, जो पूर्णतया एक-दूसरे से भिन्न हैं। राजनीति शास्त्री मनुष्यों का अध्ययन करता है। उसके हृदय में जैसी भावनायें होंगी वह उनके अनुकूल ही राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों का [illegible] करता है। उदाहरण के लिये, हॉब्स मानव-प्रकृति को स्वभावत दुष्ट बताता है और लॉक श्रेष्ठ। यह दोष दोनों विचारकों के अध्ययन की त्रुटि का स्पष्ट प्रतीक है। दूसरे, राजनीतिशास्त्र में रासायनिक अध्ययन पद्धति का इसलिये भी कोई महत्त्व नहीं क्योंकि इसमें विभिन्न देशों के मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है जो रसायन शास्त्र के पदार्थों के विपरीत सर्वत्र भिन्नता रखते हैं। रसायन शास्त्र के पदार्थ भारत, इंगलैण्ड, रूस, किसी भी देश में प्रयोगान्वित किये जायें तो उनका परिणाम सर्वत्र एक-सा ही होता है क्योंकि पदार्थ सर्वत्र वही हैं। लेकिन इसके विपरीत समाजशास्त्र मनुष्य रूपी पदार्थ पर प्रयोग करते हैं जो हर देश में एक से नहीं हो सकते। अतः उन पर किये गये प्रयोगों का किसी एक देश में यदि एक प्रभाव होगा तो दूसरे देश में कुछ और। उदाहरण के लिये, एक देश में मद्य निषेध का सफल होना सभी देशों में उसे सफल होने का प्रमाण नहीं माना जा सकता, या एक देश में लगाये गये कर दूसरे देश की आय व्यवस्था के लिये उचित नहीं हो सकते। अतः मिल ने राजनीति शास्त्र के लिये इस पद्धति को अनुपयुक्त बताया और कहा कि समाज शास्त्रीय विषयों के लिए यह प्रणाली ठीक नहीं।

(२) ज्यामिति पद्धति (Geometrical or Abstract Method)—राजनीति शास्त्र में ज्यामिति पद्धति का प्रयोग भी किया जाता है। यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है। इसका अभिप्राय यह है कि निश्चयात्मक नियमों द्वारा दृश्य जगत को सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। पूर्व निर्धारित नियमों को आगे बारी परिस्थितियों आदि का माप दण्ड बना लिया जाता है। समाज एक विकासशील संस्था है जिसकी निरन्तर उन्नति होती रहती है और दृश्य जगत बदलता रहता है, पूर्व निर्धारित मान्यतायें बदले बिना समाज का नियमन भी नहीं किया जा सकता है। ज्यामिति उनसे सम्बन्ध रखने में असमर्थ होती है। सामाजिक जीवन में पहले से बने नियम महत्त्वहीन होते हैं। अत. मिल इस पद्धति को भी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिये अनुपयुक्त बताता है।

(३) भौतिक या ठोस अध्ययन पद्धति (Physical or Concrete Deductive Method)—यह अध्ययन की तृतीय पद्धति है। मिल के अनुसार इस पद्धति को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। यह पद्धति निगमनात्मक (deductive) और आगमनात्मक (inductive) दोनों की मिश्रित प्रणाली है। इसमे सर्वप्रथम प्रकृति के पदार्थों का परीक्षण किया जाता है और उससे निकले हुए परिणामो को पुनः शोध कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। समाज शास्त्र मानव प्रकृति के आधारभूत नियम है। उनका परीक्षण करके कुछ सामान्य सिद्धान्त निकाले जाते हैं। उन सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों के साथ परीक्षण करके निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाते हैं, प्रयोग करते है। मिल का कहना है कि समाज विज्ञान के साथ एक कठिनाई है कि यह नक्षत्र विज्ञान की तरह अपने पूर्व विचार सदैव नही दे सकता है। परन्तु फिर भी यह राजनीति शास्त्र के अध्ययन से प्रयोग की जा सकती है।

(४) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—मनुष्य और समाज प्रगतिशील हैं। एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था आने पर ज्ञान बढ़ता है। एक पीढ़ी के लोग दूसरी पीढ़ी के लोगो से भिन्न होते हैं। उन दोनो के अनुभव मे क्रमश. वृद्धि होती जाती है। किसी एक समय पर समाज की परिस्थितियाँ अपना स्वरूप निश्चित करती हैं, और किसी अन्य समय पर परिस्थितियाँ भी परिवर्तित हो जाती हैं, यह अध्ययन इतिहास की ओर ले जाता है। इससे मानव प्रकृति के नियम खोज निकाले जाते हैं। लेकिन इतिहास मे भी घटनाओ और वास्तविकताओ का सामान्यीकरण हो जाने से हमको सहायता नही मिल पाती। वे नियम वास्तव मे समाज के अनुभव पर आधारित होते हैं। यह निगमनात्मक आधार पर निकाले जाते है।

मिल ने भौतिक और ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया। उसके अध्ययन पर समाजशास्त्रीय विचारक कॉम्टे का प्रभाव है। मिल ने समाजशास्त्र के क्षेत्र और विधि को प्रयोग किया। मनुष्य का मान धारणाएँ विचार आदि सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। आगमन मूलक पद्धति मे समाज के नियम और चित्र का अनुभव के आधार पर समाजीकरण होता है। बहुत से प्रयोग आदि द्वारा बाद मे उन्हे नये क्षेत्र मे प्रयोग करते है और उन्हे स्थापित करने के लिये तथ्यों तक जा पहुँचते हैं। इस प्रकार मिल अपनी अध्ययन पद्धति मे अध्ययन के सर्वश्रेष्ठ ढगो को आधार बना कर चलता है।

मिल के उपयोगितावादी विचार
(Mill on Utilitarianism)

मिल के समय मे नैतिक दर्शन सहज अन्तर्ज्ञान (intutions) के सिद्धान्तो पर आधारित था। उपयोगितावादी सुख के आधार पर कार्य करने की आलोचना की जाती थी। मिल ने इसके विरोध मे उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया और विरोधियो को सुख के प्रश्न पर धैर्यपूर्वक विचार करने के लिए कहा। उसने कहा कि वे 'उपयोगितावाद को एक व्यक्ति की प्रसन्नता और अन्य व्यक्तियों की प्रसन्नता, एक उदार, असम्बन्धित व्यक्ति के निष्पक्ष दर्शक के रूप मे देखें।' 'मैं उपयोगिता को सभी नैतिक प्रश्नो के लिए प्रयोग करता हूँ लेकिन यह व्यापक अर्थ मे उपयोगिता होनी चाहिए, जो मनुष्य के विकासशील प्राणी के रूप में स्थाई हित पर आधारित

हो।' इस प्रकार मिल ने नैतिक सहजोपलब्धि का मूल्य बढ़ा दिया। नैतिक विचार आन्तरिक नहीं वरन् प्राप्य होते हैं लेकिन फिर भी मनुष्य के लिये अप्राकृतिक नहीं हैं। मिल उन्हें अनुभव के समीप ले आता है।

(१) मिल के आनन्द एवं पीड़ा की व्याख्या (Elucidation of Pleasure and Pain)—उसने कहा कि दुःख का अभाव आनन्द होता है। यदि किसी कार्य के करने में व्यक्ति को कोई कष्ट नहीं होता हो, तो वह कार्य निश्चय ही आनन्ददायक होता है। इसी तरह आनन्द का अभाव ही पीड़ा है। जैसे, किसी व्यक्ति को कार्य सम्पादित करने में आनन्द नहीं प्राप्त हो, तो इसका अभिप्राय यही है कि वह कार्य कष्टप्रद है। मिल ने सुख और दुःख की यह परिभाषा देकर उपयोगितावादी विचारधारा की व्याख्या की।

(२) सुखों में गुणात्मक अन्तर का प्रतिपादन—उसने बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों को आगे बढ़ाया। बेन्थम तथा जेम्स मिल आदि सुख को व्यक्ति के कार्य निर्धारण का मापक मानते थे। उनके अनुसार सुखों में मात्रात्मक (Quantitative) अन्तर पाया जाता है। बेन्थम ने कहा था कि "सुखों का गुण समान होने के कारण ताश के खेल और कविता पाठ में समान आनन्द प्राप्त होता है।" [Quality of pleasure being equal pushpin is as good as poetry.] इस कथन का आशय यह था कि सुखों में मात्रात्मक अन्तर होता है। किसी कार्य में यदि दस प्रतिशत सुख का अनुभव होता है तो दूसरे कार्य में पचास प्रतिशत हो सकता है। बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन की यह त्रुटि आलोचना का प्रसंग बन गई थी। यह कहा जाता था कि बेन्थम ने उपयोगितावादी सुखवाद के आधार पर मनुष्य को पशुओं के समान बना दिया है। घोड़े और गधे की सवारी में केवल मात्रा मूलक ही अन्तर होता है, गुणात्मक नहीं। यह बहुत ही हास्यास्पद है। बेन्थम के सुख में अधिकतम और न्यूनतम का भेद स्थापित करने का परिणाम यह हुआ था कि उपयोगितावाद में अमानवीयता प्रवेश कर गई थी।

मिल ने इस अमानवीयता को दूर कर, मनुष्य को अनैतिक जीवन की अपेक्षा नैतिक जीवन का अवलम्बन करने के लिये, इसमें थोड़ा सा संशोधन किया। उसने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त में उलट फेर करने के बजाय सुखों में मात्रामूलक अन्तर के साथ ही गुणात्मक (Qualitative) अन्तर भी स्थापित किया। उसने कहा कि सुखों में केवल अधिक या कम का ही अन्तर नहीं होता वरन् वे भाँति-भाँति के होते हैं। उनके गुण भी अलग-अलग होते हैं। सुख में कम या अधिक के अन्तर के साथ ही उच्च या निम्न का भेद भी पाया जाता है। वे अपने महत्त्व के आधार पर उच्च या निम्न भी हो सकते हैं। सुखों में गुणों के आधार पर अन्तर अत्यधिक महत्त्व रखता है। यदि गुणवान चतुर अनुभवी व्यक्तियों से दोनों का अनुभव करने के बाद पूछा जाय कि कौन-सा सुख उचित है, तो वह प्राकृतिक रूप से उसको ही उच्च बनाएँगे जो उच्च होगा। मिल ने इस सम्बन्ध में कहा था कि "एक सन्तुष्ट सूकर की अपेक्षा असन्तुष्ट मानव होना अच्छा है, असन्तुष्ट सुकरात होना (ग्रीक का प्रमुख दार्शनिक, प्लेटो का गुरु, अत्यन्त उच्चकोटि का विद्वान) सन्तुष्ट मूर्ख होने से अच्छा है। यदि मूर्ख (व्यक्ति और सूकर का दृष्टिकोण) इसके विपरीत हो, तो यह इसलिये कि वे अपना पक्ष ही जानते हैं, दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनों पक्षों को जानता है।" ["It is better to be a human being dissatisfied

than a pig satisfied, better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied and if fool or the pig is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question. The party to the comparison knows both sides "— Mill J S] इस प्रकार सुखों में गुणभेद स्थापित करके मिल ने बेंथम के उपयोगिता को नैतिकता प्रदान कर उसमें मानवीयता ला दी। सत्य ही है कि एक गुणग्राही व्यक्ति पाँच वर्ष के लिए भारत का राष्ट्रपति बनना पसंद करेगा और उसकी तुलना में जीवन भर के लिये जिलाधीश बनना नहीं। उच्च रसास्वादन करने वाले व्यक्ति दो रसगुल्लों को लेना अधिक पसन्द करेंगे, उनके स्थान पर पाव भर लड्डू नहीं।

(३) **सुखों की प्राप्ति अप्रत्यक्ष ढंग से होती है (Indirect Acquisition of Pleasure)**—अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की कल्पना को मिल ने स्वीकार किया। बेंथम ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में व्याख्या की त्रुटि रहने दी थी। उसने यह बताया था कि राज्य के कार्यों की नाप-तौल करते समय निश्चितता, अवधि सामीप्यता, तीव्रता, उर्वरता और शुद्धता के साथ ही विस्तार को और जोड़ दिया जाना चाहिए। अर्थात् राज्य की कितनी अधिक जनसंख्या को उस कार्य से सुख पहुँचेगा, परन्तु एक व्यक्ति के सुख की खोज में लगे रहने पर वह किस प्रकार अन्य व्यक्तियों को सुख पहुँचा सकेगा, यह प्रश्न अविचारित रह गया था। मिल ने इसका बहुत ही सुन्दर समाधान किया। उसने कहा कि "व्यक्ति को अपना ही अधिकतम सुख प्राप्त करने की लालसा एकमात्र उद्देश्य रहती है और तुरन्त ही वह सामाजिक *हित के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम आनन्द का रूप धारण कर लेती है।"* मिल ने कहा कि निजी स्वार्थ परमार्थ के विचार में उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है जिस प्रकार धन को सुख साधन मानने वाला व्यक्ति कृपणता में परिवर्तित हो जाता है। प्रारम्भ में मनुष्य को यह प्रेरणा होती है कि आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये धन अर्जित किया जाय। धन कमाना उसे सन्तुष्ट रखता है या उसमें ही उसे सुख प्राप्त होता है। लेकिन आगे चलकर वह व्यक्ति अपनी इच्छा को साधन से साध्य में बदल देता है और निरन्तर धन संग्रह में ही लगा रहता है। पहले उसे अपनी आव-*श्यकताओं को पूरा करने के लिये धन कमाने में सुख मिलता था, अब वह धन को* इकट्ठा करते रह कर ही सुखी अनुभव करता है। पहले धन सुख का साधन था लेकिन बाद में वह साध्य हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति किसी कार्य को इसलिये करता है कि उसमें सुख प्राप्त होता है बाद में वही सुख साध्य बन जाता है। उदा-हरण के लिये एक व्यक्ति को सड़क पर पड़े कराहते हुए मनुष्य का दुःख नहीं देखा गया। उसने तत्काल उसकी सहायता की और ऐसा करके उसको सुख पहुँचाया। उसे दूसरे व्यक्ति की सेवा में सुख प्राप्त हुआ बाद में वह अपने निजी सुख को विस्मृत *कर देता है और दूसरों की सेवा में ही लगा रहता है। मिल ने इस दार्शनिक विचार* की उपसिद्धि यह है कि हम सुख की ओर आँख बन्द कर दौड़ते रहें उससे कभी सुख नहीं प्राप्त होता है वरन् हम अन्य माध्यम द्वारा सुख प्राप्त करते हैं। [Happiness is not gained by a point blank aim we must take a boomrang flight in some other line and come back upon the target by an oblique or reflected movement.'—Bain Quoted by Davidson Pol. Thought in England, p. 125] मिल के अनुसार 'सुख समझ कर लगाये गये निशाने से प्राप्त नहीं होता, इसको दूसरी ओर से ऐसा उड़ना चाहिए कि लौट कर

निशान पर ही अप्रत्यक्ष रूप में या प्रतिबिम्बित होकर आ जायें ।" मिल का यह विचार सुखों की सामाजिकता का चित्रण करता है। सभ्यता की ओर बढ़ता हुआ मनुष्य अपने सुखों आदि में भी यह ऐक्य भावना रखकर आगे बढ़ता है। परन्तु मिल का यह विचार कि सुख अप्रत्यक्ष रूप में अपने आप प्राप्त हो जाता है, एक भ्रम उत्पन्न करता है। अधिकतर सुख प्रत्यक्ष ही प्राप्त होते हैं जैसे मेज पर रखा खाना खाकर ही हम सुख प्राप्त कर सकते हैं।

(३) सामूहिक सुख (Collective pleasure)—मिल ने नैतिकता को पूर्णतया सामाजिक बनाया, न्याय और सहानुभूति उसके आधार हैं। अपने साथियों की एकता या सामाजिक भावना ही सही व्यवहार का कारण है। किसी भी वस्तु का गुण साधन और साध्य को मिला देने पर बना है। गुण सुख का भी साधन होता है लेकिन उसकी स्वयं आवश्यकता होती है। जो गुण स्वयं गुण के लिये चाहते हैं या तो वे उसके सुख की चेतना या दुःख के निवारण के लिए, या दोनों के लिये ही चाहते हैं। सुख या आनन्द इच्छा का उद्देश्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना सुख वांछित है और उसे सामान्य प्रसन्नता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। सामान्य सुख सब के लिये सुख का सोपान है। एक व्यक्ति का सुख अच्छा है, हर एक व्यक्ति का सुख अच्छा है और इसीलिए सामान्य सुख भी व्यक्तियों के लिए सामूहिक रूप से अच्छा है। मिल व्यक्ति को समाज से पृथक् नहीं मानता और उसे आवश्यक रूप में समाज का सदस्य मानता है। उसकी भावनायें सुख तथा सहानुभूति के साथ एकरूपता के बन्धन में बँधी हैं, इसलिए उसकी इच्छा नैतिक है। मिल ने 'लैटर्स' में इस विचार को अभिव्यक्ति किया है, "जब मैं यह कहता हूँ कि सामान्य सुख सम्मिलित रूप में सभी व्यक्तियों के सुख हैं। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि हर व्यक्ति का सुख प्रत्येक अन्य व्यक्ति का सुख है। यद्यपि मैं अच्छे समाज और शिक्षित अवस्था में इसे ऐसा ही मानता हूँ, मेरा केवल अभिप्राय यही है कि 'अ' का सुख अच्छा है, 'ब' का सुख अच्छा है, 'स' आदि सभी का सुख अच्छा है और इस प्रकार इन सभी की अच्छाइयों का योग अवश्य ही अच्छा होगा।"

मिल के उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन (Estimates of Mill's Concept of Utilitarianism)—यह कहा जाता है कि उसने बैंथम के विचारों की त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया। बैंथम के अनुसार सभी सुख केवल मात्रा में भिन्न होते हैं। यह वक्तव्य समाज के विद्वान व्यक्तियों और दार्शनिकों एवं मूर्खों के सुखों को समान ठहराता है, एक संत के ईश्वर भजन और वासनादि में डूबे हुए गंजेड़ी के सुख में भी इस आधार पर कोई अन्तर नहीं रहता। इस प्रकार असामाजिक, अनैतिक उपयोगितावादी स्वरूप मिल ने सुधारा। उसने बैंथम के उपयोगितावादी के भौतिक स्वरूप का सुधार कर उसे अधिक नैतिक बना दिया। मनुष्य एक ऐसा प्राणी नहीं रह जाता जो क्षणिक सुख के लिए भौतिक आवरण में अपने महत्वपूर्ण स्वर्गीय सुख को न्यौछावर कर दे।

परन्तु मिल के द्वारा उपयोगितावाद में संशोधन किए जाने से उसका स्वरूप ही बिगड़ गया। उसने सुख में कम अधिक के मात्रा गणक अन्तर के साथ ही उच्च और निम्न का गुणात्मक अन्तर भी स्पष्ट कर दिया। गुण का अन्तर यद्यपि उपयोगितावादी विचारधारा में मानवीयता लाने में सहायक हुआ, लेकिन उसका मापक यंत्र गड़बड़ हो गया। किस प्रकार सुखों के गुणात्मक अन्तर को नापा जाय, यह एक जटिल

प्रश्न बन गया। मिल ने इस तरह का मापक प्रदान करने की चेष्टा भी नहीं की। प्रा० संवाइन ने इसका चित्रण करते हुए बताया कि "उसने अपने सुखवाद में सुख के उच्च और निम्न स्तर का नैतिक सिद्धान्त और जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह असुरक्षित तर्कजाल में फँस गया कि किस आधार पर उनको नापा जाय। यह विरोधाभास था, इसने इसके उपयोगितावाद को नष्ट कर दिया क्योंकि उसने कभी भी मापक नहीं प्रदान किया, यदि ऐसा किया होता तो वह सुखकारी नहीं होता।"

अतः मिल के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने बैंथम के उपयोगितावाद में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश कर उसे मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य किया, लेकिन दार्शनिकता की ओर बढ़ जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता समाप्त हो गई।

स्वतन्त्रता
(Liberty)

मिल की महत्वपूर्ण कृति 'लिबर्टी' की रचना के पूर्व 'पोलिटिकल इकोनोमी' में उसने अपने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का आभास कराया था। मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा मौलिक अनुदान नहीं है वरन् एक कुशल शासक होने के कारण मिल ने पूर्व प्रतिपादित विषय को बहुत ही सभाँल कर प्रभावोत्पादक शैली में लिखा है। जान स्टुअर्ट मिल का युग स्वतन्त्रता की विचारधारा का युग था। इसलिए उसके सम्पूर्ण साहित्य में 'स्वतन्त्रता' पर प्रकट किए गए उसके विचार उत्कृष्टता की चरम सीमा पर जा पहुँचे हैं।

स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व का विकास (Liberty and Development of Personality) —स्वतन्त्रता व्यक्ति के उन्नतिशील जीवन एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती है। 'व्यक्ति का जीवन का चरम लक्ष्य जो बुद्धि की शाश्वत चेतना द्वारा निर्धारित किया जाता है व्यक्ति की शक्तियों का सर्वोच्च, सामजस्य है पूर्ण सम्पूर्णतामय अस्तित्व होता है।' यह कार्य वह अपनी शक्तियों और व्यक्तित्व को निखार कर ही कर सकता है। समाज में व्यक्ति के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक उत्थान के लिए व्यक्ति की मौलिकता और शक्ति की आवश्यकता होती है। यदि व्यक्ति सदैव अपनी मौलिकता के आधार पर उत्साहपूर्ण कार्य करता रहे तो वह प्रगति की ओर बढ़ता चला जायगा। मनुष्य की विकासशील प्रकृति, यदि उपयुक्त वातावरण व परिस्थितियों में अग्रसित क्रम में रहती रहता वह अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। विकास बौद्धिक प्रवृत्तियों का विस्तृत प्रदेश में पूर्णता की ओर ले जाने के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने में होता है। व्यक्तित्व उन्मुक्त वातावरण में निखरता है। कवि या लेखक का निर्धारित दिशा में ही अपनी लेखनी उठानी पड़े तो उसके काव्य में सौन्दर्य की वह अनुभूति नहीं हो सकती जो उसे अपने आप इच्छानुसार काव्य रचने में दिखाई देती है।

१. व्यक्तित्व मौलिकता प्रदत्त होता है।

२. प्रतिभा का परिचय देने के लिए पूर्णस्वतन्त्रता का वातावरण होना चाहिए। "राजनीतिक दार्शनिक" पुस्तक में मेक्सिम कॉमिन्स और रोबर्ट एन लिन्सकोट ने कहा कि "मैं प्रतिमा के महत्व पर विशेष जोर देता हूँ, उसे विचार और व्यवहार में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की अत्यन्त आवश्यकता होती है।"

["I insist thus emphatically on the importance of genius and the necessity of allowing to unfold itself freely both in thought and practice." Saxe Commins & Robert N. Linscott : The Political Philosopher's, p. 204]

३. व्यक्तित्व के विकास के लिये परम्पराओं के प्रतिकूल विचार तथा कार्य भी सामने आने देना चाहिये। उनके द्वारा नवीन परम्पराओं को जन्म दिया जा सकता है। यदि वह विचार सत्य एवं उपयुक्त होगा तो अवश्य ही आने वाले युग में अनुकरणीय रहेगा। अतः मिल व्यक्तित्व के विकास को मानव जीवन का अनिवार्यतम सत्य मानता है जिसे स्वतन्त्रतामय वातावरण में ही विकसित किया जा सकता है। व्यक्ति की मौलिकता और प्रतिभा ही नवीन साहित्य एवं विज्ञान के प्रगतिशील चरणों में मस्तक झुका कर मानवता का अधिकतम हित कर सकती है।

तत्कालीन युग में प्रजातंत्र का विकास हो रहा था, लेकिन बेंथम के उपयोगितावाद की त्रुटिपूर्ण व्याख्या द्वारा राज्य का समर्थन, उसकी उपयोगिता बताकर किया जा रहा था। प्रजातन्त्र का स्वरूप जनता का जनता के लिये जनता द्वारा राज्य नहीं था वरन् कुछ सम्पन्न बौद्धिक क्षमतावान राज्य की शक्तियों को बहुमत आदि के आधार पर केन्द्रित कर चुके थे। वे उसका दुरुपयोग कर जन सामान्य को कुचलने से नहीं हिचकिचाते थे। जनतन्त्र बिना जनता की स्वतन्त्रता के संचालित हो रहा था। प्रजातन्त्र की सफलता का श्रेय यह होता है कि सभी व्यक्तियों को उसके निर्धारण में अपने कर्म तथा विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अवसर प्रदान किया जाता है। प्रजा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति शासन के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर उठाता है लेकिन जब व्यक्तियों को अपने विचार व्यक्त करने और अपने कार्यों को करने आदि का अवसर न दिया जाय वरन् उन्हें विचार कर्म को स्वतन्त्र रूप से करने से रोका जाए ऐसी अवस्था में वह अपना विकास नहीं कर सकेगा। व्यक्ति को इस विकास के अतिरिक्त सम्पूर्ण समाज का विकास भी स्वतन्त्रता में ही सम्भव है। व्यक्ति की अभिरुचियों की विभिन्नता ही समाज के विकास का आधार है। एकरूपता उसकी जड़ता का प्रतीक है। अतएव व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही उत्साही बनाती है और उसकी विविधता ही राज्य के संरक्षण में सब प्रकार की—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक—उन्नति का आधार है।

स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर विचार करने के उपरान्त मिल ने उसके प्रकार पर विचार किया। उसने स्वतन्त्रता को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया—(अ) विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (आ) कार्य की स्वतन्त्रता। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी अमूल्य निधि है। वह निस्सन्देह एक सामाजिक प्राणी के रूप में जन्म से मरण तक समाज में रहता है और इसी कारण के कारण समाज भी उसके ऊपर कुछ शक्तियों प्रयोग करता है। व्यक्ति के विचार और कार्य पर आधारभूत सदस्य के रूप में नियन्त्रित भी होने चाहिए। प्रजातन्त्र में विशेष रूप से यह आवश्यकता समझी जाती है कि जनहित के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा और रुचि के अनुकूल विकास का अवसर जहाँ तक सम्भव हो दिया जाय क्योंकि इसके द्वारा उसके चरित्र की विविधता का विकास होगा। मिल के यह विचार तत्कालीन प्रजातन्त्र के विचारकों और समाज को असान्य थे। मनुष्य को सामाजिक आवरण में बन्द किया गया था और उससे यह आशा की जाती थी कि राज्य के व्यक्तित्व में

लिए अपने आप को पूर्णतया न्योछावर कर दे। मिल ने ऐसे वातावरण में राज्य की शिक्षा प्रणाली का विरोध किया और कहा कि राज्य को अधिक से अधिक यह देखना चाहिए कि हर पिता अपनी सतान को अच्छी शिक्षा प्रदान कर रहा है अन्यथा राज्य का शिक्षा में हस्तक्षेप उनकी मौलिकता का नाश कर देगा। सामान्य शिक्षा नागरिकों को एक दूसरे के समान बनाने में सहायक होगी और फलस्वरूप समाज के पतन का कारण बनेगी।

विचार तथा भाषण की स्वतन्त्रता (Liberty of Speech and Expression)—मिल ने अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना 'लिबर्टी' में नागरिकों को विचार व्यक्त करने, भाषण देने, वाद विवाद आदि में भाग लेने की *स्वतन्त्रता का समर्थन किया* है। मिल का मन्तव्य यह था कि समाज के प्रत्येक मनुष्य को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह बुद्धिमान, सामान्य ज्ञान वाला या सनकी प्रकार का व्यक्ति हो या न हो, उसे विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिये। यदि उनमें से किसी भी व्यक्ति का दमन शासन या शक्तिशाली मनुष्यों द्वारा किया जाता है तो समाज अपनी प्रगति पर कुठाराघात करता है। विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता का समर्थन मिल ने निम्न आधारों पर किया है —

(१) परम्परागत एवं मान्य विचारों के विरोध में भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता—सामान्यतः स्वीकृत विचार सदैव सत्य नहीं होते हैं। एक परम्परावादी विचार जिसे, सदियों से भी लोग मानते चले आ रहे हैं उसका विरोध *स्वीकार नहीं किया जाता है और विरोधी विचार प्रकट करने वालों को राज्य की* ओर से यातना दी जाती है। परन्तु क्या परम्परावादी विचार सदैव सत्य होते हैं? क्या उसे आँख बन्द कर स्वीकार कर लेना ही उचित है? इसका उत्तर देते हुए मिल ने बताया कि किसी विचार की पूजा इसलिये नहीं करनी चाहिये क्योंकि हमारे पूर्वज उसे सत्य मानते चले आ रहे हैं और न जनता तथा न राज्य दोनों को ही यदि कोई विचार इस परम्परा के विरोध में प्रकट किया जाय, तो कुचलना नहीं चाहिए। *हमारा अध्ययन एवं अनुभव इसका स्पष्ट प्रमाण है* कि अनेकों परम्परागत विचार अन्धविश्वास या सकुचित विचारों पर आधारित थे, और आज वे असत्य सिद्ध हुये हैं। प्रारम्भ में जब परम्परागत विचारधारा के विरोध में विचार प्रकट हुए तो समाज और शासन ने उन विचारकों को दुत्कारा, उनकी भर्त्सना की, उन्हें ज़हर के प्याले पीने पड़े उनको सनकी बताया गया। अन्त में जा कर उनके विचारों को स्वीकार किया गया। ऐसे सनकी मनुष्य भी ऐसे विचार दे गये जिनकी छाप किसी युग विशेष पर ही *नहीं पड़ी, वरन् अब भी* उनके विचारों का अनुकरण कर मनुष्य गर्व का अनुभव करता है। उदाहरण के लिये, ईसा का नाम लिया जा सकता है, उनके विचारों के परम्परा के प्रतिक्रियावादी होने के कारण, उन्हें सूली पर चढ़ा दिया गया लेकिन आज उनके विचारों का अनुकरण करने वालों की संख्या विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या तक बढ़ चुकी है। सुकरात को सत्य विचार प्रकट करने के कारण ही, नवयुवकों को भड़काने के अपराध में ज़हर का प्याला पीने को दिया गया। परन्तु आज उसे दार्शनिक सम्राट कह कर पुकारा जाता है। जीन जैक्स रूसो के विचार उनके जीवन काल में शासकों के घातक बन गये थे, लेकिन बाद में फ्रांस की राज्य क्रान्ति के नेतागण उनके विचारों को अपने भाषणों में रखना अनिवार्य समझते थे। उपर्युक्त

उदाहरणों को कहाँ तक गिनाया जाय। यदि इन विचारकों को स्वच्छन्द विचार व्यक्त करने का अवसर दिया गया होता तो आज उनसे समाज कितना लाभान्वित हुआ होता। अतएव किसी भी व्यक्ति को अपने विचारों को प्रकट करने से नहीं रोकना चाहिये। व्यक्ति का समाज में क्या स्थान है, उसकी बौद्धिक प्रतिभा किस कोटि की है, बिना इन सब बातों पर विचार किये ही व्यक्ति के विचारों को सामने आने देना चाहिये क्योंकि हो सकता है कि कालान्तर में उसके विचार ही विश्व का मार्ग दर्शन करें।

(२) सत्य की शोध प्रत्येक को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता द्वारा ही सम्भव है—मिल ने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुये कहा कि विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता पर यह तर्क देकर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं कि वह विचार मिथ्या और हानिकारक है। परन्तु कौन सा विचार मिथ्या या हानिकारक होगा, यह उसके अभिव्यक्त किये जाने से पूर्व ही किस प्रकार जाना जा सकता है? प्रत्येक विचार को प्रकट करने का अधिकार दिया जाना चाहिये, क्योंकि उनमें से हानिकारक और मिथ्या विचार की भली भाँति परीक्षा हो जायगी। जब दो विचारों में संघर्ष होगा तभी सत्य और असत्य का निश्चय भली भाँति किया जा सकता है। सत्य सदैव विजयी होता है। 'साँच को आँच क्या' सूक्ति भी यही स्पष्ट करती है कि प्रत्येक विचार को सामने आना चाहिये, उनमें जो असत्य होगा, वह विलीन हो जायेगा और सत्य विजयी होकर स्थाई रहेगा।

कौन सा विचार सत्य है या असत्य यह निरीक्षण दो विरोधी विचारों की तुलना से ही हो सकता है। विरोधी विचार असत्य होने पर भी सत्य का सहायक है क्योंकि वह सत्य का मूल्य निर्धारित कर देता है। सत्य रूपी स्वर्ण का जितना अधिक अग्नि परीक्षण होगा, उतनी ही चमक लेकर वह प्रकट होगा। विरोधी विचार के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सत्य विचार जीवित रहने योग्य होता है। हेलिंगटन के अनुसार "विरोध और विवेकीय अस्वीकृति क्षणमात्र के लिये उपयुक्त नहीं मालूम पड़ती लेकिन बौद्धिक रूप में वह सहायक और शक्ति प्रदान करने वाली होती है। वह विचारों को स्पष्ट करती है और मान्यताओं को शक्ति प्रदान करती है, और उसे अपने विचारों के प्रचार करने के लिये अतुल विश्वास, और परम्पराओं को बनाये रखने की अत्यधिक शक्ति प्रदान करती है।

नकारात्मक तर्क प्रस्तुत किये जाने पर ही सकारात्मक तर्क का महत्त्व स्पष्ट होता है।

(३) विवाद के किसी एक ही पक्ष पर सत्य पूर्णतः अवलम्बित नहीं होता—विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए मिल अगला तर्क यह देता है कि विवाद के किसी एक पक्ष पर ही सत्य का पूर्णाधिपत्य नहीं होता। एक से अधिक पक्ष भी अपने-अपने विचार में सत्य हो सकते हैं। सत्य असीमित और अपार है। उसका एक पक्ष ही नहीं अनेकों पक्ष होते हैं जो एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। अनेकों विचारों का योग ही सत्य तक पहुँचा सकता है। क्योंकि सत्य की खोज में आने वाले अन्धों की तरह होता है जो सत्य का अनुमान अपनी-अपनी कल्पना और बुद्धि के आधार पर लगाते हैं। उदाहरण के लिये, राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों से अधिकतर यह प्रश्न पूछा जाता है कि रूस में प्रजातन्त्र है या नहीं। वास्तविकता यह है कि वहाँ प्रजातन्त्र है भी और नहीं भी है। यदि इसके लिये हम किसी विचार

को मान्यता प्रदान कर अन्य विचारों को प्रकट होने से रोकेंगे तो केवल सत्य के एक पक्ष का ही अध्ययन करेंगे। और विद्यार्थी पूर्ण सत्य के स्थान पर अर्ध सत्य से परिचित हो सकेंगे। अतः सत्य से पूर्ण साक्षात्कार करने के लिये, चाहे व्यक्तियों के मतमतान्तरों में कितना ही अन्तर क्यों न हो, प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिये।

(४) **समाज में किसी व्यक्ति को विचार व्यक्त करने से नहीं रोकना चाहिये**—मिल ने विचार स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुये एक तर्क यह दिया कि समाज को किसी भी व्यक्ति को विचार व्यक्त करने से रोकना नहीं चाहिये। अन्य व्यक्तियों की एक राय होने का अभिप्राय यह नहीं होता कि अपनी सामूहिक शक्ति के कारण वे किसी एक व्यक्ति को विचार प्रकट करने से रोक दें। उन्हें सम्पूर्ण मानवता के हित के लिये ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि शक्ति के कारण किसी एक व्यक्ति को विचार करने से रोका जायगा तो यह उसी प्रकार अनुपयुक्त होगा जिस प्रकार यदि वही व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर अन्य व्यक्तियों को विचार प्रकट करने से रोक दे। "यदि सम्पूर्ण मनुष्य एक विचार के हैं और केवल एक व्यक्ति ही विरोधी विचार रखता है मनुष्यों को उसे चुप रखना उसी प्रकार न्याय सगत नहीं होगा जिस प्रकार यदि वह शक्ति सम्पन्न होने पर मनुष्यों को रोक दे।"

[If all mankind minus one were of one opinion, and only one person were of the contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person then he, if he had the power, would be justified in silencing the mankind]

इसके अतिरिक्त राज्य का व्यक्ति के विचारों को स्वतन्त्र रूप से प्रकट होने का अवसर देना चाहिये उसे व्यक्ति के विचारों को कुचलना नहीं चाहिये। समाज के सम्मुख अभिव्यक्त किये जाने वाला विचार यदि सत्य है तो उसका कुचलना समाज के हित के विपरीत होगा यदि वह विचार असत्य है तो समाज स्वय ही उसे अस्वीकार कर देगा और वह शनैं शनैं स्वय समाप्त हो जायगा तथा सत्य विचार जानने का अवसर मिल सकेगा।

व्यक्ति की विचार स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए मिल ने बताया कि व्यक्ति के विचार तीन प्रकार के हो सकते है—सत्य, अर्द्धसत्य और असत्य। मिल ने कहा कि हमको प्रत्येक विचार के प्रकट करने का अवसर प्रदान करना चाहिये। यदि कोई विचार सत्य हो और हम उसका दमन कर दें, तो यह बहुत भयंकर भूल होगी। मानवता एक सत्य विचार के जानने से वंचित रह जायगी। इसके दूसरी ओर यदि विचार अर्द्धसत्य हुआ और हमने उसे प्रकट करने से पूर्व ही रोक दिया तो आधे झूठ का दमन करने के साथ ही आधे सत्य की भी हत्या हो गई। यदि विचार असत्य भी हो तब भी हमको उसे प्रकट करने से व्यक्ति को नहीं रोकना चाहिये क्योंकि उसके प्रकट किए जाने से पूर्व यह किस प्रकार जाना जा सकता है कि वह असत्य होगा। सत्य और असत्य का पता तो उसके प्रकट हो जाने पर ही लग सकता है।

कार्य स्वतन्त्रता (Freedom of Action)—मिल स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों को मानव उत्थान के लिए आवश्यक स्वीकार करता है। विचार, भाषण और वाद-विवाद की स्वतन्त्रता के साथ ही वह कार्य करने की स्वतन्त्रता भी आवश्यक ठहराता

है। सर्वप्रथम व्यक्ति अपने विचार निर्माण करता है और उन्हें जनसमुदाय के सम्मुख प्रकट करना चाहता है, इसके साथ ही वह अपने विचारों को रचनात्मक रूप भी देता है। इसीलिए मिल ने व्यक्ति के विकास को ध्यान में रखकर कार्य करने की स्वतन्त्रता पर भी अपने विचार प्रकट किये। मिल ने बताया कि व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) वह कार्य जिनका प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर नहीं पड़ता, (आ) वह कार्य जिनका प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है।

(अ) व्यक्ति को स्वयं प्रभावित करने वाले कार्य (Self-regarding Function)—व्यक्ति के कार्य का प्रभाव अच्छा या बुरा जैसा भी हो, स्वयं व्यक्ति या उसके कर्ता पर ही पड़ता है। अन्य व्यक्ति उसके कार्यों से प्रभावित नहीं होते। मिल ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये, जिनका प्रभाव स्वयं उस तक ही सीमित रहता है। यदि उसके कार्यों का प्रभाव निजी व्यक्तित्व से अधिक व्यापक नहीं होता और समाज के अन्य व्यक्तियों को उससे हानि नहीं होती हो तो उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह मनचाहा कार्य कर सके। समाज और राज्य को उस पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यह विचार इस धारणा पर आधारित है कि व्यक्ति के जीवन के दो रूप होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। यदि कोई भी व्यक्ति अपने आन्तरिक रूप के सुख, सम्पन्नता आदि के लिये कुछ कार्य करता है तो राज्य या समाज को उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका प्रभाव स्वयं उस तक ही सीमित रहता है। उदाहरण के लिये, व्यक्ति अपनी इच्छानुसार भोजन करने के लिये स्वतन्त्र है क्योंकि उसका प्रभाव समाज के अन्य प्राणियों पर नहीं पड़ता। यदि अपने परिवार की चहार दीवारी में बैठकर कोई व्यक्ति जुआ खेलना या शराब पीना चाहता है, तो उसे उसकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये क्योंकि उसके इन कार्यों का अन्य समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और साथ ही वह प्रभाव कर्ता के व्यक्तित्व की सीमा तक ही रहता है।

(आ) अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने वाले कार्य (Other Regarding Functions)—व्यक्ति के कार्यों का निजी पक्ष ही नहीं होता। उसके बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जो कर्ता को स्वयं प्रभावित करने के साथ-साथ समाज के अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करते हैं। मिल ने व्यक्ति के इस प्रकार के कार्यों को other regarding activities कह कर पुकारा। मिल ने राज्य को व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की स्वतन्त्रता देने में हिचकिचाहट दिखाई। वह राज्य से ऐसी अवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने की प्रार्थना करता है। उसने कहा कि जैसे ही व्यक्ति के कार्यों का प्रभाव उसके व्यक्तित्व से परे अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करता हो, उन पर प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा उचित है। यदि व्यक्ति अपने कृत्य के कारण दूसरे व्यक्तियों के सम्मुख प्रतिबन्ध बनता हो, दूसरे, असम्बन्धित व्यक्तियों को उससे क्षति होती हो, राज्य को ऐसी अवस्था में हस्तक्षेप कर अन्य व्यक्तियों को प्रभावित होने से रोकना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति शराब पीकर सड़क पर हुल्लड़ मचाये और चलते हुये राहगीरों को तंग करे तो उसे कार्य करने में स्वच्छन्दता-स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिये। समाज को उस व्यक्ति को अपने सामाजिक कर्तव्य निभाने के लिए विवश कर देना चाहिये। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके अधिकार कर्तव्य की पृष्ठभूमि में उदित होते हैं, उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ ही सम्पूर्ण समाज के हित में बाधक नहीं बनना चाहिए।

मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थक है—मनुष्य को अपने विवेक बुद्धि के स्वतन्त्र प्रयोग का अवसर वांछित है क्योंकि स्वतन्त्र विचार विनिमय ही व्यक्ति को समाज के अनेकांगी रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान करता है। समाज में प्राचीनता और नवीनता का ऐसा मिश्रण होना चाहिए जिससे मनुष्य के विकास का मार्ग अवरुद्ध न हो। नये विचार यदि कोई एक व्यक्ति प्रकट करता है और सम्पूर्ण विश्व उसका विरोध करता है तब भी उसको विचार प्रकट करने से नहीं रोकना चाहिये क्योंकि उसको रोकने का अर्थ है मानव जाति को लूटना। यदि कोई सत्य विचार रोक दिया गया तो वह सत्य तक पहुँचने का अवसर छीनता है, असत्य होने पर भी दोनों के संघर्ष द्वारा सत्य की विजय का अवसर चला जाता है।

मिल व्यक्तिवाद का समर्थक है—उसने विचार स्वातन्त्र्य के क्षेत्र में 'यदृभाव्यम्' नीति का पोषण किया। इसका अभिप्राय यह है कि योग्यतम विचार ही दीर्घजीवी होता है। मनुष्य के विचारों में सदैव स्थाई बनने के लिए संघर्ष होता है। उन सभी विचारों में योग्यतम ही जीवित रहता है और शेष काल कवलित हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ मिल व्यक्तिवादी विचारक के रूप में सामने आता है जो इस बात का पक्षपाती है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों के अभिव्यक्त करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार वनस्पति जगत में शक्तिहीन के आधार पर शक्तिशाली जीवित रहते हैं यदि उनके कामों आदि पर प्रतिबन्ध लगाया जायगा तो वह अन्याय होगा और सम्पूर्ण वनस्पति जगत को दुर्बल बना देगा। इसलिए व्यक्ति के विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता देकर सर्वशक्ति सम्पन्न विचार को पनपने का अवसर मिलेगा और अन्य विचार उसके सम्मुख पराजित हो जायेंगे।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में व्यक्तिवाद की झलक दिखाई देती है, साथ ही अन्य व्यक्तिवादियों की तरह मिल राज्य को व्यक्ति के विचार एवं कार्यों में हस्तक्षेप करने की दृढ़ नीति का निर्धारण भी नहीं करता। उसके विचारों में उसका विवेक एवं तार्किकता स्पष्ट दिखाई देती है। उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर विचार व्यक्त करने के साथ ही इस पर भी विचार किया कि कभी-कभी हम कुछ ऐसे कार्य भी करते हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति और समाज दोनों पर ही पड़ता है। व्यक्ति के वे कार्य जिनका प्रभाव व्यक्ति के ही ऊपर अत्यन्त विनाशकारी हो, व्यक्ति अपनी मूर्खता या क्षणिक भावावेश में आकर कार्य करे इससे पूर्व ही राज्य को व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप कर देना चाहिए। यह प्रतिबन्ध आत्मरक्षा (Self-protection) कहलाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति किसी भावना में बहकर या मूर्खता में अपने जीवन का अन्त करना चाहता हो जैसे ही वह आत्महत्या करना चाहता हो, मिल ऐसे कृत्य को रोकने के लिए राज्य को अधिकार प्रदान करना आवश्यक समझता है। मिल का यह विचार अनूठा है।

इसी तरह मिल ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर थोड़ा बहुत हस्तक्षेप स्वीकार किया है। व्यक्तित्व के विकास में प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र छोड़ देने का अभिप्राय यह नहीं हो जाता कि एक डाकू को अच्छा डाकू बनने का, गुण्डों को और अधिक बड़ा गुण्डा बनने का अवसर दिया जाय। इसका अभिप्राय तो यह होगा कि हम एक व्यक्ति को तो विकास के पूरे अवसर प्रदान करेंगे और उसके कृत्यों द्वारा अन्य व्यक्तियों का विकास पूर्णतया रोक देंगे। एक डाकू को अपने व्यक्तित्व का विकास

करते हैं, इससे अन्य सामाजिक प्राणियों के भय को और बढ़ाकर उनका विकास अवरुद्ध करना ठीक नहीं। ऐसे क्रियाकलापों एवं विचारों का दमन अनिवार्य हो जाता है। स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि मनुष्य अपने अन्य सहयोगियों के सामाजिक जीवन को नष्ट करने का प्रयत्न करे।

इसके अतिरिक्त मिल ने स्वतन्त्रता के अधिकार का उपभोग करने के लिये कुछ व्यक्तियों की सीमा निर्धारित की है। उसने बताया कि इस श्रेणी में आने वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्र नहीं छोड़ देना चाहिये। स्वतन्त्रता का उन्मुक्त वातावरण बच्चों, अपरिपक्व व्यक्तियों तथा पिछड़ी जाति के लोगों को प्रदान नहीं करना चाहिये। पागल या दुश्चरित्र व्यक्तियों को भी स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करनी चाहिये। मिल यह भली भांति जानता था कि बालकों के मस्तिष्क का निश्चित आयु विशेष से पूर्व ज्ञान नहीं होता। उनका विवेक काफी समय तक अविकसित रहता है। पिछड़ी हुई जाति के लोग भी अविवेकी और अज्ञानी नहीं होते। उनकी संकीर्ण और अविकसित बुद्धि तथ्य का सही ज्ञान नहीं होने देती। पागल तो बुद्धि का प्रयोग करने की स्थिति में रहता ही नहीं। दुश्चरित्र भी क्षणिक वासनाओं आदि के लिये विवेक को खो देता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों को विचार एवं कार्यों की स्वतन्त्रता प्रदान करना अनुपयुक्त होगा। स्वतन्त्रता का प्रयोग केवल सामान्य विवेक शक्तियुक्त वयस्क व्यक्तियों के लिए ही है।

हेलिउसन ने मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा को निम्न रूप में प्रगट किया है। प्रथम, मनुष्य की इच्छा एवं भावनाओं को पवित्र और निर्धारित स्थान प्रदान किया जाय और यदि मानव बुद्धि उनके मार्ग में बाधक होती हो तो इसका यह अर्थ नहीं कि बौद्धिकता का अपहरण या उसका महत्व कम किया जा रहा है।

द्वितीय, मानव के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक कल्याण का आधार है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनेक विभिन्न रूपों में विकसित होने के बाद ही व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याण के रूप में आगे बढ़ता है।

तृतीय, समाज में चली आ रही परम्पराओं का विरोध भी यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक हो, हटा देना चाहिये।

स्वतन्त्रता की आलोचना (Criticism of Liberty)—यद्यपि मिल ने स्वतन्त्रता की धारणा के सम्बन्ध में विवेक पूर्ण विचार प्रगट किये लेकिन राजनीति शास्त्रियों ने उसमें कुछ मौलिक दोष खोज निकाले और उसकी आलोचना की। मिल व्यक्ति की विचार, भाषण एवं कार्य की स्वतन्त्रता से आगे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का पोषक है। वह व्यक्ति के विविधपूर्ण मौलिक विकास द्वारा समाज के प्रत्येक पहलू का सर्वांगीण विकास करना चाहता है, लेकिन बार्कर के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता में "पर्याप्त गुंजायश छोड़ देने पर भी मिल रिक्त स्वतन्त्रता एवं सारहीन व्यक्तिवाद का पैगम्बर लगता है। अधिकार दर्शन का कोई स्पष्ट रूप उसके पास नहीं था, जिसके द्वारा स्वतन्त्रता का विचार ठोस अर्थ में प्रगट करता। उसका समाज का कोई स्पष्ट विचार नहीं था जिसे प्राप्त करने के लिये राज्य और व्यक्ति की सही धारणा लुप्त हो जाती है।"

(१) मनुष्य के कार्यों को दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता (Human actions cannot be divided into two parts)—मिल की स्वतन्त्रता की धारणा

मे पहला दोष यह है कि उसने स्वतन्त्रता के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त को दो भागों मे विभाजित कर दिया है । समाज मे इस प्रकार के कार्यों का विभाजन असम्भव दिखाई देता है । व्यक्ति के कार्यों का कोई ऐसा पक्ष नहीं होता जो केवल मात्र उसे ही प्रभावित करे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे हर कार्य समाज के अन्य सदस्यों को भी प्रभावित करता है । उदाहरण के लिए, मिल ने व्यक्ति को चहार-दीवारी मे बैठ कर *मदिरा-पान की अनुमति प्रदान की या इसी प्रकार शान्ति पूर्वक बिना लड़े झगड़े* जुआ खेलने की भी अनुमति दी । इन कार्यों से ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता है कि केवल मात्र कर्त्ता ही प्रभावित होता है लेकिन यथार्थ का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उन कार्यों का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप मे सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है । जुआरी या शराबी अपने तथा कथित स्वयं को प्रभावित करने वाले कार्यों मे इतना अधिक अपव्यय करने लगते हैं जिससे कि उनकी पत्नी घर मे चूल्हा सुलगाने मे भी असमर्थ हो जाती है । घर मे कलह का वातावरण अशान्ति ला देता है । बच्चों को फीस के अभाव मे स्कूल से निकाल दिया जाता है । उचित शिक्षा प्राप्त न होने के कारण उन बच्चो के आवारा जीवन के अवसर बढ़ जाते हैं । एक व्यक्ति के कार्य क्या अप्रत्यक्ष रूप मे उनके परिवार तथा बाहर के लोगो को प्रभावित नहीं करते ? राज्य को निश्चय ही मदिरा पान या जुआ रोक कर व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्तियो को सतुलित करना चाहिए । व्यक्ति का प्रत्येक कार्य चाहे वे स्वान्त सुखाय क्यों न हों, उनका प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे सम्पूर्ण समाज पर पड़े बिना नही रह सकता । अतः यहाँ मिल का कार्य विभाजन त्रुटिपूर्ण है जो अनुपयुक्त है ।

(२) यह व्यर्थ के तर्कों को बढ़ावा देता है (It encourages wrong line of arguments)—मिल की स्वतन्त्रता की धारणा मे दूसरी त्रुटि यह है कि यह *व्यर्थ के कुतर्क को बढ़ावा देती है । विचार जगत मे योग्यतम ही दीर्घजीवी होते हैं ।* इसका अभिप्राय यह हुआ कि तर्क के संघर्षों के आधार पर विचारो मे से योग्यतम को बना रहने दिया जाय । लेकिन जीवन के प्रत्येक पहलू पर तर्क करना कभी-कभी कुतर्क बन जाता है और उसके परिणाम स्वरूप अन्य व्यक्तियों के समय की हानि होती है और उनकी प्रगति मे बाधा पड़ती है । सायंकालीन अस्त होते हुए सूर्य को देखकर यदि कोई मुख पश्चिम मे सूर्य निकलता है यह सिद्ध करने के लिये अपने तर्क देना प्रारम्भ कर दे तो ऐसे विचारो को कहाँ तक उचित माना जाय ।

(३) मिल का यह विचार त्रुटिपूर्ण है कि अवयस्कों तथा निम्न वर्गों को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता न दी जाय (Mill is wrong when he assets that those who are not adults and belong to lower section of society should not be allowed to express themselves)—मिल ने स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करते समय व्यक्तियो पर कुछ सीमा लगाई है । उसने कहा है कि अवयस्कों और पिछड़े हुये वर्गों को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करनी चाहिये । लेकिन क्या इस प्रकार का नियन्त्रण उचित है ? अवयस्को पर यह नियन्त्रण उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कुछ अवयस्कों की प्रतिभा असाधारण होती है और सभी अवयस्को को रोक कर उनकी असाधारण प्रतिभा के लाभ से *अन्य व्यक्ति वंचित रह जाते हैं । इसके अतिरिक्त सामान्यतः पर्याप्त मात्रा मे अवयस्कों* की बुद्धि बहुत से वयस्कों से श्रेष्ठ होती है । वयस्कों की साधारण बुद्धि न होने पर भी विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो और अवयस्कों की असामान्य ज्ञान

युक्त होने पर भी वह स्वतन्त्रता नहीं हो मिलना अन्याय है। इसके साथ ही पिछड़े वर्गों को स्वतन्त्र विचार अभिव्यक्त करने से रोकना भी ठीक नहीं। इसका अर्थ यह होगा कि हम उन्हें प्रगतिशील जीवन से सदैव के लिए वंचित रखें। दूसरे, पिछड़ेपन का मापदण्ड क्या होगा ? अंग्रेज भारतीयों को अभी तक पिछड़ा हुआ मानते हैं। क्या उन्हीं पिछड़े तथाकथित देश ने महात्मागान्धी जैसे राजनीतिक चिन्तक, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे विश्व प्रख्यात दार्शनिक, श्री जगदीश चन्द्र वसु, श्री सी० वी० रमन जैसे उच्च कोटि के वैज्ञानिक एवं सर तेजबहादुर सप्रू जैसे विधिवेत्ता नहीं प्रदान किये ? यदि इन्हें पिछड़ा होने के कारण पूर्णतया दबा दिया गया तो शायद इन जैसी विभूतियों से भारतवर्ष वंचित ही रह जाता। यह मिल के विचारों की एक बहुत बड़ी त्रुटि है।

(४) सनकी व्यक्तियों को भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता की वकालत करके मिल ने मानव सभ्यता के साथ खिलवाड़ की है (Mills has played with human culture by advocating the freedom to express for the cracks)—मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए यह तर्क दिया जाता है कि उसने सनकी व्यक्तियों को भी विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता देकर मानव सभ्यता के साथ खिलवाड़ की है। उसने कहा था कि सनकी व्यक्तियों को भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए क्योंकि उन सनकियों में से यदि किसी एक के विचार भी सत्य हुए और उसमें विकास में सहायता प्रदान करने की अपूर्व प्रतिभा हुई, तो यह उसके प्रति अन्याय होगा। अतः सनकी भी विचार व्यक्त करने के लिये स्वतन्त्र हैं। लेकिन मिल यहाँ यह भूल गया कि यदि सनकी व्यक्तियों को भी विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता दी गई तो उनके विचार मानव सभ्यता के साथ खिलवाड़ करेंगे और शान्ति एवं सुरक्षा को खतरे के बगार पर खड़ा करने के लिए पर्याप्त होंगे। इसके अतिरिक्त सनकी व्यक्ति और पागल व्यक्तियों में बहुत सूक्ष्म अन्तर होता है। मिल ने सनकी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर पागल व्यक्तियों को उससे वंचित कर अपनी विवेकशीलता का परिचय नहीं दिया।

(५) स्वतन्त्रता के नाम पर निन्दनीय एवं अनैतिक कार्यों को प्रोत्साहन दिया गया है (In the name of liberty both immoral and contemptous actions have been encouraged)—मिल की आलोचना करते हुये कहा जाता है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर अनैतिक, निन्दनीय कार्यों को प्रोत्साहन देता है। उसने कहा कि व्यक्ति को ऐसे कार्यों को करने से वंचित नहीं किया जाना चाहिये, जिसका प्रभाव स्वयं उसी पर पड़ता हो। मदिरापान, गाँजा, अफीम आदि दुर्व्यसनों में भाग लेने वाले व्यक्ति उसके इस कथन के आधार पर अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिये स्वतन्त्र हैं क्योंकि उनका प्रभाव एकमात्र उनके ऊपर ही पड़ता है। इसके अलावा यदि ऐसा करना अनुचित है तो इसका ज्ञान भी सर्वनाश जीवन के बाद हो जायगा। सर्प के उपरान्त निकले हुये निष्कर्ष निरर्थक होते हैं। अतः इस तर्क द्वारा मिल निन्दनीय जीवन को प्रोत्साहन देता है। लेकिन यदि राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा तो अधिकांश व्यक्ति इन घृणास्पद दुर्व्यसनों में फँसते जायेंगे। जब उनका बहुमूल्य जीवन नष्ट हो जायगा तब आँख खुलने से क्या लाभ होगा। अतः राज्य को जीवन नष्ट होने से पूर्व ही आँख खोल देनी चाहिये।

समाज
(Society)

मिल ने राजनीतिक विचारों में राज्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है वरन् समाज का प्रयोग किया है। इसलिये राज्य की उत्पत्ति के स्थान पर मिल समाज की उत्पत्ति पर प्रकाश डालता है। मिल ने बैंथम की भांति ही समझौता सिद्धान्त को राज्य या समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं स्वीकार किया। उसने कहा कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं के कारण हुई है। समाज मे व्यक्ति की इच्छाओं और आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और उनके साथ ही साथ समाज का विकास भी होता है। समाज का विकास किस प्रकार हुआ इस पर मिल ने पूर्व प्रचलित विचारों के विपरीत यह बताया कि विकास जगत के भौतिक या जड़ पदार्थों की तरह नहीं होता। वृक्ष एक बार बीज बो देने के बाद बढ़ते चले जाते है। यह विकास चेतना युक्त है और वर्तमान रूप की प्राप्ति मनुष्य के वांछित स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुई है। उनमें बुद्धि के उचित प्रयोग द्वारा अच्छाइयाँ लाई जा सकती हैं या बुराइयाँ।

समाज में भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक संस्थायें होती हैं, शासन और राज्य भी उसी प्रकार की संस्था है और उनकी उत्पत्ति भी मानव इच्छाओं के विवेकीय स्वरूप का द्योतक है। समाज के अन्तर्गत जितने भी समुदाय स्थापित किए जाते हैं वे अपने उद्देश्य पूर्ति के कारण ही बनते हैं और यदि वे मानव जाति के किसी भी हित साधन से दूर हो जाते है तो उनका कोई महत्व नहीं रहता और उलटे उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। शासन राजनैतिक संस्थाओं में प्रमुख है और उसका निर्माण मनुष्य द्वारा सामाजिक कल्याण की भावना से किया जाता है। राजनीतिक संस्थाओं के जीवन के पीछे मानव इच्छा क्रियात्मक शक्ति होती है।

मिल समाज और राज्य की व्याख्या में उपयोगितावादी दृष्टिकोण लेकर चलता है और शासन का लक्ष्य सामाजिक कल्याण की उपलब्धि बताता है। इस उपयोगिता के प्रकरण में वह व्यक्तिवादी बनकर आगे बढ़ता है। समाज के कल्याण के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से मानव के नैतिक और भौतिक उत्थान के लिए वह स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का सहारा लेता है।

के औचित्य को हम वहाँ की उन्नति या व्यवस्था द्वारा बना सकते है या कॉमरिज का मत कि शासन प्रगति और स्थायित्व द्वारा ही औचित्य सिद्ध करते है, अस्वीकार कर दिया। सर्वोत्तम शासन किसे कहते है इसकी परिभाषा करते हुए मिल ने कहा कि "उसमे सम्प्रभुता या सर्वोच्च नियन्त्रण शक्ति अन्तिम व्यवस्था मे सामूहिक रूप मे सम्पूर्ण समुदाय मे निहित होती है।"

इस परिभाषा के आधार पर सर्वोत्तम शासन का निश्चय दो सिद्धान्तो पर किया जाता है —

(१) कोई भी कार्य उचित रीति से तभी सम्पादित किये जाते है जब कर्ता के अधिकार और हित उसमे सन्निहित हो। राजतन्त्र मे शासन कार्य एकमात्र शासक द्वारा किये जाते है, कुलीनतन्त्र मे एक वर्ग विशेष उनका सचालन करता है, यहाँ सम्प्रभुता एक या कुछ व्यक्तियो के हाथ मे निहित होती है और वह उसका प्रयोग अपने ही हित मे करते है। जब सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता मे वेष्टित होती है और वह शासन करती है तो वह सभी व्यक्तियो के हित का ध्यान रखती है। ऐसा शासन प्रजातन्त्र होता है। अपने हित का प्रबन्ध जनता के ही हाथ मे होता है। लेकिन प्रजातन्त्र का यह स्वरूप यूनान के छोटे-नगर राज्यो के अतिरिक्त कही सम्भव नही हो सकता। आज बड़े-बड़े राष्ट्र राज्य उदित हो चुके है, उनमे सम्पूर्ण जन-समूह प्रत्यक्ष रूप मे शासन मे भाग नही ले सकता। इसलिए वह अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करता है और उनसे शासन कराता है। इसलिये इस शासन को प्रतिनिधि शासन कहते है। "प्रतिनिधि शासन का अर्थ है कि सम्पूर्ण नागरिक या उनका अधिकांश भाग समय-समय पर स्वय द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा शासन चलाते है और शासन की सत्ता, जो प्रत्येक शासन मे कही न कही निहित रहना अनिवार्य है, अपने नियन्त्रण मे रखते है। इस शासन की सत्ता या अधिकार उनमे पूर्ण रूप मे होना चाहिए। उन्हे, जब कभी वे चाहे शासन के किसी भी कार्य पर प्रभुता और स्वामित्व स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है।" संक्षेप मे राज्य के प्रत्येक व्यक्ति मे सम्प्रभुता होती है और वही सब अपने प्रतिनिधियो द्वारा उसका उपभोग करते है।

(२) मनुष्य की शक्तियाँ नैतिक, बौद्धिक और सतर्क क्रियाशील होने पर ही उन्नति करती है। ऐसा शासन प्रतिनिधि प्रजातन्त्र ही हो सकता है। मिल के अनुसार "शासन समाज की मानसिक प्रगति का सर्वोच्च प्रयास करता है। इस मानसिक प्रगति का अर्थ है, बौद्धिक विकास, गुणात्मक विकास और व्यावहारिक कार्यकुशलता मे वृद्धि" करने वाला तथा "वर्तमान नैतिक, बौद्धिक और सक्रिय कार्यों का सर्वोत्तम सगठन करने वाला" शासन ही सर्वश्रेष्ठ होता है। इस प्रकार मिल के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शासन प्रतिनिधि प्रजातन्त्र ही है क्योकि उसमे कर्ता (जनता) के अधिकार और हित सम्मिलित होते है और वह मनुष्य की शक्तियो के नैतिक, बौद्धिक विकास के लिये सतर्क रहता है।

प्रतिनिधि शासन के दोष—प्रतिनिधि शासन सर्वश्रेष्ठ होता है, लेकिन फिर भी उसमे अनेको दोष पाये जाते है। मिल ने प्रतिनिधि शासन के दोष और उन्हे दूर करने के उपायो पर प्रकाश डाला।

(१) अल्पसंख्यको की समस्या और बहुमत की निरंकुशता—प्रतिनिधि प्रजातन्त्र मे संसद मे सदैव किसी एक दल का बहुमत प्राप्त होता है और अल्पसंख्यकों

का अपर्याप्त प्रतिनिधित्व होता है । बहुमत दल सदैव अल्पमत के ऊपर निरकुश शक्ति का प्रयोग करते है । उन्हे कुचलने का प्रयत्न करते है । अल्प सख्यक का स्तर दास के समान हो जाता है । विधान के अनुसार अल्पसख्यकों को समान अधिकार उन्नति के समान अवसर प्राप्त होने हैं, लेकिन अपनी बहुसख्या के आधार पर एक दल अल्पमत की इच्छाओ का आदर नही करता । ससद द्वारा पारित विधियाँ बहुमत दल की इच्छाओ को ही अभिव्यक्त करती हैं । अल्पमत के मूल्यवान सुधारो का कोई मूल्य नही रहता । यह प्रतिनिधि शासन का दोष है ।

(२) प्रतिनिधि निर्वाचन दोष पूर्ण होता है—जनता राजनीतिक सम्प्रभु होती है । वह अपनी समस्त शक्तियाँ निश्चित अवधि के लिये प्रतिनिधियो के हाथो मे सौंप देती है । प्रतिनिधि निर्वाचन करने का ढग दोषपूर्ण होता है । विजेता उम्मीदवार अन्य उम्मीदवारो से अधिक मत अवश्य प्राप्त करता है लेकिन पराजित उम्मीदवारो को प्राप्त मतों की तुलना म उसे कम मत प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिये, 'अ' 'ब' 'स' 'द' के निर्वाचन मे 'अ' को ३४ हजार, 'ब' को २० हजार 'स' को २५ हजार 'द' को २१ हजार मत प्राप्त हुए । विजयी प्रतिनिधि 'अ' के समर्थक ३४ हजार और उसके विरोधी ६६ हजार हैं । वह अन्यायपूर्ण है कि ६६ हजार विरोधियो के समक्ष ३४ हजार का समर्थन प्राप्त प्रतिनिधि विजयी समझा जाता है ।

इसी प्रकार ससद के निर्वाचन का विश्लेषण करने पर भी यही दिखाई देता है कि जिस दल को ससद मे बहुमत प्राप्त होता है, उसे वास्तव मे जनता का बहुमत निर्वाचित नही करता । उदाहरण के लिये—

निर्वाचित किए जाने वाले स्थान—१५०
मतदाताओ की सख्या—२१ लाख ५० हजार

राजनीतिक दल	प्राप्त स्थान	कुल प्राप्त मत
'अ' दल	८०	७ लाख ५० हजार
'ब' दल	३०	५ लाख १० हजार
'स' दल	२०	४ लाख ८० हजार
'द' दल	१२	२ लाख १० हजार
अन्य दल	८	२ लाख
योग	१५०	२१ लाख ५० हजार

इस तालिका के अध्ययन म यह स्पष्ट हो जाता है कि ससद के १५० स्थान के लिये २१ लाख ५० हजार मतदाताओ ने भाग लिया । 'अ', 'ब', 'स', 'द' तथा 'अन्य दलो' ने अपने अपने विभिन्न उम्मीदवार खड़े किये और 'अ' दल ने बहुसख्या म स्थान प्राप्त किये । उसे ८० स्थान प्राप्त हुये और शेष स्थान 'ब' दल को ३०, 'स' दल को २०, 'द' दल को १२ और अन्य दल को ८ स्थान प्राप्त हुये । 'अ' दल को प्राप्त कुल मतो की सख्या ७ लाख ५० हजार है और शेष १४ लाख व्यक्तियों ने 'ब' 'स' 'द' तथा अन्य दलों को मत प्रदान किये । मन्त्रिमण्डल निर्माण करने का अवसर 'अ' दल को ही प्राप्त होता है क्योंकि उसने अधिक स्थान प्राप्त किये जबकि उसे प्राप्त हुये मत पूर्ण बहुमत मे नही हैं । यह १९१० के स्काटलैण्ड के आम चुनाव और भारतीय ससद एव राज्यो की व्यवस्थापिकाओ के आम चुनावो में स्पष्ट है ।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व इन दोषों को दूर कर सकता है (Proportional representation is the remedy of the evil)—मिल ने जनता के मतों के इस अन्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व को सुधारने के लिये एक सुझाव दिया। उसने बताया कि चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional representative system) के द्वारा किया जाना चाहिये। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त सर्वप्रथम थॉमस हेयर (Thomas Hare) ने प्रदान किया था। इसीलिये इस सिद्धान्त को हेयर पद्धति (Hare system) भी कह कर पुकारते हैं। यह सिद्धान्त प्रतिनिधि प्रजातन्त्र के दोष के पूरक के रूप में अल्पसंख्यकों को बहुमत के अन्याय से बचाने में सहायता देगा। यह प्रणाली अल्पसंख्यकों के उचित प्रतिनिधित्व द्वारा उपर्युक्त दोषों का निवारण कर सकेगी।

प्रजातन्त्र में यही दोष नहीं है कि उसमें बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों के दमन का भय रहता है, इसके अतिरिक्त विधान सभाओं में कुछ अनुचित व्यक्ति भी पहुँच जाते हैं और वे अन्यायी तथा मूर्खतापूर्ण कानून बनाकर हित के स्थान पर अनहित अधिक कर सकते हैं। इस दोष को ध्यान में रख कर उसके निवारण के लिये मिल ने व्यवस्थापिका सभा के उम्मीदवारों की योग्यता निर्धारित की। उसने कहा कि व्यवस्थापिका के सदस्य योग्य बुद्धिमान गुणसम्पन्न, सभ्य तथा जागृत हों। जिन्हें राजनीति का विशेष अध्ययन प्राप्त होगा और वे व्यवस्थापन के मूल्य से भली भाँति परिचित होंगे। उनका दृष्टिकोण स्वार्थ भावना के ऊपर उठा हुआ होगा।

लेकिन व्यवस्था के सदस्यों का गुणों के आधार पर चयन करने की शक्ति प्रत्येक मतदाता में नहीं होती। प्रतिनिधियों को चुनने वाले यदि अज्ञानी तथा स्वार्थी प्राणी हैं तो वे कदापि किसी योग्य प्रतिनिधि को नहीं चुन सकेंगे। अतः मिल ने कहा कि मतदाताओं की योग्यता के आधार पर उन्हें मत देने का अधिकार देना चाहिये। प्रत्येक वयस्क जो लिपि के आधार पर निर्धारित पूर्ण योग्यता रखता हो, उसे ही मतदान का अधिकार मिलना चाहिये। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति के मत का मूल्य समान नहीं होना चाहिए। योग्यता के आधार पर व्यक्तियों को एक या उससे अधिक मत देने का अवसर मिलना चाहिए। शिक्षा, कुशाग्र बुद्धि, मूर्खता और अज्ञानता के समकक्ष नहीं ठहराई जा सकती। यदि ऐसा किया जायगा तो एक विद्वान के मत का मूल्य मूर्ख के मूल्य के समान होगा। अतः मिल ने बहुल मत पद्धति (Plural Voting) का समर्थन किया। मिल ने ऐसी प्रणाली खोज निकाली जिसमें शिक्षा, व्यवसाय आदि के आधार पर नागरिकों में परस्पर भेद किया जा सके और एक व्यक्ति को अपनी विशिष्ट योग्यताओं के आधार पर एक से अधिक मत देने का अधिकार हो, दूसरे को योग्यता में कमी होने के कारण कम वोट देने का अवसर मिले। यह नैतिक और बौद्धिक गुणों के आधार पर हो। जो निर्धनता के कारण अपनी शिक्षा या योग्यता का प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ हों, ऐसे व्यक्ति को मिल ने ऐच्छिक परीक्षा द्वारा उनके मतों की संख्या निर्धारित करने का परामर्श दिया। मिल ने बतलाया कि एक व्यक्ति को कम से कम एक और अधिक से अधिक ५ मत प्रदान करने का अधिकार दिया जाना चाहिये।

वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)—मिल ने वयस्क मताधिकार पर विचार करते हुए मतदाताओं की योग्यता पर विचार किया। वयस्क अपनी बुद्धि का प्रयोग करने योग्य होता है और वह जन समुदाय को अपनी विचारधारा से आकर्षित

करते हैं। सभी व्यक्तियों को मताधिकार देने के बजाय केवल उन्हीं व्यक्तियों को मतदान का अधिकार देना चाहिये जिन्हें लिखना-पढ़ना और गणित का ज्ञान हो। यह योग्यता के अतिरिक्त धन तथा सम्पत्ति के आधार पर अधिक मत देने का अधिकार देना चाहता था। उसका विचार था कि निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा धनी व्यक्ति अपने धन की रक्षा के लिए अधिक प्रयत्नशील होते है। वे धन के महत्त्व तथा व्यय आदि पर सचेत रहते है और अपव्यय को रोक कर जनता का धन जनता के हित मे व्यय करते हैं। अतः उन्हीं व्यक्तियों को जो टैक्स आदि देते हों, मताधिकार दिया जाना चाहिये।

गुप्त मतदान (Secret voting)—मिल गुप्त मतदान प्रणाली (*Secret voting*) का विरोधी था। बेन्थम ने गुप्त मतदान का समर्थन किया था, मिल ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि यह सिद्धान्त ही बुरा है। गुप्त मतदान द्वारा नागरिक अपने स्वार्थ मे फँस जाता है। मत को गुप्त बना देना उसे अधिकार बना देना है जिसे वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने के लिये स्वतन्त्र है। इसमें वह दूसरों के हित का ध्यान नहीं रखता। लेकिन मताधिकार एक पवित्र धरोहर (Trust) के समान है, जिसमे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व खूब सोच समझ कर निभाना पड़ता है। उसमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि इसका प्रयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये नहीं किया जाना चाहिए वरन् उसमें सामान्य हित की भावना का समावेश रहना चाहिये। गुप्त मतदान में रिश्वत आदि की शंका रहती है। मतदान की पवित्रता उसी अवस्था में रहती है जब व्यक्ति निष्पक्ष बिना किसी के भय आदि के अपने मत का प्रयोग करे। डायसन के अनुसार 'यह एक बहुत बड़ी बुराई है कि व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग गुप्त रूप से करे, चाहे वह स्वयं की इच्छा से अनुसार बिना दूसरों के विचारों से प्रभावित हुए, चाहे वह उनके हित के विपरीत ही हो, *भयभीत होकर और शासन में दिया जाता है।' परन्तु गुप्त मतदान की आलोचना* आज के राजनीतिक जीवन में व्यावहारिक मान्यताओं के कारण मूल्यरहित है। आज मिल के इस विचार का कोई महत्त्व नहीं। आज गुप्त मतदान ही लगभग सभी देशों में निर्वाचन का अंग मान लिया गया है और उसके दोषों को दूर करने के लिये गुप्त मतदान में ही नवीन खोज होती रहती है।

मिल संसद सदस्यों को वेतन और भत्ता दिये जाने के विरोध में था। सदस्य *अवैतनिक होने पर भली भाँति कार्य कर सकेंगे। उन्हें वेतन प्रदान करना इस कार्य* को भी एक व्यवसाय बना देगा और जनता को गुमराह करने वाले कुशल भाषणदाता आदि जनता के हित में कार्य नहीं होने देंगे। वेतन प्रथा संसद सदस्यों को एक व्यवसाय के समान धन कमाने का अनुचित आकर्षण प्रदान करेगी। एक व्यवसाय के समान इसमें भी दोष आ जायेंगे और वह हितकारी विधियों का निर्माण नहीं कर सकेंगे। रवीन्द्रनाथ मित्रा ने मिल के वक्तव्य को इस प्रकार उद्धृत किया है, 'इस वेतन से पार्लियामेंट की सदस्यता एक व्यवसाय बन जायगी और अन्य व्यवसायों की भाँति ही धन कमाने के उद्देश्य से यह पद अनैतिकता से पूर्ण हो जायगा। यह निम्न कोटि के व्यक्तियों का पेशा बन जायगा, ये सदस्य हमेशा अशिक्षित जनता को उचित अनुचित प्रलोभन देते रहेंगे, उचित-अनुचित प्रतिज्ञायें करते रहेंगे।"

मिल ने दूसरी कई शासन सत्ताओं पर भी विचार व्यक्त किया। उसने वैधानिक राजतन्त्र का विरोध नहीं किया। लार्ड सभा का वह सुधार करने के उपरान्त ही

फैल जाने के कारण अपना जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करने मे असमर्थ हो। दूसरे, बाह्ययुद्ध या आक्रमण के भय से राज्य नागरिको की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है। इस प्रकार मिल के अनुसार राज्य के तीन कार्य है—

(१) सेना व्यवस्था—बाह्य आक्रमण से रक्षा करने के लिये राज्य को सैन्य व्यवस्था का सचालन करना चाहिये। विविध प्रकार की सेना ही राज्य को सुदृढ बनाती है।

(२) पुलिस—आन्तरिक अशान्ति को दूर करने के लिये पुलिस रखनी चाहिये।

(३) न्याय—सघर्षो का निवटारा करने के लिये न्यायालय बनाने चाहियें। न्यायाधीशो का सार्वजनिक निर्वाचन नही होना चाहिये। वह निष्पक्ष रहकर कार्य करने वाले योग्य व्यक्ति हो।

महिला मताधिकार (Female Franchise)—मिल का समय इगलैण्ड के इतिहास का वह युग था जब स्त्री-पुरुष समान नही समझे जाते थे। राजवश म महारानी विक्टोरिया पुरुष शासको के समकक्ष हो सकती थी लेकिन जन सामान्य मे पुरुष और स्त्री समान नही थे। स्त्रियो को पुरुषो से शारीरिक शक्ति मे कम होने के कारण हीन स्थान प्रदान किया जाता था। उनका एकमात्र अन्तिम स्थान पत्नी के रूप मे घर की चहारदीवारी मे रहकर घर का प्रबन्ध करना, बच्चो का लालन-पालन करना ही था उनका भाग्य उनके पतियो के हाथ मे, दास की भाँति नियन्त्रित रहना था। यदि कोई स्त्री जीवन भर अविवाहित रहना चाहती थी तो उसे अपार दुखो और कष्टो का सामना करना पडता था। उन्हे पुरुषो के समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था वे सार्वजनिक जीवन म भी उनके समान भाग नही ले सकती थीं। उच्च शिक्षा का द्वार तो पूर्णतया उनके लिये बन्द था उच्च-पद, सरकारी सेवा, वोट देना, पुरस्कार प्राप्त करना राजनीतिक कार्यों मे दिलचस्पी लेना भी इनकी शक्ति से परे था।

मिल इन असमानताओ को न्यायसगत नहीं समझता था। इसलिये उसने स्त्रियो की दशा सुधारने के लिये उनके अधीनस्थ दास स्वरूप को समाप्त करने का विचार समद मे रखा। उसने उनके मतदान के अधिकार का समर्थन किया। मिल ने कहा कि नारियो को प्रदान किया गया निम्न स्थान शारीरिक अन्तर के स्थान पर मनोवैज्ञानिक है। यह पुरुषो के दीर्घकालीन स्वामित्व का परिणाम है। यदि उन्हे भी सामाजिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाय तो यह लुप्त हो जायगा। यदि उन्हे पुरुषो के समान उन्नति के अवसर दिये जायेंगे तो वे पूर्णतया उपयुक्त सिद्ध होगी। अत जन्म के आधार का यह बन्धन हटाकर उन्हे बिना पक्षपात के निष्पक्ष अवसर देकर उठाया जाय। महिलाओं को मुक्त करने से अगणित लाभ होंगे, इससे केवल उनकी प्रसन्नता ही नहीं बढ़ेगी, वरन् सम्पूर्ण समाज सुखी होगा। मिल ने उनकी उच्च शिक्षा, सेवाओं मे समान अवसर और मताधिकार की माँग सर्व-प्रथम ससद मे उठाई और उनका सगठित नेतृत्व किया।

स्त्री को पुरुष के समकक्ष रखना दूसरी बात है और पुरुषो से समान जीवन मे भाग लेना और बात है। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी शालीनता, शुद्धता और कोमलता जो प्रकृति ने ही उन्हे प्रदान की है, त्याग देती हैं। दूसरे, स्त्री घर म दासो के समान हीन स्थिति के कारण नहीं वरन् पति-भक्ति के

मधुर प्रेममय सम्बन्ध के कारण आज्ञापालन और आत्म-समर्पण द्वारा रहती है। यह मिल के विचारों की त्रुटियाँ थीं।

मिल का अनुदाय
(Contribution of J. S. Mill)

मिल के राजनीतिक विचारों में उसका पाण्डित्य, तर्कशक्ति, विवेकपरता आदि स्पष्ट दिखाई देती है। ग्राहम के अनुसार उसके विचार मौलिकता शून्य थे। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद के संशोधन के अतिरिक्त जो कुछ भी लिखा उसमें मौलिकता नहीं थी। उसने प्रगति के सिद्धान्त कॉम्टे से, आर्थिक विचार माल्थस और रिकार्डो से प्राप्त किये थे। उपर्युक्त विचारों के अलावा उसके विचारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा जाता है कि उसने राजनीतिक अध्ययन पद्धति पर विचार किया और आगमन मूलक अध्ययन पद्धति के दोष दूर किये। मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद को मानवीय बनाकर नैतिकता प्रदान की। उसने उसमें मात्रात्मक अन्तर के साथ ही गुणात्मक अन्तर भी स्थापित किया। उसने उपयोगितावाद के सुधारों के अलावा प्रतिनिधि प्रजातन्त्र, महिला मताधिकार तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर अपने विचार प्रकट किये। इन विचारों का राजनीतिशास्त्र में अनुपम महत्त्व है। डेविडसन ने मिल के विचारों की सराहना करते हुए लिखा है कि "१९ वीं शताब्दी के अधिकांश भाग पर उसके विचारों का प्रभुत्व बना रहा। इसके परिणाम स्वरूप विद्यालयों में, मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान में तथा नैतिक प्रश्नों के विवाद में अभिरुचि ली जाने लगी।............उसका मूलमन्त्र प्रगति था, उसकी प्रेरक-शक्ति स्वाधीनता तथा सार्वजनिक हित के प्रति उत्साह था।"

सहायक पुस्तकें

Davidson	· Political Thought in England.
Dunning W. A.	A History of Political Theories (From Rousseau to Spencer.)
Mill J. S.	. Liberty
Mill J. S.	: Representation Government.
Sabine	: A History of Political Theory.
Suda J. P	: A History of Political Theory.
Wayper	Political Thought
वर्मा एस० पी०	पाश्चात्य राज दर्शन

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. 'मिल एक खोखली स्वतन्त्रता तथा अमूर्त व्यक्ति का अग्रदूत था।' विवेचना कीजिये।

२. मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिये।

३. मिल के प्रतिनिधि शासन पर क्या विचार हैं? क्या प्रतिनिधि शासन के दोषों के निवारण का प्रयास उपयुक्त है? अपना विचार दीजिए।

४. मिल के उपयोगितावादी विचारों पर अपना मत प्रकट कीजिये ।

५ 'बेन्थम के उपयोगितावाद में मानवीयता का समावेश कर मिल ने उसे सारहीन बना दिया । इस कथन के आधार पर मिल के उपयोगितावाद पर प्रकाश डालिये ।

६. जान स्टुअर्ट मिल ने किन आधारों पर भाषण और व्यक्ति के कार्य स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है ?

७ मिल का राजदर्शन को क्या अनुदान है ?

८ प्रतिनिधित्व तथा मतदान सम्बन्धी दोषों के निराकरण के लिये मिल के उपायों की समीक्षा कीजिये ।

अध्याय १०

कार्ल मार्क्स

(Karl Marx)

(१८१८ से १८८३)

"It is hard to deal temperately with a man whom millions revere as a God and millions despise as a devil."

—*Maxey*

आधुनिक युग को यदि सबसे अधिक किसी विद्वान के विचारों ने प्रभावित किया है तो वह कार्ल मार्क्स है। कार्ल मार्क्स से पूर्व अन्य विचारकों ने भी समाजवाद के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये थे। राबर्ट ओवेन, डाक्टर हाल, विलियम थाम्पसन जॉन ग्रे सिसमण्डी सेण्ट साइमन आदि विचारकों ने तत्कालीन औद्योगिक युग के पूंजीवादी अभिशापों से मानवता को मुक्त करने के लिये अनेकों योजनाएं प्रस्तावित कीं। लेकिन उनके विचार कल्पना के पंख लगा कर गगन में उड़ते थे उन्होंने न तो वैज्ञानिक ढंग से समस्या का अध्ययन ही किया और न ही उनके लिये व्यावहारिक हल खोज निकाला, यही कारण है कि हम उनके समाजवाद को कल्पनालोकीय (Utopian) कहकर पुकारते हैं। कार्ल मार्क्स ने सर्वप्रथम पूंजीवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण किया और बताया कि यह व्यवस्था भी परिवर्तित होगी और इसीलिए उसकी विचारधारा वैज्ञानिक समाजवाद कहकर पुकारी जाती है। प्रो० आशीर्वादम के शब्दों में "मार्क्स की शिक्षाओं से प्रथम समाजवाद और साम्यवाद ने अपने काल्पनिक स्वरूप का त्याग किया और वैज्ञानिक तथा यथार्थ रूप ग्रहण किया।"

जीवन परिचय

(Life Sketch)

कार्ल मार्क्स का जन्म ५ मई सन् १८१८ को जर्मनी के ट्रीयर (Trier) नामक स्थान में हुआ था। उसके पिता यहूदी थे और वकालत करते थे। उन्होंने १८२४ में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। यह मध्यवर्गीय परिवार सुसम्पन्न था, परन्तु शक्तिशाली नहीं था। माता-पिता ने उसे अच्छी शिक्षा दिलाई। मार्क्स ने बोन (Bonn) और बर्लिन (Berlin) विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की। उसने न्यायशास्त्र (Jurisprudence) का अध्ययन किया। इतिहास और दर्शन के अध्ययन की ओर उसकी विशेष रुचि थी। १८४१ में उसने अपना अध्ययन समाप्त कर दिया। उसने एपीक्यूरस (Epicurus) के दर्शन पर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। विश्वविद्यालय के अध्ययन समय में मार्क्स ने हीगल के दर्शन का अध्ययन किया। यह

बर्लिन के वामपक्षी हीगेलियन वर्ग से सम्बन्ध रखता था। मार्क्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनना चाहता था, लेकिन अपने विचारों के कारण वह इस ओर न जा सका। उसने देखा कि सरकार ने लुडविग फ्यूरबेक को और बनो ब्यूर को अध्यापन कार्य से निष्कासित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह शैक्षिक जीवन में प्रवेश न कर सका। इस समय पर जर्मनी में वामपक्षीय हीगल के विचारों का जोर था। लुडविग फ्यूरबेक ईश्वरीय विचारधारा की आलोचना करने लगे और भौतिकवाद की ओर उन्मुख हुए। मार्क्स के विचार क्रान्तिकारी होते जा रहे थे। मार्क्स राइने जीतुंग [illegible] Zeitung) पत्र का प्रमुख सम्पादक हो गया। पत्र का दृष्टि-कोण [illegible] प्रजातन्त्रीय होने के कारण शासन ने पहले तो दुहरा-तिहरा निरीक्षणात्मक अवरोध (Censorship) शुरू किया और बाद में उसका प्रकाशन ही बन्द करना पड़ा।

मार्क्स ने १८४३ में अपने निकट बचपन की परिचित युवती जेनी वान वेस्ट-फेलेन (Jenny Von Westphalen) से विवाह किया। जेनी जर्मनी के एक प्रति-क्रियावादी सामन्त परिवार की कन्या थी। मार्क्स इसी वर्ष पेरिस गया और वहाँ एक क्रान्तिकारी पत्रिका प्रकाशित की। इस पत्रिका के प्रथम अंक के बाद ही उसे स्थगित करना पड़ा। मार्क्स के क्रान्तिकारी विचार जन समूह की भावनाओं के मर्मस्थल को प्रभावित करने में समर्थ होते थे। मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे १८४४ में जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया। जर्मनी से मार्क्स पेरिस गया जहाँ उसकी मित्रता फ्रेडरिक एंजिल्स से हुई और इतिहास में यह अटूट प्रेम और घनिष्ठता एक घटना बन गई। इन दोनों ने पेरिस में क्रान्तिकारी दलों का संगठन किया। सन् १८४५ में मार्क्स को पेरिस से भी निकाल दिया गया। पेरिस से निकल कर मार्क्स ब्रूसेल्स (Brus els) पहुँचा। मार्क्स और एंजिल्स ने सन् १८४७ में एक गुप्त साम्यवादी संगठन में प्रमुख रूप से भाग लिया और सभा के आग्रह पर कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो की रचना की। जब फरवरी १८४८ में क्रान्ति प्रारम्भ हुई उसे बेल्जियम से निकाल दिया गया, और मार्क्स पेरिस पहुँचा। मार्च की क्रान्ति विफल हो जाने पर उसे पेरिस से भी भगा दिया गया। मार्क्स के दिन बहुत दरिद्रता में व्यतीत हो रहे थे, यदि उसे एंजिल्स जैसा मित्र न प्राप्त हुआ होता जो आर्थिक सहायता द्वारा उसे आवश्यकताओं की पूरा कर विचार व्यक्त करने का अवसर प्रदान करता था, तो उसकी अमर रचना 'कैपिटल' प्राप्त नहीं होती। मार्क्स इन कठिनाइयों और आर्थिक संकटों से जूझता हुआ, लन्दन में गहन अध्ययन करता रहा। लन्दन में २८ सितम्बर, १८६४ को प्रसिद्ध 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' की स्थापना हुई। मार्क्स इस संगठन का हृदय एवं आत्मा सभी कुछ था। कठोर परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। २ दिसम्बर, सन् १८८१ को उसकी पत्नी का देहावसान हो गया। मार्क्स १४ मार्च, १८८३ को निर्धन अवस्था में शान्तिपूर्वक अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ इस संसार से चला गया। मार्क्स के विचार आज विश्व के अधिकांश जन समूह को आकर्षित कर चुके हैं। मार्क्स के विचारों को एंजिल्स के विचारों के साथ रखना आवश्यक है। इन दोनों के विचारों को पृथक् करना सरल कार्य नहीं।

एंजिल्स का परिचय—एंजिल्स जर्मनी के एक सम्पन्न परिवार में पैदा हुआ था। उन्होंने इंगलैंड में एक कारखाना स्थापित किया। मार्क्स के साथ एंजिल्स

का परिचय १८४४ ई० मे हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिवर्तित हो गया। एंजिल्स उच्चकोटि के विद्वान तथा आधुनिक विश्व के श्रमिकों के शिक्षक थे। दोनों मित्रों ने जीवनपर्यन्त समान लक्ष्य की पूर्ति के लिये चिन्तन किया। एंजिल्स ने अपने मैनचेस्टर के कारखाने तथा पुस्तकों आदि द्वारा मजदूरों की दयनीय दशा देखी। उससे द्रवित होकर मार्क्स को उसने योगदान दिया। मार्क्स की मृत्यु के बाद उसकी अधूरी रचनाओं को पूरा किया और उसे प्रकाशित कराया।

मार्क्स की रचनायें
(Works of Karl Marx)

कैपिटल (The Capital) मेनीफेस्टो ऑफ कम्यूनिस्ट पार्टी (The Communist Menifesto) पावर्टी ऑफ फिलासफी (The Poverty of Philosophy) होली फेमली (The Holy Family), सिविल वार इन फ्रांस (Civil War in France), गोथा प्रोग्राम (The Gotha Programme), क्रिटिक ऑफ पोलीटिकल एकोनोमी (The Critique of Political Economy), क्लास स्ट्रगल (Class Struggle), रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन (Revolution and Counter Revolution).

मार्क्स के विचारों की पृष्ठभूमि

प्रत्येक विचार युग विशेष की पृष्ठभूमि मे उत्पन्न होता है। यदि परिस्थितियाँ या वातावरण विपरीत होते है तो विचार भी बदल जाते हैं, कार्ल मार्क्स के समाजवादी और साम्यवादी विचार के सम्बन्ध में भी यह पूर्णतया सत्य है। उसके विचार औद्योगिक क्रान्ति और उसके परिणामो के वातावरण मे फलित हुये। यदि उस समय सामंतवाद या आज के गैर साम्यवादी देशो की परिस्थितियाँ तत्कालीन वातावरण को संचालित कर रही होती, तो उसके विचार भी संभवतः साम्यवाद का पोषण नही करते। जिस वातावरण और परिस्थितियो ने उसके विचार का निर्माण किया, उनका अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

मार्क्स के विचार औद्योगिक क्रान्ति और उसके परिणामो की उपज है अतः हम दो प्रमुख शीर्षकों मे उनका अध्ययन करेंगे —

औद्योगिक क्रान्ति
(Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात इंगलैण्ड मे हुआ यह कोई आकस्मिक घटना नही थी, वरन १७७० ई० से १८३० ई० तक उत्पादन की क्रियाओं तथा यातायात के आविष्कारों के क्रमिक विकास की घटनाओं से इसका तात्पर्य है। औद्योगिक क्रान्ति का इतिहास कृषि यन्त्रों के आविष्कारों के साथ प्रारम्भ होता है। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड कृषि प्रधान देश था। कृषि पुराने ढंग से ही होती थी। उसमे वैज्ञानिक शोध शुरू हुई।

कृषि की वैज्ञानिक खोजों के आधार पर खेती करना मुश्किल था। बड़े बड़े जमीदार आदि भूमि को एकत्रित कर अधिक लाभ कमाते थे। फलस्वरूप

छोटे-छोटे कृषक भूमि बेचकर भूमिहीन मजदूर हो गये । यह अपनी आजीविका कमाने के लिये शहरों में जाने लगे ।

शहरों में यान्त्रिक क्रान्ति हो रही थी । वस्तु उत्पादन के नवीन तन्त्रों का निर्माण हो रहा था अथवा उद्योग के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई ।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैंड, यूरोप और अमरीका में इन्कलाब ने फैलकर उत्पादन व्यवस्था, यातायात, छापाखाना आदि का विकसित किया । विज्ञान के नये चरण उन्हें प्रगति की ओर ले जा रहे थे । बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित हो रहे थे जहाँ सैकड़ों व्यक्तियों के स्थान पर एक व्यक्ति बहुत थोड़े समय में ही बहुत-सा उत्पादन कर सकता था । मानव को विकास की ओर उन्मुख कर औद्योगिक क्रान्ति के निम्न प्रभाव भी लक्षित हुये ।

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व घरेलू उद्योग धन्धे काफी मात्रा में फैले हुये थे । थोड़ी-सी सम्पत्ति के आधार पर छोटे छोटे औजारों की सहायता से घर-घर उत्पादन होता था और उसके लाभ से असंख्य व्यक्ति अपनी गुजर बसर करते थे । बड़े-बड़े कारखानों के निर्माण से उत्पादित सामग्री सस्ती एवं सुलभ होती थी जिससे घरेलू उद्योग की सामग्री की माँग स्वभावतः कम होती गई । फलस्वरूप घरेलू धन्धे बन्द कर कारीगर मजदूर बन कर जीविका प्राप्त करने लगे । अभी तक वे मुनाफे के पूरे हकदार थे अब से उन्हें केवल मजदूरी ही प्राप्त होने लगी उनका स्तर ही परिवर्तित हो गया । छोटे-छोटे धन्धे करने वाले अधिक सम्पत्ति वाले बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण करने में असमर्थ थे । अतः अब उत्पादन शक्ति में परिवर्तन होने के कारण समाज में दो वर्ग हो गये । एक भूमि तथा कारखानों का स्वामित्व रखने वाला वर्ग, दूसरा, प्रत्येक प्रकार से उत्पादन साधनों से रहित, श्रमिक या मजदूर वर्ग ।

एक ओर उत्पादन के साधनों के परिवर्तन का यह परिणाम था कि समाज का अधिकांश भाग अभाव पीड़ित और शोषित एवं दुखी था तो दूसरा वर्ग सम्पन्न एवं आनन्द पूर्ण था । एक अत्याचार से पीड़ित था दूसरा अत्याचार से । राजनीतिक विचारधाराओं में एक नवीन सिद्धान्त विकसित हो रहा था । उदारवाद या व्यक्तिवाद के समर्थक आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को अनुचित बताते थे । उनका मत यह था कि राज्य को उद्योगपतियों को अकेला छोड़ देना (Laissez faire) की माँग सर्वत्र सुनाई देती थी । यह कहा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली-भाँति समझता है । वह अपने विकास के लिये सचेष्ट रहता है । प्रतियोगिता विश्व की प्रगति का आधारभूत नियम है और जो मनुष्य प्रतियोगिता में विजयी होता है उसे जीवित रहने का अधिकार है । राज्य को व्यक्ति की उन्नति की प्रतिस्पर्धा के मार्ग में कम बाधक होना चाहिए और जहाँ तक हो सके उसे स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए । व्यक्ति के कार्यों में कम से कम राज्य हस्तक्षेप की माँग पूंजीपतियों के लिए तो लाभप्रद था और मजदूरों के लिये महान् कष्टदायक, इसके परिणाम स्वरूप ही उन्हें काम के अधिक घन्टों, अल्प वेतन, बेकारी आदि का अभिशाप भुगतना पड़ रहा था । यह प्रतियोगिता असमान स्थिति के व्यक्तियों में थी । इसे शेर एवं बकरी की प्रतियोगिता कहा जा सकता है । पूंजीपति अपनी आर्थिक स्थिति के कारण मजदूरों को शोषित करते जा रहे थे । मजदूर दीन, असहाय और दरिद्र था । उनकी दीन दशा विचारकों

और राजनीतिज्ञों के हृदय में करुणा को जाग्रत करने में सहायक हुई और इंगलैण्ड की संसद का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। मजदूरों की सुरक्षा के लिये फैक्ट्री ऐक्ट आदि बनाये गये। व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और कल्पना-लोकीय समाजवाद सामने आया। राबर्ट ओवेन (Robert Owen), डाक्टर हाल (Doctor Holl), विलियम थॉम्पसन (William Thompson), जीन डी सिसमण्डी (Jean De Sismondi), सेण्ट साइमन (St. Simon), चार्ल्स फ्यूरियर (Charles Fourier) आदि इंगलिश एवं फ्रांसीसी विचारकों ने व्यक्तिवादी विचारधारा का खण्डन किया। इन्होंने बताया कि व्यक्ति का हित स्वतन्त्र छोड़ देने से नहीं हो सकता। समाज में सामूहिक हित को पूरा करने के लिये यदि प्रयत्न किया जायगा, तो किसी एक वर्ग के स्थान पर सम्पूर्ण समाज का अधिक से अधिक हित हो सकेगा।

मार्क्स के साम्यवादी विचार औद्योगिक क्रान्ति एवं उसके परिणामों तथा व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी विचारों की पृष्ठभूमि में पनित हुये। मार्क्स ने भली भाँति औद्योगिक क्रान्ति एवं उसके दुष्परिणामों का अध्ययन किया, उन कारणों की खोज निकाली जो स्थिति को बिगाड़ रहे थे, तथा उन्हें सुधारने के लिए एक हल प्रस्तुत किया। उसके इन वैज्ञानिक विचारों को हम साम्यवाद कह कर पुकारते हैं।

मार्क्स पर विद्वानों का प्रभाव—कार्ल मार्क्स के साम्यवाद का अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक है हम यह भी जान लें कि उसके विचार पूर्णतया मौलिक अनुभूति नहीं है। उसने विभिन्न विद्वानों के विचारों का अध्ययन किया, उसके विचारों की उस पर छाप पड़ी उनका सार उसने ग्रहण किया। मार्क्स ने विभिन्न विद्वानों के विचारों के आधार पर अपना तार्किक साम्यवाद पुष्ट करने का प्रयास किया। उसके विचारों पर निम्न विद्वानों का प्रभाव लक्षित होता है।

१. हीगल (Hegal)—मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद का अध्ययन किया। उस समय जर्मनी में हीगल के द्वन्द्ववाद का पठन-पाठन बहुत प्रचलित था। हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद के आधार पर यह सिद्ध किया कि समाज की प्रगति संघर्ष के आधार पर होती है और सामाजिक इतिहास संघर्ष का ही परिणाम है। मार्क्स ने हीगल के विचार का ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। मार्क्स ने हीगल के दर्शन में से यह तर्क अस्वीकार कर दिया कि "राष्ट्र सामाजिक इतिहास की प्रभावशाली इकाई है। उसने राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्ग संघर्ष प्रतिपादित किया। हीगल के दर्शन की रहस्यवादिता, राष्ट्रवादिता एवं प्रतिक्रियावादी क्रान्तिरहितता दूर कर उसे नये क्रान्तिकारी क्रान्तिकारी उपवाद में परिवर्तित कर दिया।" उसके दर्शन में हीगल का अनुसरण दो रूपों में दिखाई देता है। उसने द्वन्द्ववाद का एक प्रणाली के रूप में अनुगमन किया। उसकी पुन व्याख्या द्वारा इतिहास के निर्धारण में आर्थिक तत्व का योग निर्धारित कर नवीन विचारधारा का निर्माण कर समाज को संगठित किया।" मार्क्स के द्वन्द्ववाद और हीगल के द्वन्द्ववाद के अन्तर का अध्ययन करने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों विचारकों के इस सिद्धान्त का अध्ययन किया जाय। हीगल ने बताया था कि विश्व का विकास द्वन्द्व के आधार पर होता है। 'विचार' (idea) जगत में यह द्वन्द्व निरन्तर लक्षित होता है। विश्व आत्मा के द्वन्द्व के आधार पर ही मनुष्य विकास की ओर उन्मुख होते हुये राज्य में पूर्णता प्राप्त करता है। इस द्वन्द्व का मुख्य केन्द्र विचार या आत्मा है। मार्क्स ने आत्मा (ब्रह्म या World Spirit)

के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया और उसके स्थान पर पदार्थ (Matter) का स्थान प्रतिपादित किया। उसने कहा *आत्मा' कल्पना जगत की वस्तु है, यथार्थ मे* उसका कोई मूल्य नही। पदार्थ हमे इस जगत मे दृष्टिगोचर होते है। इस प्रकार *हीगल के विचार आत्मवादी द्वन्द्ववाद (Dialectical Spiritualism)* का प्रतिपादन करते थे, मार्क्स ने उन्हे परिवर्तित करके भौतिकवादी (Materialistic) बना दिया। मार्क्स ने स्वत यह स्वीकार किया कि "मेरा द्वन्द्ववाद हीगल के द्वन्द्ववाद से भिन्न ही नही वरन् ठीक उसके विपरीत है।

(२) **फ्यूरबेक**—कार्ल मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद मे फ्यूरबेक (Ludgwig *Feuerbach) का यथार्थवाद या भौतिकवाद मिश्रित किया।* मार्क्स पर फ्यूरबेक के दर्शन का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा मे पडा। लेकिन मार्क्स ने पूर्णतया उसके विचारो को ही ज्यो का त्यो स्वीकार नही किया। उसके विचारो का सार ग्रहण कर उसके, वैज्ञानिक, दार्शनिक भौतिकवादी सिद्धान्त बना दिया परन्तु उसका आदर्शवादी, धार्मिक तथा नैतिकवादी स्वरूप ग्रहण नही किया।

(३) ***एडम स्मिथ रिकार्डो सेण्ट साइमन***—*मार्क्स पर एडम स्मिथ रिकार्डो* आदि के व्यक्तिवादी विचारो का प्रभाव भी दिखाई देता है। उसके विचारो के आधार पर उसने मूल्य का *श्रमसिद्धान्त प्रतिपादित किया। मार्क्स पर* फ्रांसीसी विचारक काउण्ट हेनरी डी सेण्ट साइमन का यथेष्ट प्रभाव पडा। सेण्ट साइमन ने राजनीतिक सिद्धान्तो के अध्ययन के लिये आधारभूत तत्कालीन उत्पादन के साधनो को अनुपम महत्त्व दिया। उसने बताया कि उत्पादन के परिवर्तन ही राजनीतिक परिवर्तन का कारण होते है। मार्क्स ने इसी विचार से प्रभावित होकर इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की। दूसरे सेण्ट साइमन ने श्रम का महत्त्व स्पष्ट किया और बताया श्रम करने वाले को ही जीवित रहना चाहिये तथा जो श्रम नही करते हो तथा दूसरो के श्रम पर निर्भर रहते हो, उनका नाश होना चाहिये। वर्गहीन समाज की स्थापना का विचार मार्क्स ने इन्ही विचारो के अध्ययन के द्वारा प्रतिपादित किया।

अत हम कह सकते है कि पूंजीवाद की विषमतामयी शोषक अवस्था का लोप कर, औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामो को दूर करने के लिये मार्क्स ने जिन विचारो को नवीन नामकरण साम्यवाद मे प्रस्तुत किया, वे हीगल फ्यूरबेक एडम स्मिथ, रिकार्डो, सेण्ट साइमन के विभिन्न विचारो का ही सग्रहात्मक रूप है। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिये उन सब विचारो का सार ग्रहण किया। उसने इन विचारकों के तर्कों आदि का अन्धानुकरण करने के स्थान पर केवल अपने विचारो का तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिये प्रयोग किया। जैसे ही वह विचार उसके तर्क को *सुनिर्धारित पथ पर पहुँचाते है* वह उनको छोडकर आगे बढ जाता है।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त पर आधारित है। मार्क्स ने इसी सिद्धान्त के आधार पर इतिहास के परिवर्तन और अध्ययन का भौतिकवादी दर्शन, वर्ग-संघर्ष और *साम्यवाद की स्थापना आदि के विचार व्यक्त* किये है। मार्क्स के साम्यवादी विचारों को रूस, चीन के विचारक भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट करते है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद किसे कहते है? इसका अर्थ भली-भाँति

समझने के लिए हमें इन दोनों को अलग-अलग कर देखना पड़ेगा। यह शब्दावली द्वन्द्वात्मक (Dialectical) और भौतिकवाद (Materialism) से मिल कर बनी है। इसके द्वारा मार्क्स ने प्रकृति रत द्वन्द्व का आश्रय लेकर समाज में साम्य स्थापना का चित्र खींचा है और प्रकृति में भौतिक पदार्थों का महत्व है। इसीलिये इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है।

(१) **मार्क्स का द्वन्द्ववाद** (Dialecticism)—शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर द्वन्द्ववाद की व्याख्या करते हुये कहा जा सकता है कि यह अंग्रेजी के डायलेक्टिसिज्म का अनुवाद है। 'डायलेक्टिसिज्म' स्वतः 'डायलेक्टिक' से बना है। डायलेक्टिक शब्द भी यूनानी भाषा के 'डायलगो' (Dialego) से बना है। इसका अभिप्राय वाद-विवाद, कथोपकथन है। प्राचीन यूनान में (विशेषतः सुकरात एवं प्लेटो) सत्य का पता लगाने के लिये कथोपकथन या वादविवाद पद्धति का आश्रय लेते थे। यह समझा जाता था कि विरोधी तर्कों के आधार पर सत्य की खोज करना सरल है। प्राचीन दार्शनिक इस द्वन्द्ववाद की कला द्वारा, यह विश्वास करते थे, कि सत्य दो विरोधी विचारों के संघर्ष द्वारा पता लगाया जा सकता है। विचारों के विकास का यही आधार माना गया। बाद में यह प्रक्रिया ही विचारों के स्थान पर प्रकृति के विकास को स्पष्ट करने के लिये भी प्रयोग की गई। प्रकृति भी स्थिर नहीं, चलायमान है, उसका विकास, निर्माण अथवा उन्नति प्राकृतिक जगत के विरोधों के संघर्ष का ही परिणाम है।

मार्क्स से पूर्व आदर्शवादी विचारधारा के शिरोमणि हीगल ने द्वन्द्ववाद का प्रयोग विकास को स्पष्ट करने के लिए किया। हीगल की आदर्शवादी द्वन्द्ववाद की व्याख्या में यह कहा गया कि प्रकृति अथवा जगत के विकास का रहस्य विचार (Idea) है। हीगल ने बताया विचार (Idea) या आत्मा (Spirit) ही जगत के प्रत्येक पदार्थ के पीछे है। सर्वप्रथम भौतिक वस्तुयें नहीं उनके विचार हमारे सामने आते हैं। उदाहरण के लिये यदि हम मेज का निर्माण करना चाहते हैं तो उसकी योजना विचार साक्षात मेज से पूर्व हमारे मस्तिष्क में विद्यमान हो जाता है। इसी तरह चराचर जगत भी 'विचार' की ही उपज है। यह आत्मवादी द्वन्द्ववाद है। मार्क्स ने इस व्याख्या को अस्वीकार किया। उसने हीगल के द्वन्द्ववाद के सार को ग्रहण किया जिससे वह अपना पूर्व निर्धारित तथ्य सिद्ध कर सके। उसने हीगल के सिद्धान्त की आत्मवादी सामग्री को त्याग कर उसका बौद्धिक अस्तित्व ही स्वीकार किया। उसने बताया कि विकास या परिवर्तन 'विचार' की अपेक्षा 'पदार्थ' (Matter) द्वारा होते हैं। पदार्थ जगत में द्वन्द्व चलता रहता है। वस्तुओं का निर्माण होता रहता है, पुरानी वस्तुयें सड़ गल कर नष्ट हो जाती हैं, नवीन वस्तुयें उनका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम गेहूँ के दाने के (पदार्थ) द्वन्द्व का अध्ययन करें तो दिखाई देता है कि उसका विकास हो रहा है। उसे जमीन में गाड़ दीजिए, उसका यह रूप नष्ट हो जाता है और अंकुर के रूप में वह सामने आता है, अंकुर भी अपनी स्थिति पर स्थाई नहीं रहता उसका विकास एक दूसरे पौधे के रूप में होता है। इसी सघर्षमय स्थिति का परिणाम यह होता है कि एक गेहूँ के दाने के विकास के द्वारा अनेक दाने प्राप्त होते हैं। विकास का यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त भौतिकवादी है। यहाँ जो संघर्ष विकास के दौरान के रूप में सतत चलता रहता है वह बाह्य नहीं, आन्तरिक है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद की विशेषतायें (Characteristics of Marxian Dilecticism)—

(१) **अन्तःनिर्भरता**—मार्क्स के द्वन्द्ववाद की प्रथम विशेषता यह है कि यह प्रकृति को एक अचानक एकत्रित की हुई वस्तुओं का संग्रह नहीं मानता। उसके अनुसार प्रकृति के पदार्थ अलग-अलग एक दूसरे से असम्बद्ध व स्वतन्त्र नहीं होते उनमें परस्पर एकता तथा सम्बन्ध रहता है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से जुड़ा हुआ तथा निर्भर रहता है। यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विश्व में प्राकृतिक सार्वभौमिक एकता स्पष्ट करता है। इस सिद्धान्त के समर्थक प्रकृति को पृथक एक पिंड न मान कर एक दूसरे से सम्बद्ध मानते हैं। किसी भी वस्तु को एक दूसरे से अलग नहीं देखा जा सकता। अतः इस सिद्धान्त के आधार पर प्राकृतिक दृश्य जगत के किसी भाग का आस-पास के अन्य क्षेत्रों से विलग अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अर्थ रहित हो जायगा।

(२) **गतिशीलता**—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद की दूसरी विशेषता वस्तुओं की गतिशीलता है। जगत स्थिर नहीं गतिमान है। द्वन्द्ववाद प्रकृति को चलायमान मानता है जिसमें नित्य प्रति द्वन्द्व के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन नीचे से ऊपर की ओर उन्नति मार्ग पर पहुँचाते हैं। प्रकृति में द्वन्द्व के आधार पर पदार्थ विकासोन्मुख होते हैं। नवीन पदार्थों का निर्माण और प्राचीन का विनाश विकास का क्रम है। अतः मार्क्स का द्वन्द्ववाद चराचर जगत के सार्वभौमिक अध्ययन के साथ ही जीवन की गतिशीलता का अध्ययन भी है। एक अवस्था में वस्तुओं का स्वरूप मजबूत और स्थाई दिखाई देता है लेकिन जैसे ही समय व्यतीत होता जाता है उनकी दृढ़ता दुर्बलता में परिवर्तित होती जाती है। नवीन का आगमन और प्राचीन का प्रस्थान यह क्रम छोटे और बड़े सभी पदार्थों में समान रूप से विकास का आधार है। एंजिल्स ने इस विकास क्रम का वर्णन इस प्रकार किया है प्रकृति के छोटे से बड़े प्रत्येक पदार्थ धूल के कण से सूर्य तक जीवन की छोटी प्रारम्भिक इकाई से मनुष्य तक, जीवन के अनन्त आगमन एवं प्रस्थान के आधार पर स्थित है, यह क्रम निरन्तर अबाध गति से चलता रहता है।

(३) **मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन**—द्वन्द्ववाद की तीसरी विशेषता यह है कि परिवर्तन मात्रा तथा गुण दोनों प्रकार के होते हैं। विकास की गति साधारण अथवा सामान्य नहीं होती। उन्नति का रहस्य छुपे हुए मात्रात्मक परिवर्तन से मौलिक गुणात्मक परिवर्तन की ओर जिसमें द्रुतगति से शीघ्रतापूर्वक, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में उछलते-कूदते हुए परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन साधारण वृत्तात्मक रूप में दिखाई नहीं देता जहाँ पुनरावृत्ति के रूप में जो कुछ एक बार हो चुका है, दुहराया जाता है वरन विकास आगे तथा ऊपर की ओर गतिमान रहता है। उदाहरण के रूप में यह विकास पेचदार चक्कर की भाँति होता है जिसमें प्रत्येक चक्कर के पूरा होने पर हम निम्न स्थान से थोड़ा आगे और ऊपर बढ़ जाते हैं। यह विकास साधारण से जटिलता की ओर निम्न स्थिति से उच्च की ओर होता है। यह परिवर्तन मात्रा द्वारा गुण की ओर विकसित होता है। जब पानी गर्म होता है तब कोई परिवर्तन नहीं होता लेकिन जैसे ही तापमान उठता या गिरता है एक अवस्था ऐसी आ जाती है कि वह भाप या बर्फ बन जाता है। प्रकृति के भौतिक रसायन शास्त्रीय एवं भौतिकशास्त्रीय प्रत्येक क्षेत्र में यह परिवर्तन दिखाई देता है।

प्रकृति का यह परिवर्तन द्वन्द्व के कारण होता है। मात्रा से गुण की ओर परिवर्तन अचानक होता है।

(४) आन्तरिक विरोध—द्वन्द्ववाद की अगली विशेषता प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक अन्तर्निहित विरोध है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में आन्तरिक विरोध व्यापक है। प्रत्येक वस्तु में दो पक्ष होते हैं उनका सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative) स्वरूप जिनमें निरन्तर द्वन्द्व या संघर्ष चलता रहता है। पुराना तत्व मिटता जाता है, नवीन उत्पन्न होता जाता है इन दोनों का निरन्तर संघर्ष ही विकास का क्रम है। (The dialectical method therefore holds that the process of development from the lower to higher takes place not as a harmonious unfolding of phenomena, but as a disclosure of contradictions inherent in things and phenomena, as a "struggle" of opposite tendencies which operate on the basis of these Contradictions.)

मार्क्स के द्वन्द्ववाद का महत्व—मार्क्स पूंजीवाद के शोषित स्वरूप के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना करना चाहता था द्वन्द्ववाद के प्रयोग से उसने अपने विचारों की सिद्ध करने के लिये महत्त्वपूर्ण तर्क दिये।

(१) द्वन्द्ववाद की गतिशीलता के माध्यम से पूंजीवाद के विनाश के उपरान्त समाजवाद का मार्ग प्रदर्शित किया—प्रकृति के गतिमय चक्र के चित्रण द्वारा, प्राचीन की मृत्यु नूतन के निर्माण को विकास का नियम बताकर, पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के परिवर्तन के लिये मार्ग खोल दिया। मार्क्स ने कहा कि जिस तरह विकास-क्रम के द्वारा आज तक समाज में परिवर्तन होते रहे और एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था आती रही, उसी प्रकार यह पूंजीवाद भी स्थाई नहीं हो सकता, उसे भी परिवर्तित होना पड़ेगा; व्यक्तिगत सम्पत्ति, उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व श्रमिकों का शोषण भी दूर होगा और अवश्य ही ऐसी अवस्था आयेगी जब श्रमिकों के हाथ में उत्पादन साधनों का स्वामित्व होगा। अतः परिणामस्वरूप पूंजीवाद का स्थान सामाजिक विकास की दशा में समाजवाद होगा। यह एकदम कोई नई स्थिति नहीं होगी, वरन् ठीक उसी जिस प्रकार सामन्तवाद का स्थान पूंजीवाद ने लिया था, पूंजीवाद का स्थान समाजवाद लेगा। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को आगे की ओर देखना चाहिए, पीछे की ओर नहीं।

(२) द्वन्द्ववाद में गुणात्मक तीव्रगति से परिवर्तन द्वारा क्रान्ति का औचित्य सिद्ध किया—मार्क्स के द्वन्द्ववाद का दूसरा महत्व यह है कि क्रान्ति को न्याय संगत ठहराने के लिये इसने पर्याप्त योग दिया। मार्क्स ने बताया कि मात्रात्मक मंदगति से परिवर्तन के स्थान पर गुणात्मक तीव्र गति से परिवर्तन द्वन्द्ववाद की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। शोषित वर्ग शनैः शनैः उन्नति नहीं करेगा, वरन् वह क्रान्ति के रूप में तीव्र गति से परिवर्तन करेगा। क्रान्ति इस प्रकार पूर्णतया उचित और न्याय संगत हो जाती है। अतः मार्क्स पूंजीवाद से मुक्ति पाने और शोषितवर्ग के उन्नति की ओर बढ़ने के लिये क्रान्ति को अनिवार्य बना देता है। "अतः प्रत्येक की नीति में त्रुटि किए बिना, सुधारक नहीं क्रान्तिकारी होना चाहिये।"

(३) प्रत्येक पदार्थ का अन्तर्निहित विरोध वर्ग संघर्ष को अनिवार्य बना देता है—द्वन्द्ववाद का तीसरा महत्व यह है कि मार्क्स वर्ग संघर्ष को अवश्यम्भावी

बना देता है। द्वन्द्ववाद प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को अन्तर्निहित विरोधयुक्त मानता है। आन्तरिक विरोध ही संघर्ष का कारण और उन्नति का मूलमन्त्र है। स्पष्टत मार्क्स इसी सिद्धान्त के आधार पर वर्ग संघर्ष को उचित ठहराता है। पूंजीवाद में अन्तर्निहित विरोध सर्वहारा वर्ग को पूंजीपति वर्ग के साथ संघर्षरत रखता है। इस संघर्ष को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए समझौते या सुधार की चेष्टा भी व्यर्थ है, संघर्ष का अन्त तक होने देना चाहिये।

इस प्रकार मार्क्स ने द्वन्द्ववाद के आधार पर पूंजीवाद के आगे समाजवाद के आगमन, क्रान्ति के औचित्य एवं अन्तर्निहित वर्ग संघर्ष द्वारा परिवर्तन का एक सुस्पष्ट वैज्ञानिक विवेचन किया।

मार्क्स के भौतिक दर्शन की विशेषता *(Characteristics of his materialistic philosophy)*—मार्क्स के भौतिकतावादी दर्शन की विशेषता यह है कि यह दार्शनिक आदर्शवाद का मौलिक रूप से विरोधी है। भौतिकवादी दर्शन तीन विशेषताओं से युक्त है

(१) पदार्थ अन्तिम सत्य है (Matter is ultimate reality)—आदर्शवाद जगत का रहस्य चेतना या विश्वात्मा मानता है। हीगल और भारतीय वेदान्त चराचर जगत-प्रकृति, जीवजन्तु आदि सभी को ब्रह्ममय मानता है। मार्क्स ने हीगल की शिष्यता स्वीकार की, परन्तु उसने आदर्शवादी व्याख्या के स्थान पर भौतिकवादी व्याख्या की। उसने कहा कि जगत में अन्तिम सत्य पदार्थ है। उसने चेतना और ब्रह्म को अस्वीकार किया और कहा कि जगत का वैविध्य रूप विभिन्न प्रकार के गतिमान पदार्थों का संग्रह ही है। हेराक्लिटस (Heraclitus) ने भी यही विचार व्यक्त किये। उसने कहा कि विश्व एक समग्र इकाई है जिसका निर्माण किसी ईश्वर *अथवा मनुष्य ने नहीं किया, वरन् यह एक जीवित ज्योति है जिसका निर्माण क्रमिक* रूप में उन्नति तथा पतन के चक्र पर हुआ।

(२) पदार्थ प्राथमिक और चेतना द्वितीय है (Matter is primary and consciousness is secondary)—आदर्शवाद में चेतना का महत्व प्राथमिक है और समस्त पदार्थ उसके बाद ही आते है। भौतिकवाद में पदार्थ प्राथमिक हैं। प्रकृति *पदार्थ आदि हमारी चेतना से बाहर स्थित हैं। पदार्थ ही बोधगम्यता अनुभव तथा* चेतना आदि का स्रोत है। विचार या चेतना पदार्थ की उपज या प्रतिबिम्ब है, वह मस्तिष्क के रूप में पूर्णता प्राप्त करता है मस्तिष्क विचार करने का यंत्र है। "पदार्थ मस्तिष्क नहीं मस्तिष्क स्वयं ही पदार्थ की सर्वोच्च उपज है। ["Matter is not a product of mind but mind itself is merely highest product of matter.'] "विश्व का दृश्य, किस प्रकार पदार्थ चलता है किस प्रकार विचार करता है, का ही चित्र है।" ("The world picture is a picture of how matter moves and how matter thinks'—Lenin Quoted by J Stalin p 20 Dialectical and Historical materialism). इस प्रकार मार्क्स भौतिक जगत में पदार्थों को ही परिवर्तन का प्रमुख केन्द्र मानता है। पदार्थ से विचार अलग करना असम्भव है, पदार्थ ही प्रत्येक परिवर्तन का आधार है। (It is impossible to separate thought from matter that thinks matter is the subject of all changes")

(३) विश्व के समस्त पदार्थों का प्रयत्नों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है—आदर्शवाद यह स्वीकार करता है विश्व को जानना अथवा प्रकृति को समझना मनुष्य

की शक्ति से परे है। ज्ञान और शिक्षा भी उसको जानने में हमारी सहायता नही करता। पदार्थ का महत्व और भौतिकवादी दर्शन की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बताया कि प्रकृति अथवा विश्व अगम्य नही है। मनुष्य प्रकृति को अपने निरन्तर प्रयत्नों के कारण समझ सकता है। विश्व एवं उसके नियमों को मनुष्य जान सकता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु और कोई भी ऐसा पदार्थ नही, जिसके अस्तित्व को नही जाना जा सके। प्रयोग एवं निरीक्षण से हम प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति प्रयोग आदि के कारण अब रहस्यमय नही रही उचित प्रयत्नों के द्वारा रहस्य को खोला जा सकता है।

भौतिक दर्शन का महत्व (Its Importance)—पदार्थ को प्राथमिकता देने के कारण मार्क्स ने समाज और इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। समाज एवं उसका इतिहास भौतिक दर्शन के आधार पर कुछ घटनाओं का संग्रह मात्र न होकर नियमों के आधार पर विकसित अध्ययन बन जाता है। और इस प्रकार समाज का इतिहास एक विज्ञान बन जाता है।

सामाजिक विकास के नियम वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समान होते हैं—पूंजीवादी समाज व्यवस्था के परिवर्तन के लिये सर्वहारा वर्ग के प्रयत्न व्यक्तियों की शुभेच्छाओं पर निर्भर नही वरन समाज के विकास के लिए कुछ सर्वमान्य नियम एवं सिद्धान्त सहायक होते हैं। समाज एवं विश्व के परिवर्तन के नियम मनुष्यों के प्रमाणित ज्ञान के आधार पर निर्मित हैं। मनुष्य विश्व रहस्यों से परिचित हो सकता है समाज के विकास के कुछ नियम होते हैं। जिनके आधार पर आज तक परिवर्तन होते रहे, उन्हीं नियमों के आधार पर आगे भी परिवर्तन होंगे। परिवर्तन के यह नियम उतने ही निश्चयात्मक होते हैं जितने रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र आदि विज्ञानों के।

इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि आगामी समाज कैसा होगा? विज्ञान की भाँति समाज के अगले स्वरूप पर भी विचार किया जा सकता है। इस दृष्टि से द्वारा मार्क्स ने समाजवाद के उज्जवल भविष्य के सुनहरे स्वप्न को साकार होने के विश्वास का निर्माण करने की अनुभूति प्रदान की। "इस प्रकार समाजवाद एक स्वप्न के स्थान पर मानवता का विज्ञान बन जाता है।" [Hence socialism is converted from a dream of better future for humanity into a science "—J Stalin]

भौतिकवाद के आधार पर ही मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को संगठित एवं एकत्रित होकर क्रान्ति करने की सलाह दी। उसने कहा कि यह विधियाँ शाश्वत है, इनके द्वारा परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अतः इस श्रमिक वर्ग को उपयुक्त नेताओं की खोज करने के स्थान पर इन्हीं नियमों के पथप्रदर्शन में कार्य करना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने पदार्थ का महत्व निर्धारित किया। उसने भौतिक जगत को प्रधान और चेतना जगत को गौण बताया। समाज में भी भौतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन से प्रथम है। समाज के आध्यात्मिक जीवन, सामाजिक विचारों की उत्पत्ति, सामाजिक सिद्धान्त राजनीतिक दृष्टिकोण और राजनीतिक संस्थायें आदि विचारों से पूर्व समाज के भौतिक जीवन में निहित है। इसके परिणाम स्वरूप इतिहास के विभिन्न युगों में तरह-तरह के सामाजिक विचार आदि दिखाई देते हैं। "मनुष्य की चेतना उसका अस्तित्व निर्धारित नहीं करती है,

वरन् इसके विरोध मे उनका सामाजिक अस्तित्व चेतना को निर्धारित करता है।" ["It is nor the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary their social being that determines their consciousness.'—Karl Marx.]

उपर्युक्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारो की आधारशिला है। उसने समाजवाद एव साम्यवाद का चित्रण द्वन्द्ववाद की तूलिका एव भौतिकवाद के रगो से किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसका इतिहास की भौतिक व्याख्या का सिद्धान्त आधारित है, जो समाज के विकास क्रम का एक वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)—इतिहास क्या है? कैसे बनता है? इस प्रश्न का विवेचन मार्क्स ने एक नये ढग से किया। उसने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को समाज के विकास के साथ प्रयोग किया और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की। यह व्याख्या अब तक की व्याख्याओ से पूर्णतया भिन्न थी। उसने समाज का विकास, आर्थिक विकास के साथ सम्बद्ध किया और बताया कि इतिहास घटनाओ का सग्रह मात्र नहीं है, वह कुछ युद्धो, राजाओ की जीत-हार, वंश परिवर्तन अथवा नये राजाओं का जन्म और क्रिया कलाप ही नही, वरन् समाज के विकास के नियमो के आधार पर समाज का अध्ययन है। इस प्रकार क्रमिक नियमो का निर्माण कर उसके आधार पर समाज के इतिहास का अध्ययन एक विज्ञापन बन जाता है।

जिस प्रकार एक विज्ञान विश्व के आगामी परिवतनो के लिये मार्ग प्रशस्त करता है, उसी प्रकार इतिहास को विज्ञापन बना कर मार्क्स ने, समाज के परिवर्तन के लिये सिद्धान्त प्रदान किये। मार्क्स ने बताया कि मानव इतिहास के निर्धारण मे आर्थिक परिवर्तनो का निर्णयात्मक हाथ रहता है। एक सम्राट के जन्म, राजतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, सामन्ततन्त्र और तत्कालीन पूंजीवाद आदि क्रमश क्यों आते है? इसके उत्तर मे कहा जाता था कि महत्वाकाक्षी व्यक्ति अपनी प्रतिभा के आधार पर व्यक्ति गत लाभ के लिये प्रयत्न करते हैं मार्क्स इस उत्तर से सन्तुष्ट नही हुआ और उसने कहा कि इन व्यक्ति विशेष के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के व्यक्तियो का परिवर्तन, अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तन के कारण होता है। अर्थ-व्यवस्था का परिवर्तन अनेको शक्तिशाली तत्वों से युक्त होता है। "यह परिवर्तन अचेतन होता है, उसकी योजना नही बनाई जाती। यह कुछ व्यक्तियों के नवीन ज्ञान का प्रत्यक्ष परिणाम होना है, वे अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये उत्पादन प्रारम्भ करते हैं और वे उसके सामाजिक परिणामो से अनभिज्ञ होते हैं। इस प्रकार मार्क्स इतिहास को अर्थ-व्यवस्था या भौतिक परिवर्तन के आधार पर विकसित विज्ञान बना देता है। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या नकारात्मक और सकारात्मक दो प्रकार से की। भौतिकवादी परिवर्तन इतिहास मे परिवर्तन करते हैं।

(१) भौतिक परिस्थितियाँ (Geographical changes)—इन भौतिक परिवर्तनो को क्या भौगोलिक परिस्थितियाँ या कारण प्रभावित करते हैं? निषेधात्मक रूप मे इसका उत्तर देते हुये मार्क्स ने कहा कि यद्यपि भौगोलिक परिस्थितियाँ और वातावरण समाज के उत्थान मे सहायक होता है, यह समाज के जीवन को प्रभावित करती है लेकिन उनका प्रभाव निश्चयात्मक नहीं होता। सामाजिक स्थिति में जो परिवर्तन होते हैं वे भौगोलिक परिवर्तनो की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्वक होते हैं।

विश्व के विभिन्न देशों की भौगोलिक और सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज ने अनेक बार करवट बदली और कई ढाँचे बने और बिगड़े, लेकिन भौगोलिक परिस्थितियाँ या तो बदली ही नहीं, और पूर्ववत् रहीं अथवा इतनी कम बदलीं कि उन्हें नगण्य कह सकते हैं। उदाहरण के लिये, यूरोप की समाज व्यवस्था ने पिछले तीन हजार वर्षों में तीन विभिन्न सामाजिक—प्राचीन साम्यवाद, दास युग और सामन्त युग—ढाँचे बदले क्रम से चौथा ढाँचा—पूंजीवाद—भी बदल कर नया युग शुरू हुआ, लेकिन फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। विश्व इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कुछ शताब्दियों बाद ही हो जाते हैं और भौगोलिक परिवर्तन हजारों लाखों वर्षों में स्पष्ट लक्षित होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि इतिहास का निर्माण भौगोलिक परिवर्तनों द्वारा नहीं होता।

(१) जनसंख्या वृद्धि (Increase in Population)—मार्क्स ने कहा कि जनसंख्या की वृद्धि भौतिक समृद्धि के लिये आवश्यक है, लेकिन किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि ही उसके सामाजिक परिवर्तन का कारण नहीं हो सकती। मार्क्स ने इतिहास की भौतिक परिस्थितियों के निर्धारण के लिये जनसंख्या को अनुपयुक्त बताया और कहा कि यह इतिहास के निर्धारण का एक मात्र तत्त्व नहीं। यदि जनसंख्या ने ही इतिहास का परिवर्तन किया होता तो प्रत्येक देश जिसकी आबादी घनी और विशाल है, उन्होंने अपार उन्नति की होती। अमरीका से चीन की आबादी चार गुना अधिक है। अमरीका जिस समय पूंजीवाद के उन्नत शिखर पर पहुँच चुका था, चीन सामन्तवाद में ही था। अतः हम निष्कर्ष निकालते हुये कह सकते हैं कि इतिहास का निर्धारण जनसंख्या भी नहीं करती। इंगलैण्ड की जनसंख्या भारत की अपेक्षा बहुत कम है लेकिन वह एक अधिक उन्नत देश है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सकारात्मक पक्ष—यह एक जटिल समस्या बन कर सामने आती है कि कौन-सा तत्त्व इतिहास के निर्धारण, समाज के उत्थान, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचने में सहायक होता है। इसकी व्याख्या मार्क्स ने इस प्रकार की। उसने कहा कि मनुष्य समाज में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संगठित होकर रहते हैं। उनकी आवश्यकतायें प्रमुख रूप से भोजन, वस्त्र और सुरक्षा होती हैं। मनुष्य जीवित रहने के लिये इन आवश्यकताओं को अवश्य ही पूरा करना चाहता है। जीवन की इन आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन समाज-व्यवस्था का निर्माण करते हैं, उन्हें इन आवश्यकता की पूर्ति करने वाली वस्तुओं का निर्माण करना पड़ता है। वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया में जैसे ही ज्ञान के आधार पर परिवर्तन किया जाता है समाज-व्यवस्था भी परिवर्तित हो जाती है "जैसे ही उत्पादन करने के ढंग में परिवर्तन होता है, संस्थाएँ और विचार भी बदल जाते हैं।" ["It follows, therefore, that when the form of production changed...............the institution and the ideas also changed."—E. Burns. What is Marxism' p. 8.] यह उत्पादन प्रक्रिया नित्यप्रति विकासोन्मुख रहती है और उत्पादन साधनों में परिवर्तन होता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन का स्वरूप ही बदलता रहता है। एक समय था जबकि मनुष्य अपनी क्षुधा तृप्त करने के लिये पशु-पक्षियों के शिकार और कन्दमूल

फलो पर निर्भर रहता था, और कृषि, दास, सामन्त और पूंजीवादी व्यवस्था मे, उत्पादन के परिवर्तन के कारण विकसित होता हुआ आज के समाज मे रहता है। अतः हम यह सकते हैं कि समाज का इतिहास उत्पादन व्यवस्था के क्रमिक परिवर्तन का इतिहास है, और इस प्रकार इतिहास का निर्धारण भौतिक परिस्थितियाँ (विशेषत उत्पादन प्रक्रिया) करती है।

उत्पादन किसे कहते हैं ? (What is production)—उत्पादन किस प्रकार होता है ? कोई एक पदार्थ अथवा शक्ति उत्पादन नही करती अनेको सामग्रियो से मिलकर उत्पादन होता है। उत्पादन मे निम्न वस्तुये सहायक होती हैं —

(१) उत्पादन यन्त्र (Instrument of production)—मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये कुछ यन्त्रो का उपयोग करता है। उदाहरण के लिये भोजन की आवश्यकता पूरी करने के लिये कृषि यन्त्रो का होना जरूरी है। वस्त्र निर्माण के लिये करघा मकान निर्माण के लिए अन्य यन्त्रो आदि की आवश्यकता होती है।

(२) *उत्पादन अनुभव और योग्यता (Production experience and skill)*—इन यन्त्रो के निर्माण और उत्पादन करने लिये उत्पादन अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य हल नही चला सकता, करघा चलाना या अन्य यन्त्रो का प्रयोग भी कुशल कर्मचारी ही कर सकते हैं। बिना उपयुक्त परीक्षण के न तो नवीन यन्त्रो के विकास पर ध्यान दिया जा सकता है और न ही उनसे उत्पादन किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पादन के लिये प्रथम आवश्यकता यन्त्र की है और दूसरे योग्यता और अनुभव होना आवश्यक है।

(३) प्राकृतिक साधन (Natural resources)—उत्पादन के लिये प्राकृतिक साधनो का होना भी आवश्यक है। मनुष्य केवल योग्यता और यन्त्रो से ही उत्पादन नही कर सकते वरन् उत्पादन के लिये प्राकृतिक साधनो—लोहा, कोयला आदि की आवश्यकता होती है।

(४) मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध —मनुष्य का उत्पादन के दृष्टिकोण से एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह भी उत्पादन का अंग है। उत्पादन एक *सामाजिक सत्ता है और कोई एक व्यक्ति ही अपनी आवश्यकताओं के लिये प्रत्येक* वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकता। उसे अन्य मनुष्यो से सहयोग करना पडता है। मनुष्य प्रकृति से संघर्ष कर उसके पदार्थिक लाभ अर्जित करते हैं, इसके लिये वे परस्पर एक निश्चित सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करते हैं। सारांश मे हम कह सकते हैं कि उत्पादन यन्त्रो, अनुभव एव कुशलता तथा प्राकृतिक साधनों एव मनुष्यों द्वारा अर्जित पदार्थ का निर्माण होता।

उत्पादन की विशेषतायें (Characteristics of production)—(१) उत्पादन कभी स्थिर नही रह सकता, यह सदैव परिवर्तित और उन्नति की ओर अग्रसर होता रहता है। उत्पादन क्रम का अबाध गति से परिवर्तन अपने साथ ही सम्पूर्ण समाज मे भी परिवर्तन लाता है। समाज की संस्थायें और विचार, राजनैतिक दृष्टिकोण *आदि सभी का पुनर्निर्माण होता है। परिवर्तन की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन* करने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न सामाजिक अवस्थाओ के परिवर्तन का कारण उत्पादन क्रम परिवर्तन हो रहा है।

अतः समाज के उत्थान का इतिहास मानव के उत्पादन क्रम का इतिहास है। समाज का इतिहास मजदूरों, किसानों तथा उत्पादकों का इतिहास है। सम्राट तथा महान योद्धाओं के युद्ध कौशल, विजय और पराजय इतिहास का निर्माण नहीं करते; वरन् उत्पादन के स्रोत, साधन एवं क्रम ही इतिहास के निर्माण के प्रमुख तत्त्व हैं।

(२) उत्पादन की दूसरी विशेषता यह है कि इसके परिवर्तन और उन्नति उत्पादक शक्तियों—उत्पादन यन्त्रादि—के परिवर्तन पर निर्भर है। उत्पादन शक्ति वह क्रान्तिकारी रूपरेखा है जो उत्पादन द्वारा इतिहास परिवर्तित कर सकती है। सर्वप्रथम समाज में उत्पादन शक्ति का परिवर्तन होता है, यह मनुष्य के आर्थिक जीवन को बदलता है। उत्पादन शक्तियों और उत्पादन में गहन सम्बन्ध होता है, यदि उत्पादन, उत्पादन शक्तियों से पिछड़ जाता है, तो उत्पादन व्यवस्था को संकट का सामना करना पड़ता है। (उत्पादन शक्ति के ह्रास की यह अवस्था पूंजीवाद में आ जाती है।) इसके परिणामस्वरूप आर्थिक संकट सामाजिक क्रान्ति लाता है।

संक्षेप में प्राचीन काल से ही इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि उत्पत्ति के साधनों के विकास के परिणामस्वरूप ही जीवन यापन में परिवर्तन होता है। मानव जाति के प्रारम्भिक काल में (हाब्स, लॉक, रूसो की प्राकृतिक अवस्था) सभ्यता, संस्कृति विहीन अवस्था में मनुष्य की प्रथम आवश्यकता भोजन थी, जिसे प्राप्त करने के लिये पशुओं की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर, शिकार की खोज में वह भटकता रहता था। इस समय पत्थर के साधारण औजारों का प्रयोग किया जाता था लेकिन जैसे ही पत्थर के स्थान पर लोह आदि धातुओं के औजारों का निर्माण हुआ, गुफाओं के स्थान पर मकान या झोपड़ी, भ्रमणशील जीवन के स्थान पर एक स्थान पर निवास, और पशु शिकार के स्थान पर कृषि प्रारम्भ हुई। काष्ठ-कला, मिट्टी आदि बर्तन और खिलौने हाथ से बनने लगे। धीरे-धीरे हाथ के निर्माण के स्थान पर मशीनें आ गईं। यह परिवर्तन इतिहास में परिवर्तन का प्रमुख और एक मात्र आधार है।

मार्क्स ने इतिहास को, उत्पादन साधनों आदि के परिवर्तन के आधार पर पाँच भागों में विभाजित किया :—

(१) प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism)—आदिम साम्यवाद वह अवस्था थी जिसमें मनुष्य एकाकी जीवन व्यतीत करता था और अपने भरण-पोषण के लिये अकेला प्रयत्न करता था। वह पशुओं के शिकार के लिये भटकता रहता था। पशुओं के शिकार के लिये पत्थरों के औजार प्रयोग में लाये जाते थे, इन पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिपत्य नहीं था। समाज के सभी व्यक्ति इन औजारों आदि पर सामूहिक एकाधिपत्य रखते थे। प्रारम्भ में प्रस्तर औजार, तदुपरान्त तीर कमान ही उसके यन्त्र थे। जंगली पशुओं से अपनी रक्षा करने, गुफाओं को रहने योग्य बनाने के लिये वह उनका प्रयोग करता था। धीरे-धीरे उन्होंने सहयोगी जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया क्योंकि अकेले वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ था और भोजन प्राप्त करने में भी कठिनाई होती थी। इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र था, समाज था किसी प्रकार का वर्ग भेद और शोषण नहीं था सामूहिक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जो भोग्य पदार्थ उपलब्ध हो जाते थे, उन्हें वे आपस में मिल-बाँटकर खा लेते थे।

(२) दास अवस्था (Slave Stage)—इस अवस्था मे उत्पादन यन्त्रो में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और फलस्वरूप समाज व्यवस्था मे भी परिवर्तन हो गया। अभी तक समाज मे वर्ग भेद नही था। लेकिन उत्पादन यन्त्रो के परिवर्तन ने समाज का पूर्ण परिवर्तन कर दिया। पत्थर के यन्त्रो का स्थान लोहे आदि धातुओ के यन्त्रो ने ले लिया। अब तक पशु हत्या की जाती थी, लेकिन दूसरी अवस्था मे पशु पालन, उनके लिए चारागाह, कला तथा कृषि आदि प्रारम्भ हुई। इस समय समाज मे *दो वर्ग बन गए, प्रथम वे व्यक्ति जो पशु पालन, कृषि, कला आदि द्वारा उत्पादन* करते थे। दूसरे उत्पादन यन्त्रो, पशुओ और दासो के स्वामी, जो प्रत्येक कार्य दासों से कराते थे, उनका दास के ऊपर पूरा स्वामित्व होता था, उन्हे वह पशुओ के समान बेच सकते थे, उनका वध भी कर सकते थे। इनके पास धन होता था जिसके द्वारा वह बहुसख्यक व्यक्तियो को अपना दास बना लेते थे। पूर्व के सामूहिक स्वामित्व एव श्रम का स्थान, व्यक्तिगत स्वामित्व और बाध्य श्रम ने ले लिया। समाज मे स्पष्टत धनी-निर्धन का भेद, शोषक और शोषित का अन्तर, अधिकार युक्त और अधिकार विहीन कौमो का वर्ग सामने आया, जिसमे अपने हितो के लिये परस्पर सघर्ष होता रहता था।

(३) *सामन्त अवस्था* (Feudal Stage)—*दास अवस्था के बाद सामन्त* अवस्था आई, इसमे उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन हुआ। सामन्त उत्पादन के साधनो का स्वामित्व करते थे, लेकिन उत्पादन किया मे इन दासो के शरीर पर उनका पहले जैसा आधिपत्य नही रहा। वे उन्हे खरीद या बेच सकते थे, परन्तु उसका वध नही कर सकते थे। इस अवस्था मे उत्पादन के साधनो का विकास हुआ, लोहे के *करघे, हल, आदि ने कृषि, पशु पालन, कला-कौशल आदि को विकसित किया। श्रमिक* के उत्पादन मे उत्साह दिखाये बिना कार्य ठीक प्रकार से नही हो सकता था। दास उत्पादन मे दिलचस्पी नही रख सकता था अत उनके स्थान पर एक नया वर्ग सामने आया जो अपने पशु, यन्त्र आदि के सहयोग से उत्पादन करता था लेकिन उपज का निश्चित भाग वह सामन्त को देते रहते थे। इस अवस्था मे कलाकार या कृषक आदि उत्पादन यन्त्रो का व्यक्तिगत स्वामित्व रखते थे उन पर सामन्तो का दृढ नियन्त्रण रहता था, एक निश्चित रकम उन्हे अदा करनी पडती थी। इस अवस्था मे भी स्थूल रूप मे दो वर्ग थे जिनमे सतत् सघर्ष चलता रहा।

(४) पूंजीवादी अवस्था (Capitalist Stage)—पूंजीवाद उत्पादन पद्धति के परिवर्तन के कारण आया। इस अवस्था मे पूंजीपति और श्रमिक दो वर्ग बन गये। पूंजीपति उत्पादन के साधनो-यन्त्रो पर स्वामित्व रखते थे लेकिन श्रमिको पर उनका स्वामित्व नही रहा। साथ ही साथ श्रमिको का भी यन्त्रो आदि पर स्वामित्व नहीं रहा और वे अपना श्रम बेचकर जीविका प्राप्त करने लगे। औद्योगिक क्रान्ति ने सामन्तवादी अवस्था के उत्पादन यन्त्रो को बदल डाला। भाप शक्ति के आविष्कार *के कारण मनुष्य की शक्ति का स्थान छिन गया,* बड़े-बड़े कारखानों, मिलों आदि का निर्माण हुआ। प्रत्येक व्यक्ति न तो उसका स्वामित्व ही कर सकते थे और न ही उनकी प्रतियोगिता मे गृह उद्योग निर्मित वस्तुओ को ही चला सकते थे। गृह उद्योग आदि के ठप्प हो जाने से पूंजीपति उत्पादन के एकाधिपति बन गये, श्रमिक वैतनिक कर्मचारी। उनके हाथो मे उत्पादन के साधन नही थे, वे क्षुधा से तड़प कर मरने के बजाय श्रम बेचकर पेट भरते थे। *श्रमिको को मशीनो आदि का ज्ञान होना* जरूरी

था। इस अवस्था में विस्तृत पैमाने पर उत्पादन, उनकी कम कीमत, प्रतियोगिता, छोटे पूंजीपतियों का विनाश, सर्वहारा वर्ग की क्रयशक्ति का ह्रास, बेकारी आदि फैलती है। पूंजीवाद में शोषक और शोषित वर्ग में संघर्ष होता है। पूंजीवाद के लोप के लिये उसका विरोध अवश्यम्भावी बन जाता है।

(५) समाजवाद (Socialist Stage)—इस अवस्था में उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व का लोप और उन पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना होगी। पहले से चले आये दो वर्गों का लोप हो जायगा, शोषक और शोषित का भेद मिट जायगा। इस अवस्था में श्रमिक केवल मात्र वेतन भोगी कर्मचारी नहीं, वरन् उत्पादन यन्त्रों के सामूहिक रूप में स्वामी भी होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना पड़ेगा और कार्य तथा शक्ति के आधार पर उत्पादन का वितरण किया जायगा। इस अवस्था में एक वर्ग रह जायगा और फलस्वरूप भविष्य के लिए वर्ग संघर्ष नहीं होंगे। प्रत्येक श्रमिक परस्पर सहयोग के आधार पर निर्माण करेंगे। यह अवस्था रूस, चीन आदि देशों में आ चुकी है।

मार्क्स ने समाजवाद के बाद आने वाले युग की भविष्यवाणी भी की। उसने कहा जब समाजवाद पूर्ण परिपक्व हो जायगा, श्रमिक मात्र रह जायेंगे, उस समय राज्य भी स्वतः लुप्त हो जायगा। इस अवस्था में उत्पादन को आवश्यकता के आधार पर वितरित किया जायगा। यह अवस्था अभी सोवियत रूस तथा चीन में भी नहीं आ सकी है।

इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या की उपलब्धियाँ—(१) समाज का इतिहास अर्थव्यवस्था के उत्पादन आदि का इतिहास है। मार्क्स के शब्दों में "सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्टतः सम्बन्धित है। नवीन उत्पादन शक्ति प्राप्त करने में मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया परिवर्तित कर लेता है, और उत्पादन प्रक्रिया एवं अपनी जीविका उत्पादन के ढंग से समस्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाता है। हाथ-मिलों ने आपको सामंतीय समाज दिया, भाप मिलों ने औद्योगिक पूंजीवादी समाज प्रस्तुत किया।"

(२) उत्पादन व्यवस्था गतिशील रहती है और फलस्वरूप समाज के विचार संस्थायें आदि भी परिवर्तित होते हैं। मार्क्स ने इसे निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया "निरन्तर उत्पादन शक्तियों में, सामाजिक सम्बन्धों के ह्रास में, विचारों के निर्माण में, विकास का गति-चक्र चलता रहता है, *गतिशीलता ही अपरिवर्तनीय होती है।*"

(३) प्रत्येक सामाजिक अवस्था में दो वर्ग होते हैं जो एक दूसरे संघर्ष में लगे रहते हैं और संघर्ष के बाद कोई एक दम नया ढाँचा नहीं तैयार हो जाता है, वरन् पूर्व स्थापित ढाँचे में ही परिवर्तन होते रहते हैं।

(४) पूंजीवादी व्यवस्था स्वयं ही इतनी दूषित है कि उसकी विरोधी प्रवृत्तियों के कारण उसके नाश के बीज उसी में निहित है। इस प्रकार मार्क्स ने शोषित, दलित और निराश श्रमिकों को यह चेतना प्रदान की, कि पूंजीवाद अटल पर्वत नहीं वरन् उसका लोप अवश्य ही होगा।

मार्क्स को इसका श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या द्वारा पूंजीवाद के लोप के लिये मार्ग प्रशस्त किया और श्रमिकों के हृदय में

आशा का अंकुर जमाया। इतिहास में परिवर्तन कुछ नियमों के कारण होते हैं। इतिहास को इस प्रकार एक वैज्ञानिक अध्ययन बना दिया।

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या करने के बाद आर्थिक प्रश्नों पर विचार किया। अर्थव्यवस्था के कुछ प्रचलित सिद्धान्तों को पूंजीवाद के दोष और उनके निवारण के लिए अनिवार्य वर्ग संघर्ष को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक भी था। मार्क्स पूंजीवाद और तत्कालीन व्यवस्था के साथ ही उसके विकास की गति का विश्लेषण करना चाहता था। मार्क्स के मूल्य का श्रम सिद्धान्त और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त उसके विचारों का महत्वपूर्ण अनुदान है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त
(Labour Theory of Value)

किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मार्क्स ने सर्वप्रथम यह बताया कि 'धन' और 'वस्तु' क्या होती है ?

धन क्या है ?—पूंजीवाद में धन का अभिप्राय वस्तुओं के संचय से है। कलम, पुस्तक, वस्त्र प्रत्येक वस्तु की संचित राशि धन ही है। पूंजीपति उसका निर्माण एकमात्र अपने प्रयोग के लिए नहीं करता बल्कि वह वस्तुओं को बेचकर धन कमाता है। इस प्रकार मूल्य या धन वस्तुओं के संग्रह का ही दूसरा नाम है।

वस्तु क्या है ?—मार्क्स ने वस्तु की परिभाषा करते हुए बताया कि पूंजीपति अपनी आवश्यकता और अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए जिस पदार्थ का निर्माण कराता है, वह वस्तु (Commodity) कहलाती है। इन वस्तुओं को व्यक्ति की निश्चित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। यह आवश्यकता उसकी उपयोगिता स्पष्ट करती है। व्यक्ति की आवश्यकतायें जीवन संचालित करने तथा उसे विलासमय बनाने सभी प्रकार की होती हैं। अतः हम कह सकते है कि वस्तुएँ व्यक्ति की निश्चित (अच्छी या बुरी कैसी भी) आवश्यकता को पूरा करने के लिए निर्मित पदार्थ होती है।

वस्तु उपयोगिता साध्य होती है। वस्तु की उपयोगिता दो प्रकार की होती है :

(१) आन्तरिक उपयोगिता (Intrinsic value)—जब वस्तु किसी एक निश्चित व्यक्ति की आवश्यकता को पूरी करती हो। उदाहरण के लिए, प्यासे मनुष्य के लिए पानी की उपयोगिता होती है। अथवा बाजार से लिए वस्त्र में से अपनी उपयोगिता के लिए कमीज या पैन्ट तैयार करा लेने पर वे केवल उसी व्यक्ति की आवश्यकता को भली-भाँति पूरा कर सकती हैं जिसके नाम से उन्हें तैयार कराया गया था। अतः हम कह सकते हैं कि आन्तरिक उपयोगिता वस्तु के किसी व्यक्ति विशेष की आवश्यकताओं को पूरा करने को कहते हैं। उसका मूल्य अन्य व्यक्तियों के लिए नगण्य होता है, उसका विक्रय उपयुक्त नहीं होता।

(२) बाह्य उपयोगिता (Exchange value)—वस्तु की दूसरी उपयोगिता को बाह्य उपयोगिता कहते हैं। इस अवस्था में वस्तु किसी एक व्यक्ति की आवश्यकता को ही पूरा नहीं करती बल्कि उससे अनेकों व्यक्तियों की आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं। वस्तु की सामाजिक आवश्यकता पूरी करने की क्षमता उसका आदान-प्रदान क्रय-विक्रय सम्भव करती है। जैसे गेहूं, मेज, पेन, कपड़ा आदि किसी भी व्यक्ति—अ, ब,

स की आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। समाज का कोई भी सदस्य उसे अपने लिए उपयोगी समझ कर क्रय कर सकता है। यह क्रय-विक्रय वस्तु की विनिमय साध्यता बढ़ाता है, विनिमय साध्यता ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है, रुपयों के बदले में हम वस्तु प्राप्त करते हैं।

वस्तु का मूल्य निर्धारण किस प्रकार होता है ?—मार्क्स ने इस प्रश्न का उत्तर पूर्व प्रचलित मान्यताओं के आधार पर दिया। उसने रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धांत का अनुकरण किया और बताया कि वस्तु का मूल्य उसके निर्माण में लगे श्रम द्वारा ही नापा जा सकता है, यह विचार नकारात्मक व्याख्या द्वारा सिद्ध किया। सबसे पहले मार्क्स ने बताया कि वस्तु का रूप रंग, भार अथवा भौतिक आधार उसका मूल्य निर्धारित नहीं करती। साथ ही किसी वस्तु की उपयोगिता भी वस्तु का मूल्य नहीं निर्धारित करती है। मार्क्स ने कहा कि जिस वस्तु की जितनी अधिक उपयोगिता होती है, उतना ही उसका मूल्य अधिक होता है, ऐसा नहीं दिखाई देता। वस्तु का कम या अधिक उपयोगी होना भी उसका मूल्य नहीं बताता। हम यदि भली-भाँति पर्यवेक्षण करें तो हमें दिखाई देता है कि सबसे उपयोगी वस्तु का मूल्य बहुत ही कम होता है। भोजन जीवन की सबसे उपयोगी और अनन्य आवश्यक वस्तु है लेकिन उस पर मनुष्य का व्यय बहुत कम होता है। औसतन मासिक आय का एक चौथाई भोजन पर, शेष वस्त्रों एवं स्वर्ण आभूषणों आदि पर व्यय होता है। फिर ऐसी कौन-सी चीज है जो वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है ? गुण (Quality) भी वस्तु का मूल्य निर्धारित नहीं करता है।

वस्तु का मूल्य निर्धारित करने वाला तत्त्व, गुण, उपयोगिता, रंग या भार नहीं, वरन् मानवीय श्रम है। किसी वस्तु के निर्माण में मनुष्य कितना समय लगाता है, यही एक तत्त्व प्रत्येक वस्तु के निर्माण में सामान्य होता है, जो उसका मूल्य निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, रामू ने एक पेड़ को काटने में जितना श्रम लगाया उसके आधार पर उसने उसकी लकड़ी को बेच दिया। पुनः श्याम ने उस लकड़ी से मेज कुर्सी आदि बनाई, उसने अपने श्रम का मूल्य जोड़कर उन्हें बेचा। समस्त पेड़ के मूल्य से उसकी बनी मेज कुर्सी आदि का मूल्य अधिक था। यह अधिकता श्रम के आधार पर ही बढ़ी, लकड़ी तो पेड़ के रूप में पहले ही थी, उस समय उसका उतना मूल्य नहीं था। वृक्ष की प्रथम अवस्था से अन्तिम अवस्था तक मूल्य में चढ़ाव उतार श्रम के कारण हुआ। श्रम की मात्रा में परिवर्तन मूल्य का परिवर्तन तय करता है। एमाइल बर्न्स ने मार्क्स के इन विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है, "यह सामान्य सिद्धान्त निश्चय ही भार, रंग या और कोई भौतिक रूप नहीं और उसकी मानवीय जीवन के लिए उपयोगिता भी नहीं है। प्रत्येक उत्पादन में एक ही सामान्य तत्त्व है, वह है मानवीय श्रम। एक वस्तु का विनिमय मूल्य अधिक होता है यदि उसके निर्माण में अधिक श्रम लगा हो। विनिमय मूल्य 'श्रम के समय' पर निर्धारित होता है।" श्रम ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है।

श्रम का मापदण्ड क्या है ?—यदि एक मनुष्य पेड़ को काटने के बजाय, चढ़ता उतरता ही रहे, जिसमें वह श्रम कर रहा है, क्या यह श्रम पेड़ के मूल्य में कोई परिवर्तन करेगा ? मार्क्स ने इस प्रश्न का हल इस प्रकार बताया। वस्तुयें उत्पादन के बाद जब बाजार में पहुँचती हैं, वहाँ एक व्यक्ति की वस्तु से दूसरे व्यक्तियों की वस्तुओं के साथ उनका स्तर निकालना पड़ता है। यह स्तर निकालने में वस्तु के निर्माण में लगे श्रम के समय को ध्यान में रखना पड़ता है। एक व्यक्ति ने हाथ से

श्रम द्वारा किसी वस्तु का निर्माण १० घण्टे में किया, दूसरा व्यक्ति सामाजिक ज्ञान के उपहार आधुनिक यन्त्रों द्वारा उसे १ घण्टे में बनाकर तैयार करता है। मार्क्स ने कहा कि श्रम का मापदण्ड समाज के विकास-यन्त्रों का आधुनिकतम सुविधा ध्यान में रख कर प्रयोग किया जाता है। केवल उसी श्रम के समय को मूल्य निर्धारण के लिए उपयुक्त ठहराया जाता है जो वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक हो।

इसके अतिरिक्त एक विशेष योग्यता प्राप्त इंजीनियर और एक साधारण मजदूर के श्रम को क्या मूल्य की दृष्टि से बराबर समझा जाय अथवा नहीं? मार्क्स ने कहा कि विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति की शैक्षणिक अवधि तथा अनुभव, उसका उच्च स्तरीय रहन-सहन जिसके बिना वह अपनी योग्यता को नहीं बनाये रख सकता, अधिक श्रम समय लेता है। उदाहरण के लिए, एक आधुनिक विशाल, वैभव युक्त जहाज के निर्माण में इंजीनियर तथा कुशल श्रमिक लगते हैं। उनका श्रम समय केवल कार्य करने का ही समय नहीं वरन् शैक्षिक समय आदि का भी मूल्यांकन किया जाता है। यही कारण है कि साधारण नाव की अपेक्षा जहाज की कीमत अधिक होती है। अतः हम कह सकते हैं कि "विनिमय मूल्य स्तरीय सामाजिक आवश्यक श्रम समय के आधार पर निर्धारित किया जाता है।"

मूल्य निर्धारण के आवश्यक तत्त्व—(१) श्रम-समय, (२) आवश्यक, (३) स्तरीय, (४) सामाजिक ज्ञान आदि हैं। सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी वस्तु के उत्पादन में कितना श्रम-समय लगा, यही वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है।

मूल्य के श्रम सिद्धान्त की समीक्षा—मार्क्स अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये इतना अधिक तत्पर था कि वह पूँजीपतियों के उपेक्षित श्रमिकों के महत्त्व को अत्यधिक बढ़ा देता है। यद्यपि यह सत्य है कि श्रम वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है। मिट्टी भी खोद कर यदि शहरों में ले जाई जाती है तो उसका भी मूल्य हो जाता है। परन्तु क्या श्रम ही एक मात्र मूल्य निर्धारण करने वाला तत्त्व है? मनुष्य अपना श्रम किसी यन्त्रादि कच्चे माल पर ही प्रयोग कर सकता है और तभी जाकर उसका मूल्य बनता है। केवल मात्र सड़क पर दौड़ लगाने या कसरत करते रहने से मूल्य नहीं बनता। अतः यह सत्य है कि मूल्य निर्धारण में निम्न तत्त्व आवश्यक होते हैं—श्रम, कच्चा माल यन्त्र-औजार और पूँजी। लेकिन इस आलोचना की प्रत्यालोचना द्वारा हम कह सकते हैं कि पूँजी, यन्त्र, कच्चा माल आदि भी श्रम की ही देन हैं। श्रम से ही कच्चा माल तैयार होता है, यन्त्र बनते हैं और पूँजीपति उसको एक चोर की भाँति अपने एकाधिपत्य में ले लेता है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Theory of Surplus Value)

मार्क्स ने मूल्य का श्रम सिद्धान्त प्रतिपादित कर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त द्वारा अपने विचारों को आगे बढ़ाया। उसने कहा कि वस्तु की विनिमय साध्यता बढ़ाने के लिये, मनुष्य के श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है जिन्हें उत्पत्ति के साधन (Means of production) कहा जाता है। कपड़ा बुनने के लिये सूत और करघे की आवश्यकता होती है। साधारण रुई की अपेक्षा बुने हुये कपड़े का मूल्य अधिक होता है। पूंजीवाद में उत्पादन के साधन एक वर्ग के स्वामित्व

मे आ जाते है, जिसे पूंजीपतिवर्ग कहते है। यह वर्ग पूर्व की समाज व्यवस्था के वर्गों से भिन्न है। सामन्तवाद मे कृषक आदि जमीन पर अपना स्वामित्व रखते थे और निर्धारित शुल्क प्रदान कर सम्पूर्ण लाभ अपने हित मे प्रयोग करते थे। लेकिन पूंजीवाद मे उत्पादन साधन महगे होने के कारण कुछ धनाढ्य व्यक्तियो के एकाधिपत्य मे आ गये। उन्होंने उन साधनों द्वारा अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। इस लाभार्थ उत्पादन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप दूसरा विशाल जनसमूह उत्पादन साधनो से विहीन हो गया। वे अपने स्वामी के आदेश पर उसके लाभ के लिये उत्पादन करने थे और स्वयं वेतनिक कर्मचारी मात्र थे।

पूंजीपति वर्ग उत्पादन साधनो के स्वामित्व के कारण उत्पादन स्वय के लाभ के लिये कराते है। उत्पादन मे निम्न वस्तुओं आदि पर व्यय होता है—कच्चा माल, यन्त्र तथा श्रमिक का वेतन। पूंजीपति श्रमिक को वेतन मात्र देते है। वस्तु के निर्माण मे जितना व्यय इन मदो पर होता है, वस्तुयें उससे बहुत अधिक मूल्य पर बेची जाती हैं। लागत के मूल्य तथा बिक्री के मूल्य मे जो अन्तर होता है उसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक की मेहनत की कमाई से की गई चोरी है। पूंजीपति लाभ का अधिकाश अपनी जेब के हवाले करते है, मजदूरो को उनके श्रम का उपयुक्त लाभ भी प्राप्त नही होता। उदाहरण के लिये, किसी वस्तु के निर्माण मे कच्चा माल एक रुपये का, यन्त्र आदि का व्यय २ रुपये तथा श्रमिक का वेतन १ रुपया कुल मिलाकर ४ रुपया व्यय हुआ; पूंजीपति उसे १० रुपये मे बेचता है। इस प्रकार वस्तु लागत के मूल्य से ६ रुपया अधिक कीमत पर बेची गई। यह रुपये पूंजीपति अकेले हड़प जाता है और इसके अतिरिक्त मूल्य मे से श्रमिक को कुछ भी नहीं देता। श्रमिक को दिन भर परिश्रम करने के बाद अपनी गुजर बसर करने लायक ही प्राप्त होता है। उसका वेतन तो कुछ घण्टों के परिश्रम मे से ही निकल आता है। उत्पादित सामग्री के मूल्य एव श्रमिक के पारिश्रमिक के विनिमय अन्तर मे शेष जो कुछ भी पूंजीपति अपने हित के लिये बचा रखता है, वह श्रमिक को देने से बचाये गये मूल्य के अलावा कुछ नही होता। यह श्रमिकों के प्रति किया गया अन्याय है, शोषण है, पूंजीवाद इस शोषण पर ही अपनी नीव जमाता चलता है।

पूंजीवाद और वर्ग संघर्ष
(Capitalism and Class Struggles)

उपर्युक्त विचारो के आधार पर मार्क्स ने अपने उद्देश्य की पृष्ठभूमि तैयार की। उसने तत्कालीन समाज व्यवस्था को पूंजीवाद कह कर पुकारा। पूंजीवाद किसे कहते है? इसका अध्ययन करने के लिये पहले पूंजी और पूंजीपति किसे कहते है, जानना आवश्यक है।

पूंजी क्या है?—मार्क्स ने पूंजी का बहुत ही रोचक विश्लेषण किया। मशीन, भवन, कच्चा माल, ईंधन, धन आदि पूंजी है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक मकान पूंजी है या प्रत्येक यन्त्र पूंजी है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने लिये मकान बनवाता है और उसमे रहता है, स्वयं घोड़े की सवारी करता है, स्वय नाव का उपयोग करता है और उससे अतिरिक्त मूल्य नहीं कमाता है तो वह पूंजी नही है।

"सम्पत्ति आर्थिक व्याख्या में तभी पूंजी कहलाती है जब उसका प्रयोग अतिरिक्त मूल्य उपार्जित करने के लिये होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि जब वह मजदूर को नौकर रखने के लिये प्रयोग की जाय जो वस्तुओं का उत्पादन करते हुए अतिरिक्त मूल्य भी अर्जित करे।"

पूंजीपति किसे कहते हैं (Who is capitalist)—पूंजीपति वह व्यक्ति होता है जो *उत्पादन के साधनों का स्वामित्व करता है। कल-कारखाने आदि* उसके हाथ में होते हैं और वह स्वयं उनका उपयोग नहीं करता वरन् हजारों मजदूरों को वहाँ काम देकर उत्पादन कराता है। वह अन्य व्यक्तियों से श्रम करा कर वस्तुओं का उत्पादन करके बाजार में बिकने के लिये भेज देता है, और सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य अकेला हजम कर जाता है।

जिस समाज व्यवस्था में इस प्रकार का एक वर्ग उत्पादन साधनों के स्वामित्व द्वारा उत्पादन व्यवस्था को अपने हाथ में केन्द्रित कर लेता है और उत्पादन अपने निजी लाभ को ध्यान में रख कर करता है, उसे पूंजीवाद कहते हैं। पूंजी का प्राचीन काल में संग्रह प्रत्यक्ष लूट था और *वर्तमान काल में अप्रत्यक्ष लूट बन गया* है। पूंजीपति उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन अधिक करते हैं, जिनमें उन्हें अपने व्यक्तिगत लाभ की आशा अधिक होती है। उत्पादन व्यवस्था समाज के हित के लिये नहीं, *सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं वरन् व्यक्तिगत लाभ कमाने के उद्देश्य* से संचालित की जाती है। पूंजीवाद मानव विकास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करता है परन्तु वह अन्याय पर आधारित होने के कारण हानिकारक है। पूंजीवादी व्यवस्था में कुछ ऐसे आन्तरिक विरोध निहित हैं, जो उसे पतन की ओर ले जा रहे हैं और एक दिन अवश्य ही उसका विनाश कर देंगे।

पूंजीवाद में पहली त्रुटि वर्ग संघर्ष है। मार्क्स ने राजनीति शास्त्र को वर्ग संघर्ष की अनुपम भेंट प्रदान करते हुए कहा, "आज तक स्थापित समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है, स्वतन्त्र एवं दास पेट्रीशियन और प्लेबियन सामन्त और कृषक, *गिल्ड स्वामी व यात्री एक शब्द में शोषक और शोषित निरन्तर एक-दूसरे* का विरोध करते हुए कभी गुप्त, कभी स्पष्टतः युद्ध में रत रहते हैं।" उसने बताया कि समाज उत्पादन व्यवस्था के आधार पर दो भागों में बँट जाता है। प्रथम वर्ग उन व्यक्तियों का होता है जिनके *हाथ में उत्पादन के साधन जमीन कल-कारखाने* आदि होते हैं। यह वर्ग स्वतः अपने हाथों से परिश्रम नहीं करते वरन् अन्य व्यक्तियों से श्रम कराते हैं। उनका शोषण कर अधिकतम मुनाफा अपने निजी हित के लिये संग्रहीत करते हैं। इस वर्ग को मार्क्स उत्पादन साधन युक्त (Have) कह कर पुकारता है। एक दूसरा वर्ग जिसे उत्पादन साधन विहीन (Have not) कहकर पुकारा जाता है, उत्पादन साधनों के स्वामित्व से वंचित होता है। यह वर्ग औद्योगिक क्रांति के बाद बढ़ता चला जाता है और पहले में अधिक विशाल बन जाता है। छोटे-छोटे कुटीर उद्योगवाले कृषक आदि अपना कार्य त्याग कर अपने पेट भरने के लिये अपना श्रम बेचने के लिये तैयार रहते हैं। उत्पादन साधन विहीन 'सर्वहारा' (*Proletarian*) वर्ग *काम करता है, उसके पसीने की कमाई पूंजीपति* के ऐश्वर्य एवं विलासमय जीवन के लिये व्यय की जाती है और श्रमिक का उसके *परिवार की भरण-पोषण की आवश्यकताओं* को पूरा करने के लिये भी पर्याप्त प्राप्त नहीं होता। यह वर्ग शोषित, पीड़ित तथा दासता में बँधा हुआ रहता है। उनका

जीवन श्रम के आधार पर ही चलता है, क्योंकि उत्पादन साधनों के अभाव के कारण वह अन्य कोई कार्य कर ही नहीं सकता। इन दोनों वर्गों के स्वार्थ अलग-अलग हैं, इनके स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। इन दोनों में सतत् संघर्ष चलता रहता है, जिसे मार्क्स ने वर्ग संघर्ष कह कर पुकारा है। इस वर्ग संघर्ष का परिणाम यह है कि पूँजीपति वर्ग का विनाश हो जायगा, कारण वह अत्याचार पर आधारित है, और अन्याय कभी भी स्थाई नहीं होता।

पूंजीवाद इस संघर्ष में घृताग्नि का कार्य करता है। पूँजीवाद में कुछ ऐसे विरोधी तत्व भी हैं जो इस संघर्ष को और अधिक बढ़ावा देकर श्रमिकों को पूंजीपतियों का प्रतिरोध करने के लिये प्रेरित करते हैं। पूंजीपति अधिक से अधिक मुनाफा कमाना चाहते हैं जिसके लिये उन्हें तरह-तरह के उपाय प्रयोग में लाने पड़ते हैं।

(१) पूंजीपति मजदूरों को कम वेतन देना प्रारम्भ करते हैं—श्रमिकों का आधिक्य उन्हें इस बात की प्ररणा देता है कि जो कम से कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाय, नौकरी दी जाय। लाखों की भीड़ में से सबसे अधिक जरूरतमन्द मजदूर अपना श्रम बेचकर कम से कम लेने को तैयार हो जाते हैं। उस वेतन से न तो उसकी स्वयं की और न ही उसके परिवार की आवश्यकतायें पूरी होती हैं, लेकिन फिर भी श्रमिक अपने को बेचने के लिये विवश रहते हैं। पूंजीपति मजदूरों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें कम से कम वेतन देकर अपनी तिजोरियाँ भरते हैं।

(२) मजदूरों की विवशता, उनके काम में घण्टों को बढ़ाकर पूंजीपतियों को अधिक मुनाफा कमाने की प्रेरणा देती है। पूंजीपति काम के घंटों में वृद्धि कर अधिक देर तक किये गये कार्य का वेतन न देकर अपना मुनाफा बढ़ाते जाते हैं।

(३) पूंजीवाद में धन का कुछ हाथों में संचय (Concentration of wealth) इसको और अधिक दूषित कर देता है। पूंजीपति अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिये विशाल पैमाने पर उत्पादन (large scale production) करते हैं। व्यापक स्तर पर उत्पादन करने से उन्हें अधिक लाभ होता है, जिस पूंजीपति के पास जितनी ही अधिक पूंजी होती है, वह उतना ही अधिक उत्पादन कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि छोटे और मध्यवर्गीय पूंजीपति अपनी वस्तुओं को उनके मूल्य में नहीं बेच पाते और एक दिन यह आता है कि उनकी प्रतियोगिता में पराजय होती है, उनका मिल आदि बिक जाता है, और कुछ दो-चार बड़े-बड़े पूंजीपति उसे खरीद लेते हैं। धन इस तरह कुछ गिने हुए व्यक्तियों के हाथों में संचित हो जाता है। मध्यम वर्ग भी निम्न वर्गीय श्रमिकों में मिल जाता है और श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है।

(४) पूंजीपति यन्त्रीकरण के द्वारा पचासों मजदूरों का कार्य एक बटन दबा कर एक मजदूर द्वारा ही कराते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि समाज में भयंकर रूप से बेरोजगारी फैलती है। बेरोजगारी किसी भी समाज का अभिशाप है जो बेरोजगारी को समाज-व्यवस्था बदलने के लिये विवश कर देती है।

(४) पूंजीवाद उत्पादन और वितरण में सन्तुलन रखने में असमर्थ रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों की क्रय शक्ति का ह्रास हो जाता है। पूंजीपति अधिक से अधिक धन अपने हाथों में केन्द्रित कर लेते हैं और श्रमिकों को

वेतन भी कम देते हैं। श्रमिक को वस्तुएं लागत मूल्य पर नहीं प्राप्त होती। उसे भी अतिरिक्त मूल्य देना पड़ता है। आमदनी कम होने के कारण क्रय-शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसके फलस्वरूप पूंजीपति बिलखते हुए परिवारों को वस्तुयें प्रदान करने के स्थान पर उन्हें समुद्र में डुबा कर या जलाकर नष्ट कर देते हैं।

बर्न्स ने इसका चित्रण निम्न शब्दों से किया कि "गेहूं तथा अन्य उत्पादित सामग्री नष्ट कर दी जाती है और बेरोजगार व्यक्ति और उनके परिवार भूख और बीमारी से पीडित रहते हैं।" आर्थिक मन्दी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में अक्सर १५-२० वर्ष बाद आती रहती है।

(६) पूंजीवाद साम्राज्य एवं विश्वयुद्ध का पोषक है। जब पूंजीपति अपने देश में कच्चा माल और उत्पादन की खपत की समस्या को नहीं सुलझा पाते, उन्हें अपनी दृष्टि अन्य अविकसित देशों की ओर लगानी पड़ती है। पूंजीवाद साम्राज्य का विस्तार करते हैं, उन्हें कच्चे माल के लिये, तथा तैयार माल के लिए बाजार की आवश्यकता होती है। साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है। बाजार की खोज साम्राज्य का निर्माण करती है। इङ्गलैण्ड का कपड़ा उद्योग बाजार की तलाश के लिये अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा भारत पहुंचा। उसी तरह विश्व के अन्य देश भी अपना साम्राज्य निर्माण करते हैं और विश्व विभिन्न छोटे-बड़े साम्राज्यों में बंट जाता है। लेकिन पुनः ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो जाता है कि साम्राज्य की सीमा बढाने की आवश्यकता दिखाई देती है। एक साम्राज्यवादी देश दूसरे के साम्राज्य को हथियाने के लिये आक्रमण आदि करते हैं। ये आक्रमण विश्व-युद्ध को जन्म देते हैं। युद्ध द्वारा यद्यपि व्यापार आदि को क्षति पहुंचती है। लेकिन वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने का दुष्परिणाम श्रमिकों को भुगतना पड़ता है। श्रमिक पूंजीवाद को अपार कष्टदायक समझते हैं और उससे मुक्त होने के लिए विचार करते हैं। धीरे-धीरे उनका विचार क्रान्ति की ओर उन्मुख होता है और एक दिन श्रमिक क्रान्ति पूंजीवाद के विनाश का बिगुल बजा देती है।

श्रमिक क्रान्ति
(Prolcterian Revolution)

मार्क्स क्रान्ति का पोषक था, अतः उसके दर्शन को क्रान्तिकारी दर्शन कहा जाता है। क्रान्ति क्यों होती है? मार्क्स ने बताया कि उत्पादन प्रक्रिया नित्यप्रति परिवर्तित होती रहती है। नवीन उत्पादन प्रक्रिया समाज व्यवस्था के साथ कदम मिलाकर चलने में असमर्थ रहती है। ऐसी अवस्था में पूर्व के विभिन्न वर्ग एवं नवीन शक्ति मिल कर सत्ताधारी व्यवस्था के प्रति विद्रोह करते हैं। इस प्रकार क्रान्ति नवीन उत्पादन पद्धति के साथ समाज व्यवस्था के परिवर्तित न होने के कारण उत्पन्न गतिरोध के परिणामस्वरूप होती है। उदाहरण के लिए, १७८९ की महान् फ्रांसीसी क्रान्ति उत्पादन व्यवस्था के परिणाम स्वरूप उत्पन्न नवोदित पूंजीपति, सामन्तीय व्यवस्था के कृषक, छोटे-छोटे व्यवसायी, स्वतन्त्र दस्तकार आदि ने मिलकर सामन्त व्यवस्था के प्रति की थी।

इसी प्रकार पूंजीवाद में भी क्रान्ति के बीज छिपे हुए हैं। पूंजीवाद के उप-र्युक्त दोषों के कारण, दलित सर्वहारा वर्ग अपनी बढ़ती हुई संख्या एवं शक्ति (उद्योगों के विकास द्वारा श्रमिकों की संख्या बढ़ती है) को संगठित करने का प्रयत्न करता है।

सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के विनाश के लिये समाजवाद का आकर्षण दिखा कर अपनी शक्ति को दृढ़ करता है। मार्क्स ने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' में संगठन का कार्यक्रम निम्न प्रकार स्पष्ट किया है:—

(१) क्रान्ति का अग्र सरगामी सर्वहारा वर्ग होगा। अन्य वर्गों को क्रान्ति से विशेष प्रेम नहीं होता उन्हें पूंजीवाद से प्रलोभन प्राप्त होते हैं। अतः सर्वहारा वर्ग अपनी शक्ति बढ़ाने तथा सुसंगठित होने के लिए ट्रेड यूनियनों का निर्माण करता है। श्रमिकों को अनुशासित करने के लिए यह यूनियन समय-समय पर उच्च वेतन, कार्य की श्रेष्ठ दशा और न्यूनतम घण्टे आदि की माँग रखकर आन्दोलन करती रहेगी। यह मजदूरों की अन्तिम माँग नहीं होनी वरन् निरन्तर बढ़ती हुई माँग का प्रारम्भिक रूप होती है। श्रमिकों को क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित करने के लिये उन्हें बताया जाता है कि क्रान्ति द्वारा वे अपनी दासता की जंजीरों को खो देंगे। उनके पास खोने के लिए उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः मजदूरो! एकत्र होकर इन दासता की जंजीरों को तोड़ फेंकने के लिये तैयार रहो। दूसरे श्रमिकों को उसने क्रान्ति काल के कष्टों की फिक्र न करने की सलाह दी। उसने कहा कि श्रमिक पूंजीवाद के कष्टों से मुक्त होने के लिये क्रान्तिकालीन कठिनाइयों को हँसते हुये सह लेंगे। उन्हें आगामी कष्ट मुक्त जीवन का आश्वासन तथा सान्त्वना प्रदान करता रहेगा।

(२) श्रमिकों के बाद विद्यार्थियों को क्रान्ति के लिए उकसाया जायगा। युवक रक्त शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता है। उन्हें साम्यवादी दल विद्यार्थी परिषदों, व्याख्यानों आदि के आधार पर क्रान्ति के लिये तैयार करते रहेंगे।

(३) किसी एक देश में क्रान्ति के सफल हो जाने पर साम्यवादी क्रान्ति रुक नहीं जायेगी वरन् एक देश से दूसरे देश और इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व में यह क्रान्ति होती रहेगी। जहाँ क्रान्ति हो चुकी है, वह देश अन्य देशों में क्रान्ति कराने के लिये प्रयत्न करेगा। परतन्त्र देश में स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेकर साम्यवादी दल लोकप्रिय बनेगा, स्वतन्त्र देशों की शासन व्यवस्था को अपने आधिपत्य में लाकर क्रांति की तैयारी की जायेगी।

मार्क्स ने क्रांति को दो भागों में विभाजित किया है : संक्रान्ति काल और उत्तर संक्रान्ति काल।

संक्रान्ति काल (Transitory Period)—श्रमिक क्रान्ति के सफल हो जाने के बाद समाज की व्यवस्था किस प्रकार होगी, इसे मार्क्स ने क्रान्ति के संक्रान्ति काल शीर्षक में वर्णन किया है। क्रान्ति के सफल हो जाने के बाद सम्पूर्ण सत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथों में आ जायेगी। साम्यवादी दल शासन व्यवस्था अधिनायक तन्त्रीय बनायेगा। क्रान्ति इस अवस्था में अपूर्ण रहेगी क्योंकि निरन्तर यह भय बना रहेगा कि पूंजीपति कहीं क्रान्ति को उलट न दें।

इस अवस्था में राज्य का लोप नहीं होगा। राज्य ने अब तक एक वर्ग विशेष की इच्छाओं के आधार पर शासन किया था। पूंजीपति अपने अतुल धन के कारण राज्य सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित रखते थे। राज्य शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने विशेष हितों की सुरक्षा की जाती थी। जैसे ही श्रमिक या अन्य वर्ग पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध हड़ताल आदि करते हैं तो राज्य ने सदैव ही पूंजीपतियों का समर्थन किया और श्रमिकों के प्रति अत्याचार किया। इस प्रकार राज्य संस्था

अन्याय-पोषक, शक्तिशाली की सहयोगिनी है। राज्य ने पुलिस और सैन्य शक्ति द्वारा मजदूरों का दमन किया है। अत श्रमिक क्रान्ति के सफल होते ही श्रमिक राज्य सत्ता पर छा जायेंगे। सर्वहारा वर्ग अपना शासन स्थापित करेगा। यह शासन पूर्व स्थापित शासन से भिन्न होगा, क्योंकि पहले शासन कुछ थोड़े से पूंजीपतियों के लिए किया जाता था और अब इसका उद्देश्य अधिकांश व्यक्तियों की इच्छाओं के अनुकूल कार्य करना होगा। यह 'नवीन और वास्तविक प्रजातन्त्रीय राज्य' होगा। यह जनता की इच्छाओं को अधिनायकत्व द्वारा क्रियान्वित करेगा। प्रतिनिधियों का निर्वाचन केवल मजदूरों द्वारा ही होगा भूतपूर्व पूंजीपति वर्ग को मतदान अथवा निर्वाचन का अधिकार नहीं होगा। प्रतिनिधियों को अनुपयुक्त समझे जाने पर वापिस बुलाने की व्यवस्था होगी। न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट भी निर्वाचित होंगे।

सर्वहारा वर्ग की विजय संघर्ष का अन्त नहीं वरन् परिवर्तन चिन्ह मात्र है। पूंजीपति अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करने के लिये अपनी सम्पत्ति के आधार पर प्रलोभन देंगे तथा अन्य देशों के शासक वर्ग से मिलकर सर्वहारा क्रान्ति को असफल बनाने का प्रयत्न करेंगे। अत दीर्घकाल तक राज्य सत्ता बनी रहेगी और उस पर श्रमिकों का आधिपत्य होगा।

संक्रान्ति काल की विशेषता (Characteristics of Transitory Period)—

(१) श्रमिकों का स्तर ही बदल जायगा। अभी तक वे शासित और शोषित थे, क्रान्ति के बाद शासक बन जायेंगे।

(२) *श्रमिक अधिनायकतन्त्र की स्थापना द्वारा पूंजीवाद के उन्मूलन के प्रयत्न* करेगा। मिल, कल-कारखाने तथा सम्पत्ति का अपहरण करके उसे सर्वहारा वर्ग के हाथों में सौंपा जायगा। श्रमिक अधिनायकतन्त्र सर्वहारा वर्ग के हित के लिए उत्पादन आदि करेगा।

(३) यह क्रान्ति पूर्व की क्रान्तियों से भिन्न होगी, क्योंकि अब तक क्रान्ति ने एक वर्ग का लोप कर दूसरे वर्गों को जन्म दिया था तात्पर्य यह है कि दो वर्ग निरन्तर बने रहे थे, लेकिन यह क्रान्ति वर्ग भेद को मिटाने वाली है। इस अवस्था में वर्ग रहित समाज की स्थापना के लिए सर्वहारा वर्ग प्रयत्न करेगा। कोई किसी के श्रम पर जीवित नहीं रहेगा, श्रम को बेचने और खरीदने वाले नहीं होंगे। एमाइल बर्न्स के अनुसार "जब तक मानव समाज दो वर्गों में विभाजित रहेगा, वर्ग संघर्ष और राज्य बने रहेंगे। लेकिन जैसे ही श्रमिक वर्ग सत्ता अपनाता है, यह वर्ग भेद मिटाने के लिए प्रयत्न करता है, वह एक नवीन उत्पादन प्रक्रिया द्वारा जिसमें कोई भी वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम पर निर्भर नहीं होगा, दूसरे शब्दों में वर्गहीन समाज की स्थापना होगी जिसमें प्रत्येक एक पूर्ण के रूप में समाज की सेवा करेंगे।" ["Class struggle and the state continue through history as long as a human society remains divided into classes. But when the working class takes power, it does so in order to end the class division —to bring a new form of production in which there is no longer any class living on the labour of another class, in other words, to bring about a classless society, in which all serve society as a whole.']

(४) उत्पादन साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज की आवश्यकताओं के अनुसार किया जायगा।

(५) वितरण का सिद्धान्त प्रत्येक को उसके कार्य एवं शक्ति के अनुसार प्राप्त करने का होगा। जो "व्यक्ति जितना कार्य करेगा उसी के अनुपात में उसे प्राप्त होगा।" [From each according to his capacity and each according to his work.] प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से काम करना पड़ेगा। वह व्यक्ति जो कार्य नहीं करेगा खायेगा भी नहीं।

(६) कुछ उद्योगों को उन्मुक्त रखा जायगा।

(७) *यातायात संचार तथा उत्पादन साधनों* को सुधार कर नये-नये उद्योगों के निर्माण द्वारा बेरोजगारी आदि को दूर रखा जायगा। प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन नियोजित (planned production) होगा।

उत्तर संक्रान्ति काल (Post-transitory stage)—उपर्युक्त अवस्था साम्यवाद नहीं समाजवाद है। संक्राति कालीन अवस्था भी स्थाई नहीं रह सकेगी। श्रमिक वर्ग पूंजीवाद का दमन कर अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करेगा। श्रमिक अधिनायकतन्त्र भी अपने विनाश को आमन्त्रित करेगा। राज्य पर से पूंजीवाद के प्रभाव को दूर कर श्रमिक उस पर अपना कब्जा कर लेते है। पूंजीवादी बुराइयो के दूर करने के लिये राज्य का प्रयोग करने के बाद राज्य की आवश्यकता ही नही रह जायगी और राज्य धीरे-धीरे स्वत लोप हो जायेगा। वर्ग हीन समाज इतना अधिक विकसित हो जायगा कि राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह अवस्था अराजकता होगी। साम्यवादियो ने अराजकतावाद को अपना लक्ष्य बना लिया है सार्वजनिक कार्यो के सचालन के लिये समाज ऐच्छिक समुदायो में संगठित होगा। प्रत्येक कार्य करने के लिये ऐसे समुदाय बन जायेंगे जिसमे व्यक्ति स्वेच्छा से भाग लिया करेंगे। ऐच्छिक समुदाय राज्य का स्थान लेंगे।

उत्पादन की वृद्धि और समाज की उन्नति के साथ ही वितरण का नियम भी बदल जायगा। इस अवस्था में "प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं आवश्यकताओं केअनुरूप प्राप्त होगा।" [From each according to his ability to each according to his needs.] आवश्यकताओ के अनुसार प्राप्त होना साम्यवाद का लक्षण है। अतः उत्तर संक्रान्ति कालीन समाज साम्यवादी होगा। इस अवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने एवं उन्नति करने के अवसर सुलभ रहेंगे। उन्हे अपने बाहुबल और मानसिक शक्ति के प्रयोग करने की शिक्षा मिलगी। स्त्री-पुरुष समाज निर्माण के लिए समान इकाई समझे जायेंगे। मिल आदि में नर्सरी (creches) स्थय बनाये जायेंगे। वहाँ माताओ को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जायेगी। सामुदायिक भोजन व्यवस्था, वस्त्र स्वच्छालयों आदि की सुव्यवस्था, घर मे स्त्रियो को कार्य-आधिक्य से मुक्त रखेगी। उनके लिये कार्य करना अनिवार्य नहीं होगा वरन् ऐसी व्यवस्था की जायेगी कि वे सुविधाजनक ढङ्ग से कार्य कर सकें। राष्ट्रीयता, नस्ल आदि पर किसी को ऊँचा-नीचा नहीं समझा जायगा। इस अवस्था मे व्यक्ति को भाषण, विचार, प्रकाशन, आवागमन आदि के पूर्व नियन्त्रित अवसरों से स्वतन्त्रता रहेगी। यह चेष्टा की जायेगी कि निर्वाचन के अतिरिक्त भी प्रजातन्त्र स्थापित हो और अधिक से अधिक व्यक्तियो को जन जीवन (Public life) में प्रवेश कराकर उत्तरदायित्व सौंपा जायगा। इस अवस्था में "व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास होगा, उन्हें प्रत्येक क्षेत्र मे निर्माण और शिक्षा तथा प्रत्येक कार्य की शक्ति होगी।" कार्य का गौरव इतना बढ़ जायगा कि "श्रम जीवन के लिये साधन ही नही वरन् प्रथम आवश्यकता हो जायगा।"

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता कि समाजवाद तथा साम्यवाद में साम्य होने पर भी अन्तर है । रूस और चीन क्रान्ति के प्रथम काल में चल रहे हैं और राज्य अब तक बना हुआ है, उसके लुप्त होने के अवसर नहीं आये हैं । राज्य विहीन-अराजक अवस्था के चिन्ह अभी तक दिखाई नहीं पड़े हैं । ऐच्छिक समुदाय सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था पर नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं । व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार वितरण व्यवस्था अभी नहीं आ सकी है । मार्क्स के दार्शनिक वर्णन की उत्तर क्रान्ति कालीन अवस्था आज भी काल्पनिक बनी हुई है ।

मार्क्स के दर्शन की समीक्षा
(Criticism of Marx)

मार्क्स के दर्शन की सराहना एवं आलोचना दोनों ही की जाती है । आलोचक मार्क्स के दर्शन में निम्न त्रुटियाँ बताते हैं —

(१) दर्शन में विरोधाभास (Contradictions in his Philosophy)—मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या द्वारा यह सिद्ध किया है कि उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन होने पर इतिहास स्वयं परिवर्तित हो जाता है और एक नया युग आता है । दूसरी ओर वह क्रान्ति मार्ग का अवलम्बन लेकर पूंजीवाद का उन्मूलन कर साम्यवाद लाना चाहता है । यहाँ हमें विरोधाभास लक्षित होता है । यदि प्रकृति के गतिमान तत्त्व आर्थिक परिवर्तनों द्वारा स्वतः ही सामाजिक संस्थाओं एवं विचारों को बदल देते हैं और पूंजीवाद के उपरान्त समाजवाद आना स्वाभाविक ही है, तो हिंसात्मक क्रान्ति की क्या आवश्यकता है ?

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि समाज व्यवस्था में स्वतः परिवर्तन होगा और निश्चय ही पूंजीवाद के बाद समाजवाद आयगा, लेकिन इसमें समय लगेगा । और उसकी प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहने से श्रमिकों का ही अहित होगा । पूंजीवाद सामाजिक शरीर रचना में मवाद के समान है जो विलम्ब होने के कारण पूरे शरीर को ही गला सकता है । मवाद रोकने के लिए सड़े हुए अंग का आपरेशन कर देना ही उचित है । अतः पूंजीवाद के मवाद का क्रान्ति रूपी आपरेशन ही ठीक रह जाता है । "समाज के पुनर्जन्म में क्रान्ति रूपी धाय की आवश्यकता होती है ।" मार्क्स के क्रान्तिवादी होने से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह शान्ति प्रिय ढंग से होने वाले स्वाभाविक परिवर्तन का विरोधी है । मार्क्स ने यह स्वीकार करते हुए एक स्थल पर बताया है कि इंगलैण्ड जैसे देश में जहाँ प्रजातन्त्र बहुत विकसित हो चुका है, क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होगी । सम्भव है वहाँ प्रजातन्त्रीय ढंग से साम्यवाद स्थापित करेगी ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति भ्रामक है (International revolution is a fallacy)—क्रान्ति के सन्दर्भ में मार्क्स ने बताया था कि पूंजीवाद जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है तो वह क्रान्ति को आमन्त्रित करता है । सर्वप्रथम औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में क्रान्ति होगी । अन्त में सम्पूर्ण विश्व में क्रान्ति होगी । इस विचारधारा के अनुसार क्रान्ति का प्रारम्भ इंगलैण्ड, फिर अमरीका आदि में होना चाहिये था लेकिन इसके विपरीत क्रान्ति रूस और चीन में हुई जो औद्योगिक विकास में बढ़े हुये नहीं थे । इसके अतिरिक्त आज अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति की कल्पना ही धूमिल हो चुकी है ।

(३) इतिहास की भौतिक व्याख्या अतिशयोक्तिपूर्ण है (Historical Materialism is an exaggeration)—(i) मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या द्वारा उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन को ही इतिहास निर्माण का एकमात्र तत्त्व बताया, यह अतिशयोक्ति है। प्रत्येक परिवर्तन में कोई एक कारण ही कार्य नहीं करता। अनेकों कारणों के योग से एक कारण चिनगारी बन कर आता है और व्यवस्था बदल जाती है। प्रत्येक युद्ध, क्रान्ति या परिवर्तन में अनेकों छोटे-बड़े सामयिक कारण मिल जाते हैं। भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य यदि आर्थिक कारण माना भी जाय तो क्या वह एकमात्र कारण ठहराया जा सकता है। भारत के विच्छिन्न राज्यों की, उनकी फूट को महत्त्व न देना इतिहास की ओर से मुँह मोड़ लेना है। *यह त्रुटि मार्क्स द्वारा ऐतिहासिक परिवर्तनों की यथार्थ व्याख्या न होने के* कारण है।

(ii) इतिहास की भौतिक व्याख्या अपूर्ण है। मार्क्स ने इतिहास के निर्धारण में *उत्पादन प्रक्रिया के परिवर्तन को अत्यधिक महत्त्व देकर अन्य तत्वों की उपेक्षा* की है। संस्कृति सभ्यता, धर्म, कला, विज्ञान, राजनीति, युद्धनीति, आदि अनेकों तत्त्व मिलकर इतिहास के निर्माण में सहायक होते हैं।

(iii) उत्पादन साधनों पर अत्यधिक जोर देकर मार्क्स ने युग निर्माता व्यक्ति की उपेक्षा की है। गौतम बुद्ध का गौरवमय व्यक्तित्व भारत के इतिहास को नई दिशा प्रदान करने में सहायक हुआ था। उसे आर्थिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता है।

(iv) इतिहास की भौतिक व्याख्या मनुष्य की क्रियाशीलता में गतिरोध लाकर उसे भाग्यवादी बना देती है।

(v) इतिहास की भौतिक व्याख्या में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है। परिवर्तन का कारण उत्पादन प्रक्रिया में परिवर्तन है। उत्पादन व्यवस्था सदैव गतिमान रहती है परन्तु अन्तिम अवस्था में पहुँचने के बाद मार्क्स उत्पादन व्यवस्था के स्थिर हो जाने की कल्पना करता है। यह त्रुटि पूर्ण है।

(४) पूँजीवाद का त्रुटिपूर्ण अध्ययन (Misconception in study of capitalism)—(i) पूँजीवाद की व्याख्या करते समय मार्क्स ने बताया था कि पूँजीवाद की एक प्रवृत्ति यह होती है कि धन का केन्द्रीकरण होता जाता है। *मध्यवर्गीय पूँजीपति प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाते और शनैः-शनैः लुप्त हो जाते हैं।* कुछ गिने चुने पूंजीपति ही रह जाते हैं। मार्क्स की यह भविष्यवाणी सत्य न हो सकी। बड़े-बड़े पूँजीपतियों के साथ मध्यम श्रेणी के पूँजीपति भी आज तक बने हुये हैं। उनकी संख्या में भी कोई कमी नहीं हुई।

(ii) मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मजदूरों की स्थिति में दिन प्रति दिन शोचनीय होते जाने की घोषणा की थी। उसने कहा था कि मजदूरों का शोषण जब चरम सीमा तक जा पहुँचेगा, मजदूर क्रान्ति का बिगुल फूँक देंगे। लेकिन मार्क्स का यह विचार भी असत्य सिद्ध हुआ। आज का श्रमिक पहिले की अपेक्षा अधिक सुखी है। उनका वेतन बढ़ता जा रहा है, काम के घण्टे कम हो रहे हैं, सामयिक अवकाश, चिकित्सा, सस्ते मूल्य की वस्तुयें, अनिवार्य बीमा योजना से उन्हें लाभ हो

रहा है। अतिरिक्त मूल्य में से बोनस मिलता है। राज्य एवं पूंजीपति दोनों ही उसके हित का ख्याल करते हैं।

(iii) पूंजीवाद में वर्ग संघर्ष की धारणा भी त्रुटिपूर्ण है। आज वर्ग संघर्ष की अपेक्षा सहयोग अधिक दिखाई देता है। पूंजीवादी देशों में सहकारी संस्थायें (Co-operative Societies) मजदूरों के हित का ख्याल रखती हैं। सहकारी खेती, सहकारी बैंक आदि यह स्पष्ट करते हैं कि वर्ग संघर्ष का स्थान सहकारिता ने ले लिया है।

(५) **मानव प्रकृति के प्रति अज्ञान** (Ignorance of human nature)—मार्क्स ने क्रान्ति के प्रारम्भ से उत्तर संक्रान्तिकाल के पूर्व तक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में राज्य की समस्त शक्तियों को संचित करने का विचार व्यक्त किया है। उसका मत है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व पूंजीवाद का दमन करने के लिये आवश्यक है। वह मनोविज्ञान के कटु सत्य का ज्ञान नहीं रखता था कि क्रान्ति का संचालन करने वाला प्रमुख व्यक्ति ही सर्वहारा वर्ग की समस्त शक्तियाँ अपने हाथों में केन्द्रित करके व्यक्तिगत अधिनायक बन जाता है। रूस में लेनिन, स्टालिन तथा ख्रुश्चेव, चीन में माओ की शक्ति स्पष्ट प्रमाण है। यह अधिनायक सत्ता प्राप्त करते ही अन्य अधिनायकों के समान भ्रष्ट हो जाते हैं, क्योंकि सत्ता का केन्द्रीयकरण मनुष्यों को भ्रष्ट बना देता है। वेपर के अनुसार "उसकी रचनाओं में यह कहीं भी अनुभव नहीं किया गया कि मनुष्य शक्ति की आकांक्षा अपने गर्व तथा आत्म-सम्मान को सन्तुष्ट करने के लिये करते हैं और कुछ मनुष्य के लिये शक्ति ही स्वयं अपने आप में एक साध्य बन जाती है।

(६) **राज्य के प्रति गलत दृष्टिकोण** (Wrong attiude towards the state)—मार्क्स राज्य को पूंजीपतियों का हिमायती, शोषण में सहायता पहुँचाने वाला मानता है। यही कारण है जिससे राज्य के लुप्त हो जाने की अवस्था को उसने आदर्श बना रखा है। मार्क्स का राज्य के प्रति यह दृष्टिकोण अनुचित है। अरस्तू के अनुसार राज्य मनुष्य की आवश्यताओं की पूर्ति के लिये विकसित हुआ है, और अच्छे जीवन के लिये उसका होना अनिवार्य है। दूसरे, राज्य ने ही शोषण को रोकने के लिये भाँति-भाँति के नियम बनाये हैं। यही कारण है कि आज तक राज्य बना हुआ है।

मार्क्स के विचारों की आलोचना से अधिक सराहना हुई है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त—इतिहास की भौतिक व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पूंजीवाद का विश्लेषण तथा वर्ग संघर्ष आदि अद्वितीय भेंट हैं। इनके माध्यम से उसे अपना उद्देश्य सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ। शोषित श्रमिक को भविष्य का दिवा स्वप्न दिखाकर, कष्टों से मुक्त होने का विश्वास दिलाते समय वह मुक्ति का मसीहा बन गया। मजदूरों की पराधीनता का अस्थाई स्वरूप एक ही झटके से छिन्न-भिन्न हो सकता है, पूंजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि तीव्र विरोध होने पर भी आज सम्पूर्ण विश्व की एक तिहाई जनसंख्या उसकी भक्त बन चुकी है। रूस, चीन, रूमानिया, बल्गेरिया, युगोस्लेविया, चेकोस्लोवाकिया उसके अनुयायी हैं तथा संक्रान्तिकाल में से गुजर रहे हैं।

सहायक पुस्तकें

K. Marx	Das Capital,
	Cammunist Manifesto
,,	
E. Burns	What is Marxism.
Lenin	Karl Marx.
Lenin	Marx Engles Marxism
C. I. Wayper	Political Thought
Joad C . E. M	Modern Political Theory
Cocker	Recent Political Theory
Sabine	A History of Political Thought
S. Communis & R. Linscatt	Poltical Philosophers (Edited).
Gupta & Chaturvedi	पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास.
Ganesh Pd.	आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएं.
Varma S. C.	पाश्चात्य राज दर्शन.

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करिये।

२ "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्स की राजनीति शास्त्र को नूतन भेंट थी।" इस कथन पर विचार करते हुए मार्क्स के राजनीतिक विचारों पर इसका प्रभाव बताइये।

३. मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की विस्तार पूर्वक व्याख्या करिये।

४. "धर्म को अस्वीकृत कर मार्क्सवाद आज के युग में नवीन धर्म के समान बन गया है।" इस मत से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

५. मार्क्सवाद से आप क्या समझते हैं ? क्या मार्क्स के विचार वर्तमान परिस्थितियों के लिये उपयुक्त हैं ? स्पष्ट कीजिये।

६. निस्सन्देह मार्क्स के विचारों का निर्माण करने वाले तत्व विविध स्रोतों से प्राप्त होते हैं। 'उसने अनेक स्थानों से ईंटें एकत्रित कीं लेकिन उनका प्रयोग अपनी इच्छा से किया।' व्याख्या कीजिये।

७. मार्क्सवादी समाज और राज्य की कल्पना का वर्णन करिये।

८. कार्ल मार्क्स का राज्य दर्शन को क्या अनुदान है ?

अध्याय ११

थामस हिल ग्रीन
(T H. Green)
[१८३६ से १८८२]

"Even the most powerful and the most despotic Government cannot hold a society together by sheer force, to that extent there was a limited truth in the old belief that Governments are produced by consent " —*Sabine G H.*

आदर्शवाद (Idealism) राजनीतिक विचारो मे दर्शन के चेतनाद्वैतवाद से प्रभावित यह विचारधारा है जिसे विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। विद्वान एवं आलोचक इसे 'राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त', 'राज्य का निरपेक्ष सिद्धान्त', 'राज्य का *आध्यात्मिक सिद्धान्त' या 'राज्य का रहस्यवादी सिद्धान्त' आदि नामो से पुकारते हैं।* इस विचारधारा का मूल मन्तव्य यह है कि राज्य मानवीय आत्मा या चेतना का ही स्वरूप है। राज्य व्यक्ति के लिये अनिवार्य और नैतिक सस्था है जो पूर्ण होने के साथ *ही आदर्श भी है। इसी विचारधारा के ज्ञान की परम्परा मे प्लेटो, अरस्तू, काण्ट और* हीगल के बाद ग्रीन का नाम आता है।

जीवन परिचय एव कृतित्व
(Life Sketch and Writings)

ग्रीन सन् १८३६ मे इंगलैण्ड के यार्कशायर नगर मे पैदा हुआ था। वह बाल्यावस्था से ही मेधावी छात्र था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की और अपनी कुशाग्रबुद्धि तथा प्रतिभा के कारण वही दर्शन के प्राध्यापक के रूप मे २२ वर्ष तक, अपनी मृत्यु पर्यन्त कार्य किया। सामान्यत: दार्शनिक सक्रिय राजनीति मे भाग नही लेते हैं लेकिन ग्रीन एक व्यावहारिक राजनीतिक दार्शनिक था। वह नगर के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे रुचि पूर्वक योग देता था। उसने मद्यनिषेध को सफल बनाने के लिये 'काफी हाउस' की स्थापना की। वह शिक्षा के राजकीय आयोग का दस वर्ष तक असिस्टेंट कमिश्नर रहा। अपना सम्पूर्ण *समय और धन देकर* लडको के ऑक्सफोर्ड हाई स्कूल की स्थापना की। वह नगरपालिका का कई वर्षों तक सदस्य रहा। उसकी प्रशसनीय सेवायें ऑक्सफोर्ड के नागरिक जीवन मे अनुकरणीय *उदाहरण बन गई। १८८२ मे ४६ वर्ष की अल्पायु मे ही इंगलैण्ड का व्याव*हारिक राजनीतिक दार्शनिक आदर्शवाद को प्रख्यात् विचारधारा प्रदान कर इस संसार से विदा हो गया।

ग्रीन ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के व्याख्याता पद से राजनीतिक समस्याओं के समाधान में व्याख्यान दिये, उनका संग्रह 'राजनीतिक कर्त्तव्य के सिद्धान्त पर व्याख्यान' (Lectures on Principles of Political Obligation) शीर्षक से मृत्यु उपरान्त प्रकाशित हुआ। एक अन्य रचना 'उदार विधि एवं स्वतन्त्र समझौता' (Liberal Legislation and Freedom of Contract) भी प्रकाशित हुई। इनमें उसके 'लिबरल एसोशियेसन' द्वारा संगठित व्याख्यान माला के अन्तर्गत अभिव्यक्त अंतिम विचार संग्रहीत हैं।

ग्रीन पर प्रभाव
(Influence on Green)

ग्रीन का अध्ययन क्षेत्र व्यापक था। उसकी कृतियों में विभिन्न विद्वानों के विचारों की छाप स्पष्ट अंकित है। वह जिस परम्परा से प्रभावित होता है उसके दो परस्पर विरोधी विचारों को अंगीकार करने का उसका ढंग आश्चर्यजनक है। ग्रीन पर निम्न विचारकों का प्रभाव पड़ा—

(१) यूनानी प्रभाव (Greek Influence)—यूनान के राजदर्शन के जाज्वल्यमान नक्षत्र प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं—'रिपब्लिक', 'पॉलिटिक्स' तथा 'एथिक्स' को ग्रीन के विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त था। निश्चय ही इंगलैण्ड के आदर्शवादी विचारकों विशेषतः ग्रीन पर उनका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। ग्रीन ने 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, राज्य एक प्राकृतिक संस्था है,' आदि सिद्धान्तों को अपने विचारों का आधार बनाया है। प्लेटो और अरस्तू में ग्रीन पर अरस्तू का प्रभाव अधिक था।

(२) रूसो का प्रभाव (Influence of Rousseau)—ग्रीन रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से भी प्रभावित था। 'राज्य शक्ति नहीं, इच्छा का प्रतीक है,' इसके स्पष्टीकरण का नैतिक आधार उसे रूसो तथा अन्य अनुबन्धवादी विचारों में प्राप्त हुआ था।

(३) जर्मन दार्शनिकों का प्रभाव *(Influence of German idealists)*—काण्ट तथा हीगल के आदर्शवाद ने भी ग्रीन को प्रभावित किया। बार्कर के अनुसार "यथार्थ में राज्य के दार्शनिक विचार, जिसका ग्रीन और बोसांके प्रतिपादित करते हैं, १८वीं शती के अन्त और १९वी शती के प्रारम्भ में जर्मनी में प्रतिपादित विचारों की व्याख्या, स्पष्टीकरण, विस्तार और संशोधन मात्र ही है।" हीगल के 'ब्रह्म' (divine-spirit), शाश्वत चेतना' (eternal consciousness), 'समस्त संस्थाओं की ब्रह्ममयता', 'राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का पदार्पण ही है; राज्य अधिकारों का एक मात्र स्रोत है' आदि विचारों को काण्ट के प्रभाव में स्वीकार करते हुये ग्रीन ने हीगलवादी राज्य के निरंकुश सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। इसीलिये यह कहा जाता है कि ग्रीन ने हीगल के सिद्धान्तों को काण्ट के शब्दों में प्रगट किया।

(४) परम्परा विरोधी प्रभाव (Non conformists influence)—ग्रीन पर परम्परा विरोधी विचार धाराओं का भी प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता और नैतिकता सम्बन्धी विचार इन्हीं की उपज थे।

राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है
(Will not Force is the Basis of State)

सामान्यतः यह समझा जाता है कि राज्य का आधार शक्ति है। सेना, पुलिस उसके प्रतीक हैं। राज्य के दण्ड का पालन लोग शक्तिमय से करते हैं। ग्रीन ने सर्व प्रथम इस विचार का विधिवत् एवं तार्किक खण्डन किया और बताया कि राज्य का आधार शक्ति नहीं, अपितु इच्छा है बार्कर ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं, अधिकार राज्य की माँग करते हैं।" बार्कर के इस वक्तव्य को ध्यान में रखते हुये यदि राज्य के आधार की खोज करें, तो यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य का आधार इच्छा ही है।

मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है
(Human Consciousness Postulates Liberty)

मानव चेतनायुक्त प्राण है। उसकी चेतना शक्ति निरन्तर श्रेष्ठ जीवन की खोज में रत रहती है। श्रेष्ठ जीवन पूर्णता प्राप्त करने का दूसरा नाम है जो व्यक्ति को निरन्तर विकास की ओर उन्मुख करता है। मनुष्य चेतना शक्ति के कारण बाह्य के स्थान पर आन्तरिक मूल्य को महत्त्व देता है। आन्तरिक मूल्य आत्मिक या नैतिक होते हैं। क्या नैतिक है, क्या अनैतिक इसका ज्ञान व्यक्ति को तभी होता है जब वह निरन्तर 'भली इच्छा' के आदेश का पालन करता चला जाय। यह भली इच्छा व्यक्ति को 'नैतिक आदेश' (moral imperative) देती है; जैसे 'सत्य बोलो', 'कभी भी निर्बलों पर अत्याचार न करो', 'असहायों की सदैव सहायता करो' आदि यह 'भली इच्छा' एक व्यक्ति को ही नहीं, मानव मात्र को सदैव नैतिक आदेशों के पालन करने की प्रेरणा देती है। सम्पूर्ण मानव समुदाय की इच्छा को, मानव चेतना का योग या शाश्वत चेतना (eternal consciousness) कहते हैं। शाश्वत चेतना के आदेश नैतिक आदेशों का सामूहिक योग होने के कारण सर्वमान्य होते हैं। इन सर्वमान्य शाश्वत चेतना के आदेशों का पालन करते रहने से व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर लेता है। परन्तु मानव-चेतना के आदेशों का पालन बाह्य परिस्थितियों के दबाव के *कारण नहीं कर पाते हैं। बाह्य परिस्थितियाँ उन्हें विवश कर देती हैं, उदाहरणार्थ,* एक मनुष्य यदि मन्दिर में ईश्वरोपासना करने की नैतिक आज्ञा का, जो स्वयं उसकी ही नैतिक चेतना की आज्ञा है, पालन करना चाहता है, एक दूसरा धर्मावलम्बी अपनी पाशविक शक्ति द्वारा उसे मन्दिर में जाने से रोकता है और इस प्रकार उसकी चेतना के मार्ग को अवरुद्ध करता है। फलस्वरूप मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता। यही कारण है कि ग्रीन के विचारों में स्वतन्त्रता मानव-चेतना द्वारा अपेक्षित बताई गई है।

स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है
(Liberty Involves Rights)

ग्रीन के विचारों का विश्लेषण करते समय हमने देखा कि मानव-चेतना *स्वतन्त्रता चाहती है और स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं।* पूर्णता प्राप्त करने के लिये मनुष्य अपनी चेतना या आत्मा की 'भली इच्छा' के नैतिक आदेशों का पालन

करना चाहता है जिसमे यदा-कदा दो प्रकार की बाधायें आ जाती हैं। एक आन्तरिक या नैतिक बाधायें—यह आत्मा की वासना जनित इच्छा होती हैं जो श्रेष्ठ जीवन को अपना लक्ष्य बनाने के स्थान पर विकृत हो जाने के कारण भ्रष्ट और पतित जीवन की ओर ले जाती हैं। यह आन्तरिक या नैतिक बाधायें होती हैं, जिनका अध्ययन नीतिशास्त्र (Ethics) मे किया जाता है। दूसरी बाह्य या परिस्थितियों की बाधायें होती हैं जो व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग मे बाधक होती हैं। इन बाह्य परिस्थितियों से यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय तो वह अपनी चेतना (आत्मा) के नैतिक आदेशो का पालन ठीक प्रकार से कर सकेगा। इसीलिये ग्रीन के अनुसार यह कहा गया है कि मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती हैं। यह स्वतन्त्रता बाह्य होने के कारण राजनीतिक होती है जिसे राज्य के नियन्त्रण मे प्राप्त किया जाता है।

स्वतन्त्रता
(Liberty)

ग्रीन के मानव चेतना सम्बन्धी विचार नैतिक तथा आध्यात्मिक थे। स्वतन्त्रता के विचार राजनीतिक होने के कारण हमारे अध्ययन का विषय हैं। अतः ग्रीन से पूर्व स्वतन्त्रता की धारणा क्या थी, ग्रीन ने उन्हें किस प्रकार अपने विचारो के साँचे मे ढाला, यह जानना हमारा ध्येय है।

ग्रीन मे पूर्व स्वतन्त्रता की व्याख्या काण्ट और हीगल द्वारा की जा चुकी थी। काण्ट ने स्वतन्त्रता को स्वयं निर्मित सर्वमान्य कर्त्तव्यों का पालन ही बताया। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के सर्वमान्य आदेशों का पालन करते हुये अपने आप को साध्य बना लेना चाहिए। हीगल इस व्याख्या को नकारात्मक, सीमित तथा आत्मगत मानता था क्योंकि इसमें कर्त्तव्य भाव था और बिना कर्त्तव्य पालन किये हुये व्यक्ति को स्वतन्त्रता नही प्राप्त हो सकती थी, यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप मे साध्य बना देने के कारण सीमित हैं, यह चेतना मे निहित होने के कारण आत्मगत थी। हीगल ने स्वतन्त्रता को सकारात्मक तथा बाह्य बताया जिसे राज्य मे रह कर राज्य के स्वरूप में पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। "ग्रीन ने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का प्रारम्भ काण्ट के स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के सिद्धान्त से किया। वह सदैव उसी से चिपटा रहा और इसी मे अन्त हुआ।' ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार काण्ट तथा हीगल के मध्य में स्थित हैं।

स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुये सामान्यजन उसके विकृत स्वरूप की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता मनमानी करने की छूट होती है। जिस समय उनकी इच्छा जो कुछ करना चाहे, उनको करने देने की अनुमति ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता की यह व्याख्या व्यक्ति को तुच्छ आत्म-तोष की ओर भी आकर्षित कर सकती है और ऐसी स्थिति में वह उच्छृंखल हो जाता है। मनमानी करने की भूखी छूट समाज के वातावरण को नारकीय बना सकती है, मनुष्य के अस्तित्व को ही संकटापन्न अवस्था की ओर ढकेल सकती है या मनुष्य के पूर्णता प्राप्त करने के स्वप्न को खंडित कर सकती है। अतः स्वतन्त्रता मनमानी करने की छूट या बन्धनों का अभाव न होकर सकारात्मक होती है।

ग्रीन ने स्वतन्त्रता की सकारात्मक व्याख्या करते हुये बताया कि मानव चेतना 'भली इच्छा' के आदेशो का पालन करने की स्वतन्त्रता चाहती है। "स्वतन्त्रता कार्य या आनन्द प्राप्त करने की वह शक्ति है जिसे व्यक्ति को करना या आनन्द प्राप्त करना चाहिये।" अतएव निश्चय ही स्वतन्त्रता ऐसे कार्यों के करने का अवसर प्रदान करने वाली वह क्षमता है जो पूर्णता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को करने चाहिये। यह व्यक्ति को जुआरी और शराबी बनने का अवसर देने के लिये नहीं वरन् उन्हे भली इच्छाओ के आदेशो का पालन करने के लिये दी गई है। बार्कर ने ग्रीन द्वारा अभिव्यक्त इस स्वतन्त्रता की दो विशेषतायें बताई हैं—

१. सकारात्मक स्वतन्त्रता (Positive Liberty)—सर्वप्रथम स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है। यह व्यक्ति को इस बात का अवसर प्रदान करती है कि वह कुछ कार्य कर सके। इसका यह अभिप्राय कदापि नही होता कि व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपने लिये कुछ करा कर कार्य कर सके।

२ निश्चयात्मक स्वतन्त्रता (Determinate Liberty)—स्वतन्त्रता कुछ कार्य करने के अवसर प्रदान करती है। इन कार्यों का स्वरूप निश्चयात्मक होता है। 'कुछ कार्य' का अभिप्राय यह नहीं होता कि व्यक्ति अच्छे-बुरे प्रत्येक कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है। व्यक्ति निश्चित प्रकार के कार्य ही कर सकता है। यह केवल उन्ही कार्यों के करने की छूट होती है जो करने योग्य होते हैं। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की छूट नही दी जा सकती। पूर्णता प्राप्त करने के लिये किये जाने योग्य कार्य करने की स्वतन्त्रता ही यथार्थ मे स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता की यह भावना स्वय अधिकार युक्त होती है। एक व्यक्ति जिस कार्य को अपने लिये अच्छा समझता है, अन्य मनुष्य भी उसे अपनी पूर्णता के लिये उपयोगी समझते हैं और सम्पूर्ण समाज ही उन्हें अपने विकास मे सहायक समझने लगता है, जिसका परिणाम यह होता है कि सामाजिकता की भावना उदित होती है। "एक व्यक्ति का अपनी भलाई की कामना के साथ अन्य व्यक्तियो की भलाई की कामना करना, समाज की भलाई की इच्छा होती है। ऐसा सम्बन्ध समाज की रचना करता है जिसका अर्थ, अधिकार होता है।" अत यह स्पष्ट हुआ कि स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित है।

अधिकार राज्य की माँग करते हैं
(Rights Demand the State)

अधिकार की ग्रीन प्रदत्त व्याख्या, अधिकारो के सभी तत्वो से पूर्ण होने के कारण एक उपयुक्त परिभाषा है। ग्रीन ने मानव चेतना को स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता को अधिकारो का प्रणेता बताया। एक व्यक्ति की चेतना के समान समाज के सभी व्यक्तियो की चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। जब किसी विषय पर एक व्यक्ति अपने विकास या अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिये उचित वातावरण या बाह्य परिस्थितियो की आवश्यकता अनुभव करता है, तो वह समाज के अन्य व्यक्तियो से *बाह्य परिस्थितियो के अवसर की माँग करता है। उसका यह दावा अन्य व्यक्तियों* द्वारा उसी समय स्वीकार किया जाता है जब अन्य मनुष्य उसे अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूरा करने के लिये आवश्यक समझते हैं। इस क्रम मे प्रत्येक व्यक्ति एक माँग का दावा प्रस्तुत करता है तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति उसे समान रूप से साम-

दायक समझने के कारण स्वीकार कर लेता है। एक व्यक्ति की माँग की अन्य व्यक्तियों द्वारा स्वीकृति ही अधिकारों की आधारशिला है। उदाहरण के लिये, यदि एक व्यक्ति यह माँग करता है कि उसे अपने भरण-पोषण की उचित व्यवस्था करने के लिये जीविकोपार्जन का अवसर प्राप्त हो, तो अन्य व्यक्तियों द्वारा उसकी माँग को स्वीकृति प्रदान हो जाने पर वह उस व्यक्ति का अधिकार हो जाता है। यदि समाज इस माँग को अस्वीकार कर देता है तो वह उसी प्रकार मूल्यहीन हो जाती है जिस प्रकार एक डाकू की धन अपहरण करने की माँग सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अधिकार नहीं बन पाती। समाज द्वारा व्यक्ति की माँग को मान्यता प्रदान करने के बाद उसे क्रियान्वित कराने वाली एक शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति 'राज्य' होती है जिसका अस्तित्व ही अधिकारों की रक्षा करने के लिये होता है। अतः बार्कर का वक्तव्य चरितार्थ होता है कि "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है और अधिकार राज्य की माँग करते है।" तदनुसार राज्य शक्ति के विपरीत इच्छा पर आधारित है।

अधिकार के तत्व—ग्रीन ने अधिकार की परिभाषा करते समय उनके निम्न तत्वों पर प्रकाश डाला है—

(i) **व्यक्ति की माँग**—अधिकार का सूत्रपात व्यक्ति की माँग से होता है। व्यक्ति अपने विकास के लिये कुछ माँग या दावे (Claims) प्रस्तुत करता है।

(ii) **सामाजिक स्वीकृति**—व्यक्ति की माँग का सामाजिक स्वीकृति (Social recognition) से पूर्व कोई महत्त्व नहीं होता। जब तक समाज दावे को उचित नहीं ठहराता, वह दावा निरर्थक होता है।

(iii) **सर्वकल्याण की भावना**—व्यक्ति की माँग एक ओर अपने कल्याण को सामने रखते हुये की जाती है, दूसरी ओर समाज उस माँग को स्वीकार ही इस लिये करता है क्योंकि वह अन्य सभी व्यक्तियों के लिये भी समान रूप से कल्याणकारी होती है।

(iv) **राज्य की मान्यता**—व्यक्ति की माँग, सामाजिक स्वीकृति होने पर, सर्वकल्याण की भावना युक्त होने पर भी राज्य के बिना सारहीन होती है। मनुष्य आवेश, क्रोध और स्वार्थ में आकर अपनी ही माँग पर कुठाराघात कर बैठता है। राज्य उसे अपनी शक्ति द्वारा ऐसा करने से रोकता है। अधिकार राज्य के बिना क्रियान्वित नहीं किये जा सकते।

संक्षेप में, अधिकार व्यक्ति की उन्नतिशील जीवन की अभिलाषा युक्त वह माँग होती है जिन्हें समाज समान रूप से सर्व कल्याणप्रद समझते हुये स्वीकार करता है और राज्य अपनी शक्ति के द्वारा उन्हें क्रियान्वित करने का आश्वासन देता है।

प्राकृतिक एवं वैध अधिकार (Natural and Legal rights)—ग्रीन ने प्राकृतिक तथा वैध अधिकारों में स्पष्ट अन्तर कर के फैले हुए भ्रम का निवारण किया। उसने प्राकृतिक अधिकार की प्रचलित अनुबन्धवादी (हॉब्स, लॉक तथा रूसो) परम्परा का खंडन किया। इन विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के समझौता सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह बताया था कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की प्राकृतिक अवस्था (State of nature) में व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे, अतः

प्राकृतिक अधिकार राज्य से पूर्व की अवस्था से चले आने वाले अधिकारों को कहते हैं। ग्रीन को इस कथन में असंगति का आभास हुआ। उसने कहा कि राज्य एवं समाज से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व कदापि सम्भव नहीं। एक व्यक्ति की माँग का उस समय तक कोई मूल्य नहीं हो सकता जब तक अन्य व्यक्ति एक सुश्लिष्ट समाज के रूप में उसका औचित्य स्वीकार न कर ले तथा राज्य उसे क्रियान्वित कराने का आश्वासन न दे दे। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक इकाई के रूप में अकेला रहता था, सामाजिक जीवन और राज्य की रचना नहीं थी परिणाम स्वरूप तथाकथित प्राकृतिक अधिकार भी नहीं थे।

ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार की व्याख्या स्वाभाविक अधिकार के रूप में की। उसने कहा कि व्यक्ति एक विकासशील प्राणी है। प्रत्येक व्यक्ति को चेतना-युक्त प्राणी होने के कारण ऐसे अधिकारों की आवश्यकता होती है जो मनुष्य होने के नाते उनके विकास के लिये स्वाभाविक एवं आवश्यक होते हैं। यदि अधिकारों को मनुष्यों को प्रदान नहीं किया जाय तो निश्चय ही उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जायगा। अतः हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के नैतिक और विवेक सम्पन्न प्राणी होने के कारण विकास की स्वाभाविक परिस्थितियाँ होने हैं। उदाहरण के लिए, जीवन रक्षा का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है क्योंकि यदि नागरिकों को अपने जीवन की सुरक्षा के प्रति सदैव आशंका ही बनी रहेगी तो वे *न तो सम्पत्ति संग्रह की ओर ध्यान देंगे और न ही अपना बौद्धिक विकास करना* चाहेंगे।

अधिकारों की व्याख्या करते समय ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों का स्पष्टीकरण व्यक्ति की उस माँग के रूप में किया जिसे अन्य व्यक्तियों ने (समाज ने) सामूहिक कल्याण की दृष्टि से स्वीकार कर लिया हो। जब समाज के द्वारा किसी माँग को स्वीकृति प्रदान की जाती है तो वह प्राकृतिक अधिकार कहलाती है। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष की सामाजिक चेतना आज रोजगार के अधिकार (Right to employment) को स्वीकार करती है। लेकिन राज्य आज तक इस अधिकार को मान्यता प्रदान करने में असमर्थ है। हम कह सकते है कि भारतीय रोजगार के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार के रूप में प्राप्त करते हैं, वैधानिक अधिकार के *रूप में नहीं। इसके विपरीत रूस में व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करने की माँग को* सामाजिक स्वीकृति एवं राज्य का संरक्षण प्राप्त है, अतएव वहाँ यह वैधानिक अधिकार है। हम कह सकते है कि रोजगार का अधिकार हमारे देश में प्राकृतिक अधिकार है क्योंकि केवल समाज ने ही उसे स्वीकार किया है, राज्य ने नहीं। रूस में राज्य के संरक्षण के कारण वह वैधानिक अधिकार है।

प्राकृतिक अधिकार वैधानिक अधिकारों की भाँति दण्डनीय नहीं होते— उपर्युक्त आधार पर प्राकृतिक तथा वैधानिक अधिकारों में एक अन्तर यह किया जाता है कि प्राकृतिक अधिकार का उल्लंघन न्यायालय में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता और दंडनीय नहीं होता। वैधानिक अधिकार का उल्लंघन न्यायिक निरीक्षण (Judicial review) के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है और दोषी ठहराये जाने वाले व्यक्ति या संस्था को दण्डित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, समाज यह स्वीकार करता है कि भारतवर्ष में नागरिकों को कार्य करने और जीविकोपार्जन का अधिकार मिलना चाहिये लेकिन विधान द्वारा स्वीकृत न होने के कारण व्यक्ति

न्यायालय में इस अधिकार की माँग नहीं कर सकता। विधान उल्लिखित भाषण या आवागमन की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप न्यायालय द्वारा सुना जा सकता है और दोषी व्यक्ति को दण्ड दिया जा सकता है।

प्राकृतिक अधिकार वैधानिक अधिकारों की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं— ग्रीन ने प्राकृतिक तथा वैधानिक अधिकारों को आदर्श तथा यथार्थ अधिकार की संज्ञा दी है। आदर्श अधिकार से उसका अभिप्राय यह था कि मनुष्य के विकास की पूर्णता जिन परिस्थितियों के उपलब्ध होने से होती है, वे सभी प्राकृतिक या आदर्श अधिकार होते हैं, यह व्यापक होते हैं। राज्य इनमें से कतिपय अधिकारों को संरक्षण प्रदान करता है, यह यथार्थ या वैधानिक अधिकार कहलाते हैं। बार्कर ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुये बताया है कि "यह आदर्श या प्राकृतिक यथार्थ या वैधानिक अधिकारों की अपेक्षा व्यापक तथा गूढ़ होते हैं, जो (यथार्थ अधिकार) किसी राज्य विशेष द्वारा किसी समय पर, आंशिक तथा अपूर्ण रूप में, प्राकृतिक अधिकारों में से ग्रहण किये जाते हैं।" यथार्थ अधिकार सीमित होते हैं तथा आदर्श अधिकार उनका लक्ष्य एवं प्रेरणास्रोत होते हैं।

वैधानिक अधिकारों का सम्बन्ध कानून से है और प्राकृतिक कानूनों का नैतिकता से। प्रो० बार्कर ने ग्रीन के स्वाभाविक अधिकार का एक और गुण बताया है। इन अधिकारों का सम्बन्ध कानून की अपेक्षा नैतिकता से अधिक होता है। व्यक्ति अपनी नैतिक चेतना के आदेशों का पालन करते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकता है। सामाजिक नैतिक चेतना इसे मान्यता प्रदान करती है। इस प्रकार एक व्यक्ति की नैतिक चेतना अन्य व्यक्तियों (समाज) की नैतिक चेतना द्वारा मान्य होने पर प्राकृतिक अधिकार बनती है। "(प्राकृतिक) अधिकार नैतिकता से सम्बन्धित होते हैं क्योंकि वे नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति की शर्तें हैं, जिन्हें नैतिक चेतना अपनी ही आत्मतृप्ति का साधन समझने के कारण स्वीकार करती है।" वैधानिक अधिकार सदैव नैतिक नहीं होते। प्राचीन काल में दासता को राज्य का संरक्षण प्राप्त था लेकिन दासता कभी भी नैतिक नहीं ठहराई जा सकती। दक्षिणी अफ्रीका में आज तक रंग भेद को कानूनी मान्यता प्राप्त है लेकिन विश्व का जनमत इसे अनैतिक समझता है। संक्षेप में प्राकृतिक अधिकार नैतिक होते हैं, वैधानिक अधिकार अनैतिक भी हो सकते हैं।

प्राकृतिक अधिकार स्वेच्छा पर अवलम्बित हैं और वैधानिक अधिकार राज्य शक्ति पर— प्राकृतिक तथा वैधानिक अधिकार में उपर्युक्त आधार पर यह अन्तर किया जा सकता है कि नैतिक होने के कारण प्राकृतिक या स्वाभाविक अधिकार स्वेच्छा पर निर्भर होते हैं। उनका पालन कठोरतापूर्वक नहीं कराया जा सकता। वैधानिक अधिकार, राज्य, शक्ति भय से पालन करा सकता है। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति किसी धार्मिक विचार का पालन अपनी स्वेच्छा से करता है। यह उसकी नैतिक विचारधारा है। राज्य दण्ड भय से उसे मन्दिर या मस्जिद पहुँचा सकता है लेकिन उसे आराधना करने के लिये विवश नहीं कर सकता। नैतिकता आन्तरिक होती है, राज्य की पहुँच बाह्य परिस्थितियों तक ही होने के कारण उन्हें प्रभावित नहीं किया जा सकता।

अन्त में आदर्श अधिकार उन्नति के प्रत्येक क्षेत्र तक व्यापक होने के कारण वैधानिक अधिकार का सृजन स्थल है। जब जन सामान्य किसी आदर्श अधिकार

को अत्यधिक महत्त्व देना प्रारम्भ करते हैं और राज्य भी उसे अपने संरक्षण में लेना आवश्यक समझता है, तो वह वैधानिक अधिकार बन जाता है। प्राकृतिक अधिकार के वैधानिक अधिकार बनने की सम्भावना रहती है।

संक्षेप में मानव चेतना अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्णता प्राप्त करना चाहती है जिसे स्वतन्त्रता द्वारा प्राप्त कर सकती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है। व्यक्ति की माँग द्वारा सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होने पर अधिकार वैयक्तिक विकास की अनिवार्य परिस्थिति के कारण, प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त होने पर वैधानिक अधिकार का स्तर प्राप्त हो जाता है। राज्य इन अधिकारों को क्रियान्वित करता है। एक शृंखला के रूप में राज्य का आधार मानव चेतना (इच्छा) ही है।

सम्प्रभुता एवं सामान्य इच्छा
(Sovereignty and General Will)

राज्य अधिकारों को क्रियान्वित कराने वाली सर्वोच्च संस्था है। यह सर्वोच्च सत्ता राज्य का एक ऐसा गुण है जो राज्य और अन्य समुदायों का अन्तर स्पष्ट करता है। राजनीतिशास्त्रियों ने इसे सम्प्रभुता कह कर पुकारा है। ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की व्याख्या की थी। रूसो ने सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' में बताया था। ऑस्टिन ने उसके विपरीत 'किसी निश्चित मानव श्रेष्ठ' के रूप में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति की थी। ग्रीन ने कहा कि यह दोनों विचार सम्प्रभुता की पूर्ण धारणा को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों को स्वीकार करती है और इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिये एक सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न राज्य का निर्माण होता है। अतः राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अभिव्यक्ति करने वाली सामान्य इच्छा द्वारा होता है हम कह सकते है कि राज्य इच्छा पर आधारित है।

प्रत्येक शासन—प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र, निरंकुश तथा अधिनायकतन्त्र—इच्छा पर आधारित होता है। प्रजातन्त्र में तो यह स्पष्ट दिखाई देता ही है, लेकिन अन्य शासन प्रणालियों में जिन्हें शक्ति पर आधारित समझते हैं, वह भी ऊपर से ही शक्ति पर आधारित दिखाई देते हैं वास्तव में उनका आधार भी इच्छा ही होती है। निरंकुशतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र भी उसी समय तक सर्वोच्च शक्ति का उपभोग कर सकते हैं जब तक उन्हें सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त होता है। लुई चौदहवाँ अपने को ही राज्य कहता था। हिटलर तथा मुसोलिनी ने भी सामान्य इच्छा के बूते पर सम्प्रभुता प्राप्त की थी। पाकिस्तान के राष्ट्रपति फील्ड मार्शल अयूब खाँ ने भूतपूर्व राष्ट्रपति इसकन्दर मिर्जा की सरकार का तख्ता उलटते समय यही दुहाई दी थी कि सामान्य इच्छा वर्तमान शासन को बदल कर सैनिक अधिनायकतन्त्र का स्थापना करना चाहती है इसीलिए उन्हें यह कदम उठाना पड़ा।

व्यक्ति राजाज्ञा का पालन क्यों करते हैं? शक्ति से भयभीत होकर या सामान्य हित की आकांक्षा से? व्यक्ति राजाज्ञा का पालन सामान्य हित की आकांक्षा से ही करते हैं। राज्य की उत्पत्ति ही इस लिए हुई है कि वह अधिकारों का उल्लंघन करने वालों को अपनी सम्प्रभु शक्ति द्वारा रोके। अतएव सामान्य इच्छा ने ही राज्य को अधिकारों का उल्लंघन करने से रोकने के लिये शक्ति का प्रयोग करने की

अनुमति दी है। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता उसका पालन इसलिए नहीं करती है कि उसे उल्लंघन करने पर दण्ड प्राप्त होने का भय होता है वरन् वह यह जानती है कि राज्य एवं उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित हैं। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है।

राज्य शक्ति नहीं, इच्छा पर आधारित है इसका मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण ग्रीन की विशेषता है। अपराध करने पर राज्यआरक्षी अपराधी को पकड़ कर न्यायालय में प्रस्तुत करती है, न्यायाधीश उसे अपराधी सिद्ध होने पर दण्ड देते है। दण्ड के शक्ति एवं भयावह स्वरूप के कारण यह कहा जाता है कि राज्य शक्ति पर आधारित है और शक्ति के बल पर अपने आदेशों का पालन कराता है। ग्रीन ने इसका विश्लेषण करते हुए बताया कि अपराधी को दिया गया दण्ड स्वयं उसी की नैतिक चेतना पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए 'अ' ने चोरी की। 'अ' को न्यायालय ने दण्ड दिया। इस समय अपने स्वार्थ एवं वासनात्मक इच्छाओं के प्रधान होने के कारण 'अ' दण्ड को शक्ति पर आधारित समझता है। किन्तु यदि 'अ' का ही धन चोरी चला जाय, तो शीघ्र ही उसकी नैतिक चेतना अपराधी को दण्ड दिये जाने की इच्छा करती है इसका अभिप्राय हुआ अपराधी की स्वयं की नैतिक चेतना भी दण्ड का औचित्य स्वीकार करती है। इसीलिये ग्रीन यह कहता है कि अपराधी को दिया गया दण्ड स्वयं उसी की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि राज्य सामान्य हित की पूर्ति के लिए सामान्य नैतिक चेतना, जिसे सामान्य इच्छा कहते हैं, जो सामान्य होते हुये भी सम्प्रभु होती है, द्वारा अभिव्यक्त होता है। समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों की नैतिक चेतना का समूहीकरण सर्वोच्च होता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं इच्छा का प्रतीक है।

राज्य के कार्य
(Functions of the State)

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें प्रचलित थी। औद्योगिक क्रान्ति के समय की व्यक्तिवादी विचारधारा, जिसके समर्थक राज्य के कार्यों को न्यूनतम करते हुये, केवल आन्तरिक व्यवस्था तथा आक्रमण से रक्षा के कार्य तक सीमित रखना चाहते थे, दूसरी समाजवादी विचारधारा थी, जिसमें राज्य को व्यक्ति के जीवन के अधिकतम क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए, बताया जाता था। ग्रीन ने राज्य के कार्यों को व्यक्तिवादी व्यवस्था को ग्रहण किया। उसके विचारों में व्यक्तिवाद एवं आदर्शवाद का अनूठा मिश्रण पाया जाता है। इसीलिये उसे 'व्यक्तिवादी आदर्शवाद' का प्रणेता कह कर पुकारा जाता है।

ग्रीन ने राज्य के कार्यक्षेत्र का वर्णन काण्ट की विचारधारा से प्रभावित हो कर किया। उसने बताया कि राज्य का कार्य सकारात्मक के स्थान पर नकारात्मक है। इससे यह अभिप्राय है कि ग्रीन ने राज्य के कार्यों की विवेचना करते समय यह नहीं कहा कि राज्य को अमुक कार्य करना चाहिये, वरन् उसने बताया कि राज्य को अमुक-अमुक कार्य नहीं करना चाहिये।

ग्रीन ने राज्य कार्यों को सोद्देश्य नकारात्मक (Negative) बताया। उसने कहा कि मानव जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। यह पूर्णता बाह्य भौतिक उन्नति के स्थान पर नैतिक विकास द्वारा प्राप्त की जाती है। नैतिकता का क्षेत्र आन्तरिक होता है जिसमें अन्य शक्तियाँ हस्तक्षेप नहीं कर सकती, केवल व्यक्ति को स्वयं ही उसके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। राज्य की रचना नैतिक जीवन की उन्नति के लिये बाह्य परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिये हुई है। *यही कारण* है कि राज्य नैतिक जीवन की आन्तरिक उन्नति के स्थान पर बाह्य परिस्थितियों को सुलभ बनाने का कार्य करता है।

राज्य के नकारात्मक कार्यों का वर्णन ग्रीन ने अच्छे जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं के मार्ग में बाधा खड़ी कर मार्ग प्रशस्त करना बताया है। राज्य निम्न नकारात्मक कार्य द्वारा व्यक्ति को भला जीवन व्यतीत करा सकता है—

१ नैतिक जीवन में हस्तक्षेप हीनता (No interference in moral life)—राज्य को व्यक्ति के नैतिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राज्य के कार्य करने का ढंग शक्ति का प्रयोग होता है। शक्ति व्यक्ति को बाह्य कार्य करने के लिए विवश कर सकती है, आन्तरिक कार्य सदैव स्वेच्छा प्रेरित होते हैं। राज्य व्यक्ति को कार्य करने के लिये विवश कर सकता है लेकिन कर्तव्य भावना का सचार नहीं कर सकता। एक धर्मावलम्बी को किसी दूसरे धर्म के आराधना स्थल तक पहुँचाना राज्य की सामर्थ्य है, क्योंकि यह एक बाह्य कार्य है, लेकिन आराधना स्थल पर जाकर उसी धर्म के आराध्य देवों की ओर ध्यान लगाना पूरी तरह वैयक्तिक प्रश्न है जिसे व्यक्ति की नैतिक चेतना स्वयं ही अंगीकार करने या न करने के लिये स्वतन्त्र है। राज्य आराधना का नाटक कराने की शक्ति रखता है, आराधना कराने की नहीं। यहाँ हम राज्य को ऐसे पिता के रूप में देखते हैं जो पुत्र को विद्यालय जाने के लिये विवश कर सकता है, *कक्षा में बैठकर अध्ययन करने के लिये नहीं।* शक्ति के दबाव में पुत्र कक्षा में जा बैठता है और वहाँ पढ़ने के बजाय चित्रपट या अन्य क्रीडाओं का ही चिन्तन करता रहे, उसे वास्तव में अपना ध्यान शिक्षा की ओर केन्द्रित करने के लिये नहीं दबाया जा सकता। यही कारण है कि ग्रीन ने राज्य के कार्यों को नकारात्मक बताया है। वह कहता है कि राज्य व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता लेकिन परोक्ष रूप में नैतिक बनने के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान कर सकता है, भले जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं के मार्ग में बाधक बन कर व्यक्ति को अच्छे जीवन की ओर अग्रसर होने का अवसर प्रदान कर सकता है। ग्रीन के अनुसार "राज्य को प्रभाव युक्त कार्य'''' ''''बाधाओं के निराकरण में दिखाई देता है'''' *शासन का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों की व्यवस्था करना है, जिनमें* नैतिकता सम्भव हो सके, और नैतिकता स्वयं निर्मित आकांक्षाविहीन कार्यों में निहित होती है।'

राज्य का दण्ड सिद्धान्त (Theory of Punishment : Negative functions of the state)—राज्य दण्ड क्यों देता है ? क्या दण्ड द्वारा क्षति पूर्ति की जा सकती है ? या दण्ड अपराधी का सुधार करता है ? इन प्रश्नों पर ग्रीन ने अत्यन्त उपयोगी विचार प्रदान किये, जिन्हें एक ओर आदर्शवादी विचारधारा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ, दूसरी ओर राज्य के कार्यों का नकारात्मक स्वरूप स्पष्ट हुआ।

दण्ड निश्चय ही किसी भी व्यक्ति को किसी अपराध के कारण दिये जाते हैं अतः सबसे पहले अपराध किसे कहते हैं, इसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

अपराध किसे कहते हैं ?—मनुष्य अपने नैतिक विकास की आकांक्षा से सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। सामाजिक जीवन में उसकी नैतिक चेतना स्वतन्त्रता एवं प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करती है। वासनात्मक इच्छा इस सामाजिक अवस्था को अस्त-व्यस्त करने का प्रयत्न है। उदाहरण के लिये, एक चोर वासनात्मक इच्छा के अधीन होकर सम्पत्ति जो सामाजिक संस्था है को अपहृत करने का प्रयत्न करता है। यह क्रिया सामाजिक जीवन में बाधक होती है। ग्रीन इसे अपराध की संज्ञा देकर समाज और राज्य निर्मित अवस्था को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा बताता है।

दण्ड, सामाजिक अवस्था के मार्ग में बाधक प्रयत्नों के लिये दिया जाता है। राजनीतिशास्त्रियों एवं विधानशास्त्रियों ने दण्ड के उद्देश्य एवं स्वरूप पर चिन्तन करने के बाद दण्ड के निम्न प्रमुख सिद्धान्त बताये

(i) दण्ड का प्रतिशोध सिद्धान्त (Retributive theory of punishment)—यह न्याय की प्राचीनतम परम्परा पर आधारित है। प्राचीन काल में जब दण्ड के स्वरूप आदि का विधिवत् ज्ञान नहीं था, अपराधी को अपराध के दण्ड से ही दण्डित किया जाता था। यह समझा जाता था कि यदि कोई आँख फोड़ता है तो उसकी भी आँख, दाँत तोड़ता है तो दाँत, पैर तोड़ने पर पैर और हाथ तोड़ने पर हाथ तोड़ देना चाहिये। ग्रीन को यह सिद्धान्त इन कारणों से अनुपयुक्त लगा—

(अ) यह बदले की भावना पर आधारित होने के कारण मनुष्यों के लिये उचित नहीं।

(आ) अपराध से उत्पन्न हानि की नाप-तोल करना कठिन है। जैसे एक सितारवादक की उँगलियों की हानि तथा एक क्लर्क की उँगलियों की हानि की तुलनात्मक नाप-तोल करना कठिन है।

(इ) प्रतिकार अपराध से भी भयंकर हो जाता है। उदाहरण के लिये, किसी व्यक्ति की शारीरिक चोट से एक छिलामात्र रक्त बह गया हो तो अपराधी के शरीर से भी उतना ही खून बहाना है और एक बूँद खून भी नहीं बहेगा, यह करना कठिन है।

(ई) भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किया गया अपराध अलग-अलग श्रेणियों में नहीं रखा जाता। जैसे आत्मरक्षा के लिये डाकू की पीठ पर गोली चलाना, हत्या के इरादे से बन्दूक भर कर ले जाना और हत्या करना दो भिन्न परिस्थितियों में किये गये अपराध हैं, लेकिन प्रतिशोध सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं किया जाता।

(उ) अपराध, दण्ड और उसकी पीड़ा में यदि अनुपात रखते हुए दण्ड दिया जायगा तो यह न्याय 'व्यवस्था को जटिल बनाने के साथ ही न्याय की भावना को भी समाप्त कर देगा।

(ii) दण्ड का निवारक सिद्धान्त (Deterrent theory of punishment)—दण्ड का यह सिद्धान्त अपराधी को उदाहरण बनाकर समाज के सम्मुख खड़ा कर देता है जिससे अन्य नागरिक अपराध की ओर उन्मुख होने से पूर्व ही अपनी प्रवृत्ति त्याग दें।

एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों को शिक्षा का साधन बना दिया जाता है और अन्य लोग यह जानकर भयभीत हो जाते हैं कि अमुक अपराध करने पर कठोर दंड की व्यवस्था है, इसलिये वे अपराध न करें। ग्रीन ने इस सिद्धान्त को भी निम्न कारणों से अनुपयुक्त बताया —

(अ) समाज को अपराधों की ओर प्रवृत्त होने से रोकने के लिये एक मनुष्य को उदाहरण बना कर कठोर दंड दिये जाते हैं। यह उस व्यक्ति के जीवन से खिलवाड़ करना है।

(आ) यह एक व्यक्ति को साधन बना देता है।

(इ) इसमें न्याय की अपेक्षा कम रहती है, क्योंकि अच्छा उदाहरण बनाने की चेष्टा में अपराध की प्रकृति के विपरीत कठिन दंड दिया जाता है। उदाहरण के लिये, एक भूखे व्यक्ति को रोटी चुराने के अभियोग में हाथ काटने या मृत्यु दंड की व्यवस्था में न्याय का गला घुट जाता है।

(iii) **दंड का सुधारक सिद्धान्त** (Reformative theory of punishment)—इस सिद्धान्त की धारणा यह है कि अपराधी को इस प्रकार दंड दिया जाय, जिससे उसके हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि जल उठे और वह अपराध करने से विमुख हो जाय। यह दंड अपराधी को जेल भेजने के स्थान पर सुधार गृह पहुँचाता है। वहाँ अपराध वृत्ति को मानसिक रोग समझ कर उसकी चिकित्सा की जाती है तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने के उपदेश दिये जाते हैं। ग्रीन को न्याय की इस व्यवस्था से भी सन्तोष नहीं था और इसी कारण उसे दंड के इस सिद्धान्त में निम्न दोष दिखाई दिये —

(अ) सर्वप्रथम दंड का सुधारक सिद्धान्त दंड की मौलिक विशेषता का हनन कर देता।

(आ) दंड का एक पहलू यह होना है कि व्यक्ति वैसा ही अपराध करने की प्रेरणा न लें, लेकिन सुधार सिद्धान्त अपराधियों को सुधार गृह के सुख और सुविधा का आकर्षण देकर अपराध प्रवृति को बढ़ावा देता है।

(इ) यह सिद्धान्त अपराधियों का नैतिक सुधार करने का पक्षपाती है, लेकिन दंड कभी भी प्रत्यक्ष रूप में नैतिक सुधार नहीं कर सकता, यह अधिक से अधिक अपराध करने को मुक्त कर सकता।

(ई) नैतिक सुधार का वास्तविक उदय अन्तःकरण से होता है, राज्य का दंड बाह्य सुधार ही कर सकता है। इसलिये दंड का सुधारवादी सिद्धान्त व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता।

ग्रीन ने अपराध तथा दंड के प्रचलित सिद्धान्तों की समीक्षा करने के बाद दंड के सम्बन्ध में अपने विचारों की अभिव्यक्ति राज्य के निषेधात्मक कार्य सिद्धान्त के रूप में की। उसने कहा कि अपराध सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन को विध्वंस करने का प्रयत्न होते हैं। अपराधी शक्ति के प्रयोग द्वारा इच्छा के स्वतन्त्र विचरण में व्यवधान उपस्थित कर देता है। राज्य इच्छा के स्वतन्त्र विचरण तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन में उपस्थित की गई बाधा के मार्ग में एक और बाधा खड़ी कर व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करता है कि वह पुनः अपनी इच्छा को स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्त कर सके तथा सामाजिक परिस्थितियाँ

ज्यों की त्यों बनी रहें ताकि मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने के अपने लक्ष्य पर बढ़ता जा सके। प्रो० बार्कर के अनुसार "व्यवस्था बनाये रखने और बाधायें दूर करने के लिये राज्य को प्रत्यक्ष रूप में परिस्थितियों को विषम बनाने एवं बाधायें खड़ी करने वाले प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करना चाहिये। उसे स्वतन्त्रता में बाधक शक्ति का विरोध शक्ति द्वारा ही करना चाहिये।" स्पष्टीकरण के लिये एक व्याख्या—अर्थात् सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे—प्रस्तुत की जा सकती है। 'क' अपने परिश्रम से कमाई हुई सम्पत्ति का उपभोग सामाजिक विकास की दृष्टि से करता है। वह सदैव भला जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर रहता है।

"अ, ब, स" हिंसात्मक उपायों द्वारा उसका धन लूटने व उसके सामाजिक आर्थिक विकास में बाधा डालने की योजना बनाते है। उनकी यह योजना 'क' के जीवन के मार्ग में बाधक है।

'राज्य' अ, ब, स डाकुओं के जीवित या मृत पकड़े जाने का आदेश देता है। सशस्त्र पुलिस शक्ति का प्रयोग करती है। संघर्ष में कुछ डाकू मारे जाते हैं तथा शेष पकड़े जाते हैं उन्हें न्यायालय दण्ड देता है। राज्य की शक्ति और दण्ड का प्रयोग 'क' के भले जीवन में प्रत्यक्षतः सहायक नहीं होता, वरन् वह उसके भले जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं के मार्ग में बाधक बन जाता है।

प्रो० बार्कर ने इस व्याख्या के कारण दंड का दुहरा प्रभाव बताया है—

(1) प्रत्यक्ष—दंड का प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि इसके द्वारा "अधिकारों का हनन करने वाली शक्ति के प्रति निवारक शक्ति" प्रस्तुत की जाती है।

(ii) अप्रत्यक्ष—दंड चेतना जाग्रत करने के लिये झटके (Shock) का कार्य करता है जिसके फलस्वरूप अपराधी की इच्छा शक्ति का सुधार होता है। अपराधी की चेतना शक्ति की सुषुप्त अवस्था को दंड रूपी झटका देकर पुनः जाग्रत कर दिया जाता है।

ग्रीन का दंड सिद्धान्त राज्य के कार्यों का निषेधात्मक सिद्धान्त ही है। दार्शनिक ग्रीन ने राज्य के कार्य का वर्णन करते हुए यह नहीं कहा कि राज्य को अमुक-अमुक कार्य करना चाहिये वरन् उसने बताया कि स्वतन्त्रता, अधिकार तथा सामाजिक व्यवस्था को असुनुनित करने वाले तत्वों के मार्ग में बाधा बनना राज्य का कार्य है।

३. राज्य के विरोध का अधिकार (Right to resist State)—क्या राज्य का विरोध करना न्यायोचित है? व्यक्ति को किन परिस्थितियों में राजाज्ञा का उल्लंघन या विरोध करने का अधिकार दिया जाना चाहिये? इन प्रश्नों पर ग्रीन ने राज्य के कार्यों की निषेधात्मक व्याख्या के संदर्भ में विचार किया। उसने राज्य का कार्यक्षेत्र निर्धारित करने के स्थान पर यह बताया कि सम्प्रभुता होने पर भी राज्य सत्ता का विरोध किया जा सकता है, अतएव राज्य को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे नागरिक उसका विरोध कर सकें।

सामान्यतः, व्यक्ति को राज्य का विरोध नहीं करना चाहिये, यद्यपि एक अधिकार के रूप में राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करना निम्न कारणों से अनुपयुक्त है—(i) राज्य अधिकारों का स्रोत है। यदि नागरिकों को राज्य के प्रति विरोध करने का अधिकार दिया गया तो यह एक विरोधाभास होगा। (ii)

राज्य का विरोध करने का अधिकार सामान्य हित की धारणा पर कुठाराघात करता है। राजाज्ञा सदैव प्रत्येक व्यक्ति के हित के अनुकूल ही नहीं होती। यदि इस प्रकार का अधिकार व्यक्ति को प्रदान किया गया तो सदैव इस बात का भय रहेगा कि अधिकार के नाम पर एक या कुछ व्यक्ति राज्य की विधि अपने हित के प्रतिकूल होने पर उनका उल्लंघन करेंगे और सुस्थापित सामाजिक जीवन विनाश के कगार पर खड़ा हो जायगा। ग्रीन ने राजाज्ञा का विरोध करने के अधिकार को अस्वीकृत करते हुये कहा कि "किसी विधि की अवज्ञा करने या पालन करने का अधिकार इस आधार पर प्रदान नहीं किया जा सकता कि वह कार्य करने की स्वतन्त्रता या अपने बच्चों के पालन या अपनी इच्छा के कार्य करने में बाधक है।"

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ग्रीन हीगल का अनुयायी है और राज्य के निरंकुश स्वरूप का समर्थक है। वह हीगल से भिन्न व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अवसर प्रदान कर आदर्शवादी विचारकों में अपना अलग स्थान बनाता है। निम्न परिस्थितियों में राजाज्ञा का उल्लंघन या राज्य का विरोध करने की छूट ग्रीन व्यक्ति को देता है— (i) यदि राज्य साधन के स्थान पर साध्य बनने का प्रयत्न करे तो व्यक्ति को राजाज्ञा का उल्लंघन करने में संकोच नहीं करना चाहिए। (ii) राज्य के पथ भ्रष्ट हो जाने पर व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है। राज्य दो प्रकार से अपने कर्तव्य से विमुख हो कर पथ भ्रष्ट हो जाता है—(अ) विधेयात्मक कार्यों द्वारा (Through act of commission)—राज्य कुछ ऐसे कार्य करने लगता है जिन्हें उसे नहीं करना चाहिए। जब राज्य सामान्य हित के विपरीत दमन, अत्याचार, अन्याय और अनैतिक मार्ग का अनुगमन करने लगे, तब नागरिकों को भी उसका विरोध करने में संकोच नहीं करना चाहिए। भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन का उत्तरार्ध ऐसे ही कार्यों से परिपूर्ण होने के कारण नागरिकों ने उसका विरोध किया था। (आ) उपेक्षात्मक कार्यों द्वारा (Through act of omission)—जब राज्य करने योग्य कार्यों की उपेक्षा करे जिससे नागरिकों के विकास में बाधा पड़ती हो, तब राज्य का विरोध करना विहित है। उदाहरण के लिए, आज राज्य को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा, सार्वजनिक वयस्क मताधिकार और जीविकोपार्जन की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। राज्य यदि इन्हें प्रदान करने से विमुख हो तो नागरिक राज्य का विरोध करने के लिए स्वतन्त्र है। इस प्रकार राज्य के विधेयात्मक या उपेक्षात्मक कार्यों द्वारा अपने कर्तव्यपालन से च्युत होने पर ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने की अनुमति देता है।

ग्रीन एक सतर्क, दूरदर्शी दार्शनिक होने के कारण यह भलीभाँति जानता था कि प्रतिबन्धहीन होने पर राज्य का विरोध आत्महत्या के समान होगा। अतः उसने प्रतिबन्धों का एक जाल तैयार किया जिसमें से सफलतापूर्वक निकल आने पर ही व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकेगा—

(i) व्यक्ति को राज्य के किसी अनैतिक कानून विशेष का ही विरोध करना चाहिए, सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था का नहीं। अनैतिक कानून व्यक्ति की नैतिक चेतना के विपरीत होते हैं और उनका विरोध करना स्वाभाविक ही है। महात्मा गाँधी ने भी अंग्रेजी राज्य का विरोध करने के स्थान पर रौलट एक्ट तथा नमक के कानून को ही विरोध के लिये चुना था।

(ii) राज्य का विरोध शान्तिपूर्ण वैधानिक ढंग से ही करना चाहिए क्योंकि हिंसात्मक विरोध विद्रोह या क्रान्ति का स्वरूप ले लेता है। ग्रीन निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थक था। उसके राज्य विरोध सम्बन्धी विचारों का गान्धीजी के ऊपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

(iii) जिस विधि या सत्ता का विरोध करना हो, उसके वैधानिक अस्तित्व पर सन्देह हो।

(iv) राज्य के दूषित स्वरूप के निराकरण के अन्य समस्त उपाय असफल हो गये हैं, और कोई अन्य मार्ग शेष न रहा हो, तभी नागरिक राज्य का विरोध कर सकते हैं।

(v) राज्य व्यवस्था भ्रष्टता की उस सीमा तक जा पहुँची हो कि नागरिक उसके स्थान पर अराजक अव्यवस्था को स्वीकार करने के लिए व्यग्र हो उठे हों।

(vi) व्यक्ति को शान्तिपूर्वक यह मनन कर लेना चाहिए कि जिन सुविधाओं को प्राप्त करने या असुविधाओं से छुटकारा पाने के लिए वे राज्य का विरोध करना चाहते हैं वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके लिए राज्य प्रदत्त वर्तमान सुख-सुविधाओं को न्योछावर किया जा सकता है।

(vii) व्यक्ति को यदि यह विश्वास हो जाय कि राज्य के विरोध करने पर अराजकता नहीं फैलेगी और वांछित हित प्राप्त होगा तो वह विरोध करने के लिए स्वतन्त्र है।

(viii) *अन्त में, जब व्यक्ति यह अनुभव करे कि राज्य का विरोध आवश्यक है तो उसे अपने मन में यह सोचना चाहिए कि राज्य युगों से संचित अनुभव के आधार पर कार्य करता है अतः उसके कार्यों में त्रुटि होने के स्थान पर कहीं अपने ही विचारों में त्रुटि न हो। जब यह स्पष्ट हो जाए कि त्रुटि राज्य के ही कार्यों में है* तो विरोध करने से पूर्व अपने विचारों को लोकप्रिय बनाना चाहिए। अपने विचारों को फैला कर जनमत को अपने पक्ष में करने के बाद विरोध करना चाहिए। गान्धीजी के ऊपर ग्रीन के इन विचारों का प्रभाव पड़ा, उन्होंने अपने प्रत्येक आन्दोलन को संचालित करने से पूर्व अपने विचारों का काफी प्रचार किया और जनता को अपने पक्ष में करने के बाद ही राज्य का विरोध शुरू किया।

ग्रीन के राज्य का विरोध करने के सिद्धान्त में आदर्शवादी विचारधारा का परित्याग स्पष्टांकित है। वह व्यक्ति को विरोध करने का अवसर देता है लेकिन विरोधकर्ता का मार्ग निष्कंटक नहीं छोड़ देता वरन् पर्याप्त सचेत रहने के बाद ही विरोध करने का परामर्श देता है। ग्रीन का यह सिद्धान्त सम्प्रभु राज्य के कार्यों का निषेधात्मक निर्देश करता हुआ उसे ऐसे कार्यों के सम्पादन से पृथक रहने का परामर्श देता है जो उसे करने चाहिएँ और वह नहीं करता, या नहीं करने चाहिएँ और वह करता है।

४. राज्य तथा अन्य समुदायों में सम्बन्ध (Relation of State with other associations)—राज्य के कार्यों की निषेधात्मक व्याख्या के सन्दर्भ में ग्रीन ने राज्य तथा अन्य समुदायों के सम्बन्ध पर विचार करते हुए राज्य की परिभाषा 'समाजों के समाज' (Society of Societies) के रूप में की। यह अभिव्यक्ति इस धारणा पर

आधारित है कि मानव जीवन की विविधागी आवश्यकताओं की पूर्ति अनेकों समुदाय द्वारा होती है। परिवार, चर्च, व्यापारी संघ आदि विभिन्न प्रकार के समुदाय राज्य के अभ्युदय से पूर्व भी विद्यमान थे, उनके पास अपने स्वय के अधिकार भी होते थे, जिन्हें एक समुदाय के रूप में उनके सदस्य प्राप्त करते थे। परिवार के सदस्य के रूप में पिता के पुत्र पर अधिकार या कर्त्तव्यों के समान उनका अस्तित्व होता था। इन अन्य समुदायों में मतभेद और संघर्ष होते थे, जिसके निवारण के लिए इन लघु समुदायों ने अपने अस्तित्व को पूर्णतया सुरक्षित रखते हुए एक बृहत समुदाय की स्थापना की। यह वृहत समुदाय राज्य ही है जो अन्य समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए विकसित हुआ।

अन्य समुदायों के समान राज्य को भी अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें वह अन्य समुदायों के आन्तरिक तथा बाह्य सुमधुर सम्बन्धों की स्थापना के लिए प्रयोग करता है। राज्य अन्य समुदायों पर आन्तरिक अधिकार द्वारा उस समुदाय के प्रत्येक सदस्य को अपने आधिपत्य में ले लेता है। उदाहरण के लिए परिवार या चर्च के लिए बनाया गया राज्य का कानून परिवार तथा चर्च के प्रत्येक सदस्य को अपने अधिकार में कर लेता है। इसी प्रकार बाह्य अधिकारों द्वारा राज्य अन्य समुदायों के सम्बन्धों में मतभेदों का निवारण कर उचित सम्बन्ध स्थापित करता है।

ग्रीन ने राज्य को अन्य समुदायों से वरिष्ठ अधिकार प्रदान किया क्योंकि राज्य को अन्य समुदायों के आन्तरिक तथा बाह्य कार्यक्षेत्रों को सन्तुलित करना पड़ता है, लेकिन वह राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता का समर्थन करने के स्थान पर सीमित सम्प्रभुता का पक्ष लेता है। राज्य तथा अन्य समुदायों की प्रकृति ही राज्य की प्रभुसत्ता को सीमित करती है। अन्य समुदाय व्यक्ति को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं, राज्य से पूर्व स्थित थे, राज्य ने उन्हें निर्मित नहीं किया वरन् राज्य स्वयं ही अन्य समुदायों द्वारा विकसित समुदायों का समुदाय है। इसीलिये ग्रीन राज्य की सीमित सम्प्रभुता का समर्थक है और वह राज्य को सकारात्मक कार्य बनाने के स्थान पर, अन्य समुदायों के कार्यों में हस्तक्षेप न करने के निषेधात्मक कार्य का परामर्श देता है। इस प्रकार ग्रीन राज्य को संरक्षक या अन्य समुदायों के परस्पर व्यवहार का निर्णायक (Umpire) बना देता है जो अन्य समुदायों के कार्यों का अपहरण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। राज्य को अन्य समुदायों के अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहिये ताकि वे अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में कार्य करते हुए व्यक्ति के विकास में सहायक हो सकें, यदि राज्य उनके कार्यों को स्वयं संचालित करने का प्रयत्न भी करेगा तो उसे असफल होना पड़ेगा। अतः राज्य को अन्य समुदायों के कार्यों में हस्तक्षेप करने के स्थान पर उनमें सामंजस्य स्थापित कर अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिये।

५. युद्ध सम्बन्धी विचार (Concept of War)—ग्रीन के पूर्ववर्ती आदर्शवादी विचारक हीगल ने युद्ध के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए युद्ध को मानव जाति के अस्तित्व एवं विकास के लिये अनिवार्य बनाया, परन्तु ग्रीन ने हीगल के विचारों का खण्डन करते हुए युद्ध को मानव जाति के विनाश का साधन सिद्ध किया। ग्रीन ने कहा कि युद्ध जीवन के अधिकार तथा स्वतन्त्रता को आघात पहुँचाता है। मानव चेतना के विकास के लिये स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की आवश्यकता होती है, जीवन का अधिकार अन्य सभी अधिकारों का आधार होता है और राज्य की उत्पत्ति अधिकारों की रक्षा के लिये होती है। अतः राज्य का कार्य जीवन के अधिकार

की रक्षा करना है। आदम मानव जीवन के अधिकार को अपनी जातीय सीमा तक ही संकुचित रखते थे और विजातीय मनुष्यों का जीवन अपहरण करना अनुचित नहीं समझा जाता था। सभ्यता के प्रकाश में नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन हुआ तथा रोमन विधि (Roman law) एवं ईसाई धर्म (Christianity) के प्रसार ने जीवन के अधिकार को व्यापक बना कर सम्पूर्ण मानव जाति को यह अधिकार प्रदान किया। आज प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य होने के नाते यह अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार को सम्पूर्ण मानव समाज (Universal Society) आज स्वीकार करता है, लेकिन राज्य युद्ध में भाग लेकर जीवन के अधिकार को सुरक्षित रखने में असमर्थ हो जाता है और सर्वव्यापी जीवन के अधिकार का अतिक्रमण होता है, इसीलिये ग्रीन युद्ध को निन्दनीय एवं त्याज्य बताता है।

युद्ध में राज्य जन जीवन के अधिकार का अपहरण करता है, इसे युद्ध के समर्थक स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कथन है कि सैनिक स्वेच्छा से सेना में भर्ती होते हैं और वे यह भली भाँति जानते हैं कि उन्हें युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन को बनाये रखने या उत्सर्ग करने का पूर्ण अधिकार होता है। अतः युद्ध में जीवन न्योछावर करना अनुचित नहीं है। ग्रीन ने इस तर्क को अनुचित बताते हुए कहा कि स्वेच्छा से अपने जीवन का अन्त करना 'आत्महत्या' (Suicide) कहलाता है और दण्ड संहिता में एक अपराध समझा जाता है। राज्य स्वेच्छा से सैनिकों को प्राण देने का अवसर प्रदान करके जीवन अधिकार के अपहरण के दोष से मुक्त नहीं हो जाता।

युद्ध के समर्थक परिस्थितियों के आधार पर युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हुए कहते हैं कि कभी-कभी युद्ध न करना युद्ध करने से बुरा होता है। प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये, किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के लिये, मानव का मानव द्वारा शोषण करने लिये किया गया युद्ध 'निर्दय आवश्यकता' (Cruel necessity) होती है। इटली का आस्ट्रिया से युद्ध इसी प्रकार का युद्ध है। लेकिन ग्रीन युद्ध का पूर्ण रूप से उचित नहीं मानता, यह केवल अपेक्षाकृत ही उचित हो सकता है। ग्रीन ने उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, उसने कहा कि आस्ट्रिया ने इटली पर आधिपत्य जमा लिया था, इटली निवासियों की स्वतन्त्रता छिन चुकी थी, उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने के लिये आस्ट्रिया से युद्ध किया। यह युद्ध एक बुराई का निवारण करने के लिये किया गया। लेकिन एक बुराई का निवारण दूसरी बुराई द्वारा किया जाना कहाँ तक उचित है, अतः युद्ध कभी भी पूर्ण रूप में उचित नहीं हो सकता। ग्रीन ऐसी अवस्था में सापेक्ष औचित्य को व्यवस्था द्वारा युद्ध को अपेक्षित रूप से ही उचित ठहराता है।

युद्ध सदैव राज्य की अपूर्णता होने के कारण होते हैं। ग्रीन ने कहा कि जब राज्य उचित ढंग से अपने नागरिकों का विकास नहीं कर पाते, आन्तरिक स्थिति डाँवाडोल होने लगती है और उन्हें युद्ध को अपनाकर नागरिकों का ध्यान अव्यवस्था से हटाना पड़ता है। यहाँ हम भारत-चीन या भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध का उदाहरण देख सकते हैं। चीन अपनी जनसंख्या को भोजन, वस्त्र आदि प्रदान करने में असमर्थ रहा अतः उसने जनता का ध्यान इस ओर से हटाने के लिये भारत के साथ सीमा-विवाद खड़ा कर दिया। इसी तरह पाकिस्तान आज तक का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब-जब शासक आन्तरिक व्यवस्था करने में असफल रहे, उन्होंने

काश्मीर विवाद उभाडकर जनता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार *युद्ध अपूर्ण राज्य का गुण है*, लेकिन जैसे-जैसे राज्य अपूणता से पूर्णता की ओर बढ़ते जायेंगे युद्ध होने के अवसर भी कम होते जायेंगे, और जब सभी राज्य पूर्णता प्राप्त कर लेंगे युद्ध की भावना का भी अन्त हो जायगा।

हीगल आदि विचारक युद्ध को अनेको गुणो का उत्पादक मानते हैं। उनका विचार यह था कि नैतिकता, देश भक्ति, वीरता, आत्म बलिदान, त्याग स्वार्थ लिप्सा मुक्ति, *सहयोग, सहिष्णुता, सदाचार आदि गुण युद्धकाल मे ही बढते हैं।* सतत् युद्ध ने मानव जाति के उत्थान और नैतिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। ग्रीन ने इन विचारो के वक्तव्य को स्वीकार किया, लकिन उसने कहा कि युद्ध के बिना *भी अन्य उपायो द्वारा इन गुणो को* प्रोत्साहन किया जा सकता है। जो लोग युद्ध के समय उच्च आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तो का उद्‌घोष करते हैं, "वे हमे यह सन्देह करने का अवसर देते हैं कि वे बहुत बडे स्वार्थी हैं।" युद्ध सदैव ही एक बुराई है, क्योकि वह जीवन के अधिकार को भग करता है।

ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी विचारक था। वह राष्ट्र राज्यो की सकुचित प्रवृत्तियो के *त्याग और विश्व राज्य की भावना का पोषक था। उसने कहा कि प्रत्येक* राज्य के नागरिको की नैतिक चेतना पूर्णता प्राप्त करना चाहती है अत. प्रत्येक राज्य अपने आप को माला के मोतियो के समान, विश्व की नैतिक चेतना के धागे मे *पिरो कर एक कर दे, तब उनमे सामान्य हित, विश्व बन्धुत्व, विश्व राज्य या अन्त-*र्राष्ट्रीयता की भावना उदित होगी, युद्धों का निवारण हो जायगा और सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण होगा।

युद्ध के सम्बन्ध मे ग्रीन के विचार, राज्य के निषेधात्मक कार्य सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। ग्रीन विश्व राज्य और सामान्य हित मे मानव मात्र का कल्याण देखता था। विश्व शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राज्य के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उसने राज्य को एक कार्य बताया—उन्हे युद्ध नही करना चाहिय। इसीलिये ग्रीन के युद्ध सम्बन्धी विचार राज्य के निषेधात्मक कार्यों मे रखे जाते हैं।

ग्रीन एक समाज सुधारक के रूप में
(Green as a Social Reformer)

ग्रीन का व्यक्तिगत त्रिपक्षीय था। वह एक दार्शनिक, राजनीतिक आदर्शवाद का एक प्रमुख स्तम्भ और समाज सुधारक था। उसने तत्कालीन इगलैंड की समस्याओ का अध्ययन किया और दीर्घकाल से दासत्व मे पिसते हुए भूमि रहित श्रमिक, कार्य-भार से शिथिल महिलाओ, अशिक्षित परिवारो और दुर्व्यसनो को बढ़ाने की प्रेरणा देने के लिये सडको के दोनो ओर खुले हुए मदिरालय देखे। इन सामाजिक कुरीतियो से व्यथित दार्शनिक का हृदय द्रवित होकर समाज का सुधार करने के लिये तत्पर हुआ। उसने इन सामाजिक बुराइयो को दूर करने के लिये राज्य को बाधाओ मे बाधक बनने के नकारात्मक कार्य के स्थान पर सक्रिय कदम उठाने और विधेयात्मक कार्य करने का परामर्श दिया। इस प्रकार ग्रीन निषेधात्मक कार्यों के साथ राज्य के सकारात्मक कार्यों का भी वर्णन करता है।

ग्रीन ने जीवन पर्यन्त अनेको समाज सुधार आन्दोलनो मे भाग लिया। समय

समय पर दिये गये उसके व्याख्यानों में निम्न समाज सुधार विषयक विचार उपलब्ध होते हैं—

(१) **अनिवार्य शिक्षा**—ग्रीन के समय में इंगलैण्ड में निरक्षरता फैली हुई थी। बालकों को शिक्षा प्रदान करना माता पिता की स्वेच्छा पर निर्भर रहता था। ग्रीन ने निरक्षरता निवारण के लिये राज्य को शिक्षा व्यवस्था अनिवार्य करने का परामर्श दिया। उसने कहा कि शिक्षा का अधिकार जीवन के अधिकार का ही अंग है। पिता को पुत्र को अज्ञानी रखने का कोई अधिकार नहीं है और पुत्र को अपने तथा सामुदायिक हित के लिये प्रत्येक करने योग्य कार्य का अधिकार होना चाहिये।

(२) **मद्य निषेध**—लंदन की सड़कों के दोनों ओर मदिरा की खुली हुई दुकानें नागरिकों को भ्रष्ट दुर्व्यसनी जीवन व्यतीत करने का निमन्त्रण देती थीं। ग्रीन का यह विचार था कि राज्य को मद्य निषेध नीति दृढ़तापूर्वक लागू करनी चाहिये ताकि मदिरा का क्रय-विक्रय दोनों ही बन्द हो जायें।

(३) **आवास व्यवस्था**—राज्य को हवादार, साफ-सुथरे मकानों की व्यवस्था करनी चाहिये क्योंकि उनके अभाव में नैतिक जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं।

(४) **भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध**—ग्रीन भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध करता था। उसकी दृष्टि में जमींदार वर्ग का भूमि पर नियन्त्रण अन्याय और अनैतिकता पर आधारित था। ग्रीन का यह मत था कि भूमि प्रकृति की देन है, प्रकृति ने उसकी सीमा निर्धारित कर दी है। इस पर ही खेती होती है, मकान-कारखाने आदि बनते हैं, यातायात व्यवस्था भी भूमि पर ही होती है और खनिज पदार्थ भी उस पर ही प्राप्त होते हैं। भूमि बहुत उपयोगी परन्तु सीमित है। शक्ति तथा वाद में विधि मान्य व्यक्तिगत आधिपत्य अनुचित होता है क्योंकि "अन्य व्यक्तियों को अल्प मात्रा में या भूमि हीन बना कर ही कुछ व्यक्ति अधिक भूमि प्राप्त कर पाते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि भूमि पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त हो जाना चाहिये और राज्य के नियन्त्रण में उसका न्यायपूर्ण निष्पक्ष वितरण होना चाहिए।

पूंजी के क्षेत्र में ग्रीन सम्पत्ति की असमानता का समर्थक था। उसका यह विचार था कि मनुष्य को प्रकृति ने असमान गुण वितरित किये हैं और गुणों की असमानता के कारण मनुष्य अपने प्रयत्नों के अनुसार कम या अधिक सम्पत्ति एकत्रित करते हैं। इसलिये सम्पत्ति का असमान होना उचित ही है। सम्पत्ति की असमानता व्यक्ति तथा समाज दोनों ही के लिये लाभदायक है। राज्य को पूंजी पर नियन्त्रण नहीं लगाना चाहिये क्योंकि पूंजी की प्रकृति विस्तरणशील है और परिश्रम तथा अध्यवसाय से प्रत्येक व्यक्ति पूंजीपति बन सकता है। लेकिन ग्रीन पूंजी के संचयीकरण का विरोधी था।

ग्रीन के अनुयायी
(Contribution of Green)

ग्रीन राजनीतिक विचारकों के आदर्शवादी पंथ का अनुयायी था। "उसने यूनानी तथा जर्मनी के दर्शन को अंग्रेजों की दृष्टि से, पूर्ण अंग्रेजी सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया।" वह राज्य के शक्ति सिद्धान्त, समझौता सिद्धान्त और दैविक सिद्धान्त का खण्डन कर सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार करता था। वह इंगलैण्ड के प्रजातन्त्रीय

वातावरण में पला होने के कारण हीगल के निरंकुश सम्प्रभु में आस्था रखने में असमर्थ रहा। वह राज्य पर आन्तरिक और बाह्य नियन्त्रण लगा कर सम्प्रभु को सीमित कर देना चाहता था। आन्तरिक सीमा लगाते हुए उसने कहा कि 'राष्ट्र के जीवन का राष्ट्र निर्माता व्यक्ति के जीवन को छोड़कर कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं।' राज्य में व्यक्ति और उनकी इच्छा ही निर्णायक शक्ति है अतः राज्य व्यक्ति की इच्छा के विपरीत चलकर सफल नहीं हो सकता। बाह्य क्षेत्र में विश्व-बन्धुत्व की भावना राज्य के निरंकुश स्वरूप का मर्यादित करती है। इस प्रकार ग्रीन ने हीगल के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। दूसरे ग्रीन ने हीगल के साध्य साधन में परिवर्तन कर राज्य को व्यक्ति के विकास का साधन बना दिया। इस प्रकार व्यक्ति साध्य और राज्य साधन हो गया। ग्रीन ने व्यक्ति को राज्य के लिये बलिदान करना अस्वीकृत कर दिया। तृतीय 'राज्य शक्ति नहीं अपितु इच्छा पर आधारित है' की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक राजाज्ञा पालक बनने की प्रेरणा दी। उसने बताया कि सामान्य व्यक्ति को राजाज्ञा का पालन करना चाहिए लेकिन यदि वह उस आज्ञा को नैतिक चेतना के विपरीत समझे और अन्य व्यक्तियों का समर्थन भी उसके पक्ष में हो तो व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है। उपर्युक्त विचारों के कारण ही कुछ विद्वान ग्रीन को व्यक्तिवाद का अनुयायी मानते है।

ग्रीन की स्वतन्त्रता की व्याख्या व्यक्तिवाद आदर्शवाद या यथार्थ की ओर झुकी हुई है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन्धनों का अभाव नहीं होता क्योंकि वह जंगल की स्वतन्त्रता होती है। यथार्थ में स्वतन्त्रता का विभाजन स्वयं को प्रभावित करने वाले' (Self regarding) तथा सामाजिक प्रभाव रखने वाले (Other regarding) कार्यों के रूप में अस्वीकार करते हुए नैतिक आधार पर अन्तर किया। उसने बताया कि व्यक्ति के कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें राज्य, बाह्य होने के कारण लागू कर सकता; तथा अन्य कार्य नैतिक चेतना या आन्तरिक इच्छा पर आधारित होने के कारण बाह्य शक्ति द्वारा लागू नहीं किये जा सकते। राज्य का प्रथम प्रकार के कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए, द्वितीय में नहीं।

इसके अतिरिक्त ग्रीन ने बेन्थम के उपयोगितावाद में नैतिकता का समावेश कर उसका औचित्य बढ़ा दिया। बेन्थम ने समाज सुधार के कार्यों में उपयोगिता की दृष्टि से भाग लिया था, ग्रीन ने व्यक्ति की नैतिक चेतना को सामाजिक सुधार करने का प्रेरक बनाया और परिणामस्वरूप राज्य को एक नैतिक इकाई बना दिया। राज्य नैतिक उद्देश्यों से प्रेरित नैतिक संगठन है।"

सहायक पुस्तक

Barker	Political thought in English
Sabine	History of Political Theory
Dunning	History of Political Thought
Cocker	Recent Political Thought
Mahajan	Recent Political Thought
Green	Principles of Political Obligations
Maxey	. Political Philosophies
Wayper	Political Thought
Suda	A History of Political Thought

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१ 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है,' इस कथन की व्याख्या करिए।

२ राज्य अच्छे जीवन की बाधाओं के मार्ग में बाधक बन कर अपने कार्यों का भली भाँति सम्पादन कर सकता है।' स्पष्ट कीजिए।

३ ग्रीन का राज्य के नकारात्मक कार्य सिद्धान्त से क्या आशय है ? स्पष्ट करिए।

४. ग्रीन का व्यक्ति स्वातन्त्र्य से क्या अभिप्राय है ? बताइए।

५ व्यक्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में ग्रीन का मत अभिव्यक्त कीजिए।

६ ग्रीन के दण्ड-सिद्धान्त की व्याख्या करें।

७. युद्ध के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार बताइए।

८. राज्य के प्रति व्यक्ति को विद्रोह करने का अधिकार देना कहाँ तक उचित है ?

९. आदर्शवादी विचारधारा में ग्रीन काण्ट का अनुयायी है, हीगल का नहीं; स्पष्ट करें।

भारतीय विचारक

"The Indians belong to the category of peoples who have left their impress upon the pages of history as the founders of original system of political thought."

—*Ghoshal, U N*

अध्याय १२

महात्मा गांधी

(M K Gandhi)

(१८६६ से १६४८)

"Ahinsa and Truth are my two lungs. I cannot live without them."
—*Gandhi.*

महात्मा गांधी आधुनिक युग के राजनीतिक विचारको मे अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्होने अपने सम्पूर्ण जीवन म राजनीति विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना नही की। चाणक्य के समान 'अर्थशास्त्र' प्लेटो के समान 'रिपब्लिक' अरस्तू के समान 'राजनीति' मैकियावेली के 'प्रिंस' जैसे किसी भी ग्रन्थ मे अपने राजनीतिक विचारो को एकत्रित नही किया। परन्तु फिर भी उनके विचारो ने भारतीय राजनीतिक जीवन को ही नया मोड और गति प्रदान नही की वरन् सम्पूर्ण एशिया के जागरण के अग्रदूत बनकर प्रस्फुटित हुए।

जीवन परिचय

(Life Sketch)

आधुनिक युग के महान् राजनीतिक कर्मयोगी महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। इनका जन्म २ अक्टूबर सन् १८६६ को काठियावाड के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम श्री करमचन्द गांधी तथा माता का नाम पुतलीबाई था। यह परिवार कट्टर वैष्णव था जिसको काठियावाड की विभिन्न रियासतो को प्रधान मन्त्री व दीवान प्रदान करने का श्रेय रहा है। जब गांधी जी की आयु ७ वर्ष की थी, इनके पिता राजकोट के दीवान हो गये थे। गांधीजी को पारवारिक वातावरण, धार्मिक अनुष्ठानो आदि ने बहुत प्रभावित किया। १३ वर्ष की अल्पायु मे गांधीजी का विवाह कस्तूरबाई से कर दिया गया।

गांधीजी बाल्यावस्था से ही उन संस्कारो से प्रभावित हो रहे थे जो भविष्य मे उनके जीवन का मार्ग दर्शन करने वाले थे। एक विद्यार्थी के रूप मे गांधीजी कभी भी बहुत योग्य और प्रतिभाशाली नही रहे। वे एक सामान्य कोटि के विद्यार्थी थे जो अत्यधिक शर्मीले होने के कारण पाठशाला से छुट्टी होते ही बिना किसी से वार्तालाप किए ही घर भाग जाते थे। सत्य के प्रति अनुराग 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक से, तथा पितृ भक्ति श्रवणकुमार' नाटक से जागृत हुआ। १८८७ मे गांधीजी ने हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें अध्ययन के लिए भावनगर पढ़ने भेजा गया। इस अध्ययन से अरुचि होने के कारण परिवार के मित्रो के परामर्श पर बैरि-

स्टर बनने के लिए उन्हें इंग्लैंड भेजना स्वीकार हुआ। पारिवारिक कट्टरता इसमें बाधक हो रही थी अतः एक जैन साधु के परामर्श पर माँस, मदिरा, परस्त्री से दूर रहने की प्रतिज्ञा कराकर उन्हें भेज दिया गया। प्रारम्भ में उन्होंने यूरोपीय चटक-मटक के आकर्षण में अपने को रंग लिया, लेकिन धार्मिक निष्ठा तथा ईसाई धर्म आदि के तुलनात्मक अध्ययन ने आध्यात्मिक ज्ञान को उपेक्षित नहीं होने दिया। सन् १८९१ में बार-एट-ला होकर गाँधी जी स्वदेश वापिस आये।

इंगलैंड से वापिस आकर उन्होंने राजकोट में वकालत करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही इस व्यवसाय में उन्हें अरुचि होनी गई। वकालत की घृणित परम्परायें उन्हें आकर्षित करने में असमर्थ रही और वे एक सफल वकील नहीं हो सके। कुछ समय बाद गाँधी जी बम्बई आ गये और वहाँ पर कार्य करने लगे। १८९३ में एक मुस्लिम फर्म के मुकद्दमे में वकील होकर अफ्रीका गये। २१ वर्ष तक गाँधी जी (सन् १९१४ तक) अफ्रीका में ही रहे। इसी समय राजनीति में प्रवेश के लिए अवसर उपलब्ध हो गया। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों की दुर्दशा देखकर गाँधी जी बहुत दुखित हुए, और उनके कष्टों को दूर करने के लिये प्रयत्न शुरू किये।-रंग-भेद, जाति-भेद आदि दूर करने के लिये गाँधी जी ने अथक परिश्रम किया। उन्हें सत्याग्रह पद्धति के आविष्कार एवं परीक्षण का अवसर प्राप्त हुआ।

अफ्रीका में भारतीयों को गुलाम जाति का होने तथा रंग भेद नीति के कारण भेद भाव पूर्ण व्यवहार से अपमानित किया जाता था। उन्हें १९०६ के एशियाटिक रजिस्ट्रेशन एक्ट के आधार पर अपना रजिस्ट्रेशन कराना पड़ता था और उस पर अपराधियों की भाँति अपने हाथ की ऊँगलियों की छाप लगानी पड़ती थी। गाँधी जी ने इसका संगठित विरोध किया और एक शिष्ट मंडल इंग्लैंड भेजकर इसे दूर करने की चेष्टा की, लेकिन वह निष्फल रही। गाँधी जी ने असंख्य भारतीयों के साथ मिलकर रजिस्ट्रेशन कराने तथा उंगलियों की छाप लगाने से इन्कार कर दिया और वहाँ की सरकार ने सब को गिरफ्तार कर लिया। बाद में एक समझौते के आधार पर गाँधी जी ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। ट्रान्सवाल सरकार ने समझौता भंग कर दिया और पुनः गाँधी जी के प्रयत्नों से यह लज्जास्पद कानून हटा लिया गया। गाँधी जी के प्राथमिक प्रयास उन्हें भारतवर्ष, एशिया तथा विश्व में प्रसिद्ध करने में सहायक हुए।

सन् १९१४ में गाँधी जी भारत लौट आये। इंगलैंड प्रवास में उन्होंने अंग्रेजी जन जीवन की अच्छाइयों का अनुभव किया था और उनकी न्यायप्रियता में उन्हें अटूट विश्वास था। फलस्वरूप प्रारम्भ में गाँधी जी अंग्रेजों के भक्त थे। उन्हें अफ्रीका के कार्यों के उपलक्ष में "कैसरे हिन्द" की उपाधि दी गई, परन्तु स्वतन्त्रता का अग्रदूत इस बन्धन को कैसे स्वीकार कर सकता था, अतः उन्होंने थोड़े समय बाद उसे वापिस कर दिया। कांग्रेस भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में प्रयत्नशील थी। राजनीतिक कर्मयोगी किस प्रकार उससे दूर रह सकता था। उन्होंने राजनीति में प्रवेश करने के लिए श्री गोपालकृष्ण गोखले से परामर्श किया और कुछ वर्षों तक भारतवर्ष की परिस्थितियों का अवलोकन करते रहे। सन् १९१७ में गाँधी जी ने सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ किया। बिहार के चम्पारन क्षेत्र में नील की खेती करने वाले किसानों पर अंग्रेज जमींदारों के अत्याचारों से न्याय दिलाने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया और सफल हुये। सन् १९१९ में रौलट एक्ट के विरोध में

सत्याग्रह का आयोजन किया। पजाब म सत्याग्रहियो को कुचलन के लिए मार्शल लॉ लगाया गया और जलिया वाला काड जैसे बर्बरतापूर्ण काय हुये। गाधी जी ने जनता से शासन रूपी शैतान से असहयोग करने की अपील की और असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव काग्रेस अधिवेशन में प्रस्तुत किया। कलकत्ता अधिवेशन में इस प्रस्ताव का गम्भीर विरोध हुआ और नागपुर अधिवेशन में यह स्वीकार किया जा सका। इस अधिवेशन से काग्रेस मे गाधी जी का नेतृत्व प्रारम्भ हुआ और एक मात्र बागडोर गाधी जी के हाथ मे आ गई। १९२२ फरवरी मे चोरीचोरा की दुखद घटना हुई। वहाँ उत्तेजित भीड ने २१ सिपाहियो को थाने मे बन्द कर जीवित जला दिया। फलस्वरूप गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन सम्मिलित कर दिया। गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन मे खिलाफत आन्दोलन स्थगित कर दिया था। गाधी जी को भारत मे प्रथम बार ६ वर्ष का कारावास दिया गया। १९३० मे गाधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन संचालित किया और जनता को नमक का कानून तोड कर शान्ति पूर्वक सरकारी कानून भंग करने के लिये आह्वान किया। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने पर गाधी जी ने भारत का युद्ध मे भाग न लेने का पक्ष ग्रहण किया और सरकारी नीति के विरोध मे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। सन् १९४२ मे गाधी जी ने भारत छोडो का नारा दिया और उनके सद् विचारो पर चल कर भारतवर्ष ने १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्त की। स्वतन्त्रता का मसीहा अधिक दिनो तक स्वतन्त्र भारत का पथ प्रदर्शन न कर सका और ३० जनवरी १९४८ को ७९ वर्ष की आयु मे परलोकवासी हुआ।

गांधीजी पर प्रभाव

(Influences on Gandhiji)

गाधी जी के जीवन दर्शन की अनुपम विशेषता यह है कि उन पर उस प्रत्येक प्राणी का जो उनके व्यक्तिगत सम्पर्क मे आया, उन ग्रन्थ एव पुस्तको का जिनका उन्होने अध्ययन किया, उस वातावरण का जिसमे वे रहे, बहुत प्रभाव पडा। गाधी जी पर सर्वप्रथम उनकी माता का आदर्श प्रभाव पडा। कर्मकाण्डी वैष्णव जीवन, भगवदोपासना, उन्हे घर के वातावरण से ही प्राप्त हुई। उनकी देखभाल करने वाली परिचारिका ने भय मुक्ति का उपाय ईश्वर नाम लेना ही सिखाया। गाधी जी न कहा कि 'मैं सोचता हूँ कि उस भली स्त्री रम्भा का ही प्रभाव है कि राम नाम आज तक मेरे लिये सफल औषधि बन गया है।" रामायण उनके बाल्य जीवन से ही सुपठित ग्रन्थ रही। उसका अभाव व्यक्त करते हुये गाधी जी ने बताया कि यह "भक्ति साहित्य की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक" है। थियोसोफीकल सोसाइटी के सम्पर्क मे आकर उन्होने गीता का अध्ययन किया। गाधी जी के कर्म योग का सिद्धान्त गीता के अनुकरण का ही प्रतीक है। गाधी जी ने इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, जैन धर्म तथा पारसी धर्म का अध्ययन किया और उनकी मौलिक अच्छाइओ पर मनन किया।

गाधी जी पर रस्किन की पुस्तक 'Unto The Last' का प्रभाव पडा, जिसे उन्होंने स्वीकार करते हुये व्यक्त किया कि " मैं यह विश्वास करता हूँ कि रस्किन की महान पुस्तक ने मेरे गहनतम विचारो को प्रभावित किया है, उसने मेरे जीवन को परिवर्तित ही कर दिया है।" थोरो के 'Essay on civil disobedience' से प्रभा-

वित होकर उन्होंने "अच्छाई के लिए सहयोग और बुराई की अवस्था मे असहयोग" का अनुकरण किया। टालस्टाय के 'the Kingdom of God is within you' रचना से प्रभावित हुये बिना गांधी जी न रह सके। टालस्टाय से उन्होंने काफी कुछ ग्रहण किया। उनके अहिंसात्मक विचार, सत्य के लिये जीवित रहने का सिद्धान्त, भौतिक शक्ति का आत्म-शक्ति के लिये हानिप्रद होना और दार्शनिक अराजकवाद स्वीकार किया। गांधी जी ने रोम्या रोला, मेजिनी तथा अन्य प्रमुख विद्वानो के विचारों का अध्ययन किया और उन्हें अपनी विचार श्रृंखला की एक कड़ी बनाया।

गांधी जी के राजनीतिक विचार और उनकी मानवतावादी पृष्ठभूमि
(Gandhi's Political Philosophy based on Humanitarian Philosophy)

मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? गांधी जी ने बताया कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। पूर्णता प्राप्त करने से यह अभिप्राय होता है कि मनुष्य ने मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लिया हो, या ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया हो, या आत्मा-परमात्मा का मिलन हो गया हो। परमात्मा से आत्मा का मिलन या ईश्वर साक्षात्कार करने के लिये मन्दिर या अन्य देवालय मे उपासना करने की आवश्यकता नही होती वरन् प्रकृति के प्रत्येक प्राणी से स्नेह पूर्ण सम्बन्ध ही पर्याप्त होता है। परमात्मा विभिन्न जीव जन्तुओं की सामूहिक आत्मा का ही नाम है जब मनुष्य अपनी आत्मा को पूर्ण बनाना चाहे तो उसे सभी जीवो की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को एक कर देना चाहिये, वह पूर्ण हो जाती है। अतः ईश्वर का साक्षात्कार संन्यास लेने या संसार से विरक्त होने से नहीं होता वरन् इस सृष्टि के सम्पूर्ण जीवों की सेवा और सम्पर्क से होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने लिये ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिये प्रयत्न करने चाहिए। सभी प्राणियों के अधिकतम हित के लिये प्रयत्न करते हुये व्यक्ति पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि गांधी जी ने राजनैतिक जीवन मे प्रवेश किया। उन्होंने ईश्वर का दर्शन ब्रिटिश राज्य की शोषित जनता मे देखा। उन्हे भारतीय जनता रूपी जनार्दन पीड़ा से कराहता हुआ दिखाई दिया और वे उसकी पीड़ा दूर करने के लिए चल पड़े। मानव मात्र की सेवा ही उन्हें राजनीति मे ले आई। इसलिये कहा जाता है कि गांधी जी के राजनैतिक विचार मानवतावादी पृष्ठभूमि मे उदित हुये।

राजनीति और धर्म
(Politics and Religion)

गांधी जी राजनीति और धर्म को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर मानते है। वह यह स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं थे कि राजनीति का धर्म से पृथक कोई अस्तित्व हो सकता है। उन्होंने कहा कि राजनीति और धर्म दोनों मे घनिष्ठ सम्बन्ध है "जो व्यक्ति राजनीति और धर्म को असम्बद्ध और अलग बताते हैं (यह उनके अज्ञान के कारण होता है) वे धर्म का अर्थ नहीं जानते और राजनीति से भी अपरिचित होते हैं।" ("Those who say that religion has nothing to do with politics do not know what religion means." —(Gandhiji.)

गांधी जी ने बताया कि मानव जीवन के तीन क्षेत्र—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक होते हैं, इन सभी क्षेत्रो मे धर्म का मूल स्थान है बिना धर्म के उनका कोई महत्व नहीं होता उन्होने कहा कि "जितने भी धार्मिक व्यक्तियो से मैं मिला वे छुपे हुये रूप मे राजनीतिज्ञ थे, मैं किसी प्रकार से राजनीतिज्ञ के वेष मे हृदय से धार्मिक हूं।" ("Most religious men I have men, are politician in disguise. It however, who bear the guise of politician, am at heart a religious mant.") उनके जीवन का प्रत्येक कार्य धार्मिक अनुदायो का ऋणी है। उनका दर्शन और सक्रिय कर्म दोनो ही धार्मिक सिद्धान्तो पर आधारित थे। उनके शब्दो मे 'मैंने जन जीवन के ज्ञान प्राप्त करने से लेकर प्रत्येक शब्द जो अब तक कहा है और प्रत्येक कार्य जो अब तक किया है, उन सब मे धार्मिक चेतना और धार्मिक उद्देश्य रहा है।" ("At the back of every word that I have uttered since I have known what public life is, and of every act that I have done there has been a religious consciousness and a downright religious motive."—Young India, iii, p. 350.) गांधी जी के मतानुसार राजनीति और धर्म एक दूसरे के पूरक रूप मे उपस्थित होते हैं उनको अलग करने का अभिप्राय आत्मा और शरीर को पृथक करना है और उसका अभिप्राय मृत्यु होता है। अतः राजनीति को धर्म से पृथक करते ही उसका महत्व नष्ट हो जायगा। गाधी जी के अनुसार "मेरे लिये धर्म विहीन राजनीति का कोई महत्व नहो। राजनीति धर्म के अन्तर्गत है, धर्म से पृथक् राजनीति मृत्यु के जाले के समान है क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।" (For me there are no politics devoid of religion, they subserve religion Politics bereft of religion are a death-trap, because they kill the soul—Gandhiji)

राजनीति का क्या अर्थ है ?—गाधी जी ने राजनीति की व्याख्या करते हुए बताया कि वह राज्य की शक्ति का नियन्त्रण और आधिपत्य करने की क्रिया है, वह मुख्यत. शोषण पर आधारित है और इसीलिए वह एक बुराई है। यह बुराई आजकल हटाई नही जा सकती। इसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को बुरी तरह जकड रखा है। "यदि मैं राजनीति मे भाग लेता हूँ तो उसका कारण यह है कि राजनीति ने हमे सॉप की कुण्डली के समान जकड रखा है और उससे बाहर निकलना हमारे लिए कठिन हो गया है। मैं सॉप से लड़ने की चेष्टा करता हूं. मैं राजनीति मे धर्म का प्रवेश करना चाहता हूं।" ["If I seem to take part in politics, it is only because politics today encircles us like the coils of snake from which one cannot get out, no matter how one tries I wish to wrestle with the snake . I am trying to introduce religion into politics"—Gandhiji] राजनैतिक बुराई जैसे शोषण और दासता आत्मा के अस्तित्व को पहचानने में बाधक होती है फलस्वरूप आत्मा पूर्णता प्राप्त करने मे असमर्थ होती है। अतएव राजनैतिक स्वतन्त्रता आत्मा की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

धर्म से क्या तात्पर्य है ?—गाधी जी के अनुसार धर्म का अभिप्राय हिन्दूधर्म, मुसलमान धर्म ईसाई या पारसी धर्म आदि मत-मतान्तरो से नहीं है। वरन् संक्षेप मे धर्म का अभिप्राय 'ब्रह्माड' के नियमित नैतिक शासन (belief in the ordered

moral Government of the universe) से है। व्यापक व्याख्या में इसका अर्थ उस सामान्य विश्वास से है जो सभी धर्मों मे समान रूप से निहित है। वह मनुष्य की प्रकृति को परिवर्तित कर, शुद्धि करने वाली सत्यता के बन्धन मे बांधने वाला मानव प्रकृति का चिन्तन अमूल्य तत्व है। वह मानव आत्मा को शान्ति प्रदान करता है, आत्मा-परमात्मा के रहस्य को प्रकट करता है। धर्म की इस व्यापक व्याख्या का यह परिणाम हुआ कि धर्म को नवीन आधार प्राप्त हुआ। आधुनिक युग में लोग धर्म से विमुख होते जा रहे थे, उन्हें मन्दिर आदि मे भगवान से प्रीति कम होती जा रही थी। अतः यदि इस अवसर पर गांधी जी धर्म को मन्दिर आदि उपासना स्थलों तक ही सीमित कर देते तो उसका दुष्परिणाम यह होता कि उनके विचारों से लोगो को अरुचि हो जाती। अतः धर्म की नवीन परिभाषा करते हुए उन्होंने उसके गिरते हुए प्रभाव को स्थायित्व प्रदान किया और ऊँचा उठाया। उन्होंने कहा कि मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। यदि ईश्वर की उपासना करना चाहो तो संसार मे विरक्त होकर हिमालय की कन्दराओं मे मत जाओ और परमात्मा जो प्रस्फुटित होकर नाना जीव-धारी प्राणियों मे रूप म इस पृथ्वी पर विचरण कर रहा है, उनसे प्रेम करो ईश्वर की सन्तान से प्रेम करना ईश्वर की सेवा है। वह मानव सेवा के लिए ही राजनीति मे घुसे। गांधी जी ने कहा कि "यदि मैं यह समझता कि भगवान मुझे हिमालय की कन्दरा मे मिलेंगे तो मैं तुरन्त ही वहाँ चला जाता।" यही कारण है कि गाधी जी के राजनैतिक विचारो मे त्रस्त मानवता की मुक्ति का संदेश है। भारतीय जनता, जो उनके निकटतम मानव समूह का ही रूप है, उसकी दीन दशा, असह्य अवस्था देखकर उनके हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ा और वे उसकी सेवा के माध्यम से राजनीति के मैदान मे उतर पड़े। उनका धर्म मानव सेवा ही था। उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया और उसके सिद्धान्तो पर मनन किया। वह रूढ़िवादी धर्मभीरु नहीं थे जो अनर्गल विचारो को आँख मींच कर स्वीकार कर लेते। उन्होंने उनका नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन किया और आत्मा तथा विवेक के सन्तुष्ट हो जाने पर ही उन्हें स्वीकार किया। अतः उनका धर्म प्राणिमात्र को ईश्वर मानकर उनकी सेवा मे रत रहना ही है।

गांधी जी का आध्यात्म ज्ञान या तत्व दर्शन
(Metaphysical Aspect in Gandhiji)

गाधी जी एक राजनैतिक विचारक या समाज सुधारक ही नहीं थे वरन् वे भारतीय धार्मिक पौराणिक मान्यताओं के पोषक थे। उनके विचार वेदान्त के अद्वैतवादी स्वरूप पर आधारित थे। अद्वैतवादी विचारधारा मे इस चराचर जगत के रहस्य का पता लगाने की चेष्टा की जाती है। और उसके ब्रह्म (चेतना) या पदार्थ (जगत) को सत्य बताया जाता है। वेदान्त ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करता है। गांधी जी ने इस विचार का अनुसरण करते हुए कहा कि ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। प्रत्येक प्राणिमात्र मे एक चेतना शक्ति है जो अपनी अद्भुत प्रकृति के कारण रहस्यमय है। यह रहस्यमय शक्ति क्या है?

यह रहस्यमय शक्ति ईश्वर या परमात्मा है। गाधी जी का ईश्वर मे अटूट विश्वास था। उनके शब्दों मे वे 'बिना हवा और पानी के रह सकते हैं लेकिन ईश्वर के बिना नहीं रह सकते।' ईश्वर की परिभाषा या व्याख्या उतनी ही की जा सकती है

जितने मनुष्य हैं। ईश्वर सर्वत्र है, हर प्राणी मे है, अत उसका वर्णन करना कठिन है। "वह एक रहस्यमय वर्णनातीत शक्ति है जो प्रत्येक पदार्थ मे व्याप्त है। मैं उसे देखता तो नहीं अनुभव अवश्य करता हूँ।" सत्य ईश्वर का उपयुक्त नाम है। सत्य की उत्पत्ति 'सत्' से हुई है जिसका अर्थ अस्तित्व होता है। इस प्रकार गाधी जी ईश्वर को मनुष्य नहीं मानते। 'मैं ईश्वर को एक व्यक्ति नही मानता।' (I do not regard God as a person) सत्य को ही ईश्वर मानने से यह लाभ होता है कि कोई भी व्यक्ति उसके अस्तित्व मे अविश्वास नही कर सकता यहाँ तक कि नास्तिक भी ईश्वर मे विश्वास करने लगेंगे। ईश्वर अथवा सत्य प्रत्येक प्राणी मे विद्यमान है, उसके बाहर है, विश्व का निर्माता या नियन्त्रक और निरीक्षक भी है। बिना ईश्वर के जगत मे कोई भी क्रियाकलाप नही हो सकता। ईश्वर प्राणि मात्र का पथ प्रदर्शक है, वह दृष्टिगोचर न होते हुए भी अपनी सहायता का हाथ बढ़ाता है।

सत्य क्या है ? (What is Truth)—'सत्य' की शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर व्याख्या करते हुये कहा जा सकता है कि यह 'सत्' से बना है। सत् का अर्थ अस्तित्व-मय होता है। अतः सत्य भी अस्तित्व (existence) का द्योतक है। (एक शुद्ध हृदय समय विशेष पर जो कुछ अनुभव करता है वही सत्य है)। सत्य स्वयं प्रमाणित है। सत्य ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, गुप्तता, बढ़ाव, दबाव को हटा देता है। सत्य क्या है ? "यह एक बहुत कठिन प्रश्न है, पर मैंने स्वयं अपने लिए इसे हल कर लिया है। तुम्हारी आत्मा जो कहती है वही सत्य है।" गाधी जो अपने जीवन भर सत्य का पता लगाने मे रत रहे। सत्य की खोज करने का ढग एक वैज्ञानिक के समान प्रयोगात्मक है। उसका पता लगाने के लिए आत्म शुद्धि की आवश्यकता है। आत्मा को शुद्ध करने के लिए कुछ आवश्यक उपकरणो का होना नितान्त जरूरी है। वह उपकरण हिन्दू शास्त्रो मे प्राप्त होते हैं। यह निम्न हैं, सत्य (truth), अहिंसा (non-violence), अस्तेय, (non-stealing), अपरिग्रह (non-possession), ब्रह्मचर्य (celibacy)। गाधी ने कहा कि सत्य अन्तरात्मा की आवाज है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा सदैव सत्य का पालन नहीं करती। वह संस्कार भेद आदि के कारण उचित और अनुचित होती है।

कर्म सिद्धान्त (Theory of Action)—गाधी जी भारतीय कर्म सिद्धान्त में आस्था रखते थे। कर्म के नियम सर्वमान्य होते हैं। मनुष्य कर्म के आधार पर स्वयं अपना भाग्य बनाते हैं। "हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। हम अपने वर्तमान को स्वयं ही सुधार या बिगाड सकते हैं। उस पर हमारा भविष्य निर्भर है।" (We are makers of our own destiny. We can mend or mar the present and on that will depend our future—Gandhiji) लेकिन इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि हमारा जीवन और कार्य पूर्व निर्धारित ही होते हैं। कर्म का सिद्धान्त स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है जो हमे अच्छे और बुरे में चुनाव करने के लिए स्वतन्त्रता देता है। हमारी स्वतन्त्रता परिणाम निर्धारित नहीं करती वह हमारे प्रयत्नो पर निर्भर है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त (Theory of Rebirth)—पुनर्जन्म में गांधी जी का विश्वास था। उनका कथन था कि "मैं पुनर्जन्म मे उतना ही विश्वास रखता हूँ जितना कि अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व मे। इसी कारण मैं जानता हूँ कि थोड़ा सा

प्रयत्न भी बेकार नही जायेगा ।" ("I believe in rebirth as much as I believe in the existence of my present body. I, therefore, know that even a little effort is not wasted." Gandhiji in Young India. 11, p. 1204.) यह दोनो सिद्धान्त भारतीय ऋषि-मुनियों ने आत्मिक शोध के उपरान्त प्रतिपादित किये। यह नैतिकता के वे नियम हैं जो मानव विकास को संचालित करते हैं। जीवन की पूर्णता के लिये मनुष्य को सदैव उन्नति के अवसर प्रदान करना ही पुनर्जन्म है, जहाँ एक के बाद दूसरा जन्म पूर्णता की ओर ले जाने के लिए होता रहता है।

साध्य-साधन सिद्धान्त (Means and Ends)—*साध्य ही साधन को न्याय-संगत ठहराता है या साधन साध्य का औचित्य सिद्ध करता है? राजनीतिक विचारकों* के इस विषय पर दो वर्ग हो गये। साम्यवादी, फासीवादी और इन्हीं की कोटि के अन्य विचारकों ने 'साध्य' साधन को न्याय संगत ठहराया है। 'The end justifies the means' का प्रतिपादन किया। साध्य की उपादेयता ही अनुचित, धूर्तता और कपट पूर्ण साधनों का औचित्य सिद्ध करती है। गांधी जी ने इस विचार-धारा का खंडन किया और बताया कि साध्य-साधन दोनों में घनिष्ठतम सम्बन्ध है, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों का समान रूप में शुद्ध होना आवश्यक है। यदि साध्य अनुचित है तो उचित साधन भी उसे नहीं सुधार सकेंगे। साध्य के समान साधन भी उचित होने चाहिये। गांधी जी साधनों पर विशेष जोर देते थे।

गांधी जी 'जैसे साधन वैसा साध्य' (as means so the end) के समर्थक थे *उन्होंने कहा कि "साधन बीज के समान है और साध्य वृक्ष के समान। जिस प्रकार वृक्ष और बीज में सम्बन्ध है उसी प्रकार साधन और साध्य में।"* ("The means may be linked to a seed, the end to a tree, and there is just the same inviolable connection between the means and the end as there is between the seed and the tree.") 'यहाँ बोया पेड़ बबूल का तो आम कहाँ से खाय' लोकोक्ति प्रतिध्वनित होती है। साधन की उचित देखभाल करने से ही साध्य भी उचित होगा। साधन की श्रेष्ठता गांधी जी का मूल मन्त्र था। यदि साध्य ही साधन की श्रेष्ठता स्वीकार करें तो उसका अर्थ यह होगा कि हमारी श्रेष्ठ भावनायें अनैतिकता और निर्दयी प्रवृत्तियों का शिकार हो जायेंगी। अच्छे साधन ही स्थाई शान्ति और जीवन को उन्नति की ओर ले जा सकते हैं। इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हिंसा हिंसा को जन्म देती है, बदले की भावना दूसरों में भी यही भावना जगाती है, युद्ध आगामी युद्ध का बीज वपन करते हैं। दो विश्व युद्ध न्याय, प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के नाम पर लड़े गये परन्तु उन्होंने युद्ध को नहीं मिटाया। यदि अच्छे साधन प्रयोग में लाये गये होते, तो आज पुनः मानव को तृतीय विश्वयुद्ध का भय आतंकित नहीं करता। अतः *अच्छे साधन अच्छे साध्य का निर्माण करते हैं।*

गांधी जी और अहिंसा
(Gandhiji and Non-Violence)

गांधी जी ने राजनीति में अहिंसा का समावेश कर नवीन युग का प्रारम्भ किया। उनसे पूर्व भारतवर्ष में गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, विदेश में ईसा ने अहिंसा

के सिद्धान्तों का सृजन किया था और उसका अनुकरण जीवन के लिए आवश्यक बताया। यह अहिंसा व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित थी। गाधी जी ने अहिंसा का क्षेत्र व्यापक कर दिया और उसे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रो मे प्रयोग करके दिखाया। यह अहिंसा सभी धर्मों का सार है और स्वयं सत्य है। अहिंसा एक साधन है जिसके द्वारा सत्य रूपी उद्देश्य प्राप्त होता है।

अहिंसा की परिभाषा (Definition of Non-Violence)—गाधी जी ने अहिंसा की व्याख्या दो प्रकार से की है। सर्वप्रथम वह अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या करते हैं और उसके बाद सकारात्मक व्याख्या नकारात्मक व्याख्या करते समय उन्होने अहिंसा शब्द की उत्पत्ति का विश्लेषण किया। अहिंसा शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है। 'अ' और 'हिंसा' (अ+हिंसा=अहिंसा) 'अ' का अर्थ नही है, और 'हिंसा' का अभिप्राय स्वार्थ, द्वेष, क्रोध मे किये गये मनुष्य के उन कार्यों से है जिनमे वह दूसरों को पीडा पहुँचाता है। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ हिंसा का त्याग करना ही है। मनुष्य क्रोध मे जीवन को नष्ट करता है। "अहिंसा पृथ्वी पर किसी को भी मन कर्म और वचन से हानि न पहुँचाना ही है।" ("Ahimsa means avoiding injury to any thing on earth in thought, words or deed.") हिंसा मे किसी भी प्राणी को कटु शब्दो, तीखे निर्णयो, द्वेष भावना, क्रोध घृणा, निर्दयता, या निर्बल प्राणी को जान-बूझ कर सताना, उसका आत्म सम्मान नष्ट करना आदि सभी सम्मिलित है। "किसी का शोषण भी हिंसा का स्तर है।" (Exploitation is the essence of violence.)

गांधी जी अहिंसा के कट्टर समर्थक थे। अतः उनके सम्मुख कुछ ऐसे महत्व-पूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो रहे थे जिनका निराकरण बिना अहिंसा की व्याख्या अधूरी रह जाती। उन्हें इस बात-का ज्ञान था कि पूर्ण अहिंसा शरीर धारी मनुष्य के लिये सम्भव नही। वह यह जानते थे जीवन मे कुछ मात्रा मे हिंसा अनिवार्य होती है। यहाँ हिंसा, और अहिंसा के सूक्ष्म अन्तर को उन्होने स्पष्ट दिक् दर्शन कराया। निम्न परिस्थितियो मे मनुष्य को हिंसा करनी पडती है और वह उससे बच नहीं सकता।

(१) **जीवन के भरण पोषण के लिये** जितनी हिंसा अनिवार्य होती है वह क्षम्य हो। उनके अनुसार खाने पीने को हिंसा, भोजन प्राप्त करने मे जीव हिंसा क्षम्य है। उसी प्रकार से यदि मनुष्य के स्वास्थ्यप्रद जीवन के मार्ग मे बाधक जीव-जन्तुओ मच्छर, मक्खी आदि को दवाइयाँ आदि छिडक कर मारना हिंसा नहीं है। यदि जंगल मे जाते हुये शेर-चीते, या सडक पर निकलते हुये पागल कुत्ते आदि जीवन को समाप्त करने के लिये आक्रमण कर दें तो उनका वध भी हिंसा की श्रेणी मे नही आता। यह हिंसा 'संकट कालीन कर्त्तव्य' (Duty in distress) कही जाती है, और विहित है।

(२) **आश्रित की रक्षा के लिये की गई** हिंसा भी अनिन्दनीय है। यदि कोई आततायी हमारे आश्रितो के जीवन से खिलवाड करने के लिये आये, तो उसका वध करना भी हिंसा नही होगी। स्त्रियाँ और बच्चे प्रत्येक समाज के मनुष्य के आश्रित हैं यदि उन पर कोई भी व्यक्ति अत्याचार करता है तो प्रत्येक व्यक्ति दो उसकी हत्या कर देनी चाहिये।

(३) जिस व्यक्ति या प्राणी की हिंसा की जाय, उसको ही दुखों से छुटकारा दिलाने के लिये वह आवश्यक हो, तो ऐसी हिंसा अपराध नहीं। उदाहरण के लिये यदि किसी का रोग असाध्य हो जाय और चारों ओर निराशा हो, तो उस व्यक्ति की हत्या की जा सकती है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि गाधी जी मनुष्य को आसानी से वधित होने देना चाहते हैं। वह मनुष्य को यदि शारीरिक रोग है तो उसका भली-भांति इलाज करा कर रोग दूर करने, यदि मानसिक रोग है, तो उसे सुधार कर उसके कष्टों को दूर करना चाहते थे। परन्तु यदि हिंसा निम्न चार अवस्थाओं में हो की जाती है, तो वह क्षम्य होती है—

(i) जब रोग असाध्य हो जाय, (ii) जब सभी सम्बन्धी उसके जीवन से निराश हो गये हों, (iii) किसी प्रकार की सेवा या सहायता बेकार हो, (iv) रोगी (को अपनी राय बताना भी असम्भव हो जाय तड़फ-तड़फ कर मरने वाले की हिंसा द्वारा छुटकारा दिलाना' भी अहिंसा ही है। उन्होंने कहा कि यदि मेरा पुत्र भी तड़प रहा हो और उसका कोई इलाज न हो तो मुझे उसके जीवन को समाप्त करना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये।" ("Should my child be attacked by rabies and there was no helpful remedy to relieve his agony, I would consider it my duty to take his life."—Gandhiji) उपरोक्त वक्तव्य से यह आशय नहीं लगाना चाहिये कि मनुष्य को हिंसायुक्त रहना चाहिये, वरन् जहाँ तक सम्भव हो, मनुष्य को अहिंसक जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस पर विचार करते हुये उन्होंने कहा कि "जीवन स्वयं कुछ न कुछ हिंसा युक्त है, परन्तु हमें कम से कम हिंसा का मार्ग अपनाना चाहिये।" (Life itself involves some kinds of violence but we have to choose the path of least violence.)

अहिंसा की सकारात्मक (Positive) व्याख्या—सकारात्मक ढंग से अहिंसा की व्याख्या करते हुये गाधी जी ने कहा वह हिंसा की प्रवृत्तियों के विपरीत होती है। अहिंसा किसी का मन कर्म और वचन से स्वार्थ, द्वेष और क्रोध में वध ही नहीं वरन् (१) प्रेम और उदारता का रूप है। अहिंसक सभी प्राणियों से यहाँ तक अपने शत्रु से भी प्रेम करता है। "इस प्रकार अहिंसा, सकारात्मक रूप में सभी प्राणियों के साथ, प्रेम पूर्ण व्यवहार है। (Non-violence is therefore in its active form good will towards all life.) शत्रु के प्रति भी प्रेम आत्मिक एकता का प्रतीक है। "वास्तविक प्रेम उन व्यक्तियों से प्रेम करने में है जो आपको घृणा करते हैं, अपने पड़ोसी को अविश्वास करते हुये भी प्यार करो..........मेरे प्रेम का क्या लाभ है यदि मैं इसे अपने मित्र तक सीमित रखूँ ? क्योंकि चोर भी यही करता है।" (२) बुराई को प्रेम से जीतना अहिंसा ही है। यह मानवीय शक्ति के विपरीत आत्मिक शक्ति और अनैतिकता के प्रति नैतिकता का प्रदर्शन है। (३) अहिंसा धैर्य का परिणाम है। अहिंसक धैर्य पूर्वक आत्म-पीड़ा की अग्नि में अपने आप को जलाता रहता है और दूसरों को कोई कष्ट नहीं होने देता। वह उस समय तक यह सहन करता है जब तक विरोधी पक्ष अपनी गलती स्वीकार नहीं कर लेता है। (४) अहिंसा में अन्याय के विरोध की भावना निहित है। अहिंसा से यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिये कि अन्याय और अत्याचार को हाथ पर हाथ रखकर बैठे हुये सहते रहा जाय। अहिंसक अपने विरोध को शांति पूर्वक प्रकट करता है। (५) वह वीरता

और सबलता का ही लक्षण है। अहिंसा अकर्मण्यता या समर्पण की भावना नही। वह बुराई को समूल मिटाने के लिये किये गये प्रयत्न का नाम है। वह अत्याचार का विरोध, अत्याचारी की आज्ञाओ के उल्लंघन द्वारा करती है। वह कायरो का शस्त्र नही सबल व्यक्तियो का शस्त्र है। शक्ति सम्पन्न व्यक्ति शक्ति का प्रयोग न करें वही सच्ची अहिंसा है। संक्षेप मे "अहिंसा अधिकतम कष्ट सहन करते हुये अन्य व्यक्तियों को अधिक से अधिक सहूलियत प्रदान करना ही है।" ('Ahimsa consists in allowing others the maximum of convenience at the maximum of inconvenience to us."—Gandhiji)

अहिंसा तीन प्रकार की होती है) Kinds of Non-violence)—सर्वोत्कृष्ट या वीर पुरुषो की अहिंसा, निबलो की अहिंसा और कायरो की अहिंसा।

(१) जाग्रत व्यक्तियों की अहिंसा (Non-violence of Enlightened persons)—सर्वोत्कृष्ट अहिंसा वीर पुरुषो की अहिंसा है। इसे हम साधन सम्पन्न या जाग्रत व्यक्तियो की अहिंसा कह कर भी पुकार सकते है। इसको अपनाने वाले अहिंसा को अनिवार्य बोझ समझ कर स्वीकार नही करते वरन् आन्तरिक विचारो की उत्कृष्टता या नैतिकता के कारण इसे स्वीकार करते हैं। इस अहिंसा को मानने वाले उसे जीवन के नियम के रूप मे बिना किसी के सम्मुख झुके हुये, संसार की आलोचनाओ, विरोध का दृढता से प्रतिरोध करते हैं। यह अहिंसा पर्वतो को भी चलायमान कर सकती है। सबल व्यक्ति इसे अपनाते हैं, वे मानवीय एकता और भ्रातृत्व को विस्मृत किये बिना ही, धैर्य और सत्य को इसके आधार स्तम्भ बना कर पालन करते हैं। यह शक्ति सम्पन्न होकर भी शक्ति का तनिक प्रयोग नही करते।

(२) निर्बलों की अहिंसा (Non-violence of the Weak)—इससे निम्न द्वितीय कोटि की अहिंसा वह होती है जिसे निर्बल व्यक्ति प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की अहिंसा का पालन जीवन के क्षेत्र विशेष मे उसको आवश्यक समझ कर किया जाता है। यह व्यक्ति असहाय होने या अकर्मण्यता के कारण अहिंसक बनते हैं और उन्हे कोई भी नैतिक भावना या प्रेरणा सहायता नही प्रदान करती। यह अहिंसा ईमानदारी, सच्चाई और साहस के साथ प्रयोग किये जाने पर काफी हद तक लाभदायक सिद्ध होती है। इसका प्रभाव प्रथम कोटि की वीरो की अहिंसा के समान नहीं होता। यह आवश्यकता पर आधारित होती है और मौका पडने पर हिंसा का प्रयोग भी हो जाता है। बाद मे गाधी जी ने इस प्रकार की अहिंसा को स्वीकार किया और कहा कि "निर्बलो की अहिंसा जैसी कोई चीज नही है, दुर्बलता और अहिंसा परस्पर विरोधी हैं।" ('There was no such thing as non-violence of the weak. Non-violence and weakness was a contradiction in terms."—Gandhiji.)

(३) कायरों की अहिंसा (Non-violence of Cowards)—तृतीय कोटि की अहिंसा कायरो और बुजदिलो की अहिंसा है। "कायरता और अहिंसा उसी प्रकार साथ नही चल सकते जिस प्रकार आग और पानी।" ("Cowardice and ahimss do not go together any more than water and fire.") कायर संकट का सामना नही करता वरन् वह भागने के लिये तत्पर रहता है। यह अमानवीय प्राकृतिक और घृणास्पद है। गाधी जी कायरता के विरोधी थे। उन्होने कहा

कि 'कायरता नपुंसकता है जो हिंसा से भी बुरी है। कायर बदला लेना चाहता है लेकिन मृत्यु के भय से दूसरों की ओर देखता है। वह मनुष्य से निम्न है और वह स्त्री पुरुष किसी समाज का सदस्य होने योग्य नहीं।' गांधी जी कायर की अपेक्षा हिंसक होना पसन्द करते थे। उन्होंने कहा कि "यदि नपुंसकता को छुपाने के लिये अहिंसा की आवश्यकता हो तो हृदय में हिंसा की भावना होने पर हिंसक बनना अच्छा है।" ["It is better to be violent if there is violence in our breast, than to put on the clock of non-violence to cover improtence. —Gandhiji.] हिंसक में साहस होता है और उससे यह आशा की जा सकती है वह किसी दिन अहिंसक बन जाय। लेकिन एक कायर कभी ऐसा नहीं कर सकता। इसीलिये 'यंग इण्डिया' में उन्होंने कहा कि "यदि हम अपनी स्त्रियों की, अपने देव स्थानों की रक्षा अहिंसक रीति से नहीं कर सकते, तो हमको सामने आना चाहिये और लड़कर उनकी रक्षा करनी चाहिये।"

अहिंसक के साहस और हिंसक के साहस में अन्तर होता है। हिंसक अपनी आत्म रक्षा के लिये हिंसा द्वारा साहस प्रदर्शन करता है। जबकि अहिंसक में साहस इतना अधिक होता है कि वह आत्म-रक्षा के लिये भी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन ग्रहण नहीं करता। वह स्वयं मरने को तैयार रहता है और किसी को भी चोट पहुँचाना या हत्या आदि करना नहीं चाहता।

इसके अतिरिक्त अहिंसा का क्षेत्र व्यक्तिगत और सार्वजनिक है। परिवार की समस्याओं के समाधान के लिये अहिंसा का सहारा लिया जाता है। अहिंसा और प्यार द्वारा जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह स्थाई होता है, इसीलिये व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बुराई का निवारण करने के लिये हिंसा या शक्ति के स्थान पर अहिंसात्मक उपाय प्रयोग किये जाने चाहिये।

यदि मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य हिंसक से अहिंसक होता जा रहा है। यह परिवर्तन मानव के सदियों के इतिहास में लक्षित होता है। सर्वप्रथम प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य नरभक्षी थे और अपनी उदर पूर्ति के लिये मनुष्यों को ही खा जाते थे। लेकिन उनकी प्राकृतिक अहिंसाप्रियता ने इसे अनुचित समझा। अन्यथा आज की विशाल और घनी आबादी के स्थान पर दो चार सर्वशक्तिशाली व्यक्ति ही दिखाई देते। यह सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, ज्ञान और विवेक आज नहीं होते। विज्ञान के चमत्कारों का कोई नाम लेवा नहीं रहता। यह अहिंसा की स्वाभाविक भावना ही थी जिसने उसके हृदय में मनुष्य भक्षण को त्याज्य ठहराया। अतः उसके बाद उन्होंने पशु-पक्षियों के मांस को उदर पूर्ति का आधार बनाया। शीघ्र ही स्वाभाविक प्रकृति ने मांस भक्षण के प्रति भी असमर्थता उत्पन्न की और अहिंसाधारी जीव मनुष्यों ने कृषि करना प्रारम्भ किया। जिन पशुओं को वध करके वह अपना पेट भरता था उसको त्यागकर उसने उनको पालना शुरू किया। उस नरभक्षी युग से आज के सभ्य मनुष्य तक आते हुये हमें मनुष्य की हिंसक प्रकृति में अहिंसा की ओर उसका विकास दिखाई देता है। मनुष्य के विकास का इतिहास मूलतः अहिंसात्मक विकास का इतिहास है। परन्तु इससे यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिये कि उसने हिंसा का पूर्ण त्याग कर दिया है। वह उसके हृदय में छुपी रहती है, फिर भी अहिंसा का अनुपम महत्व है और मानव की प्रगति उसका ही प्रतिबिम्ब है। यदि मानव और अधिक उन्नति करना चाहता

है तो उसे हृदय मे छिपी हुई हिंसा को भी त्याग देना चाहिये । आदर्श समाज पूर्ण अहिंसात्मक समाज होगा ।

गांधी जी की राजनीतिक विचारधारा
(Political Concepts of Gandhiji)

गाधी जी राजनीति दर्शन के दार्शनिक नही थे । उन्होने किसी विचार-धारा को लेख बद्ध कर, एक क्रमिक और सुव्यवस्थित रूप मे प्रकट करने की चेष्टा नही की । गान्धी जी एक कर्मयोगी और क्रियाशील राजनीति शास्त्री थे, उनके सम्मुख जो भी समस्यायें आती थी, उनके समाधान के लिये वे तत्पर रहते थे । इन्ही समस्याओ के समाधान की तत्परता के आधार पर कुछ ऐसे विचार अथवा सिद्धान्त सामने आये जिन्हें राजनैतिक अस्त्र कह कर पुकारा जाता है ।

गांधी जी के राजनीतिक अस्त्र
(Political Weapons)

राजनैतिक समस्या (अफ्रीका मे भारतीयो और एशिया वासियो के साथ भेदभाव, भारतवर्ष मे अंग्रेजो की दासता मे भारत की दुर्दशा को दूर करने के लिये स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन) को सुलझाने के लिये गाधी जी ने अनेको साधन प्रयुक्त किये । इन विभिन्न साधनो का सामूहिक नाम 'सत्याग्रह' है । उनके सामने सदैव नई नई परिस्थितियाँ आती रहीं और उनको सुलझाने के लिये समय विशेष पर जिस उपाय या शस्त्र को प्रयोग किया, उसको एक अलग नाम से पुकारा । निष्क्रिय प्रतिरोध, असहयोग सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह एक ही वस्तु की अलग-अलग नामकरण द्वारा अभिव्यक्ति है । यह चारो शस्त्र अलग-अलग है या एक ही है ? यह कहना कठिन है । सर्वप्रथम गाधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका मे जिस आन्दोलन का संचालन किया उसे निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) कह कर पुकारा । उसे गाधी जी ने कभी-कभी सत्याग्रह भी कहा । भारतवर्ष मे रौलैट एक्ट के विरोध मे सन् १९२०-२१ मे जिस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उसे सविनय अवज्ञा आन्दोलन कह कर पुकारा । सन् १९४०-४१ मे जिस आन्दोलन को गाधी जी ने चलाया, उसे सत्याग्रह कहा ।

गाधी जी ने विभिन्न परिस्थितियो के हल करने के लिये जिन उपायो का सहारा लिया वे सामान्य रूप से अलग दिखाई देते हुये भी मूल मे एक ही सिद्धान्त और भावना लेकर चलते हैं । गाधी जी के यह आन्दोलन विकास की क्रमिक प्रगति के द्योतक हैं । सर्वप्रथम एक शिशु जिस प्रकार चलना शुरू करने से पूर्व घुटनो के बल चलना प्रारम्भ करता है, आन्दोलन की यही अवस्था दक्षिणी अफ्रीका म थी । उस समय अहिंसा आदि की विचारधारा परिपक्व नही हो पाई थी, जैसे जैसे परिपक्वता आती गई, विचार और परिस्थितियो के अनुसार इन शस्त्रो के नाम भी बदलते गये । उन्होने कहा कि 'मेरे पथ प्रदर्शन के हेतु कोई सिद्धान्त उपलब्ध नही है । सत्याग्रह शस्त्र की पूर्ण मीमासा करने मे मैं असमर्थ रहा हूँ । अत अब भी अन्धकार मे टटोल-टटोल कर चल रहा हूँ तुम्हें मेरे विचार जँचें तो मेरे साथ आओ ।

गाधी जी के राजनैतिक विचार उनकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे ही फलते-फूलते हैं । उन्होने सत्याग्रह पद्धति भी आध्यात्मिकता के आधार पर प्रतिपादित की । सत्याग्रह का साहित्यक अर्थ सत्य। आग्रह अर्थात् सत्य पर दृढ रहना है । आत्मिक एकता सर्वोच्च सत्य है और उसे प्राप्त करने का माध्यम अहिंसा है जो प्रत्येक के

साथ प्रेम करने और सभी के लिये पीड़ा सहने का ही नाम है। यह सत्य की तपस्या है। सत्याग्रह अहिंसा और सत्य का ही नाम है। सत्य सदैव विजयी होता है। सर्वप्रथम गाधी जी ने ही इस सिद्धान्त को प्रयोगान्वित किया। उन्होंने कहा, अन्याय से अन्याय को दूर नहीं किया जा सकता। अग्नि को अग्नि नहीं बुझा सकती; अत्याचारों को प्रतिरोध द्वारा नही मिटाया जा सकता। गांधी जी से पूर्व इस प्रकार की बात पसन्द नही की जाती थी। अन्याय को मिटाने के लिये अन्याय का सहारा लिया जाता था। उन्होंने इसका खण्डन किया कि सत्य चिरंजीवी होता है। सत्य और अहिंसा के मिश्रित प्रयोग से अन्याय को समूल नष्ट किया जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका मे अपने शस्त्र की सफलता से उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हीं उपायो द्वारा जीवन की प्रत्येक समस्या का हल निकाला जा सकता है।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध दोनो ही शत्रु के अत्याचारो का मुकाबला करने, संघर्ष सुलझाने और सामाजिक, राजनैतिक परिवर्तन लाने के लिये किये जाते हैं। इन दोनों में मुख्यत: कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि सत्याग्रह एक व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जाने वाला शस्त्र है और निष्क्रिय प्रतिरोध उसका एक अंग ही है। सत्याग्रह यदि सत्य के लिये आग्रह करने को कहते हैं तो निष्क्रिय प्रतिरोध असत्य का विरोध करने के लिये प्रयुक्त होता है। इन दोनों में स्पष्ट रूप से कोई अन्तर न होते हुए भी गांधी जी ने निम्न भेद बताया—

(१) निष्क्रिय प्रतिरोध राजनैतिक शीघ्र परिवर्तन का शस्त्र है और सत्याग्रह नैतिकता का वह शस्त्र है जो आत्म शक्ति के आधार पर संचालित किया जाता है।

(२) निष्क्रिय प्रतिरोध कमजोर और शक्तिहीन व्यक्तियों का शस्त्र है, जब कि सत्याग्रह बलवान व्यक्तियों का ही शस्त्र है, जो बिना हानि पहुँचाये स्वयं हानि सहन करने के लिये तैयार हों।

(३) निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को लाचार बनाकर अपना उद्देश्य पूरा करते हैं, लेकिन सत्याग्रह आत्मशक्ति और प्यार के आधार से शत्रु के हृदय को मोड़ने के लिये प्रयोगान्वित होता है।

(४) निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु के प्रति प्रेम जैसी कोई चीज नहीं होती। इसके विपरीत सत्याग्रह में घृणा जैसी दूषित भावनायें नहीं होतीं।

(५) निष्क्रिय प्रतिरोध में मजबूरी मे विरोधी के कार्य सहन किये जाते हैं और नकारात्मक कार्य किये जाते हैं जबकि सत्याग्रह में प्रसन्नतापूर्वक अत्याचार सहते हैं और सकारात्मक कार्य किये जाते हैं।

(६) निष्क्रिय प्रतिरोध मे आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त अवस्था में हिंसा का प्रयोग भी किया जा सकता है, लेकिन सत्याग्रह में हिंसा का प्रयोग वर्जित है और पूर्ण तया अहिंसात्मक है। किसी भी परिस्थिति में हिंसा का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(७) निष्क्रिय प्रतिरोध में व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धि जैसी कोई भावना नहीं होती और उसका नैतिक प्रयोग नहीं किया जाता। सत्याग्रह में आत्म शुद्धि के नैतिक प्रयत्न निहित हैं।

(८) निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग एक सीमित क्षेत्र में किया जाता है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग विश्वव्यापी होता है।

सत्याग्रह का उद्देश्य (Aims of Satyagraha)—गांधी जी ने बताया कि सत्याग्रह का उद्देश्य बहुसूत्री है। यह सर्वप्रथम आत्म-शुद्धि का प्रतीक है और इसलिये किया जाता है कि आत्मा पूर्णता प्राप्त कर सके। दूसरे सत्याग्रह में विरोधी के हृदय परिवर्तन को लक्ष्य बनाया जाता है। सत्याग्रही अपने विरोधी के हृदय की वैर-विरोध की भावनाओं को प्यार द्वारा जीतने का प्रयत्न करती है। विरोधी को उसकी त्रुटि का ज्ञान कराया जाता है और उसे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करा कर भेद भाव सुलझाया जाता है। तीसरे विरोधी पक्ष को कुचलना, पराजित करना, दंड देना और इच्छा को असफल बनाना लक्ष्य नहीं होता। यदि अपने विरोधी का हृदय परिवर्तन करना हो तो उसे अपने हृदय की अच्छाइयों का परिचय देना पड़ता है।

सत्याग्रह आत्मा शक्ति है। यह एक प्रकार का धर्म युद्ध है जिसमें छल, प्रपंच, धूर्तता आदि को कोई स्थान नहीं। यह युद्ध का नैतिक प्रतिरूप (Moral equivalents of war) है। यह इतना व्यापक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दिन प्रतिदिन के जीवन में माता-पिता, बच्चों, मित्रों सभी के प्रति किया जा सकता है। यह राजनैतिक और सामाजिक जीवन के साथ ही व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में भी प्रयोग किया जा सकता है। सत्याग्रह और युद्ध में अन्तर है। युद्ध विनाश करता है और उसमें हिंसा का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत सत्याग्रह में अहिंसा प्रयोग करके दूसरों को कष्ट पहुँचाने के स्थान पर, स्वयं कष्ट सहा जाता है। गांधी जी ने सत्याग्रही के लिये ४ गुण आवश्यक बताये हैं—(१) सत्यता, (२) अनुशासन, (३) त्याग, (४) अहिंसा। सत्याग्रही का अहिंसक होना बहुत जरूरी है। "अहिंसा का प्रथम पाठ परिवार की पाठशाला में ही पढ़ा जाता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि परिवार में अहिंसा की सफलता सिद्ध करती है कि उसका प्रयोग सफल होगा एवं अहिंसक के लिये समस्त विश्व परिवार है।" [The alphabet of ahimsa is best learnt in the domestic school, and I can say from experience that if we secure success there, we are sure to do so every where For a non violent person whole world is one family —Gandhiji]

सत्याग्रह की कला (Art of Satyagraha)—सत्याग्रह में हिंसा का रंच मात्र भी स्थान नहीं होना चाहिये। किसी प्रकार भी मन, कर्म और वचन से विरोधी को हानि पहुँचाने का विचार मन में बिल्कुल नहीं लाना चाहिये। सत्याग्रही को जब भी उत्तेजित किया जाय, उसे सहिष्णुतापूर्वक उसको सहन करना चाहिए। सत्याग्रही को परोक्ष रूप में बुराई को अच्छाई से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य और हिंसा को अहिंसा से सुधारना चाहिये। यदि विरोधी सत्याग्रही को २० बार धोखा देता है तो सत्याग्रही को २१ वीं बार भी उस पर विश्वास करना चाहिये।

सत्याग्रह कला के समान अपनी टेक्नीक रखता है। इसलिये इसके प्रयोग में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए।

(१) सर्वप्रथम सत्याग्रह का आरम्भ करने से पूर्व यह भली भांति अनुभव कर लेना चाहिये कि अब इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय शेष नहीं रहा। अन्यायी से

प्रार्थना कर उसे अन्याय दूर करने करने के लिये शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये जब उपाय असफल हो जायें, तभी जाकर सत्याग्रह करना चाहिये ।

(२) यदि सार्वजनिक सत्याग्रह करना हो तो सर्वप्रथम जनसमूह को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए । जन समूह को आकर्षित करने के लिये तरह-तरह के उपाय प्रयोग करने चाहिये और जैसे ही यह स्पष्ट हो जाय कि जनता आपकी ओर आकर्षित हो चुकी है, सत्याग्रह आरम्भ कर देना चाहिये ।

(३) सत्याग्रह आरम्भ करने से पूर्व अपनी न्यूनतम माँग निश्चित कर लेना चाहिये और किसी भी अवस्था में उससे कम या अधिक स्वीकार नहीं करना चाहिए ।

(४) सत्याग्रही को संघर्ष के साथ शान्ति के लिए तैयार रहना चाहिए । जब भी सम्माननीय समझौते के अवसर उपलब्ध हों, बिना किसी हिचकिचाहट के उसे स्वीकार करना चाहिये । लेकिन मुख्य आधारभूत नैतिक विषय पर समझौता नहीं करना चाहिए क्योंकि यह समझौते के स्थान पर घुटने टेकना होगा । समझौते की भावना हृदय में लेकर चलने से जनमत भी सत्याग्रही के पक्ष में हो जाता है ।

(५) सत्याग्रह में पीड़ा का भाव निहित है । सत्याग्रही को प्रत्येक प्रकार की पीड़ा सहन करने के लिये तैयार रहना चाहिये । कोई भी देश बिना पीड़ा की अग्नि में शुद्ध हुये ऊपर नहीं उठा । माँ की पीड़ा पुत्र के कल्याण के लिये आवश्यक है । पीड़ा सहन करने की कोई निर्धारित सीमा नहीं, मारपीट सम्पत्ति हरण और यहाँ तक कि मृत्यु भी प्राप्त हो सकती है ।

प्रत्येक सत्याग्रह पाँच अवस्थाओं में से होकर गुजरता है । सर्वप्रथम उदासीनता होती है । किसी भी कार्य के आरम्भ में जनसमूह उसके प्रति ध्यान नहीं देता और उसके प्रति उदासीन होता है । दूसरे, जब लोग सत्याग्रही के कार्यों को लक्ष्य बनाते है तो वे उनकी हँसी उड़ाते हैं । तीसरे जिन्हें सत्याग्रही के कार्यों से हानि होती है, वह निन्दा करते हैं, चौथे, अधिकारी गण उसका दमन करते हैं और अन्त में उसके प्रति आदर करते है । सत्याग्रही अपने गुणों के आधार पर इनमें से किसी से भी घबड़ाये नहीं और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये निरन्तर कदम बढ़ाता चला जाय ।

सत्याग्रह के प्रकार (Kinds of Satyagraha)—सत्याग्रह अनेक प्रकार का होता है । सर्वप्रथम उसका वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है—व्यक्तिगत और सामूहिक । व्यक्तिगत सत्याग्रह उसको कहते हैं जब अकेला सत्याग्रही अपने उद्देश्य की सफलता के लिये प्रयत्न करता है । जब एक के स्थान पर अनेकों व्यक्ति सत्याग्रह में भाग लेते है तो वह सार्वजनिक तथा सामूहिक सत्याग्रह कहलाता है ।

(१) **असहयोग आन्दोलन (Non-co-operation movement)**—असहयोग आन्दोलन अहिंसात्मक सत्याग्रह के शस्त्रागार का एक प्रभावशाली शस्त्र है । असहयोग के पीछे सहयोग न करने की भावना छिपी है । जिस समय अत्याचार, अनाचार दुराचार आदि इतना बढ़ जाय कि उसको सहन करने के लिये आत्मा धिक्कार उठे । ऐसी अवस्था में दुराचारी से सहयोग न करना ही असहयोग है । यह शस्त्र नित्य प्रति के जीवन में भी प्रयोग किया जा सकता है । पिता पुत्र से, विद्यार्थी अध्यापक से, निगमाध्यक्ष से पार्षद, शासक से शासित आदि सभी सम्बन्ध में हो सकता है ।

गावी जी ने इसके सम्बन्ध मे कहा कि 'यदि मेरा पुत्र लज्जास्पद जीवन व्यतीत करता है, मैं उसे और सहायता देकर ऐसा नही करने दूंगा। इसके विपरीत उसके प्रति मेरा प्रेम मुझे सम्पूर्ण सहायता वापिस करने को प्रेरणा देगा चाहे उससे उसके जीवन का अन्त ही क्यों न हो जाय। लेकिन जब वह पश्चात्ताप करेगा तो मैं उसे अपने हृदय से लगा लूंगा।"

असहयोग वस्तुतः एक महत्वपूर्ण शस्त्र है। इसमे यह भावना निहित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। यदि सहयोग का स्थान असहयोग ले ले तो मानव जीवन एक दु.खद सजोग हो जायगा। शासन भी सहयोग पर चलता है और विशयत विदेशी शासन तो देश के निवासियों के सहयोग पर ही आधारित है। यदि सहयोग के स्थान पर उससे असह-योग किया जाय तो उसका टिकना दूभर हो जायगा। भारत मे ब्रिटिश शासन का पालायन इसी आन्दोलन की महत्वपूर्ण उपसिद्धि है।

(२) **अनशन** (Fasting)—सत्याग्रह मे अनशन एक अनुपम महत्व का शस्त्र है। यह एक अति भयानक शस्त्र है। अतएव इसका प्रयोग बहुत ही सोच विचार कर करना चाहिये। सत्याग्रही का अनशन और दुराग्रही का अनशन तथा भोजन त्याग आदि मे अन्तर करना बहुत कठिन है। अनशन या व्रत के द्वारा आत्मशुद्धि होती है और मनुष्य के विकास मे सहायता मिलती है (चौरी चौरा दुर्घटना के बाद फरवरी १९२२ में ५ दिन का उपवास, हरिजन प्रश्न पर मई १९३३ मे २१ दिन का उपवास अपनी तथा साथियो की हृदय शुद्धि के कारण किया गया)। उपवास या व्रत द्वारा विरोधी या बुराई करने वाले के हृदय को भी परिवर्तित किया जाता है। यह जनमत निर्माण करने का अच्छा तरीका है लेकिन इसका प्रयोग किसी कुशल व्यक्ति द्वारा ही किया जाना चाहिए। आत्मिक शक्ति से असम्पन्न, स्वार्थी, क्रोधी, धैर्य और विश्वास रहित व्यक्ति के लिये इसमे कोई स्थान नहीं। व्रत कर्त्ता मे ईश्वरीय शक्ति मे विश्वास, दृढ निश्चय, मस्तिष्क की एकाग्रता आदि होना आवश्यक है।

(३) **हडताल** (Strike)—हडताल भी सत्याग्रह का एक रूप है। हडताल का उद्देश्य शासन एवं जनता दोनो का ध्यान आकर्षित करना है। यह प्रतिवेदन (protest) के रूप मे की जाती है। यह ऐच्छिक होनी चाहिए और कभी-कभी की जानी चहिए। इसका प्रारम्भ करने से पूर्व अपनी मांग स्पष्ट रूप मे रख देनी चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन मांगो को पूरा किया जा सकता है, और अधिकारी विशेष के हाथ मे उन्हे पूरा करने की शक्ति है। हडताल करने वालो के हाथ के कार्य (handicrafts) आदि का ज्ञान होना चाहिये। जिससे आवश्यकता पडने पर वे अपनी आजीविका चला सकें। यह हडताल साम्यवादी या समाजवादी हडताल से भिन्न है क्योंकि इसका प्रयोग विरोधी के हृदय परिवर्तन के लिये किया जाता है और साम्यवादी हडताल पूंजीपति वर्ग के शोषण के लिए की जाती है।

(४) **बहिष्कार** (Boycott)—बहिष्कार भी सत्याग्रह का एक शस्त्र है। भारत वर्ष मे जाति बहिष्कार आदि के रूप मे यह बहुत पहले से चला आ रहा है। जनमत उल्लंघनकर्त्ता के प्रति बहिष्कार का प्रयोग बहुत कम होना चाहिये।

(५) **धरना** (Picketing)—धरना विरोधी को अपने विचारो के प्रति आकर्षित करने का एक शस्त्र है। गान्धी जी ने मादक द्रव्यो, शराब, अफीम तथा

विदेशी वस्त्रों की दुकानों आदि के लिए १९२०-२२ तथा १९३०-३४ में प्रयोग किया। इसका अर्थ गांधी जी कभी भी एक ऐसी दीवार खड़ी करना नहीं समझते थे कि दुकान आदि पर जाने वाले के लिये रास्ता बन्द हो जाय वरन् इसका अभिप्राय यह था कि प्रवेश का इच्छुक व्यक्ति जनमत के भय के कारण नहीं जा सके।

(६) सविनय अवज्ञा (Civil disobedience)—सविनय अवज्ञा आन्दोलन असहयोग आन्दोलन का ही एक भाग है। शासन की आज्ञा का पालन कर हम उसमें सहयोग करते हैं, यदि भ्रष्ट शासन के आदेशों की अवहेलना की जायगी तो वह अपनी त्रुटि सुधारने का प्रयत्न करेगा। बिना किसी द्वेष भाव के, सहनशीलता के साथ शासन के दमन चक्र, दंड आदि को स्वीकार करना चाहिए। इसमें गांधीजी ने पदवियों का परित्याग, अवैतनिक पद त्याग, शासकीय सेवाओं सेना-पुलिस आदि का त्याग, शासकीय विद्यालयों एवं न्यायालयों का त्याग, व्यवस्थापिका सभा का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं एवं वस्त्रों का त्याग, टैक्स न देना आदि, शासकीय दरबार व सभाओं को छोड़ना, शासकीय पदाधिकारियों के सम्मान में दी गई दावतों आदि में न जाना सम्मिलित है।

सविनय अवज्ञा पूर्ण प्रभावकारी रक्तहीन क्रान्ति का ही दूसरा नाम है। यह असहयोग की अन्य प्रक्रियाओं से अधिक द्रुतगामी है। इसका प्रारम्भ कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना चाहिये। अन्यायी, अनैतिक, अप्रजातान्त्रिक शासन के बुरे कानूनों का विरोध करना मनुष्य मात्र के हित में होना है। यह विरोध पूर्ण नागरिक ढंग से होना चाहिये। यह किसी एक कानून विशेष के विरोध में हो सकता है या सम्पूर्ण शासन और उसके विरोध में हो सकता है। प्रथम में शासन से उस अन्यायी कानून को वापिस लेने की माँग होती है, दूसरे में भ्रष्ट शासन को नष्ट करने की योजना होती है। (प्रथम का उदाहरण—चम्पारन में गांधी जी ने नील की खेती करने वाले किसानों को, दक्षिणी अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन एक्ट एवं उँगलियों की छाप के विरोध में, बारदोली तथा खेड़ा में प्रयुक्त हुआ। दूसरे का उदाहरण—१९२०-२२, १९३०-३४ में ब्रिटिश शासन के विरोध में, १९४२ का ८ अगस्त का आन्दोलन भी ब्रिटिश सत्ता उखाड़ फेंकने का प्रयास मात्र था।)

सविनय अवज्ञा आन्दोलन व्यक्तिगत तथा सामूहिक होता है। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन आज्ञा एवं कानूनों का एक व्यक्ति द्वारा विरोध होता है। इसमें व्यक्ति स्वयं अपना नेता होता है और इसमें असफलता की सम्भावना नहीं रहती। इसके विपरीत सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन में एक नेता की आवश्यकता होती है और अनेकों व्यक्तियों का समूह उस पर चलता है। किसी भी एक व्यक्ति की असफलता का प्रभाव सम्पूर्ण आन्दोलन पर पड़ता है।

(७) हिजरत (Hizarat)—इसमें आन्दोलनकर्ता स्वेच्छा से अपना निवास-स्थान छोड़ कर अन्य स्थान पर जाकर निवास करना प्रारम्भ करता है। शोषित एवं आत्म-सम्मान खोने से कुछ व्यक्ति आत्म सम्मान की रक्षा के लिये अन्यत्र रहने लगते हैं। निरंकुश शासन को छोड़ कर दूसरे स्थान पर जा कर निवास करना भी अहिंसात्मक आन्दोलन ही है। गांधी जी ने १९२८ में बारदोली, लिम्बडी जूनागढ़ तथा विट्ठल गढ़ के निवासियों तथा १९३५ में कविथा के हरिजनों को उच्चवर्णीय हिन्दुओं के त्रास से मुक्त होने के लिये अपना स्थान छोड़ जाने की सलाह दी।

सत्याग्रह का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे किया जाय यह गाधी जी की मान्यता थी। इन्होने इसे विदेशी शासन को चुनौती देने विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिये उपयुक्त बताया। उनका कथन था कि यदि विदेशी आक्रान्ता देश मे दमन-चक्र द्वारा देशवासियो को कुचलता हो और देशवासी असहयोग पूर्वक बिना विरोध के उसका सामना कर रहे हो तो शत्रु के हृदय की मानवता उसे धिक्कार उठेगी और वह अपने अत्याचार समाप्त कर देगा।। सत्याग्रही सदैव विजयी होगा। गाधी जी को सत्याग्रह पद्धति जीवन के प्रत्येक पहलू आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक सभी मे समान रूप से प्रयोगनीय है।

गांधी जी व राज्य
(Gandhiji and State)

गांधी जी के राज्य सम्बन्धी विचारो मे आदर्शवादिता, व्यावहारिकता, अराजकवाद और व्यक्तिवाद तथा सर्वोदयी समाजवाद का पुट मिला हुआ है। गाधी जी अराजकतावादी राज्य के समर्थक थे। वह राज्य का अस्तित्व किसी भी रूप में देखना पसंद नही करते थे। राज्य का खंडन करने के लिये वे नैतिक आर्थिक और ऐतिहासिक सभी तर्कों का सहारा लेते थे।

गांधी जी का अराजकतावाद—गाधी जी अराजकतावादी थे। उन्होने नैतिक दृष्टि से राज्य का विरोध करते हुये साध्य साधन दर्शन का सहारा लिया। गाधी जी ने कहा कि साधन का औचित्य साध्य को सिद्ध करता है। राज्य भी साध्य न होकर नागरिको के बहुउद्देश्यीय जीवन के विकास का साधन है। राज्य व्यक्ति के जीवन मे नियमो द्वारा प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है परन्तु यह उचित नही है। राज्य का होना व्यक्ति के लिये अहितकर होता है। ऊपर से देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि राज्य के कानूनो का बाहुल्य व्यक्ति के शोषण को मर्यादित करता है और उसे विकास के अवसर प्रदान करता है, परन्तु यह दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण और मिथ्या है। राज्य की अनिवार्यता व्यक्ति की नैतिकता का ह्रास करती है। व्यक्ति के कार्य उसी अवस्था में नैतिक होते है जब वह ऐच्छिक होते है। राज्य व्यक्ति की इच्छा-शक्ति का दमन कर उस पर दबाव डालता है। राज्य व्यक्ति की वैयक्तिकता को नष्ट करता है और व्यक्ति को मशीन की तरह कार्य करने के लिये विवश करता है।

इससे भी अधिक भयंकर हानि उस समय होती है जब हम राज्य को हिंसात्मक साधनों का अवलम्बन करते हुये देखते हैं। राज्य कितना भी प्रजातान्त्रिक क्यो न हो, वह हिंसा पर आधारित रहता है "राज्य एकत्रित एवं संगठित हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की आत्मा होती है और राज्य आत्मा रहित मशीन है।" राज्य की शक्तियो की वृद्धि व्यक्ति के जीवन को विकसित होने से ही नष्ट कर देती है। गाधी जी के यह अराजकतावादी विचार अन्य अराजकतावादी विचारको से मिलते है क्योकि वह सभी राज्य को शक्ति पर आधारित मानने के कारण त्याज्य ठहराते हैं। अतः गाधी जी राज्य का उन्मूलन कर अराजक अवस्था लाना चाहते हैं।

आदर्श राज्य या रामराज्य—आदर्श राज्य का चित्रण करते हुये गांधी जी ने उसके लिये 'रामराज्य' शब्द प्रयोग किया है। यह राज्यविहीन अवस्था (अराजक राज्य) का द्योतक है। जिसमे बौद्धिक अराजकता (enlightened anarchy) होगी।

इसकी व्याख्या करते हुए गांधी जी ने कहा कि राज्य का किसी भी रूप में अस्तित्व मनुष्य की अपूर्णता का प्रतीक है। यदि ऐसी अवस्था में राज्य नहीं हो, तो व्यक्ति अपना विकास करने में असमर्थ रहेगा। लेकिन जैसे ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता जायगा, उसे राज्य की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस अवस्था में व्यवस्था करने वाला तत्व मनुष्य का स्वयं संचालित विवेक होगा। ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं शासक होगा। विवेक व्यक्ति का पथ-प्रदर्शक होगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार अपना शासन करेगा कि वह अन्य व्यक्तियों के कार्यों में बाधक न हो। आदर्श राज्य में अधिकार का स्थान कर्त्तव्य, स्वार्थ का स्थान परमार्थ लोभ का स्थान त्याग ले लेगा। यह सत्य और अहिंसा पर आधारित होगा। स्वराज्य में अपनी सरकार के स्थान पर स्वराज्य अपनी आत्मा का अपने ऊपर राज्य होगा और उसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। गांधी जी ने 'यंग इण्डिया' में कहा था कि "मेरे लिये स्वराज्य का अर्थ मेरे देश के तुच्छ व्यक्ति के लिये भी स्वतन्त्रता होना है।" ('Swaraj for me means freedom for the meanest of our countrymen.") इस प्रकार भारतवर्ष की स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय केवल सत्ता हस्तान्तरण मात्र ही नहीं था, वरन् कृषक एवं मजदूरों को भी इतनी स्वतन्त्रता देना था कि वे अपने ऊपर स्वयं राज्य कर सकें। यह स्वतन्त्रता यथार्थ में स्वतन्त्रता होगी, व्यक्ति आत्म निर्भर होंगे, राज्य निर्भर नहीं। व्यक्ति जितना राज्य विहीन होकर कार्य करेगा, वह उतना ही स्वतन्त्र होगा। यह गांधी जी के बौद्धिक अराजकतावाद की रूपरेखा थी।

व्यक्तिवाद राज्यविहीन अवस्था की अव्यावहारिकता का हल है—गांधी जी ने अपने विचार व्यक्तिवादी विचारकों के समान बना लिये। उन्होंने राज्य को बुराई होते हुये भी आवश्यक बताया। राज्य के बिना समस्या और भी जटिल हो जायगी। वह राज्य को पूर्णतया विलुप्त नहीं होने देना चाहते थे। वह राज्य की निरंकुशतावादी सम्प्रभुता के विरोधी थे। इसलिये उन्होंने कहा कि व्यक्ति को राज्य के प्रति उतनी ही श्रद्धा रखनी चाहिये, जितनी वह अन्य संस्थाओं के प्रति रखता है। व्यक्ति को राज्य के उन्हीं कानूनों का पालन करना चाहिये जो नैतिक हों। इस प्रकार गांधी जी राज्य का कार्य क्षेत्र सीमित कर न्यूनतम बना देते हैं।

गांधी जी व्यक्तिवाद के समर्थक भी हैं परन्तु उनका व्यक्तिवाद पश्चिम के व्यक्तिवाद से भिन्न है। वह व्यक्ति को साध्य और राज्य को उसकी पूर्ति का साधन मानते थे। राज्य व्यक्ति के हित के लिये अधिक से अधिक ऐसे कार्य करे जिससे व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि हो। वह व्यक्ति को अकेले छोड़ कर उन्मुक्त प्रतियोगिता का वातावरण नहीं बनाना चाहते थे क्योंकि उनके विचार में वह व्यक्ति का हित साधन करने के स्थान पर उसे अधिक विपत्तियों में फँसा देता है। इस प्रकार के व्यक्तिवाद ने समाज में आर्थिक विषमता की गहरी खाई खोद कर श्रमिकों को शोषित किया है। अत. गांधीवादी व्यक्तिवाद में व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे और राज्य उनके लिये अधिक हित करने का प्रयत्न करेगा।

सर्वोदय—राज्य के उद्देश्य के विषय में, गांधी जी सर्वोदयी विचारधारा के पोषक थे। वह बेंथम के अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख (greatest good of the greatest number) के स्थान पर सभी व्यक्तियों के अधिकतम सुख (greatest

good of all) के समर्थक थे। इस विचारधारा को सर्वोदय कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ तक हो सके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास की पूर्णतम सुविधा प्राप्त हो। राज्य व्यक्ति के विकास मे कम हस्तक्षेप करेगा और वह आत्म नियन्त्रित अराजकता का विकास करेगा। व्यक्ति परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य करेंगे और ऐच्छिक संगठनो द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करेंगे। राज्य सभी के हित के लिये कार्य करेगा। गाधी जी के स्वराज्य का स्वप्न गरीबो के स्वराज्य का स्वप्न ही है। उनको भी जीवन की आवश्यक वस्तुयें उसी तरह सुलभ होनी चाहिये जिस तरह राजा या रईसो को होती हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही कि उनको महल आदि ऐश्वर्य भी उपलब्ध हो। देश के प्रत्येक व्यक्ति को जब तक जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें सुलभ नही होगी, स्वराज्य अपूर्ण होगा। सर्वोदय जीवन की आवश्यकताओ का पूरा करने का प्रयत्न करेगा तथा जीवन स्तर उठायेगा लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं होगा इस जीवन को विलासिता के गड्ढे मे ढकेल देगा।

शासन व्यवस्था (Government)—गाधी जी के आदर्श अराजकतावाद की शासन पद्धति प्रजातन्त्र होगी। यह प्रजातन्त्र गाँवो का ऐसा स्वयं आत्मनिर्भर संघ होगा जो ऐच्छिक सहयोग पर आधारित होने के कारण सम्मानपूर्वक शान्तिमय जीवन व्यतीत करेगा। इसमे प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा, आत्मनियन्त्रण पूर्णतया समाज सेवा को लक्ष्य बनाकर, त्यागपूर्ण सरल जीवन व्यतीत करते होगे। वह राज्य एक विकेन्द्रीय राज्य होगा। प्रत्येक गाँव एक गणतन्त्र होगा जिसमे पंचायतें सर्वसत्ता सम्पन्न होगी। इसका आशय यह है कि प्रत्येक गाँव आत्म-निर्भर होगा और प्रबन्ध करने मे इतना पटु होगा कि समस्त विश्व से अपनी रक्षा कर सकेगा। इस जीवन का केन्द्र व्यक्ति होगा, प्रत्येक स्त्री-पुरुष उच्च संस्कृतिवान होगा।

यह ग्राम संघ एक पिरेमिड के समान होगा जहाँ शक्ति की धारा नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होगी। प्रथम इकाई व्यक्ति होगा जो सर्वस्व त्याग कर गाँव के जीवन को उन्नत बनाने के लिये सचेष्ट होगा। इस विकेन्द्रित समाज मे सर्वत्र समानता रहेगी। विकेन्द्रित शक्ति से सत्ता के दुरुपयोग का भय नही होगा। सन् १९१७ मे उन्होने घोषणा की थी कि भारतीय स्वराज्य संसदीय होगा। सन् १९४२ मे उनके विचारो मे परिवर्तन आया और उन्होने पाश्चात्य प्रजातन्त्र की आलोचना की। उन्होने बताया कि पाश्चात्य प्रजातन्त्र नाम मात्र ही प्रजातन्त्र हैं क्योकि वे साम्राज्यवाद शोषण, पूँजीवाद, राजनीतिक भ्रष्टाचार, शस्त्रो की दौड मे लगे रहते हैं। इंगलैंड की ससद प्रणाली की आलोचना करते हुए उन्होने कहा कि इसने आज तक कोई अच्छा काय नही किया। यदि बौद्धिक दृष्टि से जागृत मतदाताओ ने सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति चुनकर भेजे होते, तो वे स्वार्थी और दिखावा करने वाले नही होते। यह विश्व की बातचीत करने वाली दुकान (talking shop of the world) है। संसद सदस्य अपना मन्तव्य देने के बजाय राजनीतिक दल के साथ हो वोट देते हैं। प्रधानमंत्री भी निष्पक्ष रूप मे अपने देश के हित की चेष्टा नही करता। वह अपने दल को गठित और प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। मतदाता समाचार-पत्रो के आधार पर अपना मत निर्धारित करते हैं समाचार-पत्र स्वयं भ्रष्ट होते हैं। अत. प्रजातन्त्र की यह प्रणाली अनुकरणीय नहीं होनी चाहिये।

इन दोषों का निराकरण अहिंसा और सत्य के पथ का अनुकरण करने से दूर किया जा सकता है। गांधी जी ने अपने आदर्श राज्य के मतदाता की योग्यता निर्धारित करते हुए बताया कि उनकी आयु १८ वर्ष (या २१ वर्ष) से ५० वर्ष के मध्य में होगी। 'वह अपने जैसे वृद्ध व्यक्तियों को मतदान से वंचित रखेंगे""भारत और विश्व उन लोगों के लिये नहीं है जो मृत्यु कगा पर हों""""इस प्रकार वह एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को, अर्थात् ५० वर्ष से ऊपर, मतदान से उसी तरह वंचित रखेंगे जिस तरह १८ वर्ष से कम के व्यक्तियों को।" मतदान सर्वव्यापी होगा प्रत्येक व्यक्ति जो स्वयं श्रम करता है, मतदान कर सकेगा। शैक्षिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता नहीं होगी। प्रतिनिधियों की योग्यता बताते हुये गांधी जी ने कहा कि योग्य, स्वार्थरहित, पदलोलुप और भ्रष्ट न होने वाले हों, जनता उनके पूर्व कार्यों के आधार पर मतदान करेगी। पद प्राप्त करने की इच्छा सेवा करने के लिये होगी। इस प्रजातन्त्र में निर्णय करने का तरीका बहुमत नहीं होगा। आत्मा के विषय में बहुमत का कानून कोई स्थान नहीं रखता। प्रजातन्त्र भेड़ों का राज्य नहीं है। अल्पमत को भी बहुमत के विरोध में कार्य करने का अवसर दिया जायगा क्योंकि कोई भी विचार पूर्ण सत्य नहीं होता। इसलिये बहुमत को अल्पमत चाहे वह एक व्यक्ति का ही हो, यदि वह उपयुक्त है अवश्य मानना चाहिए। इस प्रकार आदर्श अराजकतावादी राज्य में बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं होगा।

यह आदर्श राज्य धर्म निरपेक्ष होगा। राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। राज्य की सीमा में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म मानने, उसका प्रचार और प्रसार करने का अधिकार होगा। विकेन्द्रीय राज्य में अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा संगठन रखा जायगा। सर्वप्रथम गाँव प्रत्येक व्यक्ति द्वारा शासित होंगे और प्रत्येक गाँव अपने एक वोट द्वारा जिला प्रशासक निर्वाचित करेंगे। वह प्रान्त के लिये और प्रान्त केन्द्र के अध्यक्ष का निर्वाचन करेगा।

अपराध (Crime)—गांधी जी ने कहा कि अपराध समाजजन्य रोग है। वह अहिंसात्मक राज्य में से भी पूर्णतया विलीन नहीं हो जायेंगे। राज्य में सभी व्यक्ति पूर्णतया आदर्श नहीं हो सकते। नव स्थापित राज्य को परिवर्तित करने के लिये भी बहुत से व्यक्ति अपराध प्रवृत्ति की ओर आकर्षित होंगे। इन अपराधों को रोकने के लिये राज्य प्रबन्ध करेगा। वह व्यक्तिगत या सार्वजनिक दंड देने के पक्ष में नहीं है। वे अपराधियों को जेल भेजने का विरोध करते हैं और हत्या तक के अपराधियों को मुक्त कर देना चाहते हैं। लेकिन समाज की वर्तमान अवस्था में यह सम्भव नहीं है। अपराधी को दूसरों को डराने के लिये उदाहरण नहीं बनाया जायगा और न ही पशु युग के बदले की भावना से दंडित किया जायगा। मृत्युदंड पूरी तरह से हटा दिया जायगा क्योंकि उसके बाद रोगी को सुधारने की आशा ही नहीं रहती। अपराधियों को जेल के स्थान पर सुधार-गृह भेजा जाय वहाँ पर उन्हें हाथ की कताई-बुनाई, कृषि आदि सिखा देनी चाहिये। चौकीदार—उनके शिक्षक और मित्र हों। "सभी अपराधियों को रोगी के समान और जेलों को अस्पताल के समान समझना चाहिये जिसमें एक वर्ग के रोगी इलाज तथा देखभाल के लिए रखे जाते हों।" ("……all criminals should be treated as patients and the jails should be the hospitals admitting the class of patients for treatment and care.") यहाँ से छूट कर जाने वाले आदर्श नागरिक सिद्ध होंगे।

पुलिस एवं सेना (Police and Military)—गांधी जी के आदर्श राज्य मे पुलिस के हिंसात्मक रूप को परिवर्तित करके अहिंसात्मक बना दिया जायगा। वह जनता की सेवक होगी और उन्हें भय त्रस्त नही करेगी, उसके पास हथियार नाम मात्र को होगे, जिनका वह कम से कम प्रयोग करेगी। उनकी आवश्यकता भी बहुत कम पडेगी क्योंकि आदर्श राज्य मे सम्पत्तिजन्य अपराध कम होगे। उन्हें आधुनिक अश्रुगैस जैसे शस्त्र को भी अत्यन्त आवश्यकता होने पर प्रयोग करना होगा। उनके इस अहिंसात्मक स्वरूप का परिणाम यह होगा कि पुलिस और जनता मे परस्पर वैमनस्य नही होगा और जनता उनके साथ सहयोग किया करेगी।

आदर्श राज्य मे सेना की स्थिति पर विचार करते हुए गांधी जी ने कहा कि भारत मे अनेको युद्धप्रिय जातियाँ हैं जिनकी दृष्टि से युद्ध मे मरना बहुत ही पवित्र कार्य है। परन्तु भारत की सेना युद्ध प्रिय न होकर शान्ति प्रिय होगी। आदर्श सेना पर आश्रित नहीं होगा क्योंकि सैन्य शक्ति मस्तिष्क के स्वतन्त्र विकास मे बाधक होती है। भारत सैन्य निर्भर नहीं होगा, सैन्य निर्भरता विकास को विनाश मे बदल देती है। गांधी जी अनिवार्य सैन्य शिक्षा के विरोधी थे। वह बाह्य आक्रमण के लिये भी सेना को आवश्यक नही समझते थे। भारतीय अहिंसक सेना को शान्ति एवं युद्ध दोनो मे ही क्रियात्मक कार्यों मे व्यस्त रखना चाहते थे। परन्तु आधुनिक राज्यो की अपूर्णता के कारण वह पूरी तरह से सेना हटाने के पक्ष मे नही थे। जब सभी राज्य निशस्त्रीकरण करने को सहमत हों तभी सेना हटाई जाय। किसी एक देश द्वारा एक दम सेना और पुलिस हटा लेना चोरों और डाकुओ को बढ़ावा देगा।

न्याय व्यवस्था (Justice)—गांधी जी के आदर्श राज्य मे नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये कानूनो एवं न्यायालयो को स्थान दिया गया। लेकिन गांधी जी पाश्चात्य न्याय व्यवस्था के आलोचक थे और राज्य के अधिकांशतः न्यायिक कार्य पंचायतो को प्रदान करना चाहते थे। उनका यह विचार था कि सामान्यतः दोनो पक्ष एक मध्यस्थ नियुक्त करें और उनके द्वारा ही निर्णय कराया जाय। एक वकील के रूप मे व्यक्तिगत अनुभव ने उन्हे न्याय व्यवस्था के दोषो से भली भाँति अवगत करा दिया था। वह वकील और न्यायाधीशो को वैयम के समान एक दूसरे का बड़ा भाई बताते थे। वकील झगडे बढाते थे क्योंकि उनका हित उसी में है। वकील ही भारत मे ब्रिटिश शासन के स्तम्भ हैं, क्योंकि उसके बिना न्यायालय कार्य नही कर सकते और न्यायालयो के बिना अँग्रेज अपनी सत्ता स्थापित नही रख सकते। न्याय व्यवस्था के अवगुणो पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने कहा कि यह समय और धन का अपव्यय करते हैं, साथ ही उनसे न्याय की आशा भी नहीं होती। सत्य का हनन्, धनवानो के न्याय खरीद लेने से होता है। न्याय को सस्ता और सुलभ बनाने के लिये पंचायतो और मध्यस्थो द्वारा न्याय करना चाहिये।

अधिकार एवं कर्त्तव्य (Rights and Duties)—गांधी जी ने अधिकार एवं कर्त्तव्य की विवेचना पूर्णतया भारतीय वेदान्त के आधार पर की। अधिकार आत्मा की पूर्णता के अवसर हैं, आत्म-पूर्णता अन्य व्यक्तियो के साथ आत्मिक एकता स्थापित करने से आती है। यह सेवा भावना व कर्त्तव्य का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अधिकार अपने कर्त्तव्य का ही नाम है, अपने कर्त्तव्यों को पूरा करना ही वास्तविक अधिकार है। व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन की क्षमता लानी चाहिये, जिससे सम्बन्धित अधिकार स्वयं प्राप्त हो जायें। 'यंग इण्डिया' मे उन्होंने बताया कि

"अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्त्तव्य है ......यदि हम सभी अपने कर्त्तव्य करते चलें तो अधिकारों की खोज दूर तक नहीं करनी पड़ेगी। यदि कर्त्तव्य विमुख होकर हम अधिकारों के पीछे भागें, वह हमसे भ्रामक पदार्थ (मृग तृष्णा) के समान दूर भागेंगे। जितना ही हम उनका पीछा करेंगे उतनी ही दूर वे उड़ेंगे। तुम्हारा केवल कर्त्तव्य होना चाहिये, उसके फल की चिन्ता न करो। कर्म तुम्हारा कर्त्तव्य है और फल तुम्हारा अधिकार।" ("The true source of right is duty ...if we all discharge our duty rights will not be far to seek. If leaving duties unperformed we run after rights, they will escape us like a will-o-the-wisp (illusive person or thing). The more we pursue them the further they will fly. 'Action alone is thine. Leave thou the fruit severely alone.' Action is the duty, fruit is thy right."—Gandhiji, (Young India, 11. p. 479.) यह गीता मे भगवान कृष्ण के कर्म सिद्धान्त का ही अनुकरण है। मनुष्य को कर्म रत रहना चाहिये और उसका फल देना ईश्वर के आधीन है।

गांधी जी के अनुसार अधिकार राज्य की अपेक्षा समाज से अधिक सम्बन्धित हैं। प्राकृतिक अधिकार की व्याख्या करते हुये गांधी जी ने कहा कि इनका अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्ति अधिकार लेकर ही पैदा होता है या व्यक्ति के सामाजिक प्राणी बनने से पूर्व भी उनका अस्तित्व था। प्राकृतिक से अभिप्राय है कि मानव जीवन के विकास के अनिवार्य तत्व है, वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का उनके नैतिक आदि सभी पहलुओं का विकास करते है। अधिकार राज्य या अन्य किसी वर्ग द्वारा उत्पन्न भी नहीं किये जाते हैं वरन् व्यक्ति के सत्य और अहिंसात्मक पूर्णता के उपयुक्त बनने के प्रयास को ही अधिकार कहते हैं।

उपयुक्त विचारो मे गांधी जी के राजनीतिक विचारों का दर्शन होता है। यद्यपि इन विचारो मे अधिकांशतः पूर्व प्रतिपादित विचार ही है लेकिन उनके प्रकट करने का ढंग तथा नवीन प्रयोग उन्हें घनिया एक नये राजनीतिक दर्शन की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

गांधी जी के आर्थिक विचार

(Economic Thoughts of Gandhiji,

गांधी जी ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जो भी विचार व्यक्त किये उनका आधार कोई स्वरचित ग्रन्थ नहीं था वरन् वह मानवतावादी विचारक थे और भारतीयों की निर्धनता से द्रवित होकर, उन्होंने यदा-कदा जो भी विचार प्रतिपादित किये वे आर्थिक योजनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। आदर्श राज्य में किसी व्यक्ति को भोजन और वस्त्र की कठिनाई नहीं होगी। अन्य विचारकों के समान गांधी जी अपने समय की वर्तमान अर्थव्यवस्था से असन्तुष्ट थे, इसलिये उन्होंने सरल अर्थव्यवस्था प्रतिपादित करने की चेष्टा की। तत्कालीन अर्थव्यवस्था में असन्तुष्ट होने का कारण यह था कि उत्पादन की नवीनता सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है। पूँजीवाद के दोषों की गणना करते हुये उन्होंने बताया कि यह शोषण पर आधारित है। सामाजिक जीवन मे न्याय लाने

के लिये आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता स्थापित करनी चाहिए। गांधी जी की अर्थ व्यवस्था की निम्न विशेषतायें है —

रोटी के लिये श्रम (Bread labour)—गांधी जी ने रोटी के लिये श्रम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उन्होने कहा कि जीवन मे रोटी मनुष्य की अनिवार्य तम आवश्यकता है और वह कठिन परिश्रम से प्राप्त होती है। अत: जो व्यक्ति बिना उपयुक्त श्रम के भोजन करता है वह चोर है। जो व्यक्ति आधुनिक सभ्यता के आवरण मे अपनी आवश्यकतायें बढ़ाते जाते हैं और स्वयं शारिरिक श्रम नही करते, वे गरीबो का शोषण करते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य निजी परिश्रम से खाने की वस्तु का उत्पादन करे, तो राज्य मे आर्थिक समानता की नीव पडेगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा नही कर सकते हो तो उन्हे अन्य ऐसे कार्य करने चाहिये जिसमे उनका शारीरिक श्रम लगता हो जैसे कताई, बुनाई, काष्ठकला तथा अन्य हस्तकलायें। गांधी जी इसे प्राकृतिक नियम मानते थे। इससे उनका अभिप्राय यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिये श्रम करे।

गाधी जी ने कहा कि रोटी का श्रम बौद्धिक श्रम नही हो सकता। मनुष्य को दो प्रकार की क्षुधा सताती है—शारीरिक और मानसिक। जिस तरह मानसिक क्षुधा के लिये लौकिक कार्य किए जाते हैं, शरीर की क्षुधा रोटी है, शरीर की आवश्यकता शरीर द्वारा ही पूरी करनी चाहिए। बौद्धिक श्रम द्वारा प्राप्त वेतन बुद्धि के लिए सन्तोषदायक हो सकता है लेकिन शारीरिक क्षुधा नही मिटा सकता। अतः बौद्धिक श्रम करने वालो को भी शारीरिक श्रम करना चाहिये उसके द्वारा ही वह अपनी बौद्धिक प्रतिभा को अधिक विकसित कर सकता है। यह श्रम ऐच्छिक होना चाहिए, अनिवार्य नही। इसकी अनिवार्यता उन्हें निर्धनता, रुग्णता और असन्तुष्ट बनाये रखेगी। गाधी जी श्रम को बहुत महत्व देते थे उनका विचार था कि शारीरिक श्रम करने वाला मेहनती, ईमानदार तथा चरित्रवान होता है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था (*Capitalist Economy*)—आधुनिक युग पूँजीवाद का युग है। इस प्रणाली मे कुछ बड़े-बडे धनाढ्य व्यक्ति अपनी पूँजी का उपयोग बडी-बडी मशीनो मे लगाते हैं, उनके कारखानो मे हजारो व्यक्ति कार्य करते हैं, पूँजीपति उनका शोषण करता है। यह शोषण बढ़कर एक देश द्वारा दूसरे देश पर किया जाता है। यह उत्पादन व्यवस्था अपने साथ ही दरिद्रता, बेकारी जैसी भीषण समस्यायें लेकर मानव के लिए अभिशाप बन जाती हैं। अतः आदर्श अहिंसात्मक राज्य मे अर्थव्यवस्था को परिवर्तित किया जायगा और उत्पादन के साधनो पर जनसमूह का स्वामित्व होगा तथा ईश्वरप्रदत्त प्राकृतिक साधनो पर सामूहिक रूप से समाज का आधिपत्य होगा। उत्पादन का विकेन्द्रीय करण ही इस समस्या का समाधान होगा, रक्तिम क्रान्ति उसे नहीं हटा सकती।

मशीनो की बुराई करते हुए गाधी जी ने उसकी तुलना सर्प की बाबी के साथ की, जिसमे एक से लेकर सैकड़ो सर्प होते हैं। जहाँ मशीन है वहाँ बड़े-बड़े शहर हैं, ट्रामकार, रेल, विद्युत प्रकाश हैं। ईमानदार चिकित्सक यह आपको बतायेंगे कि यात्रा के कृत्रिम साधनो ने स्वास्थ्य को चौपट कर दिया। मुझे मनुष्य मे एक भी गुण नहीं दिखाई देता। (Machinary is like a snake hole which may contain from one to hundre snakes. When there is machinary,

there are large cities, there are tramcars and railways, and there only does see electric lights. Honest physicians will tell you where means of artificial locomotion have increased the health of people has suffered... I can not recall a single good points in connection of machinary." Gandhiji.) लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि गांधी जी मशीनों के सख्त विरोधी थे और वह उन्हें समूल नष्ट करना चाहते थे। गांधी जी लाभदायक अनिवार्य मशीनों जैसे यातायात के द्रुतगामी साधनों और विशाल उत्पादन के साधनों आदि को आवश्यक समझते थे। उनको इस बात का ज्ञान था कि आधुनिक युग में नागरिक उनका त्याग नहीं कर सकेंगे। अतः गांधी जी उनके प्रयोग की अनुमति केन्द्रीयकृत औद्योगिक सार्वजनिक उत्पादन की प्रवृत्ति त्यागकर करने की देते हैं। यदि उत्पादन नियोजित होगा तो उससे लाभ प्राप्त करने के दोष का निर्माण भी हो जायगा। टाइपराइटर, सिलाई की मशीन जैसी उपयोगी मशीनों का कभी त्याग नहीं किया जायगा। गांधी जी मशीनों के विनाशक स्वरूप से घृणा करते थे और उन्हें त्यागने का समर्थन करते थे।

केन्द्रीय उत्पादन को सुधारने के लिए उन्होंने व्यक्तिगत स्वामित्व को उस समय उचित बताया जबकि वे श्रमिकों का स्तर इतना उठायें कि उन्हें अपना भागीदार समझें। श्रमिक और पूंजीपति सम्पत्ति को अपने पास धरोहर समझें, यदि वे ऐसा समझने में असमर्थ हों तो उन पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिये। राज्य का कारखानों में स्वामित्व हो जाने पर भी श्रमिक अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा सरकार के प्रतिनिधियों के साथ प्रबन्ध में हाथ बटायेंगे।

गांवों को आत्म-निर्भर बनाया जायगा। वहां भी मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु उन्हें शोषण करने के लिए प्रयोग नहीं किया जायगा। ग्रामीण मशीन के यदि दास नहीं बनेंगे तो उसका प्रयोग वर्जित नहीं होगा। भारत की आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिये कुटीर उद्योग, ग्रामोद्योग एवं स्वदेशी पर विशेष जोर दिया जायगा। कुटीर उद्योग-धन्धों में सर्वप्रमुख स्थान खादी को दिया। घर-घर में स्त्री-पुरुष और बच्चे सभी कताई-बुनाई करेंगे तो उससे एक ओर नागरिकों की बेकारी दूर होती है दूसरे उन्हें पर्याप्त द्रव्य मिल जाता है और उनके जीवन के आर्थिक व्यवधान दूर हो जाते हैं। स्वदेशी का महत्त्व देश को आत्मनिर्भर बनाना है। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अन्य देशों का मुंह नहीं ताकना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुटीर उद्योग-धन्धे जो पहले ग्रामीण जीवन का अंग थे और अब लुप्त प्रायः होते जा रहे हैं जैसे तेल पेरना, गुड़ बनाना, रस्सी, टोकरी, खिलौने, बरतन आदि बनाना, इन्हें संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिये।

वितरण का प्राकृतिक सिद्धान्त (Natural Principle of Distribution)— प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिये ही वस्तुओं को प्राप्त करना चाहिए। अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना चोर प्रवृत्ति है। मनुष्य की अधिक से अधिक संग्रह करने की प्रवृत्ति ही निर्धनता और विषमता उत्पन्न करती है। प्रकृति हर वस्तु उतनी ही उत्पन्न करती है जितनी की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को संग्रह त्याग अपनी आवश्यकता पूरा करने मात्र के लिए ही करना चाहिए। अधिक संग्रह करने पर वह न तो उसी व्यक्ति के

प्रयोग मे आती है और न ही अन्य व्यक्ति उसका लाभ उठा पाते हैं। सम्पत्ति का कुछ हाथो मे सीमित हो जाना, विकास मे बाधक होता है और पतन को आमन्त्रित करता है। अधिक समृद्धि ही रोम के पतन का कारण बनी। अत. गाधी जी ने न्याययुक्त वितरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकतायें पूरी करने का समान अवसर उपलब्ध होगा।

प्रन्यास सिद्धान्त (Trusteeship)—आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए आर्थिक विषमता को मिटाना चाहिए। यह विषमता दो प्रकार से मिटाई जा सकती है। एक ओर तो साम्यवादी उपाय है जो पूंजीपतियों की सम्पत्ति को छीनकर रक्त बहाकर क्रान्ति द्वारा समता लाना चाहते हैं। गाधी जी के अनुसार जबरदस्ती धन छीन कर उसे सभी व्यक्तियो के लिए प्रयोग किया जाना उचित नही। दूसरा उपाय यह है कि पूंजीपति स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति दूसरों के हित के लिए प्रयोग करें। यह प्रणाली विशुद्ध भारतीय है और अहिंसात्मक भी है। अत गांधी जी साम्यवादी नीति के स्थान पर प्रन्यास सिद्धान्त के समर्थक थे। यह सिद्धान्त आर्थिक विषमता को दूर करने को रामबाण औषधि है। गांधी जी साध्य और साधन में उचित सम्बन्ध रखना चाहते थे। उचित साधनो द्वारा ही उचित साध्य प्राप्त होता है। हिंसा के अनुचित साधनो द्वारा जो समानता लाई जायगी वह हितकारी नहीं हो सकती और अस्थाई भी होती है। हिंसा उत्पादित वस्तु हिंसा द्वारा ही नष्ट हो जाती है।

प्रन्यास सिद्धान्त की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए गाधी जी ने भारतीय वेदान्त एवं ईसाई धर्म की मान्यता का आश्रय लिया। उन्होने ईसा की यह उक्ति कि ऊँट का सुई की नोक मे से निकल जाना आसान है, एक धनवान का ईश्वर के राज्य मे प्रवेश करना नही, पूर्ण रूप से सत्य बताई। धन और ईश्वरोपासना यह दोनो एक साथ नही चल सकती क्योकि धन का संग्रह मनुष्य को आकर्षण मे उलझा देता है। वह विचार और आत्मा को पथ-भ्रष्ट कर देता है। हिन्दू धर्म के अनुसार सम्पत्ति एक पवित्र थाती है जो उसी व्यक्ति के पास होनी चाहिए, जो उसे सामान्य हित के लिये प्रयोग करता हो। अधिक धन संग्रह की लालसा चोरी है और दण्डनीय भी है। गीता मे अपरिग्रह (non possession) की शिक्षा दी गई है। जो व्यक्ति मुक्ति चाहते हो उन्हे सम्पत्ति को प्रन्यास के समान समझना चाहिए। ईश्वर ही सम्पत्ति आदि सभी वस्तुओ का उत्पादक है। मनुष्य का अपने शरीर तक पर कोई अधिकार नही है। अतः संग्रहकर्ताओं को ईश्वरीय सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपने साथियो की सेवा मे लगा कर उन्हें देवार्पण करना चाहिये। साधु सन्तों का स्वेच्छित त्याग ईश्वरीय विश्वास का प्रतीक है।

गाधी जी ने पूंजीपतियो को प्रन्यास सिद्धान्त की शिक्षा देते हुए कहा कि उन्हे सम्पत्ति को अपनी बपौती नहीं समझना चाहिए, वह समाज की धरोहर है। उन्हें उसमें से केवल कुछ अपने दैनिक कर्मों के प्रयोग के लिए ही अपने पास रखनी चाहिये और शेष को समाज के विकलांगो की सहायता के लिए प्रदान कर देना चाहिए। परन्तु इससे यह आशय कदापि नहीं है कि धन को सम्पूर्ण समाज मे वितरित कर देना चाहिए क्योकि यदि ऐसा किया जायगा तो निर्धन उसका दुरुपयोग करेंगे और उसे खा पीकर बराबर कर देंगे। वह स्वावलम्बी बनकर धन कमाने मे उदासीन रहेंगे। इसका अभिप्राय तो यह है कि गरीब को तन ढकने का अभाव और धनाढ्य

के यहाँ रेशम के पर्दों के बजाय, धनाढ्य अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम तक लायेगा और उसको पूरा करने के बाद जो कुछ बचेगा, वह उससे उद्योगों की स्थापना करेगा। इससे अनेकों मजदूरों को आजीविका कमाने का अवसर प्राप्त होगा। इसके साथ ही समाज कल्याण के कार्यों, विद्यालय निर्माण आदि में व्यय, सम्पत्ति के स्वेच्छा से त्याग के अपूर्व उदाहरण होंगे तथा क्रान्ति, धन अपहरण के लिए रक्तपात की भावना लुप्त हो जायगी। यह प्रन्यास सिद्धान्त चिरस्थाई, विश्व को भारत की देना होगा। शोषण और युद्ध का भय नहीं रहेगा। सम्पत्ति का यह त्याग असम्भव नहीं है। सर्वप्रथम विवेकशील धनाढ्य त्याग करेंगे और उनके बाद दान एक संक्रामक रोग की भाँति फैल जायगा तथा अधिकाधिक लोग इस ओर आकर्षित होकर दान करने लगेंगे। यदि फिर भी कुछ लोग त्याग में रुचि नहीं लेंगे तो उन्हें अहिंसात्मक असहयोग द्वारा आकर्षित किया जायगा।

राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता
(Nationalism and Internationalism)

गांधी जी का राजनीतिक दर्शन राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत था। भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न दो कारणों से प्रेरित था। प्रथम स्वतन्त्रता ही भारत-वासियों को कष्टों से मुक्त कर सकती है; द्वितीय, स्वतन्त्र भारतीय अपनी राष्ट्रीय-चेतना के अनुरूप विश्व के राष्ट्रों को मानवता का संदेश देंगे। गांधी जी के ही शब्दों में "मैं अपने देश की स्वतन्त्रता का इसलिए समर्थन करता हूँ कि जिससे अन्य देश मेरे स्वतन्त्र देश से कुछ सीख सकें, जिससे मेरे देश के साधन मानवता के हित में लाये जा सकें………मेरे राष्ट्रीयता के विचार का सार यह है कि मेरा देश मानवता को जीवित रखने के लिए मिट जाय। वहाँ नस्ल के आधार पर घृणा नहीं होगी। जिस प्रकार परिवार गाँव के लिए, गाँव जिले के लिए, जिला प्रान्त और इसी क्रम में राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए न्योछावर रहने के लिए तैयार रहते हैं।"

राष्ट्रीयता के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास होता है। "मेरे विचार में राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयवादी होना सम्भव नहीं।" लेकिन यह राष्ट्रवाद संकीर्णता पर आधारित नहीं होना चाहिये। जातीय उच्चता आदि के गर्व पर निर्मित राष्ट्रीयता जर्मनी तथा इटली की भाँति विश्व शान्ति के लिये खतरनाक है। राष्ट्रों का अहिंसात्मक संगठन विश्व को एक अन्तर्राष्ट्रीय 'मित्र राष्ट्र संघ' में संगठित कर विश्व बन्धुत्व की भावना को साकार करेंगे। उनमें परस्पर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सहवास होगा तथा परिणामस्वरूप मानवता विकास की चरम सीमा की ओर अग्रसर होगी।

राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद की जड़ खोद देगी और मनुष्य के। मनुष्य द्वारा शोषण, भयावह अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का अन्त हो जायगा।

गांधीवाद तथा साम्यवाद
(Gandhism and Communism)

कुछ विचारकों का ऐसा मन्तव्य है कि गांधीवाद हिंसा रहित साम्यवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस मत के समर्थक विद्वान दोनों विचारधाराओं में निम्न साम्य खोज निकालते हैं :

१. गांधी जी भी साम्यवाद की भाँति राज्य के अराजकतावादी विचार

का समर्थन करते हैं। "राज्य एकत्रित तथा सगठित हिंसा है। व्यक्ति आत्मायुक्त प्राणी है, राज्य आत्मा रहित मशीन है जिसे हिंसा से परित्यक्त नही किया जा सकता क्योंकि हिंसा से ही वह उत्पन्न हुआ है।" अत राज्य का बना रहना व्यक्ति के अस्तित्व के लिए हानिकारक है।

२. गाधी जी के आर्थिक विचार भी साम्यवाद का प्रतिरूप है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे समान वितरण का अभाव उन्हें अनुचित लगता था। साम्यवाद के स्वप्न-द्रष्टा के समान वह भी आदर्श राज्य मे भोजन और वस्त्रो के अभाव को दूर करने का चित्र सामने रखते हैं।

३. गाधी जी का रोटी के लिए श्रम (Bread labour) सिद्धान्त साम्यवाद के "जो कार्य नही करेगा वह खायेगा भी नही" (Those who shall not work shall not eat) के समान दिखाई देता है।

४ गाधी जी शोषण से भी साम्यवाद के समान व्यथित थे और उसके उन्मूलन के लिए प्रयत्नशील थे।

५. गाधी जी का प्रन्यास सिद्धान्त (Trusteeship) आर्थिक विषमता मिटाने की सरलतम औषधि है। साम्यवाद भी इसी लक्ष्य को सामने रख कर चलता है।

इसी प्रकार की समानताओ का चित्रण करते हुए विद्वान यह कहते हैं कि दोनो विचारधाओ मे हिंसक तथा अहिंसक होने का ही अन्तर है और गाधीवाद हिंसाविहीन साम्यवाद ही है। (Gandhism is communism minus violence) यथार्थ मे दोनो विचारधाराएँ एक दूसरे से भिन्न हैं एक दूसरे की विरोधी हैं। दोनो एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं जैसे लाल से हरा होता है। दोनो मे निम्न प्रकार अन्तर बताया जाता है—

१ साम्यवाद नियोजित विचारधारा है जिसके प्रतिपादन के लिए मार्क्स ने परिस्थितियो का अध्ययन, उनसे त्राण पाने के उपाय के वैज्ञानिक साक्ष्यो को सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित किया। गाधीवाद मे गाधी जी के समय-समय पर किये गये विचार यत्र-तत्र बिखरे हुए प्राप्त होते हैं। जिनमें क्रमबद्धता का अभाव उन्हें वैज्ञानिक होने से वंचित कर देता है।

२ गाधीवाद साध्य-साधन सम्बन्ध को अनिवार्य मानता है। आम का वृक्ष आम के ही बीज से प्राप्त हो सकता है, ऐसा अटल विश्वास है। साम्यवाद पवित्र लक्ष्य के लिए पवित्र साधनो को अनावश्यक ठहराता है।

३. गाधीवाद आर्थिक शोषण, विषमता से क्लान्त होने पर भी उसे दूर करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का आश्रय लेने के स्थान पर प्रन्यास आदि का प्रयोग करना बताता है। साम्यवाद शोषण को मिटाने के लिए क्रान्ति को अनिवार्य ठहराता है।

४. गाधीवाद आध्यात्मिकता पर जोर देने के कारण त्याग (renunciation) का सिद्धान्त है जिसमे व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओ को न्यूनतम करना पड़ेगा। साम्यवाद भौतिकतावादी है, अतः वह उचित वितरण का समर्थक है। वह व्यक्तियों को उनके कार्य एवं आवश्यकताओं के अनुरूप प्रदान करने का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

५. गांधीवाद विकेन्द्रित लोकतन्त्र का अनुयायी है। साम्यवाद केन्द्रीकृत प्रजातन्त्र (Democratic centralism) का पक्ष लेता है, जिसकी पूर्णता श्रमिकों के अधिनायक तन्त्र मे लक्षित होती है।

६. गांधीवाद के राजनैतिक शस्त्र (सत्याग्रह आदि) हृदय परिवर्तन द्वारा विजय प्राप्त करना चाहते है लेकिन साम्यवाद मे पूँजीपति आदि के हृदय परिवर्तन के लिये तनिक भी स्थान नही है। बुराई को दबाने के लिए व्यक्ति को ही समूल नष्ट करना चाहता है।

७. गांधीवाद सामाजिक एक्य मे विश्वास करता है जिसमे जाति-धर्म-रंगवर्ण की एकता के साथ ही धनाढ्य और निर्धन मे भी संघर्ष नही होगा। साम्यवाद पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की कहानी है।

८ गांधीवाद में धर्म और राजनीति दोनो साथ-साथ चल सकती हैं यही नहीं 'धर्म विहीन राजनीति व्यर्थ है।' साम्यवाद धर्म को राजनीति के मार्ग मे बाधक और मादक अफीम समझता है।

श्री विनोबा भावे के शब्दो मे "दोनो सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं और एक दूसरे को निगल जाने के लिये तत्पर हैं। इस समय ऐसा प्रतीत होता है कि साम्यवाद का प्रतीक रूस तथा प्रजातन्त्र के रूप मे पूँजीवादी अमरीका मे संघर्ष है,"...मेरा विश्वास है कि अन्त मे शक्ति परीक्षा गांधीवाद व साम्यवाद में होगी।"

गांधीवाद की आलोचना
(Criticism of Gandhism)

भारतवर्ष ही नही अपितु सम्पूर्ण विश्व मे आज गांधी-दर्शन का सम्मान दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। गांधी जी के विचारो का अध्ययन करते ही उसमे प्रभावित होना, सिद्धान्तों मे अटल विश्वास रखना राजनैतिक विचारों में नये युग का निर्माण कर रहा है। लेकिन उसका अभिप्राय यह नहीं कि गांधी जी का विचार त्रुटि रहित हो, गांधीवाद की निम्न प्रमुख आलोचनाएँ की जा रही हैं—

१. एक दर्शन के रूप में (As a philosophy)—गांधीवाद की एक दर्शन के रूप मे आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि उनके विचार किसी राजनीतिक दर्शन का निर्माण नहीं करते। राजनीतिक विचारों में उनको एक नवीन 'वाद' के रूप में रखना उचित नही। उन्होंने 'गांधीवाद', 'गांधी दर्शन, या 'गांधी जी की राजनीतिक विचारधारायें, जैसे कोई भी चीज प्रदान नही की। आलोचक इसके समर्थन के लिये निम्न तर्क करते है—

(1) गांधी जी के विचारों में क्रमबद्धता का अभाव (Gandhism is devoid of systematic thought)—गांधी जी के विचारो को किसी 'वाद' या 'दर्शन' की कोटि में नही रखना चाहिये, क्योंकि गांधी जी के विचार क्रमबद्ध नही है। उन्होंने किसी राजनीतिक समस्या के निराकरण पर एक क्रम से विचार नही किया और न ही अपने विचार पुस्तकाकार रूप में प्रदान किये। कार्ल मार्क्स के समान, मिल की 'लिबर्टी' या 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट' बाकुनिन या क्रोपाटकिन आदि की भाँति कोई क्रम बद्ध रचना प्रदान नहीं की। मार्क्स के विचार मार्क्सवाद या साम्यवाद शीर्षक

मे रखे जाते हैं, क्योकि मार्क्स ने कुछ अपने ग्रन्थों मे पूँजीवाद तथा उसके निराकरण का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया। गाधी जी ने किसी भी कृति की रचना इस ढंग से नही की अत उनके विचार 'गाधीवाद' नाम से नही पुकारे जाने चाहिये। यह आलोचना अनुचित तथा निराधार है। राज दर्शन के अध्ययन के तीन तत्व होते हैं—व्यक्ति, समाज एवं राज्य। गाधी जी के राजदर्शन मे इन तीनो ही तत्वो पर भली भाँति विचार किया गया है। उन्होने अपने समय के व्यक्ति को, समाज को राज्य के शोषण से दुखी देखा और मन-कर्म-वचन से तत्कालीन भारतीय शासन की स्थिति, तदोत्पन्न समस्यायें और उनके समाधान को लक्ष्य बनाकर चितन किया। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया और सम्पूर्ण जीवन पर अपने सिद्धान्तो के आधार पर स्वतन्त्रता आन्दोलन का सचालन किया। इसके अतिरिक्त उनके विचार समय-समय पर 'हरिजन', 'यंग-इण्डिया' समाचार-पत्रो, भाषणो तथा आत्मकथा आदि मे यत्र-तत्र प्राप्त होते रहते हैं। यही कारण है उनके विचार एक निश्चित राजनीतिक विचारधारा का निर्माण करते हैं जिसे 'गाधीवाद' (Gandhism) या 'गाधीवादी राजनीतिक दर्शन' (Gandhian Political Philosophy) कह कर पुकारा जाता है।

(ii) गाधीवाद मौलिकता विहीन है (Gandhism is devoid of originality)—गाधी जी के विचार किसी 'वाद' की कोटि मे इसलिए नहीं रखने चाहिये, क्योकि उनमे मौलिकता का अभाव है। गाधी जी ने किसी नये सिद्धान्त का निर्माण नही किया वरन् प्राचीनकाल से चले आने वाले विचारो का पुनर्स्थापन मात्र किया। गाधी जी का प्रत्येक विचार पहले भी किसी न किसी विद्वान द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था। उदाहरण के लिए अहिंसा पर गांधी जी से पहले ही गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी एवं ईसा मसीह विचार कर चुके थे। अत. जब गाधी जी ने किसी नए सिद्धान्त का सृजन नही किया तो क्यो उन्हें किसी राजनीतिक विचारधारा की कोटि मे रखा जाय। इस तर्क का खण्डन करते हुये यह कहा जा सकता है कि प्राचीन सिद्धान्तो का नवीनीकरण उन्हें नया सिद्धान्त ही बना देता है। उदाहरण के लिए मार्क्स से पूर्व भी वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त कल्पनालोकीय समाजवादी विचारको ने प्रतिपादित कर दिया था और मार्क्स द्वारा उन्हें नये वस्त्रो मे सजाने का प्रयास मार्क्सवाद या साम्यवाद बन गया। गाधी जी ने पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तो को ही नवीन ढंग से दुहराया। उनके ही शब्दो मे "मैंने किसी नये सिद्धान्त की सृष्टि न करके, प्राचीन सिद्धान्तों को ही नवीन ढंग से दुहराने की चेष्टा की है।" उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तो को ही वैज्ञानिक युग की नवीनता मे इस प्रकार प्रयुक्त किया कि वे नई बोतलो मे पुरानी शराब की भाँति सामने आयें। आधुनिक राजनीतिक समस्याओं को प्राचीन सिद्धान्तो के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न निश्चय ही गाधीवाद की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। यद्यपि गाधी जी स्वयं इसके विरोधी थे। उन्होने एक स्थल पर स्वयं कहा—"गाधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोडना नहीं चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने कोई नवीन सिद्धान्त चलाया है। मैंने केवल अपने ढंग से मूल सत्यों को अपने नित्य प्रति के जीवन और समस्याओं पर लागू करने की चेष्टा की है। आप इसे गांधीवाद के नाम से न पुकारें, इसमे कोई वाद नहीं है।"

(iii) गांधी जी के विचार विरोधाभासों से पूर्ण हैं (Gandhian ideas are full of Contradictions)—गांधी जी के राजनीतिक विचारों में अनेकों विरोधाभास तथा असंगतियाँ हैं। गांधी जी किसी समस्या पर एक स्थान पर कुछ कहते तो दूसरे स्थान पर और कुछ। यह उनके विचारों को अस्पष्ट बना देता है। आलोचना का खंडन दो तर्कों द्वारा किया जा सकता है। प्रथम, दार्शनिकों के विचारों में विरोधाभास स्वाभाविक होते हैं। उदाहरण के लिये रूसो के विचारों में असंगतियाँ तथा विरोधाभास का दर्शन होता है। द्वितीय गांधी जी विचारक के स्थान पर कर्मयोगी थे। प्रतिक्षण वह किसी न किसी समस्या के निराकरण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। परिस्थितियाँ परिवर्तनशील होती हैं और उनके बदलते रहने के कारण विचारों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक था। गांधी जी ने स्वयं इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—"लोग कहते हैं कि मेरे विचार बदल गये हैं और आज मैं वर्षों पूर्व कही हुई बातों से भिन्न बातें कहता हूँ। सच्ची बात यह है कि परिस्थितियाँ बदल गई हैं। मैं तो वही हूँ। मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियों के अनुकूल होते हैं। जिस वातावरण में मैं रहता हूँ उसका विकास होता रहा है और सत्याग्रही होने के नाते मुझ पर उसकी प्रतिक्रिया होती है।" गांधी जी के विचारों का बाह्य कलेवर भले ही बदल गया हो लेकिन उसकी आत्मा का भौतिक सत्य सदैव ही अपरिवर्तित रहा है। असंगतियाँ होने पर भी उनके विचारों में एकरूपता है।

(iv) राजनीति शास्त्र को कोई देन नहीं (No Contribution to Political Science)—आलोचक कहते हैं कि गांधी जी के विचार ने राजनीति शास्त्र को कोई भेंट नहीं दी, अतएव उनके विचार किसी 'वाद' का निर्माण नहीं करते। उनका कथन है कि मार्क्स ने पूँजीवाद का लोप और नवीन समाज व्यवस्था के निर्माण, मैकियावेली ने धर्मसत्ता को राज्यसत्ता से पृथक करने के विचार व्यक्त किये। हम देखते हैं कि गांधी जी ने भी राजनीति शास्त्र को कुछ सिद्धान्त दिये; जैसे धर्म और राजनीति साथ-साथ चल सकते हैं, लेकिन राजसत्ता धर्म-निरपेक्ष (Secular) रहेगी। दूसरे विरोध क्रान्ति और हिंसात्मक उपायों के स्थान पर अहिंसात्मक हो सकता है, जिससे शत्रु का हृदय परिवर्तन आसानी से हो सकता है।

२. साम्यवादी आलोचना (Criticism from Communist Camp)—गांधीवाद की दूसरी आलोचना साम्यवादी वर्ग के समर्थकों द्वारा की जाती है :

(i) गांधीवाद राजनीतिक विचार नहीं नैतिकता का दर्शन है (Gandhism is not political concept but moral Philosophy)—गांधी जी आध्यात्मिकतावादी विचारक थे। उनका प्रत्येक विचार नैतिकता से परिपूर्ण होता था, वे स्वयं बहुत ही नैतिक जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन प्रत्येक मनुष्य से उतनी नैतिकता कभी भी अपेक्षित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये पूँजीपति नैतिकता पर चलता रहे तो वह किस प्रकार प्रतियोगिता में अपना अस्तित्व रख सकेगा। इसलिये यह कहा जाता है कि गांधी जी भौतिक राज्य के निवासियों के स्थान पर कल्पना लोक के नागरिकों के लिये नैतिकता के नियमों (Code of Ethics) का निर्माण कर रहे थे।

(ii) प्रतिरोध शस्त्र अनुपयुक्त है (Improper methods of resistence)—गांधी जी हृदय परिवर्तन को लक्ष्य रखते हैं और उसके लिए असहयोग, सविनय अवज्ञा या भूख हड़ताल जैसे हास्यास्पद तरीके बताते हैं। वह यह भूल जाते हैं

कि पूँजीपति इन अस्त्रों से विचलित नहीं होता । वह तो क्रान्ति को भाषा समझता है । उसका हृदय बदलना इन उपायों द्वारा सम्भव नहीं । इस आलोचना का खण्डन भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम भली-भाँति कर चुका है । गांधी जी ने इन्हीं शस्त्रों के उपाय से भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्रदान कराई थी । अतः आज उनकी उपयुक्तता पर प्रश्न करना ठीक नहीं ।

(iii) पूँजीवाद का मिथ्या अध्ययन (Wrong view of capitalism)—गांधीवाद पूँजीवाद के मिथ्या अध्ययन के कारण पूँजीपतियों की सही प्रवृत्ति नहीं पहचान सका । वह पूँजीपति को प्रन्यास सिद्धान्त (Theory of trusteeship) का पाठ पढ़ाता है जिससे वे स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति समाज के लाभार्थ त्याग देंगे । राष्ट्रीयकरण को वह उचित नहीं समझता । सत्य यह है कि पूँजीपति कभी भी सम्पत्ति को समाज की धरोहर नहीं समझ सकेंगे और यदि कहीं कोई एक आध व्यक्ति 'भामा शाह' हो भी जाय तो अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकेगा ।'

३. गांधीवाद की प्रजातन्त्रीय आलोचना (Democratic criticism of Gandhism)—प्रजातन्त्र में जनता के बहुमत के आधार पर कार्य सचालन होता है । गांधी जी का कथन था कि मेरे प्रजातन्त्र में किसी भी व्यक्ति के मत का निरादर नहीं होगा । दूसरी ओर वह प्रत्येक कार्य का आधार सार्वजनिक हित को रखते हैं । सार्वजनिक हित क्या है ? वह स्वयं ही एक जटिल प्रश्न है । इसके अतिरिक्त सार्वजनिक हित और एक व्यक्ति के मत का भी अनादर न होना विरोधाभास पूर्ण है ।

सहायक पुस्तकें

M. K. Gandhi	My Experiments with Truth
"	Dharma
Dhawan, G N.	The Pol. Philosophy of Gandhiji
Mashroowala	Gandhi & Marx
B Swaroop	Gandhi as a Political Thinker
R L Singh	Adhunik Rajnitik Vichardharayen
Sethi & Mahajan	Recent Political Thought
Fisher, Louis	A Week with Gandhiji
Dr V P. Verma.	The Political Philosophy of Mahatma Gandhi Sarvodaya.
Dr R C Gupta	Great Political Thinkers
Dr V. P. Verma :	Modern Political Thought

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. महात्मा गांधी का राजनीतिक दर्शन और कुछ नहीं केवल मानवता का दर्शन है ।' विवेचना कीजिये ।
२. गांधी जी के विचारों को गांधीवाद का नाम देना उचित है । समीक्षा कीजिए ।
३. महात्मा गांधी के राजनीतिक अस्त्रों की व्याख्या कीजिये ।

४. गांधी जी का 'रामराज्य' से क्या आशय था ? स्पष्ट कीजिए।
५. गाधी जी विकेन्द्रित राज्य के पक्षपाती थे, विवेचना कीजिये।
६. 'गाधीवाद हिंसाविहीन मार्क्सवाद ही है।' इस कथन पर विचार करते हुये गांधीवाद तथा साम्यवाद में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
७. गांधी जी के प्रन्यास सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।
८. गाधी जी का अहिंसा से क्या अभिप्राय है ? व्याख्या करो।
९. गाधी जी के राजनीतिक और आर्थिक विचारों पर प्रकाश डालिए।
१०. सत्याग्रह की पृष्ठभूमि मे गांधीवाद की समीक्षा करो।
११. गांधी राजदर्शन आध्यात्म चिंतन का प्रतिफल है। स्पष्ट करो।
१२. गांधी जी का आधुनिक भारतीय राजदर्शन को क्या अनुदान है ?